4875

॥ श्रीः ॥

चौखम्भा प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

७

याकिनीमहत्तरासूनु - १४४४ शास्त्रसूत्रधार - आचार्यपुरन्दर

श्रीमद् हरिभद्रसूरि-रचित

शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय

तथा

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-विद्वन्मूर्धन्य-महोपाध्याय

श्री यशोविजयकृत

स्याद्वाद-कल्पलता

(उक्त ग्रन्थ की व्याख्या) का

हिन्दीविवेचन (स्तबक-१)

हिन्दी विवेचनकार :—

आचार्य श्री बदरीनाथ शुक्ल

न्याय-वेदान्ताचार्य, एम. ए.

भू० पू० प्रथम अध्यापक एवं प्राचार्य राजकिय संस्कृत कालेज, बनारस

तथा

आचार्य तथा अध्यक्ष.न्या० वै० विभाग, सम्पूर्णानन्द–संस्कृत–विश्वविद्यालय, वाराणसी

हिन्दीविवेचन–अभिवीक्षक :—

सिद्धान्तमहोदधि–आचार्यवर्य

स्व० श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज

के पट्टालङ्कार

न्यायदर्शनतत्त्वज्ञ -जैनाचार्य

श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२

गोकुल भवन के० ३७।१०९, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

हिन्दीविवेचनकार के दो शब्द

आचार्य श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी म० जैन परम्परा में १४४४शास्त्रप्रणेता बहुश्रुत आचार्य माने जाते हैं। जैन इतिहास लेखकों का कहना है कि वे जन्मतः ब्राह्मण थे तथा वेद और वेदानुगामी अनेक शास्त्रों के पारदृश्वा विद्वान् थे, किन्तु जैन सम्प्रदाय के सम्पर्क में आने पर जब उन्हों ने जैन शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया तब उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि जैन शास्त्र ही पूर्ण एवं प्रमाणभूत शास्त्र है, उसीने वस्तुके सत्य स्वरूप अनेकान्त का प्रतिपादन किया है। अन्य विद्वानों ने जैन शास्त्रों के ही प्रतिपाद्य तत्त्वों का अंशतः ग्रहण कर और उन्हें एकान्तवाद का परिधान देकर अन्यान्य अनेक मतवादो को जन्म दिया है।

जैनाचार्यों का कहना है कि 'द्वादशाङ्गी' का बारहवाँ अङ्ग 'दृष्टिवाद' यदि आज उपलब्ध होता तो सुधीवर्गको स्पष्ट अवगत हो जाता कि वह ज्ञान का एक अगाध सागर है जो उसमें है वही अंशतः इतर सम्प्रदायों के शास्त्रों मे है और जो उसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। पर दुर्भाग्य की बात है कि वह आज उपलब्ध नहीं है।

संसार के सम्बन्ध में जैनों की यह मान्यता है कि संसार प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त है, जिसमें जीव अनादि कालसे अपने उच्चावच कर्मों के अनुरूप विभिन्न गति प्राप्त करता है और यथासमय अपनी भव्यता के अनुसार अपने आत्मोद्धार का मार्ग पाने की चेष्टा करता है। संसार अनादि होनेसे ही उसका कोई कर्ता नहीं है।

ईश्वर के सम्बन्ध में जैनों की मान्यता है कि ईश्वरत्व कोई नित्य नैसर्गिक वस्तु नहीं है अपि तु जीव के पुरुषार्थ की ही उपलब्धि है। सम्यक् ज्ञान सम्यग् दर्शन और सम्यक्चारित्र की साधना के फलस्वरूप जिनके परमात्मस्वरूप के घातक समस्त कर्म बन्धन टूट जाते हैं एवं जिनके हृदयमें अन्तिम भव के पूर्व तृतीय भव में उत्थित प्राणी मात्र के आत्मोद्धार की प्रबल आकाङ्क्षा के प्रभाव से उपार्जित तीर्थंकरनामकर्म का विपाक प्रादुर्भूत होता है वेही केवलज्ञान और जीवन्मुक्ति प्राप्त होने पर अर्हत् तीर्थंकर परमेश्वर को महामहिम संज्ञा से मण्डित होते है और वेही धर्मशासन की स्थापना करते हैं जिसमें जीवादि तत्त्व, सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग व स्याद्वादादि सिद्धांत एवं नय-प्रमाण-सप्तभङ्गी आदि वस्तुबोधक प्रमाणों का समावेश होता है। उन्हीं के शासनमें रह कर मानवजाति आत्मकल्याण की साधना कर सकती है।

जैनों की यह भी मान्यता है कि तीर्थंकर भगवान के मुखारविन्द से निर्गत 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' इस त्रिपदी को सुनकर उसमें समाविष्ट समग्र अर्थसमूह को ग्रहण करने की क्षमता रखने के कारण गणधर कहे जाने वाले प्रमुख शिष्यों को मति श्रुत ज्ञानावरण कर्मों का अपूर्व क्षयोपशम हो जाता है और वे ही द्वादशाङ्ग आगमकी रचना कर जगत् का उपकार करते हैं।

जैनों की यह भी मान्यता है कि जिन (अर्हत्) और जिनमत ही सत्य है और एक मात्र

वही मानव के उत्थान का सही उपाय प्रस्तुत करता है। जिन शास्त्रोंमें वस्तुको सापेक्ष दृष्टि से न देख कर निरपेक्ष दृष्टि से देखने का आग्रह प्रदर्शित किया है, जैन मान्यता के अनुसार उन्हें सत् शास्त्र नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि जैनाचार्य एकान्तवादी दर्शनों को कुदर्शन कहते हैं और मुमुक्षुजनो के लिये उन्हें अनुपादेय बताते हैं। उनका कहना हैं कि मनुष्य को आत्मा का वास्तव उन्नयन करने के हेतु जैन मतानुसार अपूर्ण अतएव एकान्तवादी शास्त्रों के मार्ग पर न चलकर अनेकान्तवादी वीतराग सर्वज्ञोदित जैन शास्त्र के बताये मार्ग पर ही पूर्ण आस्था के साथ अग्रसर होना चाहिये।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने इन विषयों के प्रतिपादनार्थ जिस विशाल साहित्य की रचना की है–'शास्त्रवार्तासमुच्चय' उसी साहित्य का एक जाज्वल्यमान रत्न है। आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ में आस्तिक नास्तिक सभी दर्शनों की अनेक मान्यताओं का विस्तार से वर्णन किया है और यथासम्भव अत्यन्त निष्पक्ष और निराग्रहभाव से सभी के युक्तायुक्तत्व की परीक्षा कर अनेकान्तवाद का विजयध्वज फहराने का पूर्ण एवं सफल प्रयत्न किया है।

न्यायविशारद उपाध्याय श्री यशोविजयजी जो जैन सम्प्रदाय में लघु हरिभद्र कहे जाते हैं उन्होंने नव्यन्याय की शैली में इस ग्रन्थ पर 'स्याद्वाद कल्पलता' नाम की एक पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत व्याख्या लिखकर ग्रन्थ के अन्तर्निहित महिमा को उद्भावित किया है। और सैकड़ों प्रसङ्गोंमें कारिका के सूक्ष्म संकेतों के आधार पर सम्बद्ध विषयों का प्रौढ पूर्वोत्तर पक्षके रूपमें इतना गंभीर और विस्तृत विचार किया है, जिससे अनायास यह धारणा बनती है कि आचार्य ने छोटे छन्द की कारिकाओ में इतनी विस्तृत और गरिष्ठ ज्ञानराशि को संचित कर गागरमें सागर भरने जैसा कार्य किया है।

हमें इस ग्रन्थ को पहलीबार देखने का अवसर तब प्राप्त हुआ जब जैन जगत् के मूर्धन्य महामनीषी आचार्य श्री रामचन्द्रसूरिमहाराज सा० ने लगभग ४० वर्ष पूर्व राधनपुर गुजरातमें इस ग्रन्थ का गौरव वर्णन किया व इसे देखने के लिए हमें प्रेरित किया और हम भी इस महान् शास्त्र व उसकी टीका देखकर उसकी बहुमूल्यता पर मुग्ध हुये, जिसके फल स्वरूप इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में हमारी अभिरूचि उत्पन्न हुई। बाद में अनेक वर्षों के अनन्तर उसके प्रिय सतीर्थ्य न्यायादि अनेक शास्त्रों में विचारसस्नात जैनाचार्य श्री विजय भुवनभानुसूरिजी म० ने यह इच्छा व्यक्त की कि इस मूलग्रन्थ और व्याख्या दोनों का हिन्दी भाषा के माध्यम से एक विवेचन प्रस्तुत किया जाना चाहिये जिससे ग्रन्थ को समझने में सहायता मिल सके तथा ग्रन्थ का पूरा मर्म विशद रूप से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो सके। इस ग्रन्थ की गम्भीरता और विषयसमृद्धता के कारण इसके प्रति हमारा आकर्षण पहले से था ही जो आचार्य श्री भुवनभानुसूरिजी के अनुरोध से उद्दीप्त हो उठा।

फलत: बडे आदर और उत्साह से हमने इस कार्य को अपने हाथमें लिया और आचार्यजी ने इस प्रस्तावित विवेचन की प्रकाशनान्त सम्पन्नता के लिये आवश्यक सभी सुविधाओं कि व्यवस्था करायी ।

जिज्ञासु पाठक वर्ग को यह सूचना देना आवश्यक प्रतीत होता है कि पू० आचार्य श्री रामचन्द्रसूरि महाराजा की यह इच्छा है कि इस ग्रन्थ की एक ऐसी भूमिका लिखी जाये जिसमें सभी शास्त्रों की प्रमुख मान्यताओं का विशद समावेश हो तथा जैन दर्शन के सिद्धान्तों का विशद समावेश हो तथा जैन दर्शन के सिद्धान्तो का ऐसा सुस्पष्ट और विस्तृत वर्णन हो जिससे जैनेतर पाठको के समक्ष भी जैन दर्शन की मुख्य मान्यताओं का पुरा चित्र उपस्थित हो सके। उनकी यह इच्छा मुझे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उचित प्रतित होती है, अत: विवेचन का जो भाग इस के बाद प्रकाशित होगा उसमें इस प्रकार की भूमिका सन्निविष्ट की जाएगी ।

सहृदय वाचको को यह सूचना देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अब तक इस ग्रन्थ के आठ स्तबको का विवेचन लिखा जा चुका हैं, शेष तीन स्तबकों का भी विवेचन यथासम्भव शीघ्र ही पूर्ण हो जाने की आशा है । ग्रन्थ के पूरे विवेचन की उपलब्धि की आकाङ्क्षा जाग्रत् करने के अभिप्रायसे 'प्रथम स्तबक' मात्र का विवेचन सम्प्रति मुद्रित कर जिज्ञासु विद्वानो के समक्ष सादर एवं सप्रेम उपस्थित किया जा रहा है ।

प्रस्तुत स्तबक के पूर्वरूप का संशोधन करने का समय न मिल पाने के कारण मुद्रण में अनेकत्र कुछ त्रुटियां रह गई हैं जिनके लिये हमें खेद है, भविष्य में इस सम्बन्ध में पूरी सावधानी रखी जायगी जिससे अग्रिम मुद्रण इन त्रुटियों से मुक्त रह सके ।

आचार्यसम्राट् श्रीहरिभद्रसूरि-विरचित ग्रन्थों का परिचय

(असीमप्रतिभाशाली श्रीहरिभद्रसूरि महाराज ने भव्य जीवों के ज्ञान नेत्र का विकास करने के लिये सैंकडों की संख्या में तर्क-आचार-योग-ध्यान आदि विषयों के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया । उनसे रचे गये ग्रन्थकलाप का अधिकांश आज अनुपलब्ध ही है, जो कृतियां आज उपलब्ध हो रही हैं और जिनके अनुपलब्ध होने पर भी संकेत प्राप्त हो रहे हैं ऐसे ग्रन्थों के परिचय के लिये यह प्रयास है जिससे ग्रन्थकर्त्ताकी प्रकाण्डविद्वत्ताका भी परिचिय प्राप्त होगा)

[१] सम्प्रति उपलब्ध-स्वोपज्ञटीकायुक्त ग्रन्थकलाप:--

(१) अनेकान्तजयपताका-इस ग्रन्थमें परस्परविरुद्ध अनन्तधर्मोंका एक वस्तु में समावेश रूप 'अनेकान्त' के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये सत्त्वाऽसत्त्व, नित्याऽनित्यत्व इत्यादि विविध द्वन्द्वों का एक वस्तु में उपपादन विस्तार से किया गया है-प्रसङ्ग प्रसङ्ग पर बौद्धमत का कठोर प्रतिकार किया गया है --टीका में मूलग्रन्थ को समझने के लिये दिक्प्रदर्शन किया गया है ।

(२) पञ्चवस्तु प्रकरण—इस ग्रन्थ में साधु-आचार सम्बन्धी (दीक्षा-दैनिक किया-बड़ी दीक्षा-अनुयोग और गण की अनुज्ञा-संलेखना इन) पाँच विषयों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

(३) योगदृष्टि समुच्चय—इस ग्रन्थमें मित्रा-तारा आदि आठ दृष्टियों के प्रकार से 'जैन योग' पर प्रकाश डाला गया है। प्रसंग से योगाऽवञ्चकयोग आदि का भी सुन्दर विवेचन दिया गया हैं। इस ग्रन्थमें प्राप्य विषय अन्यत्र दुर्लभ है।

(४) योगशतक—इस ग्रन्थमें सम्यग्दृष्टि-देशविरत और सर्वविरत मुमुक्षुजन के लिये विभिन्न प्रकार का उपदेश है। प्रसंग से मरणकालविज्ञान के उपाय भी बताये गए हैं।

(५) शास्त्रवार्ता समुच्चय—इस ग्रन्थमें चार्वाक आदि भिन्न भिन्न दर्शनों की विस्तार से समालोचना की गई है। ७०० श्लोकप्रमाणग्रंथ है—'दिक्प्रदा' नाम की टीका है।

(६) सर्वज्ञसिद्धि—इस ग्रन्थमें सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करने के लिए सफल एवं स्तुत्य प्रयास किया गया है। सर्वज्ञ को न मानने वाले मीमांसकमत की समालोचना की गई है।

(७) हिंसाष्टक अवचूरि—इस लघुकृति में हिंसा के विषयमें सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

[२] अन्यकर्तृकग्रन्थों की टीका स्वरूप सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थराशिः—

(१) अनुयोगद्वार लघुवृत्ति—निर्युक्ति आदि में प्रसिद्ध जैनव्याख्यापद्धति का चारु व्युत्पादन करनेवाले मूलग्रन्थ की यह टीका है।

(२) आवश्यकसूत्र लघुटीका (शिष्यहिता)—आवश्यकसूत्रों का विस्तार से रहस्य प्रकाश करनेवाले निर्युक्तिग्रन्थ का सुन्दर विवरण है। यह लघुटीका २२००० श्लोक प्रमाण है।

(३) ललितविस्तरा—जैनाचार में प्रसिद्ध चैत्यवन्दनक्रिया के सूत्रों पर गाम्भीर्यपूर्ण यह वृत्ति है। जिसमें अन्य दार्शनिकों की मान्यताओं का सूक्ष्म तर्क से निराकरण किया गया है। इस वृत्ति से उपमितिकथाकार श्रीसिद्धर्षिगणी को सद्बोध एवं जिनमत में स्थिर श्रद्धा की प्राप्ति हुई थी।

(४) जीवाभिगमलघुवृत्ति—मूल उपांगसूत्र जीवाभिगम के अभिधेय को संक्षेप से इस में स्फुट किया गया है।

(५) दशवैकालिक लघुवृत्ति—दशवैकालिक सूत्र के अर्थ मात्र को स्पष्ट करनेवाली अवचूरि स्वरूप यह वृत्ति है।

(६) दशवैकालिक बृहद्वृत्ति—इसमें मूलसूत्र दशवैकालिक निर्युक्ति का प्राचीन अनुयोगद्वार प्रसिद्ध व्याख्याशैली से विस्तार से विवरण किया गया है।

(७) ध्यानशतकवृत्ति—पूर्व ऋषि प्रणीत ध्यानशतक ग्रन्थ का गम्भीर विषय आर्त्त-रौद्र

धर्म शुक्ल ४ प्रकार के ध्यान का सुगम एवं मनोहर विवरण किया गया। विश्वमें ध्यान के विषय में अद्वितीय ग्रन्थ है।

(८) नन्दीसूत्र टीका—मति श्रुत आदि पांच ज्ञान का स्वरूप बतानेवाले मूलग्रन्थ नन्दी सूत्र के उपर संक्षिप्त विवरण है।

(९)न्यायप्रवेशक टीका--बौद्ध दर्शन के प्राचीन विद्वान दिग्नाग का मूलग्रन्थ न्याय-प्रवेशक की यह सुगम और संक्षिप्त व्याख्या है।

(१०)पञ्चसूत्रपञ्जिका—पापप्रतिघात—गुणबीजाधान आदि पाँच मोक्षोपयोगी विषयों का प्रकाश करनेवाले मूलग्रन्थ पञ्चसूत्र की यह संक्षिप्त व्याख्या है।

(११) पिण्डनिर्युक्ति टीका—विविध दोषरहित पिण्ड—आहारादि को ग्रहण करने स्वरूप साधु आचार का निरूपण करनेवाले मूलग्रन्थ की यह टीका है। जो अपूर्ण रह जाने से पीछे से वीराचार्य भगवंत से पूर्ण की गई थी।

(१२) प्रज्ञापना प्रदेश व्याख्या—मूल उपांगसूत्र प्रज्ञापना की यह संक्षिप्त व्याख्या है।

(१३)तत्त्वार्थ लघुवृत्ति—वाचक श्रीउमास्वातिजी विरचित तत्त्वार्थसूत्र का संक्षेप में विवरण किया है। विवरण अपूर्ण रह जाने से यशोभद्रसूरि ने इस को पूर्ण किया था।

(१४)लघुक्षेत्रसमासवृत्ति—इसग्रन्थ में संक्षेप से जैन भूगोल के महत्त्वपूर्ण विषय का निरूपण किया गया है। इस वृत्ति के अन्त में उसका रचना समय वि. सं. ५८५ बताया है।

(१५) श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति—श्री उमास्वाति वाचक विरचित मूलग्रन्थ की टीका में श्रावक आचार का संक्षेप में विवरण किया गया है।

३) सम्प्रति उपलब्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना:—

(१) अनेकान्तवादप्रवेश—अनेकान्त—स्याद्वाद मत का संक्षेप में इस ग्रन्थ में समझाया गया है। ग्रन्थकारकृत अनेकान्तजयपताका ग्रन्थ में प्रवेश करानेवाला यह अद्भुत ग्रन्थ है।

(२) अष्टक प्रकरण-- इस ग्रन्थ में ८–८ श्लोक प्रमाण ३२ विभाग में महादेवस्वरूप आदि विविध विषयों का निरूपण किया गया है। श्री जिनेश्वरसूरिजी म० इसके टीकाकार है।

(३) उपदेशपद—इस ग्रन्थ में आदिधार्मिक से लेकर साधु पर्यन्त विविध पात्रों के लिये विविध प्रकारका उपदेश दिया गया हैं। आ० श्री मुनिचन्द्रसूरिजी म० इसके टीकाकार है।

(४) दर्शनसप्ततिका—इस प्रकरण में सम्यक्त्वयुक्त श्रावक धर्म का १२० गाथा में उपदेश दिया गया हैं। इस ग्रन्थ पर आ० श्रीमानदेवसूरिजी म० की टीका है

(५) देवेन्द्र नरकेन्द्र प्रकरण–इस ग्रन्थमें स्वर्ग और नरक के स्वरूप का विवरण है। आ० श्री मुनिचन्द्रसुरिजीम. इसके टीकाकार है।

(६) धर्मबिन्दु– इस ग्रन्थ में मार्गानुसारिता देशविरति तथा सर्वविरति धर्म का सूत्रात्मक प्रतिपादन किया गया है। सुवर्ण की भाँति धर्म की तीन प्रकार की परीक्षा भी बतायी हैं।

(७) धर्मसंग्रहणी–इस ग्रन्थ में आत्मा की सिद्धि, आत्मा के नित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की सिद्धि विस्तार से की गई है। अन्त में भावधर्म की प्ररूपणा तथा सर्वज्ञसिद्धि भी की गई है। इस ग्रन्थ की आचार्य मलयगिरिकृत महत्त्वपूर्ण विस्तृत टीका है।

(८) धूर्त्ताख्यान–यह एक चार धूर्तों की कहानी है। जिस में अघटित कथाप्रसंगों के साथ पुराणादि की अघटित बातों की तुलना की गई है।

(९) नाणाचित्तपयरण–इस प्राकृत भाषा के ग्रन्थ में संक्षेप से धर्मतत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है।

(१०) पञ्चाशक–इस ग्रन्थ में करीब ५०–५० गाथाओं के १९ प्रकरण है। जिस में श्रावकधर्मविधि, दीक्षाविधान, चैत्यवन्दना इत्यादि १९ विषयों पर मार्मिक उपदेश दिया गया है।

(११) ब्रह्मप्रकरण–इस ग्रन्थ में सुखारम्भ, मोहपराक्रम, मोहघ्न, परमज्ञान, सदाशिव इन इन पाँच प्रकार के ब्रह्म का निरूपण है।

(१२) यतिदिनकृत्य–इस ग्रन्थ में दैनिक साधुक्रिया का वर्णन है।

(१३) योगबिन्दु–इस ग्रन्थ में अध्यात्म, भावना, ध्यान,समता, वृत्तिसंक्षय इन पाँच प्रकारके योग का अमूल्य उपदेश है।

(१४) लग्नशुद्धि–इस ग्रन्थ में ज्योतिःशास्त्र प्रसिद्ध लग्नकुण्डली का विवेचन हैं।

१५) लोकतत्त्वनिर्णय– इस ग्रन्थ में जगत् –सर्जक–संचालक रूप में माने गए की अनुचित चेष्टाओं की असभ्यता बताई गई है। तथा लोक (Universe) स्वरूप की तात्त्विकता का विचार किया गया है।

(१६) विंशतिविंशिका–२०–२० श्लोक प्रमाण २० प्रकरण वाले इस ग्रन्थ में योगादि विविध विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है।

(१७) षड्दर्शनसमुच्चय–इस ग्रन्थ में न्याय–बौद्ध–जैन इत्यादि छ दर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण मात्र किया है।

(१८) षोडशकप्रकरण इस ग्रन्थ में १६–१६ गाथाओं के १६ प्रकारणों में धर्म का आन्तरिकस्वरूप–कक्षा–देशना–लक्षण–मन्दिरनिर्माण इत्यादि विषयों पर मार्मिक विवेचन किया गया है।

(अनुसंधान पेज १४ देखिये)

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयविरचितग्रन्थ परिचय-

प्राकृत संस्कृत भाषामें उपलब्ध स्वोपज्ञटीका युक्त स्वरचित ग्रन्थकलाप

१) अध्यात्ममतपरीक्षा- केवलीभुक्ति और स्त्रीमुक्ति का निषेध करने वाले दिगम्बर मत का इस ग्रन्थ में निराकरण किया है। एवं निश्चयनय-व्यवहारनय का तर्कगर्भित विशदपरिचायक।

२) आध्यात्मिकमतपरीक्षा- इस ग्रन्थ में केवलिकवलाहार विरोधी दिगम्बरमत का खंडन करके केवलि के कवलाहार की उपपत्ति की गई है।

३) आराधक-विराधकचतुर्भंगी- देशतः आराधक और विराधक तथा सर्वतः आराधक और विराधक इन चार का स्पष्टीकरण।

४) उपदेशरहस्य- उपदेशपद ग्रन्थ के रहस्य भूत मार्गानुसारी इत्यादि अनेक विषयों पर इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है।

५) ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका- इस ग्रन्थ में ऋषभदेव से महावीरस्वामी तक २४ तीर्थंकरों की स्तुतिओं और उनका विवरण है।

६) कूपदृष्टान्त-विशदीकरण- गृहस्थों के लिये विहित द्रव्यस्तव में निर्दोषता के प्रतिपादन में उपयुक्त कूप के दृष्टान्त का स्पष्टीकरण।

७) गुरुतत्त्वविनिश्चय- निश्चय और व्यवहार नय से सद्गुरु और कुगुरु के स्वरूप का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में है।

८) ज्ञानार्णव- मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यव तथा केवलज्ञान इन पाँचो ज्ञान के स्वरूप का विस्तृत प्रतिपादन।

९) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका- ३२ श्लोकपरिमाण ३२ प्रकरणों में योग आदि विविध विषयों का इस में निरूपण किया गया है।

१०) धर्मपरीक्षा- उपा० धर्मसागरजी के 'उत्सूत्रभाषी नियमा अनन्तसंसारी होते है' इत्यादि अनेक उत्सूत्रप्रतिपादन का इस में निराकरण है।

११) नयोपदेश- नैगमादि ७ नयों पर इस ग्रन्थ में श्रेष्ठकोटि का विवरण उपलब्ध है।

१२) महावीरस्तव- न्यायखण्डखाद्यटीका- बौद्ध और नैयायिक के एकान्तवाद का इस ग्रन्थ में निरसन किया है।

१३) प्रतिमाशतक- भगवान के स्थापनानिक्षेप की पूज्यता को न मानने वाले का निरसन कर मूर्तिपूजा की कल्याणकरता इस में वर्णित है।

१४) भाषारहस्य- प्रज्ञापनादि उपाङ्ग में प्रतिपादित भाषा के अनेक भेद-प्रभेदों का इस में विस्तृत वर्णन है।

१५) सामाचारीप्रकरण- इच्छा-मिथ्यादि दशविध साधुसामाचारी का इस ग्रन्थ में तर्कशैली से स्पष्टीकरण है।

—: अन्यकर्तृकग्रन्थ की उपलब्ध टीकाएँ :—

१) उत्पादादिसिद्धि- (मूलकर्त्ता-चन्द्रसूरि)- इस ग्रन्थ में जैनदर्शनशास्त्रों के अनुसार सत् के उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक लक्षण पर विशद प्रकाश डाला गया है- उपाध्यायजी विरचित टीका पूर्ण उपलब्ध नहीं हो रही है।

२) कम्मपयडि बृहद् टीका- (मूलकर्त्ता-शिवशर्मसूरि)- जैनदर्शन का महत्व का विषय कर्म के 'बन्धनादि' विविध करणों पर विवरणात्मक टीका है।

३) कम्मपयडि लघुटीका- इस टीका का प्रारम्भिक पत्र मात्र उपलब्ध होता है।

४) तत्त्वार्थसूत्र (प्रथम अध्याय मात्र) टीका- (मू०-वा० उमास्वाति) इस टीका ग्रन्थ में तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का रहस्य प्रकाश में लाया गया है।

५) योगविंशिका टीका- इस में श्री हरिभद्रसूरि विरचित विंशतिविंशिका-अन्तर्गत योगविंशिका की विशद व्याख्या है- इस में स्थान-उर्ण-अर्थ आलम्बन और निरालम्बन पांच प्रकार के योग का विशद निरूपण किया गया है।

६) स्तवपरिज्ञा अवचूरि- द्रव्य-भाव स्तव का स्वरूप संक्षेप से इस में स्फुट किया गया है।

७) स्याद्वादरहस्य- वीतरागस्तोत्र के आठवे प्रकाश के उपर लघु-मध्यम और उत्कृष्ट परिमाण-तीन टीकात्मक इस ग्रन्थ में स्याद्वाद का सूक्ष्म रहस्य प्रकट किया गया है।

८) स्याद्वादकल्पलता- आ० हरिभद्रसूरि विरचित-शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय ग्रन्थ की नव्यन्याय में विस्तृत व्याख्या।

९) षोडशक टीका- इस टीका ग्रन्थ में जैनाचार के आभ्यन्तर विविध प्रकारों का सुन्दर निरूपण किया गया है।

१०) अष्टसहस्री टीका- दिगम्बरीय विद्वान् विद्यानन्द के अष्टसहस्री ग्रन्थ की ८००० श्लोक परिमाण व्याख्या ग्रन्थ है, जिस में दार्शनिक विविध विषयों की चर्चा है।

११) पातञ्जलयोगसूत्र टीका- पतञ्जली के योगसूत्र के कतिपयसूत्रों पर जैन दृष्टि से व्याख्या एवं समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

१२) काव्यप्रकाश टीका– मम्मट कृत काव्यप्रकाश ग्रन्थ की टीका ।

१३) न्यायसिद्धान्तमञ्जरी– (१४)–स्याद्वादमञ्जरी टीका (?) ।

अन्य स्वतन्त्र – उपलब्ध – रचनाएँ:—

१) अध्यात्मसार– इस ग्रन्थ में अध्यात्ममाहात्म्य–अध्यात्मस्वरूप–दम्भत्याग–भवस्वरूपचिन्ता–वैराग्यसम्भव–वैराग्यभेद–वैराग्यविषय–ममतात्याग–समता–सदनुष्ठान–मन:शुद्धि–सम्यक्त्व–मिथ्यात्वत्याग–असद्ग्रहत्याग–योग–ध्यान–ध्यानस्तुति–आत्मनिश्चय–जिनमतस्तुति–अनुभव–सज्जनस्तुति इस प्रकार २१ विषयों का हृदयङ्गम विवेचन किया गया है ।

२) अध्यात्मोपनिषत्– इस ग्रन्थ में शास्त्रयोग–ज्ञानयोग–क्रियायोग–साम्ययोग इन चार भेद से अध्यात्मतत्त्व का उपदेश है ।

३) अनेकान्त व्यवस्था– इस ग्रन्थ में वस्तु के अनेकान्तस्वरूप का तथा नैगम आदि नयों का सतर्क प्रतिपादन है ।

४) अस्पृशद्गतिवाद– इस वाद में तिर्यग् लोक से लोकान्त तक के मध्यवर्ती आकाश प्रदेशों के स्पर्श बिना मुक्तात्मा के गमन का उपपादन किया गया है ।

५) आत्मख्याति– इस ग्रन्थ में आत्मा का विभु तथा अणु परिमाण का निराकरण किया गया है ।

६) आर्षभीयचरित्र– ऋषभदेव के पुत्र भरतचक्रवर्ती के चरित्र का काव्यात्मक निरूपण इस ग्रन्थ में है ।

७) जैन तर्कभाषा– जैन तर्कपद्धति के प्राथमिक परिचय की दृष्टि से इस ग्रन्थ मे प्रमाण–नय और निक्षेपों का सरल विवेचन है ।

८) ज्ञानबिन्दु– इस ग्रन्थ में संक्षेप से पाँच ज्ञान का न्याययुक्त विवरण है ।

९) ज्ञानसार– पूर्णता–मग्नता आदि ३२ आध्यात्मिक विषयों का ३२ अष्टक में सुन्दर वर्णन है– इस ग्रन्थ मे मुमुक्षु के लिये अति आवश्यक ज्ञातव्य विषयों का रहस्य बताया गया है ।

१०) तिङन्वयोक्ति– तिङन्तपदों के शाब्दबोध का व्युत्पादन इस ग्रन्थ में किया गया है ।

११) देवधर्मपरीक्षा– देवों में सर्वथा धर्माभाव का प्रतिपादन करने वाले मतविशेष का इस में निराकरण है ।

१२) सप्तभङ्गी नयप्रदीप– इस ग्रन्थ में अति संक्षेप से सप्तभङ्गी तथा ७ नय का विवेचन किया गया है ।

१३) नयरहस्य– इस ग्रन्थ में नय के सामान्य लक्षण तथा ७ नयों का मध्यमकक्षा का विवरण है ।

१४) न्यायालोक– इस में मोक्ष के स्वरूप आदि की तर्कपूर्ण विचारणा है ।

१५) निशाभुक्ति प्रकरण– इस लघुकाय ग्रन्थ में 'रात्रि भोजन स्वरूपत: दुष्ट है' इस का उपपादन किया गया है ।

१६ - १७) परमज्योति:पञ्चविंशिका– परमात्मपञ्चविंशिका– विषय - परमात्मस्तुति ।

१८) प्रतिमास्थापनन्याय– इस में प्रतिमापूज्यत्व का व्यवस्थापन किया गया है ।

१९) प्रमेयमाला यह ग्रन्थ विविध वादों का संग्रह है ।

२०) मार्गपरिशुद्धि– इस ग्रन्थ में हारिभद्रीय 'पंचवस्तु' शास्त्र के सारूप मोक्षमार्ग की विशुद्धता का सुन्दर प्रतिपादन है ।

२१) यतिदिनचर्या– जैन साधुओं के दैनिक आचार का वर्णन इस ग्रन्थ में है ।

२२) यतिलक्षणसमुच्चय– इस ग्रन्थ में भावसाधुता के लक्षणों का वर्णन है ।

२३) वादमाला (१)– इस में १) चित्ररूपविचार, २) लिङ्गोपहितलैङ्गिकभान, ३) द्रव्यनाशहेतुताविचार, ४) सुवर्णतैजसत्व, ५) अन्धकारद्रव्यत्व, ६) वायुस्पार्शनप्रत्यक्ष, ७) शब्दानित्यत्व इन ७ वादों का निरूपण है ।

२४) वादमाला (२)– इस में १) स्वत्ववाद, २) संनिकर्षवाद इन दो वादों का निरूपण है ।

२५) वादमाला (३)– इस में १) वस्तुलक्षणविवेचन, २ सामान्यवाद, ३) विशेषवाद, ४) इन्द्रियवाद, ५) अतिरिक्तशक्तिवाद और ६) अदृष्टवाद इन छ वादों का निरूपण है ।

२६) विजयप्रभसूरिस्वाध्याय– इस में गच्छनायक श्री विजयप्रभसूरिजी की तर्कगर्भित स्तुति की गई है ।

२७) विषयतावाद– इस में विषयता, उद्देश्यता, आधारता आदि का निरूपण है ।

२८) सिद्धसहस्रनामकोश– भगवान् के १००८ नाम का संग्रह इस ग्रन्थ में है ।

२९) स्याद्वादरहस्य पत्र– 'खंभात' नगर के पण्डित गोपालसरस्वती आदि पण्डितवर्ग पर प्रेषित पत्र है जिस में संक्षेप से 'स्याद्वाद' की समर्थक युक्तियाँ का प्रतिपादन है ।

३०) स्तोत्रावली– इस में आदीश्वर, पार्श्वनाथ और महावीरस्वामी भगवान् के विविध ८ स्तोत्र हैं ।

अनुपलब्ध—संकेत प्राप्त अन्यग्रन्थ :–

(१) अध्यात्मबिंदु	(८) तत्त्वालोक विवरण	(१५) वादार्णव
(२) अध्यात्मोपदेश	(९) त्रिसूत्र्यालोक	(१६) विधिवाद
(३) अनेकान्तवादप्रवेश	(१०) द्रव्यालोक	(१७) वेदान्तनिर्णय
(४) अलंकारचूडामणि टीका	(११) न्यायवादार्थ	(१८) वेदान्तविवेकसर्वस्व
(५) आलोकहेतुतावाद	(१२) प्रमारहस्य	(१९) शठप्रकरण
(६) छन्दश्चूडामणि टीका	(१३) मंगलवाद	(२०) श्रीपूज्यलेख
(७) ज्ञानसार अवचूर्णि	(१४) वादरहस्य	(२१) सिद्धान्ततर्कपरिष्कार

प्रकीर्ण:– संस्कृत प्राकृत भाषा के अलावा श्रीमद् उपाध्यायजी की गूर्जर भाषा में भी अनेक लोकभोग्य स्तवन, सज्झाय, रास, पूजा, टबा इत्यादि कृतियां है जिसका बहुभाग 'गूर्जर साहित्य संग्रह' भा १ में, तथा भाग २ में 'द्रव्यगुणपर्याय का रास' प्रसिद्ध हो चुका है।

(१९) समराइच्चकहा–प्राकृतसाहित्य में इस ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। इस में अग्निशर्मा तथा गुणसेन के ९ भवों का वैराग्यरसपूर्ण निरूपण है गुणसेन ने नवबे भव में समरादित्य हो उपशम की चरम सीमा पर पहुंच कर केवलज्ञान प्राप्त किया। मुमुक्षुजनों के लिये यह ग्रन्थ कषाय की आग शान्त करने के लिए अमृतौषधितुल्य है।

(२०) सम्बोधप्रकरण–इस प्रकरण में १२ अधिकार में देव का तात्विकस्वरूप; तात्विक श्रद्धा इत्यादि विषयों का निरूपण किया गया है।

(२१) ज्ञानपञ्चकविवरण इस ग्रन्थ में २६ गाथा में ज्ञान के पाँच प्रकारों का व्याख्यान किया गया है।

(२२) बोटिकप्रतिषेध– इस ग्रन्थ में दिगम्बर मत की आलोचना की गई है।

(२३) सम्यक्त्वसप्ततिका–इस ग्रन्थ में सम्यक्त्व के ६७ प्रकार के व्यवहार का सूक्ष्मता से निरूपण किया गया है।

(२४) संसारदावानल०स्तुति—महावीरस्वामी इत्यादि की स्तुतिरूप है।

अनुपलब्ध–संकेतप्राप्त ग्रन्थसमूह

(१) अनेकान्तप्रघट्ट	(११) क्षेत्रसमासवृत्ति	(२१) पञ्चनियंठी
(२) अनेकान्तसिद्धि	(१२) चैत्यवन्दनभाष्य	(२२) पञ्चलिङ्गी
(३) अर्हच्छ्रीचूडामणि	(१३) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका	(२३) पञ्चस्थानक
(४) आत्मसिद्धि	(१४) जम्बूद्वीपसंग्रहणि	(२४) परलोकसिद्धि
(५) आवश्यकसूत्र बृहत्टीका	(१५) त्रिभङ्गीसार	(२५) बृहन्मिथ्यात्वमथन
(६) उपदेश प्रकरण	(१६) दिनशुद्धि	(२६) भावनासिद्धि
(७) उपदेशमाला टीका	(१७) द्विजवदनचपेटा	(२७) संग्रहणीवृत्ति
(८) ओघनिर्युक्तिवृत्ति	(१८) धर्मलाभसिद्धि	(२८) सम्बोधसित्तरी
(९) कथाकोश	(१९) धर्मसार	(२९) संस्कृतात्मानुशासन
(१०) कुलकानि	(२०) न्यायावतारवृत्ति	

भूमिका

आज से २५०० वर्ष पूर्व ३० साल तक पृथ्वी पर मोक्षमार्ग तथा तत्त्वज्ञान की दिव्य-वाणी की पावनधारा प्रवाहित कर वीतराग, देवाधिदेव चरमतीर्थंकर, सर्वज्ञ श्रमण भगवान् श्री महावीरस्वामी स्वयं मोक्षपद पर आरूढ हुये। मोक्षारूढ होने के तीस साल पूर्व भगवान ने चतुर्विध जैनसंघ की स्थापना की थी। श्री सुधर्मास्वामी ने उसे अपना हस्तावलम्ब देकर दृढ बनाया। श्री सुधर्मास्वामी की पाटपरम्परा में कई ऐसे महर्षि हुये जिन्होंने भगवान महावीर के सदुपदेशों का यथावत् पालन करते हुये जिज्ञासु मुमुक्षुजीवों को तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर भगवान द्वारा प्रदर्शित मोक्षमार्ग पर यात्रा करने की परम्परा को लम्बे समय तक अखण्ड एवं अविच्छिन्नरूप में गतिशील तथा सप्राण बनाये रखा। इसी पुनीत परम्परा में एक बहुश्रुत चतुरस्रप्रतिभासम्पन्न महर्षि प्रादुर्भूत हुये, जिन का नाम था आचार्य भगवान् श्रीहरिभद्रसूरि।

१- पू. आ. श्री हरिभद्रसूरि महाराज का जीवनवृत्त

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जैन तथा जैनेतर दोनों ही परम्परा में उच्चकोटि के उद्भट विद्वान् बराबर होते रहे और उनके वैचारिक संघर्ष से तत्त्वविद्या का वाङ्मय सदैव परिष्कृत और विकसित होता रहा। जिन महापुरुष का संस्मरण अगली पङ्क्तिओं में रखा जाने वाला है वे प्रारम्भ में जैनेतर परम्परा से ही सम्बद्ध थे। यह प्रामाणिक अनुसन्धान पर आधारित है कि पुरोहित हरिभद्र अपने समय के जैनेतर विद्वानों में अग्रगण्य ब्राह्मण पण्डित थे। वे चित्रकूट (मेवार) के राजपण्डित थे। उनकी कीर्ति दिगन्त तक फैली हुयी थी। छहो दर्शन शास्त्रों का तलस्पर्शी पाण्डित्य और वेदविद्याओं में परम निष्णात होने के कारण वे वादीन्द्र और विद्वत्-शिरोमणि कहे जाते थे। अपनी असाधारण प्रतिभा पर उनका बड़ा विश्वास था। उनका यह आत्मविश्वास था कि जगत् में ऐसी कोई विद्या नहीं है जिसे वे न जानते हो अथवा जिसे समझने में उन्हें कोई कठिनायी हो। उनकी यह मनोगत प्रतिज्ञा थी कि यदि कभी कोई ऐसा शास्त्र उनके सम्मुख उपस्थित होगा जिसे वे न समझ सकेंगे तो उसे समझने के लिये उन्हें किसी का भी शिष्य बनने तक में कोई संकोच न होगा। संयोगवश एक दिन ऐसा ही उपस्थित हुआ जिसने उनके सारे जीवन को ही परिवर्तित कर दिया। घटना यह हुई कि एक दिन याकिनी महत्तरा (जैन) साध्वीगण की एक साध्वी स्वाध्याय के समय अपने मधुर कण्ठ से एक गाथा बोल रही थी—जो इस प्रकार थी,

'चक्कीदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की,
केसव चक्की केसव दुचक्की केसवो चक्कि ॥'

उसी समय विद्वान् विप्र श्री हरिभद्र उस ओर से कहीं जा रहे थे। उन्होंने यह गाथा सुनी किन्तु उसका अर्थ उनकी समझ में न आया। इस अनवबोध से पीड़ित हो कर वे उस स्थान पर गये जहाँ गाथा की स्वरतन्त्री झङ्कृत हो रही थी। वहाँ विद्यमान साध्वी की प्रसन्न और प्रशान्त मुद्रा तथा पवित्र जीवनचर्या को देख कर वे चकित और चमत्कृत हो उठे। उन्होंने बड़े निरभिमान भाव से प्रवर्त्तिनी महत्तरा साध्वी से उसका अर्थ बताने की प्रार्थना की। साध्वी ने हरिभद्र का विनय और बुद्धिवैभव देख कर कहा कि इस गाथा का अर्थ समझने के लिये हमारे गुरुदेव जैनाचार्य श्री **जिनभट्टसूरिजी** महाराज से आप सम्पर्क स्थापित करें। यह सुन कर ब्राह्मण हरिभद्र अपने घर गये किन्तु अनवरत यह चिन्तन करते रहे कि महत्तरा व साध्वी गण का जीवन कितना स्वच्छ, शान्त और सुन्दर है। उनका विनय, उनका पवित्र जीवन क्रम उनके धर्म की महत्ता और श्रेष्ठता को स्पष्टरूप से इङ्गित करता है। उसे जानना और समझना बड़ा लाभदायक हो सकता है। इस चिन्तन तथा गाथा के अर्थ की प्रबल जिज्ञासा से प्रेरित होकर वे दूसरे दिन साध्वी द्वारा बताये गये जैनाचार्य की सेवा में उपस्थित हुए। आचार्यश्री बड़े व्यवहारकुशल और उच्च कोटि के शास्त्रवेत्ता थे। एक ही दृष्टि में उन्हें हरिभद्र की भव्यता और योग्यता का परिज्ञान हो गया। हरिभद्र ने बड़ी नम्रता से उक्त गाथा के अर्थ को बताने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने कहा कि इस गाथा का अर्थ समझने के लिये आपको सम्बद्ध परम्परा का क्रमिक अध्ययन करना होगा तथा पापबन्धनों से मुक्त हो चारित्र्यपूर्ण जीवन स्वीकार करना होगा। इसकी दीक्षा बिना गाथा का मर्मावबोध नहीं हो सकता। हरिभद्र अपनी मानसिक प्रतिज्ञा पालन करने के लिये पहले से ही तय्यार थे। उन्हों ने तत्काल कह दिया कि आप मुझे अपनी दीक्षा देकर गाथा का अर्थबोध देने की कृपा करें। आचार्य जिनभट्टसूरि ने उसी समय हरिभद्र को जैन दीक्षा दी तथा संयम का व्रत प्रदान किया, साथ ही गाथा का अर्थ बता कर उनकी जिज्ञासा पूर्ण की।

दीक्षित होकर श्रीहरिभद्र मुनि ने जैनागम-शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। जैसे जैसे अदृष्ट-कर्म के गम्भीर रहस्य, जीव के भेद प्रभेद, उनकी गति आगति, १४ गुणस्थानक की प्रक्रिया, अनेकान्तवाद, नय प्रमाण सप्तभङ्गी आदि विषय का—जो अन्य सम्प्रदाय और शास्त्रों में उपलभ्य नहीं है— उन्हें ज्ञान मिलता गया, वैसे वैसे उनके आत्मामें वैराग्य और संवेग की तीव्र भावना भी प्रबल होती गयी। साथ ही उन्हें इस बात का भी स्पष्ट आभास होने लगा कि जैनेतर शास्त्र और सिद्धान्तों में कितनी अपूर्णता और अपरिपक्वता है, कितने ऐसे अंश हैं जो तर्क और प्रमाण की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते। जैनशास्त्रों और सिद्धान्तों में जो तार्किकता प्रामाणिकता और निर्दोषता एवं श्रेष्ठता है उनका भी उन्हें अत्यन्त स्पष्ट

अवबोध होने लगा। आखिर एक दिन उनके मुँह से यह उद्गार निकल पड़ा कि "हा अणाहा कहं हुन्ता, जइ न हुन्तो जिणागमो"—हमारे जैसे अनाथजीवों की क्या गति होती यदि विश्व में जैनागमों की सत्ता न होती। परिश्रम, निष्ठा और गुरुभक्ति के साथ अध्ययन के फलस्वरूप बहुत थोड़े ही समय में श्री हरिभद्रमुनि ने जिनागम के सूक्ष्मतम सिद्धान्तों का तलस्पर्शी विस्तृतज्ञान अर्जित कर लिया। उन्होंने जैनशास्त्रों का विशालज्ञान पाण्डित्यप्रदर्शन, शास्त्रीय विवाद अथवा कीर्त्तिलाभ के लिये अर्जित नहीं किया था किन्तु ज्ञान-दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयी की आराधना द्वारा अपने जीवन के परिष्कार और आत्मिक उत्थान के लिये किया था। इसी लिये उनकी परिपूर्ण योग्यता और पवित्र मुनिजीवन में निष्ठा देखकर उनके गुरुदेव ने उन्हें जिनशासन के उत्तरदायित्वपूर्ण महान् तृतीय आचार्यपद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

२–आचार्य श्री हरिभद्रसूरि का महत्त्वपूर्ण शास्त्रग्रथन

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि को केवल अपने आत्मा का उत्थान और अकेले मोक्ष पद पर आरूढ होना ही अभीष्ट नहीं था, अपितु उनके मन में अनन्त संसारी जीव को पाप, अज्ञान और दुःख से मुक्त करने की महती करुणा भी तरङ्गित हो रही थी। वह चाहते थे कि सभी भव्य जीव अपने आन्तरशत्रुओं पर विजय प्राप्त करें, उनका मिथ्यातत्त्वमार्ग का कदाग्रह दूर हो, अपसिद्धान्त पर चिरकाल से जमी हुई उनकी आस्था समाप्त हो, तथा जनता के बीच तर्कप्रमाणसम्मत यथार्थ तत्त्वज्ञान का प्रकाश फैले, श्रेष्ठ शास्त्रीय सिद्धान्त का व्यापक प्रचार हो, जनजीवन में पवित्रता और चरित्रसम्पन्नता का स्वर्णमय अवतरण हो। उनकी इस भावनाने उन्हें नवीन तर्कपुष्ट प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना के लिये प्रेरित किया। वह समय ऐसा था जब द्वादशाङ्ग जिनागम में बारहवाँ अङ्ग 'दृष्टिवाद' केवल मुख पाठ के बल पर जीवित था किन्तु स्मरणशक्ति के ह्रास से वह भी नष्ट होता चला था। केवल एकपूर्व के कुछ अंश बच गये थे। यदि उन बचे हुये अंश को संकलित करने का महत्तम कार्य श्री हरिभद्रसूरि ने न किया होता तो जैन शासन के कई पदार्थ जो अब उपलब्ध हैं वे उपलब्ध न हो सकते। फलतः आज हम भी यह कह सकते हैं कि "हा अणाहा कहं हुन्ता, जइ न हुन्तो हरिभद्दो।"

विषय और कषाय की अग्निज्वाला में जलते हुए प्राणियों पर शम और वैराग्य की शीतल जलधारा की वर्षा के लिये आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने 'समराइच्चकहा' नामक संवेग–वैराग्य के उछलते हुए तरङ्गों से भरपूर एक ऐसा ग्रन्थ लिखा जो प्राकृतभाषा के साहित्य में अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखता और जिसे निर्विवादरूप से प्राकृतभाषा के भण्डागार की सर्वोच्च निधि कहा जा सकता है। बाल जीवों के ज्ञानचक्षु के उन्मीलनार्थ उन्होंने 'षड्दर्शनसमुच्चय' 'अनेकान्तवादप्रवेश' आदि कतिपय लघुकाय ग्रन्थों की रचना की जिनसे अन्यान्य दर्शनों के

सिद्धान्तों का समीचीन परिचय प्राप्त हो सकता है और तुलनात्मक दृष्टि से सभी दर्शनों के अध्ययन कर जैनदर्शन की अन्यापेक्षया विशिष्टता और श्रेष्ठता का परिज्ञान किया जा सकता है।

आत्मवाद के क्षेत्र में प्रचलित दर्शनों के तत्वसिद्धान्तों का तथा उनकी समीक्षा का प्रकाश प्रसारित करने के उद्देश्य से आचार्यश्री ने 'शास्त्रवार्त्तासमुच्चय' नामक एक महान् ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में न केवल जैनशास्त्र के विषयों का विवेचन ही है अपितु जैनेतर सम्प्रदायों और शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों का संकलन, यथासम्भव तर्कों द्वारा उनका प्रतिपादन और उनके सभी पक्षों को विस्तार के साथ समर्थन देकर अत्यन्त निष्पक्ष भाव से उनकी समीक्षा की गयी है। उन शास्त्रों के सिद्धान्तों में जो त्रुटियाँ प्रतीत होती हैं उनके परिमार्जन के लिये जितने भी तर्क हो सकते हैं उन सभी को प्रस्तुत करते हुये उनका खोखलापन दीखा कर बड़ी स्पष्टता से यह सिद्ध किया गया है कि उन सिद्धान्तों में ये त्रुटियाँ वास्तविक हैं और उनका कोई परिहार नहीं हो सकता। जैनसिद्धान्तों की चर्चा के प्रसङ्ग में भी उनके प्रति कोई पक्षपात नहीं दिखाया गया है, उन्हें त्रुटिपूर्ण बताने के लिये जो भी तर्क सम्भव हो सकते हैं उन सभी को सामने खड़ा कर उनकी असत्तर्कता (अयोग्यता) बतायी गया है और यह प्रमाणित किया है कि जैन सिद्धान्तों में जिन त्रुटियों की परिकल्पना की जा सकती हैं उनका कोई आधार नहीं है। इस ग्रन्थ की रचना का यह पवित्र लक्ष्य भी प्रारम्भ में ही बता दिया गया है कि—यह ग्रन्थ जगत् को यथार्थ तत्त्वज्ञान का उपदेश इस ढंग से देने के लिये लिखा जा रहा है जिससे विभिन्न दर्शनों के अनुयायियों में परस्पर द्वेष का उपशम और सत्य ज्ञान का लाभ हो कर सभी का कल्याण हो सके। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त 'ललितविस्तरा' 'अनेकान्तजयपताका' आदि अन्य भी कई ग्रन्थ आचार्य श्री की समर्थ लेखनी से प्राकट्य में आये हैं, जिनका अध्ययन और मनन जिज्ञासु जनों के लिये अनिवार्यरूप से अपेक्षित है।

आज के विद्वद्वर्ग के सम्मुख एक महान् कार्य कर्त्तव्य रूप में उपस्थित है— वह है आचार्य श्री हरिभद्रसूरि के दार्शनिक ग्रन्थों के आधार पर एक तर्कपूर्ण व्यवस्थित सिद्धान्तमाला का संकलन। यदि एक ऐसा विशुद्ध संकलन हो सके तो निश्चितरूप से इसके द्वारा विभिन्न दर्शनों के अनुयायियों में परस्पर सौहार्द और सौमनस्य एवं सामञ्जस्य की भावना जागृत हो सकती है और एक दूसरे की संगत दृष्टि के प्रति यथोचित आस्था की प्रतिष्ठा हो सकती है। प्रत्येक दर्शन का अनुयायी यह तथ्य हृदयङ्गम कर सकता है कि उसे अभिमत दार्शनिक सिद्धान्त नयदृष्टि से कथञ्चित् मान्य एवं उपादेय है और वह इस सत्य को भी स्वीकार कर सकता है कि जैन दर्शन में नय और प्रमाण का विभेद बताकर सभी दार्शनिक सिद्धान्तों के

साथ न्याय करते हुये सभी नयों के समन्वय से एक प्रमाणपरिपुष्ट दार्शनिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की गयी है।

श्री हरिभद्रसूरि महाराज को इस बात का ध्यान सदैव रहता था कि जो बात कही जाय वह सुपरीक्षित हो, किसी सिद्धान्त को त्रुटिपूर्ण और अपने सिद्धान्त को निर्दोष बतानेका एक सर्वमान्य परीक्षात्मक आधार हो। इसी दृष्टि से प्रेरित हो उन्होंने 'धर्मबिन्दु' नामक एक ग्रन्थ की रचना कर यह बताने का प्रयास किया है कि जैसे कष-छेद और ताप इन तीन प्रकारों से सुवर्ण की परीक्षा की जाती हैं उसी प्रकार समीचीन तर्कों के आधार पर निष्पक्ष-भाव से स्थापना, प्रतिस्थापना और इन दोनों की समीक्षा द्वारा निष्कर्षप्राप्ति की प्रणाली से शास्त्रीयविषयों की भी परीक्षा की जानी चाहिये तथा इस प्रकार की परीक्षा से विशुद्ध सिद्ध होने वाले पक्ष को ही सिद्धान्त का रूप देना चाहिये। सुपरीक्षित सत्य का आश्रय लेने से मनुष्य कुमार्ग पर जाने से बच जाता है तथा सन्मार्ग पर चल कर अपने वास्तविक आत्महित की साधना कर सकता है और दिशाहीन हो कर इधर उधर भटकने में जीवन के बहुमूल्य क्षणों को नष्ट करने की दुःस्थिति में वह नहीं पडता।

आचार्य श्री ने यह कहा है कि कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो इन्द्रियातीत एवं तर्कातीत हैं, उनकी अवगति (बोध) केवल भाव और श्रद्धा से ही सम्भव हो पाती है। ऐसे पदार्थों के विषय में उन्होंने श्री सिद्धसेन दिवाकर का अनुसरण किया है और कहा है कि इन श्रद्धागम्य अतीन्द्रिय पदार्थों को तर्क की तुलापर तोलने का प्रयास अनुचित है क्योंकि तर्कों में इन पदार्थों का भार सहन करने की क्षमता नहीं होती। इस संबन्ध में बुद्धिधन भर्तृहरि के इस कथन को उन्होंने दोहराया है कि श्रद्धागम्य-अतीन्द्रिय पदार्थ यदि तर्क की परिधि में आ सकते तो तर्कवादियों ने अब तक उनके विषय में अन्तिम निष्कर्ष की दुन्दुभि बजा दी होती। अतः विवेकशील मुमुक्षुजनों का हित इसी में है कि वे ऐसे पदार्थों के विषय में शुष्क तर्कों के बीच निरर्थक चक्कर न लगाकर उन्हें श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर उनका आत्मा के उन्नयन में उपयोग करें।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने केवल दार्शनिक तत्त्वों पर ही अपनी लेखनी को गतिशील नहीं रखी है अपितु जनता को निष्कलुष जीवन बिताने और सच्चारित्र्य का पालन करने की शिक्षा देने के लिए भगवान द्वारा उपदिष्ट आचारों का संकलन कर 'पञ्चवस्तु' जैसे यति-आचारशास्त्र तथा 'पञ्चाशक' जैसे श्रावक-आचारशास्त्र की अवतरणा के लिये भी उसे क्रिया-शील किया है जिसके फलस्वरूप आचारशास्त्र के ऐसे उत्तम ग्रन्थ भाग्यवान जनों को सुलभ हो सकते हैं। इतना ही नहीं कि उनकी लेखनी ने मात्र दार्शनिक तत्त्व और जीवन के परिष्कारक आचार तक ही यात्रा कर विश्राम ले लिया किन्तु वह उस विषय के प्रतिपादन तक

अविश्रान्त भाव से चलती रही जिसके बिना मनुष्य का न तो तत्त्वदर्शन ही पूरा हो पाता और न चारित्र्य ही मोक्षात्मक लक्ष्य के साधन में सफल हो पाता। वह विषय है ध्यानसाधना, इस पर भी आचार्य ने कई ग्रन्थ लिखे, जैसे ध्यानशतकटीका, योगशतक, योगविंशिका, योगबिंदु, योगदृष्टिसमुच्चय, ब्रह्मप्रकरण आदि। निश्चय ही ये ग्रन्थ मोक्षमार्ग के पथिक साधक के लिये महान् संबल है।

परवर्ती प्रायः सभी जैनाचार्यों ने कहा है कि आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने मनुष्य जाति के आत्मोन्नायक विविध विषयों पर करिब १४४४ शास्त्रग्रन्थ की रचना की है। यह विशाल रचना अत्यन्त स्पष्टरूप से इस तथ्य को संकेतित करती है कि आचार्य श्री के जीवन का सम्पूर्ण समय श्रुतोपासना में ही जाता रहा जिसके फलस्वरूप अज्ञानजगत् को उनकी कृतियों के रूप में पर्याप्त समृद्धि सुलभ हो सकी।

३—आचार्य श्री हरिभद्रसूरि के जीवन की विशिष्ट घटना

आचार्य श्री के संसारावस्था के दो भगिनीपुत्र थे जिनका नाम था हंस और परमहंस। इन दोनों ने आचार्य श्री का शिष्यत्व स्वीकार कर शास्त्र का अच्छा वैदुष्य प्राप्त किया था। एक दिन दोनों ने आचार्य श्री के चरण का स्पर्श कर उस बात के लिए उनकी आशिर्वादपूर्वक अनुमति माँगी कि वे बौद्ध पाठशाला में जाकर बौद्धमत का साम्प्रदायिक अध्ययन करें जिससे उस के एकान्तमत का यथोचित खण्डन कर सके। गुरुदेव ने इस प्रयास को संकटपूर्ण बताकर उन्हें ऐसा करने से विरत करना चाहा किन्तु उनका प्रबल उत्साह देखकर (मूक) अनुमति दे दी। इन शिष्यों ने बौद्धमठ में जाकर तदनुकूल वेष में रहते हुए बौद्धशास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ किया। ये प्रति दिन बौद्धसिद्धांत के समर्थन में जिन तर्कों का अध्ययन करते थे उनके खण्डनक्षम प्रतिकूल तर्क गुप्तरूप से भोजपत्र पर लिखते जाते थे। एक दिन एक भोजपत्र बौद्धाचार्य के पास पहुँच गया। उसने इन अकाट्य प्रतितर्कों को देखकर सोचा कि ये किसी जैन के ही हो सकते हैं। अन्वेषण करने पर उसे ज्ञात हुआ कि यह कार्य हंस और परमहंस का है। वह इन दोनों पर आगबबूला हो उठा और इन्हें मार डालने के लिए अपने सक्र गतिमान कर दिये। बौद्धाचार्य के इस क्रूर कर्म की जानकारी होते ही बौद्ध तर्कों के खण्डनात्मक प्रतितर्कों लिखने का अभी तक का सारा परिश्रम बेकार न हो जाय, इस विचार से वे दोनों ही शिष्य अपने भोजपत्र को लेकर बौद्धमठ से भाग निकले। बौद्धाचार्य के दूसरे बौद्ध शिष्य ने उनका पीछा किया। भागनेवाले शिष्य ने मार्ग में किसी एक राजा से आश्रय की माँग की। राजा यद्यपि बौद्ध के क्रूर आचार से बौद्ध के प्रति कुदृष्टि रखता था, फिर भी बौद्ध के दाक्षिण्य के कारण उन्हें आश्रय न दे सका। हंस और परमहंस वहाँ

से भागे किन्तु बौद्ध ने निकट आकर संघर्ष मचाने पर उन्होंने सोचा कि अब भागने से काम न चलेगा, उचित यह है कि हम इनसे संघर्ष कर ले और जब ये संघर्षरत हो जाय तब हम में से एक व्यक्ति इन्हें संघर्ष में फँसा रखे और दूसरा व्यक्ति लिखित भोजपत्र के साथ चुपकीदी से भाग निकले। फलतः इस संकटग्रस्त बुद्धिमान शिष्ययुगल में से एकने जिन-शासन की सेवामें आत्म-बलिदान को अपूर्व लाभ मानकर बौद्ध शिष्यों के साथ संघर्ष करते हुये जिनधर्म की सेवा की वेदी पर अपने प्राण न्योछावर कर दिये और दूसरा भागता दौड़ता किसी प्रकार आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि के चरणों के निकट पहुँच गया और भोजपत्र पर लिखित बौद्ध तर्कों का खण्डनात्मक पुस्तक गुरुदेव को समर्पित कर दिया और बौद्धों की क्रूरता से भरी बीती घटना का वर्णन करते हुए श्रमजन्यपीडा और बौद्धो की क्रूरतासे जनित मनोदुःख को न सह सकने के कारण उसे अकाल काल के कराल गाल में समा जाना पड़ा। जिनशा-सनामृत के अनवरत पान से अत्यन्त प्रशान्त भी आचार्य का हृदय अपने शिष्यों पर बीती क्रूरतापूर्ण घटना और उनके करुण अन्त से उद्दीप्त हो ऊठा और क्रोधाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला से तमतमा ऊठा। उन्होंने तत्काल राजा के पास पहुँचकर इस पणबन्ध के साथ भी राज-सभा में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ करने की घोषणा की कि जो शास्त्रार्थ में पराजित हो वह अग्नि की तीव्र ज्वाला पर उबलते हुये तैल के तप्त कटाह में कूद कर प्राणत्याग करे। राजा की देखभाल में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। श्री हरिभद्रसूरि ने स्याद्वाद के अभेद्य कवच का आश्रय ले अपने सिद्धांत की रक्षा करते हुए अपने अकाट्य तर्कों से एक एक कर १४४४ बौद्धवि-द्वानों का मानमर्दन कर समग्र बौद्धसिद्धान्तों को धराशायी बना दिया। राजसभा में जैन-शासन की विजय-दुन्दुभी बजने लगी। और पराजित बौद्धों को पूर्व घोषित पणबन्ध के अनु-सार उबलते तैल के कटाहों में निक्षिप्त करने की तय्यारी होने लगी। जब यह घटना आचार्य के गुरुदेव श्री जिनभट्टसूरि को ज्ञात हुई तो उन्होंने इस महान् अनर्थ को रोकने के लिये आचार्य के पास तीन प्राकृत गाथायें लिख भेजी, जिनमें गुणसेन तथा अग्निशर्मा के प्रथम भव से समरादित्य केवली तथा गिरिसेन नामके नवम भवतक के नामों का उल्लेख था और अन्तमें लिखा था 'एक्कस्स तओ मोक्खो, बीअस्स अणंतसंसारो' अर्थात् अनेक जन्मों से क्षमा-उपशम का अभ्यास करने वाले अकेले समरादित्य को मोक्षलाभ हुआ और अन्य अग्निशर्मा को उनके क्रोधी स्वभाव के कारण अनन्तसंसार परिभ्रमण का उपार्जन करना पडा। इन गाथाओं ने आचार्य के क्रोधतप्त हृदय पर शीतलजल की मूसलधार वर्षा का काम किया। उनका हृदय शान्त हो गया। उन्होंने पराजित बौद्धों को प्राणदान दिया और स्वयं अपने गुरुदेव के पास जा कर उनके चरणों में शिर रखा और अपने क्रोध के लिए

प्रायश्चित्त की माँग की तथा अपनी ओर से आत्मशुद्धि के लिए १४४४ ग्रन्थों की रचना करने की भीष्म-प्रतिज्ञा की जिसके पालन की पहली फलश्रुति 'समराइच्चकहा' की रचना हुई।

४-आ. श्री हरिभद्रसूरिजी का समय-निर्णय

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने बहुत ग्रन्थों की रचना की है किन्तु किसी भी ग्रन्थ में रचना संवत् का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त न होने के कारण उनका समय विद्वानों के बीच भारी चर्चा का विषय बन गया। श्री हरिभद्रसूरिजी के समय का निर्णय करने के लिए जितनी सामग्री उपलब्ध है उससे तीन मत फलित होते हैं जिन में दो मत प्राचीन हैं और एक आधुनिक हैं।

[१]—प्रथम मत यह है कि हरिभद्रसूरिजी विक्रम संवत ५८५ में स्वर्गवासी हुए—इस मत के समर्थन में अनेक प्रमाण दिये जाते हैं, जिनमें यह गाथा मुख्य है—

पंचसए पणसीए विक्कमकालाओ झत्ति अत्थमिओ।
हरिभद्दसूरीसरो भवियाणं दिसउ कल्लाणं॥

यह गाथा वि. सं. १३३० में श्री मेरुतुङ्गसूरि द्वारा विरचित प्रबन्धचिन्तामणि नामक ग्रन्थ में उद्धृत की गई है—जिसके कारण इस मत की प्राचीनता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त विचारश्रेणी आदि अनेक ग्रन्थों में भी यह उपलब्ध होती है। यद्यपि कुछ ग्रन्थकारों ने वि. सं. ५५५ वर्ष में श्री हरिभद्रसूरि के स्वर्गवास का कथन किया है, फिर भी विक्रम की छठी शताब्दी तो प्रायः सर्वमान्य है।

श्री हरिभद्रसूरिजीने लघुक्षेत्रसमास की वृत्ति बनाई है—जिसका उल्लेख जेसलमेर और संवेगी उपाश्रय (अहमदाबाद) के भाण्डागार की हस्तलिखित प्रत के अन्त भाग में निम्नलिखितरूप में प्राप्त होता है—

"लघुक्षेत्रसमासस्य वृत्तिरेषा समासतः। रचिताऽबुधबोधार्थं श्रीहरिभद्रसूरिभिः॥१॥
पञ्चाशितिकवर्षे विक्रमतो व्रजति शुक्लपञ्चम्याम्। शुक्रस्य शुक्रवारे पुष्ये शस्ये च नक्षत्रे॥२॥

यहाँ द्वितीयगाथा में विक्रम से ८५ वर्ष में शुक्लपञ्चमी के दिन शुक्रवार को ग्रन्थ रचना का समय बताया है—किन्तु पञ्चाशिति शब्द से मात्र ८५ लेने में तो बहुत बाधायें हैं, अतः पञ्च-अशिति से ५८० का ग्रहण सम्भव हो सकता है जिससे प्रथम मत ही पुष्ट होता है।

जैन परम्परा में यह भी एक वृद्धप्रवाद है और कई ग्रन्थकार ने भी बताया है कि श्री हरिभद्रसूरि 'पूर्व' नामके श्रुत का बहुमात्र विच्छेद होने के निकटकाल में ही हुए थे और उस समय तक बचे हुए पूर्व के अंशों का संग्रहकार्य उन्होंने किया था। श्री

हरिभद्रसूरि–विरचित महान् ग्रन्थराशि को देखने से भी इस कथन को पुष्टि होती है और साथ ही विक्रम के बाद साधिक ५०० वर्ष पश्चात् पूर्वश्रुत का विच्छेद होने से आचार्यदेव श्रीहरिभद्रसूरिजीके उपर्युक्त समय का समर्थन होता है ।

[२]– आधुनिक विद्वानों का एक मत यह है कि श्रीहरिभद्रसूरि का जीवनकाल वि. सं. ७५७से ८२७ के बोच में था। जिनविजय नामके गृहस्थ ने 'जैन साहित्य संशोधक' के पहले अङ्क में 'हरिभद्रसूरि का समय निर्णय' शीर्षक से एक विस्तृतनिबन्ध में इस मत को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया हैं–इस का सारांश यह है कि श्रीहरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में व्याकरणवेत्ता भर्तृहरि, बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति और मीमांसक कुमारिल आदि अनेक ग्रन्थकारों का नामशः उल्लेख किया है। जैसे अनेकान्तजयपताका के चतुर्थ अधिकार की स्वोपज्ञ टीकामें 'शब्दार्थतत्त्वविद् भर्तृहरिः' तथा 'पूर्वाचार्यैः धर्मपाल-धर्मकीर्त्यादिभिः' इस प्रकार उल्लेख किया है । शास्त्रवार्त्ता–समुच्चय के श्लोकांक २९६ की स्वोपज्ञ टीकामें 'सूक्ष्मबुद्धिना शान्तरक्षितेन' तथा श्लोकाङ्क ८१ में 'आह च कुमारिलादिः' ऐसा कहा गया है।

इन चार आचार्यों का समय इस प्रकार प्रसिद्ध है–ई. स. की ७ वीं शताब्दी में भारतप्रवासी चीनदेशीय इत्सिंग ने ७०० श्लोकमित 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ की रचना करने वाले भर्तृहरि की वि. सं. ७०७ में मृत्यु होने की बात कही है। कुमारिल का समय विक्रम की ८ वी शताब्दी का उत्तरार्ध बताया जाता है। धर्मकीर्त्ति का भी नामोल्लेख इत्सिंगने किया है इससे जिनविजय ने उसका समय इ. स. ६३५-६५० के बीच मान लिया है। 'शास्त्रवार्त्ता०' में जिस शान्तरक्षित का नामोल्लेख है यदि वह ही तत्त्वसंग्रह का रचयिता हो तो उसका समय विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार इ. स. ७०५ से ७६२ इ. स. के बीच है। यहाँ एक बात पर ध्यान देने योग्य है कि तत्त्वसंग्रह के टीकाकार कमलशील ने पञ्जिकामें 'तथा चोक्तमाचार्यसूरिपादैः' ऐसा कह कर जिस सूरि का उल्लेख किया है उस सूरि को विनयतोषभट्टाचार्य ने तत्त्वसंग्रह के इंगलिश फोरवर्ड में हरिभद्रसूरि ही बताया हैं। पीटरसन के रीपोर्ट के 'पञ्चसए' ऐसा पाठ वाली गाथा के अधार पर उन्होंने हरिभद्र-सूरिजी का स्वर्गवास वि. सं. ५३५ में माना हैं । किन्तु श्रीहरिभद्रसूरिजी ने ही स्वयं शान्तरक्षित का नामोल्लेख किया हैं इस लिये लगता है कि तत्त्वसंग्रह पञ्जिका में उल्लिखित अचार्यसूरि हरिभद्रसूरि न होकर अन्य होंगे ।

इन ४ प्राचीन विद्वानों का समय विक्रमीय ८ वीं शताब्दी होने से जिनविजय ने श्री हरिभद्रसूरिजी को ८ वीं शताब्दी के विद्वान माना है और ८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विशेषतः उनका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए 'कुवलयमाला' के प्रशस्तिपद्य की साक्षी दी है वह पद्य इस प्रकार है–

"आयरियवीरभद्दो अहावरो कप्परुक्खोव्व ॥
सो सिद्धन्तेण गुरु जुत्तिसत्थेहिं जस्स हरिभद्दो ।
बहुगंथसत्थवित्थरपत्थारियपयडसव्वत्थो ॥

इस पद्य का जिनविजय ने यह अर्थ किया है 'आचार्य वीरभद्र सो जिसके सिद्धान्तों को पढ़ाने वाले गुरु हैं और जिन्हों ने अनेक ग्रन्थों की रचना कर समस्त श्रुत का सर्वार्थ प्रकट किया है वे आचार्य हरिभद्र जिसके प्रमाण और न्यायशास्त्र के पढ़ाने वाले गुरु हैं।' कुवलयमाला की रचना यतः वि. सं. ८३५ में होना निश्चित है इसलिए इस पद्य के अधार पर जिनविजय ने श्री हरिभद्रसूरिजी और कुवलयमाला का पूर्वापरभाव निश्चित कर के श्री हरिभद्रसूरिजी को ८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और नवीं शताब्दी के मध्य में माना है ।

जिनविजय की भ्रान्ति

श्री हरिभद्रसूरिजी का समय अन्यप्रमाणों से कुछ भी निश्चित हो किन्तु कुवलयमाला के उक्त पद्य के आधार पर तो जिनविजय ने जो निर्णय किया है वह अवश्य भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है–इसका कारण यह है कि जिनविजय को उस पद्य का अर्थ समझने में गलती हुई है क्योंकि उन्होंने 'सो सिद्धन्तेण गुरु' यहाँ तत्पद के प्रतिनिधि 'सो' पद से वीरभद्र का ग्रहण किया है और उसी पद्य के अगले पाद में 'जस्स' पद से उन्हों ने कुवलयमालाकार का ग्रहण कर हरिभद्रसूरिजी को कुवलयमालाकार का युक्तिशास्त्रगुरु बताया है। अब व्याकरण का यह नियम प्रायः सर्वविदित है कि 'जिस पद्य में तत्पदसे जिसका ग्रहण होता है उस पद्य में यत्पद से भी उसी का ग्रहण होता है क्योंकि यत् और तत् पद परस्परमें नित्य साकांक्ष होते हैं' इस नियम के अनुसार 'सो (सः)' पद से यदि आचार्य वीरभद्र को लिया जायगा तो 'जस्स (यस्य)' पद से भी (वीरभद्दस्स) वीरभद्र को ही लेना होगा और ऐसा करने से पद्य का अर्थ यह होगा कि 'तर्कशास्त्रों के विषयमें आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी आचार्य विरभद्र के गुरु थे' न कि जैसा जिनविजय ने माना है कि 'श्री हरिभद्रसूरि कुवलयमालाकार के गुरु थे' । इस प्रकार उक्त पद्य के अनुसार आचार्य वीरभद्र कुवलयमालाकार के सिद्धान्त गुरु और आचार्य हरिभद्रसूरि आचार्य वीरभद्र के तर्कशास्त्रगुरु सिद्ध होते हैं। इस विधान में कुवलयमालाकार के ही अन्य पद्य को साक्षिरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–जैसे—

"जो इच्छइ भवविरहं भवविरहं को न वंदए सुजणो ।
समयसयसत्थगुरुणो समरमियंका कहा जस्स ॥"

इस पद्य में कुवलयमालाकार ने श्रीहरिभद्रसूरिजी को स्मरण तो किया है किन्तु उनको अपना तर्कशास्त्रगुरु बताने की कोई सूचना नहीं दी है। यदि श्री हरिभद्रसूरि कुवलयमालाकार के तर्कशास्त्रगुरु होते तो उन्हों ने उनका उसरूपमें अवश्य स्मरण किया होता, किन्तु उन्हों ने ऐसा नहीं किया इससे सिद्ध होता है कि श्री हरिभद्रसूरिजी कुवलयमालाकार श्री उद्योतनसूरिजी के साक्षात् तर्कशास्त्रगुरु नहीं थे। निष्कर्ष यह है कि जिनविजय के प्रयास के अनुसार श्री हरिभद्रसूरि यदि ८ वीं शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हों तो भी जिन जिन ग्रन्थकारों का नामोल्लेख श्री हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में किया है उन सभी के उनका पूर्ववर्ती होने से उन्हें ८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान मानना ही उचित होगा। जिससे कुवलयमालाकार के सिद्धान्तगुरु वीरभद्र के तर्कशास्त्रगुरु से उनके श्री हरिभद्रसूरि का समय कमसे कम ५० से ७५ वर्ष तक पूर्व युक्तियुक्त हो सके।

३)–तृतीयमत जो हर्मन जेकोबी को अधिक अभिमत है–श्री हरिभद्रसूरि उपमिति-भवप्रपञ्चकथाकार श्री सिद्धर्षि के गुरु थे। इस बात में 'उपमिति०' के ये प्रशस्तिपद्य प्रमाण-रूप से प्रस्तुत किये जाते हैं–

आचार्यहरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः। प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाद्ये निवेदितः ॥१॥
अनागतं परिज्ञाय चैत्यवन्दनसंश्रया। मदर्थैव कृता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥२॥"

इन दो पद्यों से यह तो स्पष्ट है कि इस में उल्लिखित हरिभद्रसूरिजी वही व्यक्ति है जिनके समय का विचार किया जा रहा है। किन्तु उपमितिकार का समय 'उपमिति० के निम्नोक्त पद्यसे विक्रम की दशवीं शताब्दी में सिद्ध होता है जैसे–

"संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहितेऽतिलङ्घिते चास्याः।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥"

इस श्लोक से ज्ञात होता है कि 'उपमिति'० की समाप्ति वि० सं० ९६२ में हुई थी। जेकोबी के मतानुसार यदि श्री हरिभद्रसूरि जी को श्री सिद्धर्षि के साक्षात् गुरु माना जाय तो अत्यन्त प्रामाणिक शक संवत् ६९९ (वि० सं० ८३५) में कुवलयमाला की समाप्ति करने वाले उद्योतनसूरि द्वारा किया गया श्री हरिभद्रसूरि का नामोल्लेख असंगत हो जाता है और ५८५ में श्री हरिभद्रसूरि का स्वर्गवास के मत का भी विरोध होता है, इसलिए हर्मन जेकोबी के इस तृतीयमत को कोई भी आधुनिक विद्वान् नहीं मानते। श्री सिद्धर्षि ने अपने गुरु रूप में श्री हरिभद्रसूरि जी का जो स्मरण किया है वह इसलिए कि उन्हें श्री हरिभद्रसूरि-विरचित 'ललितविस्तरा' वृत्ति से सद्बोध हुआ था।

निष्कर्ष

उपर्युक्त तीन मतों के सम्बन्ध में निष्पक्ष विचार करने से यह तथ्य प्रकट होता है कि उक्त मतो में प्रथम मत जो कि ५८५ वि० सं० के पक्ष में है, श्रेष्ठ और अधिक विश्वसनीय है। प्राचीन अनेक ग्रन्थकारों ने श्री हरिभद्रसूरि को ५८५ वि० सं० में बताया है। इतना ही नहीं, किन्तु श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने स्वयं भी अपने समय का उल्लेख संवत्–तिथि–वार–मास और नक्षत्र के साथ लघु क्षेत्रसमास की वृत्ति में किया है जिसवृत्तिके ताडपत्रीय जेसलमेर की प्रत का परिचय मु० श्री पुण्यविजय सम्पादित 'जेसलमेरकलेक्शन' पृष्ठ ६८ में इस प्रकार प्राप्य है–'क्रमांक १९६– जम्बूद्विपक्षेत्रसमास वृत्ति–पत्र २६–भाषाः प्राकृत–संस्कृत–कर्ताः हरिभद्र आचार्य, ले० सं० अनुमानतः १४ वीं शताब्दी।'

इस प्रति के अन्त में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है :–

इति क्षेत्रसमासवृत्तिः समाप्ता। विरचिता श्री हरिभद्राचार्यैः ॥छ॥

लघुक्षेत्रसमासस्य वृत्तिरेषा समासतः। रचिताऽबुधबोधार्थं श्री हरिभद्रसूरिभिः ॥१॥

पञ्चाशितिकवर्षे विक्रमतो व्रजति शुक्लपञ्चम्याम्। शुक्रस्य शुक्रवारे शस्ये पुष्ये च नक्षत्रे ॥२॥

ठीक इसी प्रकार का उल्लेख अहम्मदाबाद–संवेगी उपाश्रय के हस्तलिखित भंडार की एक सम्भवतः १५ वी शताब्दी में लिखी हुयी क्षेत्रसमास की कागज की प्रति में उपलब्ध हो रहा है।

दूसरी गाथा में स्पष्टशब्दों में श्री हरिभद्रसूरिजी ने लघुक्षेत्रसमासवृत्ति का रचना काल वि.सं. (५)८५, पुष्यनक्षत्र शुक्र(ज्येष्ठ) मास-शुक्रवार-शुक्लपंचमी बताया है। यद्यपि यहाँ वि.सं. ८५ का उल्लेख है तथापि जिन वार–तिथि—मास—नक्षत्र का सह उल्लेख है उनके साथ वि.सं. ५८५ का ही मेल बैठता है। अहमदाबाद–वेधशाला के प्राचीन ज्योतिषविभाग के अध्यक्ष श्री हिम्मतराम जानी ने ज्योतिष और गणित के आधार पर जाँच कर के यह बताया है कि उपर्युक गाथा में जिन वार तिथि इत्यादि का उल्लेख है वह वि.सं. ५८५ के अनुसार बिलकुल ठीक है–ज्योतिषशास्त्र के गणितानुसार प्रामाणिक है। उन्होंने सारा गणित कर के उक्त बात बतायी है किन्तु यहाँ आवश्यक न होने से उस विस्तारापादक प्रस्तुति का परित्याग किया गया है।

इस प्रकार श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने स्वयं ही अपने समय की अत्यन्त प्रामाणिक सूचना दे रखी है तब उससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है जो श्री हरिभद्रसूरि के इस समय की सिद्धि में बाधा डाल सके ! शंका हो सकती है कि–" यह गाथा किसी अन्य ने

प्रक्षिप्त की होगी''—किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रक्षेप करने वाला केवल संवत् का उल्लेख कर सकता है किन्तु उसके साथ प्रामाणिक वार—तिथि आदि का उल्लेख नहीं कर सकता। और यदि इतने प्रामाणिक उल्लेख को भी प्रक्षिप्त कहा जायगा तब तो कुवलयमाला आदि में प्राप्य उल्लेखों के बारे में भी यह कैसे कहा जा सकेगा कि यह उल्लेख प्रक्षिप्त नहीं किन्तु प्रामाणिक है। हाँ, यदि धर्मकीर्ति आदि का समय इस समय में बाधा कर रहा हो तो उचित यह है कि उनके समय के निर्णय की ही पुनः जाँच की जाय, यतः धर्मकीर्ति आदि के समय का बोधक जो इत्सिंग आदि का लेख है उससे केवल संवत्सर की ही सूचना मिलती है—जब कि श्री हरिभद्रसूरिजी के इस उल्लेख से तिथि आदि का भी बोध मिलता है। इस लिये श्री हरिभद्रसूरि के समयोल्लेख के इत्सिंग आदि के समयोल्लेख से अधिकपुष्ट एवं बलवान होने से धर्मकीर्ति आदि के समयोल्लेख के आधार पर श्रीहरिभद्रसूरिजी को विक्रम की छठ्ठी शताब्दी से खींच कर ८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ले जानेकी अपेक्षा उचित यह है कि श्री हरिभद्रसूरिजी के इस अत्यन्त प्रामाणिक समय उल्लेख के बल से धर्मकीर्ति आदि को ही छठ्ठी शताब्दी के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध में ले जाया जाय। अतः श्रीहरिभद्रसूरि को कुवलय-मालाकार के साक्षात् तर्कशास्त्रगुरु मान कर उनको ८वीं शताब्दी में अवस्थित मानना अत्यन्त भ्रमपूर्ण है — इस बात की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। कुवलयमालाकार का उल्लेख श्री हरिभद्रसूरिजी को विक्रमीय छठ्ठी शताब्दी का विद्वान् मानने में तनिक भी बाधक नहीं हो सकता। श्री वीरभद्राचार्य कुवलयमालाकार के साक्षात् गुरु माना जाय तो भी 'युक्तिशास्त्रों द्वारा श्री वीरभद्राचार्य के गुरु श्री हरिभद्रसूरिजी है,' इस उल्लेख का यह अर्थ करने में कोई बाधक नहीं है कि 'परम्परा से श्रीहरिभद्रसूरिजी श्री वीरभद्राचार्य के विद्यागुरु थे'। क्योंकि श्री हरिभद्रसूरि के'ललितविस्तरा' शास्त्र से जैसे उपमितिकथाकार श्री सिद्धर्षि प्रबुद्ध हुए थे उसी प्रकार श्रीहरिभद्रसूरि के तर्क ग्रन्थों से श्री वीरभद्राचार्य ने जैन—जैनेतर तर्क सिद्धान्तों का पर्याप्त बोध प्राप्त किया होगा।

सारांश यह है कि (१) पूर्वश्रुत के विच्छेदकाल के निकट के समय में विद्यमान होने से तथा विचारश्रेणिप्रकरणकार आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों का वि० सं० ५८५ वाला प्राचीन मत होने से तथा श्रीहरिभद्रसूरिजी ने स्वयं अपना काल लघुक्षेत्रसमासवृत्ति में बताया है इसलिये श्री हरिभद्रसूरि महाराज विक्रम की छठ्ठी शताब्दी में हुए यह सत्य निश्चित होता है।

(२) धर्मकीर्ति आदि विद्वानों का समय प्रमाणिक और निश्चित न होने से उपर्युक्त मत में तनिक भी बाधक नहीं है।

५–स्याद्वादकल्पलता–व्याख्याकार श्रीमद् यशोविजय उपाध्याय

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि महाराज के बाद जैन परम्परा में अनेक मुनीश्वर हुए जिनमें सिद्ध-र्षिगणी–आचार्य मुनिचन्द्रसूरि–आचार्य हेमचन्द्रसूरि–आ० गुणरत्नसूरि आदि विद्वान् प्रभावक आचार्यों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन आचार्यों ने अनेक जैन तर्कशास्त्रग्रन्थों का प्रणयन कर जिनशासन के प्रकाश भरे प्रदीप को चिरकाल तक जाज्वल्यमान रखा।

इसी रत्नप्रसू परम्परा में १७ वीं शती में एक ऐसे पुरुषरत्न श्री यशोविजय महाराज का उद्गम हुआ जिनका चतुर्दिक्प्रसरी बौद्धिक प्रकाश ग्रन्थों के रूप में आज भी मुमुक्षुजनों के लिए जैन शास्त्रों का रहस्य जानने का उत्तम साधन बना हुआ है। उनकी अनेकमुखी प्रखर प्रतिभा ने श्रीहरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन कर जो नवनीत निकाल कर जिज्ञासुओं को प्रदान किया है उस के कारण जैन मुनिवर्ग में लघु हरिभद्र के उपनाम से उनकी प्रसिद्धि है। उन्होंने स्याद्वाद के बल से दुर्जय वादियों को पराजित करके जिनशासन और अनेकान्तवाद की जयपताका काशी के गगन में लहराई थी। उनके उस विजय से आश्चर्यमुग्ध हो काशी की विद्वन्मंडली ने उन्हें 'न्यायविशारद' बिरुदप्रदान किया था। नवीनन्यायशैली के प्रणेता 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थकार गङ्गेशोपाध्याय और उनके प्रसिद्ध टीकाकार रघुनाथ शिरोमणि के मन्तव्यों के सूक्ष्म समालोचन और खंडन भरे उनके अनेक तर्कग्रन्थोंको देख कर आग्रा में भट्टा-चार्य ने उन्हें 'न्यायाचार्य'की उपाधि प्रदान की थी।

शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय मूलग्रन्थ की रचना करने वाले आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिमहाराज ने स्वयं उस ग्रन्थ की गूढग्रन्थियों को खोलने के लिये 'दिक्प्रदा' नामक एक व्याख्याग्रन्थ की रचना की थी। किन्तु नामअनुसार इस ग्रन्थ में श्लोक का अर्थ लगाने के लिये केवल दिशा-प्रदर्शनमात्र किया गया था जिससे उसके तात्पर्य तक पहुँचने के लिये अध्येतावर्ग को उसकी विशद व्याख्या की आवश्यकता का अनुभव होता था। उपाध्याय श्रीमद् यशोविजय महाराज ने सरलता से इस समस्या का समाधान कर दिया। अध्येतागण शास्त्रवार्त्ता के हार्द को आत्मसात् करते हुये उसका अध्ययन सुगमता से कर सके इस उद्देश्य से उन्हों ने 'स्याद्वादकल्पलता' नामक एक विस्तृत व्याख्या लिखी जिसमें मूलग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ व्याख्या के अनुसार मूलग्रन्थ के मर्मस्थलों पर विशद प्रकाश डाला गया। अभ्यासी वर्ग को शास्त्रवार्त्ता के तात्पर्यफल को हस्तगत करने में सचमुच इस व्याख्या ने कल्पलता का ही कार्य किया है। केवल इतना ही नहीं किन्तु जैनेतर-दर्शन के अनेक अपक्व अपूर्ण या अर्धपूर्ण सिद्धान्तों की नवीनन्याय- शैली से कड़ी आलोचना कर उन सिद्धान्तों को किस प्रकार पूर्ण बनाया जा सकता है इस दिशा में भी

इस व्याख्या द्वारा पर्याप्त मार्गदर्शन किया गया है। इस में कोई सन्देह नहीं है कि अनेक वादस्थलों की विस्तृत चर्चा से यह व्याख्याग्रन्थ भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा बन गया है।

मूल शास्त्रवार्त्ताग्रन्थ को ११ विभागों में वर्गीत करके प्रत्येक विभाग में भिन्न भिन्न दर्शनों के अनेक सिद्धान्तों को विस्तार से पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर अनेक नवीन युक्तियों से उनके उत्तरपक्ष को उपस्थित किया गया है जो अतीव बोधप्रद एवं आनन्ददायक है। प्रथमस्तबक में भूतचतुष्टयात्मवादी नास्तिक मत का खण्डन है। दूसरे में काल-स्वभाव-नियति-कर्म इन चारों की अन्यानपेक्ष कारणता के सिद्धान्त का खण्डन है। तीसरे में न्याय--वैशेषिक अभिमत ईश्वरकर्तृत्व और सांख्याभिमत प्रकृति--पुरुषवाद का खण्डन है। चतुर्थ स्तबक में बौद्धसम्प्रदाय के सौत्रान्तिकसम्मत क्षणिकत्व में बाधक स्मरणाद्यनुपपत्ति दीखाकर क्षणिक बाह्यार्थवाद का खण्डन है। पंचम स्तबकमें योगाचार अभिमत क्षणिकविज्ञानवाद का खण्डन है। छट्ठे स्तबकमें क्षणिकत्वसाधक हेतुओं का निराकरण किया गया है। सातवे स्तबकमें जैन मत से स्याद्वाद का सुंदर निरूपण किया गया है। आठवेस्तबकमें वेदान्ती अभिमत अद्वैतवाद का खंडन विस्तार से बताया गया है। नववेस्तबकमें जैन आगमों के अनुसार मोक्षमार्गकी मीमांसा की गई है। दसवे स्तबकमें सर्वज्ञ के अस्तित्व का समर्थन किया गया है और ग्यारहवे स्तबकमें शास्त्रप्रामाण्य को स्थिर करने के लिये शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध न मानने वाले बौद्धमत का प्रतिकार किया गया है। इन सभी स्तबको में मुख्य विषय के निरूपण के साथ अनेक अवान्तर विषयों का भी निरूपण किया गया है, जिन में अन्त में स्त्रीवर्ग की मुक्ति का निषेध करनेवाले जैनाभास दिगम्बरमत की पूर्ण एवं गम्भीर आलोचना की गयी है। श्रीउपाध्यायजी ने अपनी स्याद्वाद-कल्पलता में जैनेतर दार्शनिकों के अनेकमतों की बडी गहरी समीक्षा और अलोचना की है।

स्याद्वाद-कल्पलता की रचना करनेवाले श्रीयशोविजयजी महाराज ने आगम-प्रकरण-तर्क-साहित्य-काव्य आदि अनेक विषयों पर अन्य भी कई विस्तृत व्याख्यायें लिखी हैं तथा कतिपय स्वतन्त्र ग्रन्थो की भी रचना की है, इस प्रकार उन्हों ने जीवनव्यापी साहित्यसाधना से जैनदर्शन की महत्ता और यशस्विता का जो गान किया है एवं अल्पमति अध्येतावर्ग के उपर जो अनन्यसाध्य उपकार किया है उसके लिये जैन तथा जैनेतर सभी जिज्ञासु प्रजा उनकी सदा के लिये ऋणी है। हमारी समझ से उनके ग्रन्थों की आलोचना करने की स्वाप्निक कल्पना भी दुर्भाग्य की बात है। हाँ- यदि उनके ग्रन्थों का मर्मस्पर्शी अध्ययन करने का तथा उनके विषयप्रतिपादन के आंशिक तात्पर्य को भी हृदयंगम करने का अवसर हमें मिल सके तो यह हमारे परम सौभाग्य की बात है। ऐसे समर्थ विद्वान् श्री

हरिभद्रसूरि और श्रीमद् उपाध्यायजी के बारे में भी कतिपय विद्वानों की ओर से असंगत विधान होते रहते हैं यह भी एक कम खेद की बात नहीं ।

६–ग्रन्थकार और व्याख्याकार के बारे में कतिपय वक्तव्यो का अनौचित्य–

आर्यदेश भारत में अहिंसा की आधारशिला पर सामाजिक सुदृढ चारित्रप्रासाद के निर्माण में यदि किसी के महत्त्वपूर्ण सहयोग का उल्लेख करना हो तो वह भगवान महावीर की परम्परा में होने वाले जैनाचार्य श्रमणवर्ग का हो सकता है । विश्व में आज नैतिकता और आप्तता के अधिकाधिक प्रसार की गवेषणा यदि की जाय तो उसका सर्वोत्तम स्थान आर्यदेश–भारतवर्ष ही हो सकता है । जैन संघ के निस्पृह, त्यागी, संयमी महामुनियों ने देश में सदाचार सद्विचार और सम्यक्श्रद्धा की प्रतिष्ठा के लिये जो पर्याप्त श्रम ऊठाया है उस का यह शुभ परिणाम है कि आर्य देश भारत में आज भी लोगों के जीवन मे पर्याप्त शान्ति और अहिंसा की भावना विद्यमान है । इन महापुरूषों में से किसी में किसी कपोलकल्पित असथाभूत सद्गुण का आरोप कर उसकी श्रेष्ठता बताना और उन आरोपित गुण की न्यूनता को व्यञ्जना से अन्य आचार्यों में हीनता बताने का प्रयास करना अथवा मनमाने ढंग से असहिष्णुता, परावगणना आदि दोषों का आरोप कर उनके गौरव को गिराने की चेष्टा करना अत्यन्त घृणास्पद प्रवृत्ति है । यह बडे खेद की बात है कि यह प्रवृत्ति आजकल पाश्चात्यसंस्कृति से प्रभावित कतिपय जैन लेखकों की भी प्रकृति बन गयी है, ऐसे लोगों की इस प्रवृत्ति का क्या लक्ष्य है यह तो ज्ञानी भगवन्तो को ही ज्ञात हो सकता है, किन्तु इस का एक दुष्परिणाम स्पष्ट देखने में आ रहा है–वह यह कि आर्य प्रजा के हृदय में पूर्व महर्षियों के प्रति आदर-सम्मान और श्रद्धाकी जो भावना थी उसका दिन प्रतिदिन ह्रास होने लगा है और उसके फल स्वरूप उन महर्षियों से उपदिष्ट सर्वजीवकल्याणसाधक सदाचार की उपेक्षा होने से आर्य प्रजा का नैतिक एवं चारित्रिक पतन उत्तरोत्तर वेगवान होता आ रहा है ।

आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि म. और श्रीमान् उपाध्याय यशोविजय महाराज के बारे में कतिपय जैन लेखकों ने जो अभिप्राय प्रकट किये हैं वे अत्यन्त खेदजनक हैं । शास्त्रवार्त्ता मूलग्रन्थ के बारे में एक महाशय ने लिखा है कि–'The text contains several verses borrowed from the works of others.'

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि पूर्वपक्ष के लिये अथवा स्वमत के समर्थन के लिये जिन श्लोकों का उद्धरण अन्य ग्रन्थों से लिया जाता है उन्हें Borrowed या Loaned नहीं कहा जा सकता किन्तु quoted या repeated कहा जा सकता है, अतः ऐसे अन्यतः गृहीत वचनों को Borrowed कहना अत्यन्त असंगत है ।

इसी प्रकार एक विदुषी ने लिखा है कि 'Haribhadra in writting on yoga does not succumb to any narrowmindness or prejudices.' यह कथन भी अर्धसत्य जैसा ही है, यतः पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले जैनमुनि किसी भी विषय में किसी के भी प्रति किसी द्वेषदृष्टि को वशीभूत हो कर कोई कार्य नहीं करते। अतः श्रीहरिभद्रसूरिजी जो आरम्भ में वीतराग देव को नमस्कार कर के ही प्रायः अपने ग्रन्थों की रचना करते हैं, उन्हें केवल योग की ही चर्चा में दृष्टिविशेष से अनभिभूत और निष्पक्ष बताना एक प्रकार से उनके अपकर्ष का ही प्रदर्शन है, क्योंकि वे वीतरागता के प्रति अनन्यनिष्ठा वाले होने के कारण सदा और सर्वत्र असंकीर्ण एवं निष्पक्ष भाव से ही किसी विषय पर विवेचना करते हैं, लेखिका ने उनके शास्त्रवार्ता प्रथमस्तबक द्वितीय श्लोक के 'जायते द्वेषशमनः' अंश पर ध्यान देना चाहिये।

आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि के जीवन की विविध विशेषतायें तथा विच्छेदोन्मुख पूर्वश्रुत में से विकीर्ण श्रुतपुष्पों का इनके द्वारा गठन आदि की बातें बतायी जा चुकी है, किन्तु एक चर्चा और भी करनी है, वह यह कि एक महाशय ने श्रीहरिभद्रसूरिजी की विशेषता प्रदर्शित करते हुये लिखा है कि 'हरिभद्रे जे उदात्तदृष्टि, असाम्प्रदायिकवृत्ति अने निर्भयनम्रता पोतानी चर्चाओ मां दाखवी छे तेवी तेमना पूर्ववर्ती के उत्तरवर्ती कोई जैन, जैनेतर विद्वाने बतावेली भाग्ये ज देखाय छे;' स्पष्ट है कि लेखकने श्रीहरिभद्रसूरि को उदात्तदृष्टि—असाम्प्रदायिक आदि कह कर आज तक के सभी जैन जैनेतर विद्वानों से श्रेष्ठ बताने का प्रयास किया है, किन्तु इस प्रयास से अन्य सभी जैन विद्वानों की जो अवगणना प्रतीत होती है, वह उचित नहीं है। श्रद्धालु एवं विवेकशील जैनजनता की दृष्टि में सभी जैन विद्वान् और संयमी मुनिगण निर्दोषता और रागद्वेषरहितता के आधार पर उपास्य हैं, अतः उन में अनुचित उत्कर्षापकर्ष बताना जैन जगत की उदात्त संस्कृति के अनुरूप नहीं कहा जा सकता।

लेखक ने श्री हरिभद्रसूरिजी को असाम्प्रदायिक कह कर उन्हें उत्कृष्ट और अन्योंको अपकृष्ट बताने का संकेत किया है, यह भी एक अनुचित प्रयास है, क्योंकि भारत की आर्य संस्कृति में साम्प्रदायिकता को सद्गुण माना गया है, विशेष कर उस साम्प्रदायिकता को जिससे सामान्य जनता में अहिंसा, त्याग, संयम आदि बहुमूल्य सद्गुणों की प्रतिष्ठा और उनका संरक्षण होने की अत्यधिक सम्भावना है। जो सम्प्रदाय नैतिकता, धार्मिकता, आध्यात्मिकता, चारित्रिक संयम और समस्त जीव के अभ्युत्थान की भावना पर प्रतिष्ठित हुआ है उस सम्प्रदाय से सम्बद्ध होना उसके संरक्षण और संवर्धन का प्रयास करना दूषण नहीं अपि तु भूषण है। आज राजनीति और विज्ञान के जाज्वल्यमान युग में भी साम्प्रदायिकता का महत्त्व

पूर्ववत् मान्य है —यही कारण है कि आज भारत देश के स्वतन्त्र अस्तित्व के संरक्षण तथा राज्य की सुव्यवस्था के लिये जिस राजनैतिक सम्प्रदाय-संगठन को समर्थ समझा जाता है उसे मत देकर पुष्ट बनाने का भरपूर प्रयास किया जाता है। यदि किसी सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति आवेश में आकर दूसरे सम्प्रदाय के अस्तित्व का लोप करने के लिये निन्द्य प्रयास करे तो ऐसी साम्प्रदायिकता अवश्य त्याज्य है किन्तु इस त्याज्य साम्प्रदायिकता की दृष्टि से मात्र श्री हरिभद्रसूरि ही असाम्प्रदायिक नहीं हैं, किन्तु सभी जैन विद्वान् तथा जैनमुनि असाम्प्रदायिक हैं, अतः एकमात्र श्री हरिभद्रसूरि को ही उक्त अर्थ में असाम्प्रदायिक बताने से अन्य विद्वानों के प्रति तथा सत्सम्प्रदायों के प्रति द्वेषप्रदर्शन के अतिरिक्त और कोई उपलब्धि नहीं होती।

निर्भय-नम्रता की जो बात की गयी है उसे भी मात्र श्री हरिभद्रसूरि में ही सीमित करना ठीक नहीं है, क्यों कि यह विशेषता भी समस्त जैन विद्वानो में सदैव अक्षुण्ण रही है। यतः अपने से अधिक बहुश्रुत, गुणवान, सम्यग् ज्ञानी व्यक्तियों के प्रति गुरुवत् बहुमान आदि प्रदर्शन के औचित्य का पालन सभी विद्वान निरन्तर करते रहे हैं। इतना ही नहीं, अन्य सम्प्रदाय के व्यक्ति में भी जब कोई विशेषता ज्ञात हुई तब उसका भी औचित्यपूर्ण स्मरण अनेक जैन विद्वानों ने अपने ग्रन्थो में निर्भयता एवं उदारतापूर्वक किया है। कुवलयमाला में उद्योतनसूरि ने वाल्मिकी और बाणभट्ट के कथाप्रबन्धों का औचित्यपूर्ण स्मरण किया है। तथा धनपालकवि ने अपनी तिलकमञ्जरी में अनेक जैनेतर-कवियों का स्मरण किया है। ऐसे अनेक दृष्टान्त जैनसाहित्य में उपलब्ध हैं। उक्त महाशयने श्रीहरिभद्रसूरिजी के कतिपय ग्रन्थों के श्लोक आदि का उद्धरण देकर भी इस विषय में भ्रम और मिथ्यावासना से पूर्ण अपनी मान्यताओं का समर्थन करने का प्रयास किया है, जिससे लेखक की मनोविकृति का स्पष्ट दर्शन हो पाता है, उसके कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

षड्दर्शनसमुच्चय में चार्वाकदर्शन का निरूपण है, उसके बारे में महाशयजी का कहना है कि "न्याय अने वैशेषिक ए बे दर्शनो जुदा नथी, एम माननारनी दृष्टिए तो आस्तिकदर्शनो पाँच ज थया तेथी करेली प्रतिज्ञा प्रमाणे छट्ठु दर्शन निरूपवानुं प्राप्त थाय छे तो ए निरूपण चार्वाक ने पण दर्शनतरीके लेखी पुरु करवु जोइए। आम कही तेओ (श्री हरिभद्रसूरि) चार्वाक प्रत्ये समभाव दाखवे छे।"[1] —इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि महाशयजी ने कारिका का अर्थ समझने में भूल की है, क्यों कि कारिका का वास्तविक अर्थ यह है कि

१—षड् दर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल। लोकायतमतक्षेपे कथ्यते तेन तन्मतम्॥

"जो लोग न्याय–वैशेषिक दर्शन में भेद नहीं मानते उनके मत से लोकायतमत के प्रक्षेप से दर्शनों की संख्या छः होती है, इसलिये उस मत का कथन किया जा रहा है।" इस कारिका से यह तथ्य निकालना कि 'श्री हरिभद्रसूरि ने चार्वाकमत को भी दर्शन माना है अतः चार्वाक के प्रति उनके हृदय में समभावना है,' अत्यन्त असंगत है, क्योंकि कारिका में 'तन्मते'शब्द में तत्पदसे उन्हों ने स्पष्टरूप से उनका संकेत किया है जो न्याय और वैशेषिक को दो दर्शन न मान कर एक दर्शन मानते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब श्री हरिभद्रसूरि जी ने चार्वाक मत को स्वयं अपनी ओर से दर्शन नहीं माना है तब चार्वाक के प्रति उनका समभाव बताने का क्या अर्थ हो सकता है? ऐसा लगता है कि महाशयजी ने समभाव का भी कोई मनगढन्त अर्थ मानकर उस शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि 'किसी के प्रति द्वेषपूर्ण आचरण न करना', समभाव के इस सत्य अर्थ को यदि उन्होंने समझा होता तो वे उसे केवल हरिभद्रसूरि में ही बाँधने का साहस न करते, क्योंकि यह समभाव सभी जैन विद्वानो में समानरूप से उपलभ्यमान है–क्योंकि द्वेषाचरण मिटाने के लिये सभी जैन विद्वान् सदा उद्यमशील रहे हैं। महाशयजी की दृष्टि से समभाव का अर्थ यदि यह हो कि 'अन्यमत के मिथ्यावाद का प्रतिकार न करना' तो उनका यह व्यक्तिगत समभाव हो सकता है न कि सर्वमान्य। वास्तव में तो यह समभाव नहीं किन्तु अविवेक है, क्योंकि उसमें असत्य का समर्थन या मूकानुमोदन होता है। श्री हरिभद्रसूरिजी तो अनेकान्तजयपताका आदि में शठोक्तिओं का निराकरण कर ऐसे अविवेक के त्याग का महत्त्वपूर्ण आदर्श हमारे सम्मुख रख गये हैं। श्रीहरिभद्रसूरिजी के शास्त्रवार्त्तादि ग्रन्थों में जैनेतर विद्वानों के लिये सूक्ष्मबुद्धि, महामुनि, महर्षि इत्यादि विशेषणों का प्रयोग प्राप्त होता है, इस आधार पर महाशयजी का कहना है कि–'परवादी मन्तव्यो थी जुदा पडवा छतां तेमना प्रत्ये जे विरल बहुमान अने आदर दर्शावे छे ते तेमणे (श्रीहरिभद्रसूरिजीए) आध्यात्मिकक्षेत्रमां आपेली एक विरल भेट गणवी जोइये"–

इस संदर्भमें यह ज्ञातव्य है कि जैनेतर विद्वानों के लिये जो उक्तविशेषण प्रयुक्त हैं उन से यह निष्कर्ष निकालना कि 'श्रीहरिभद्रसूरिने उन्हें अपनी ओर से आदर दिया है' ठीक नहीं है, क्योंकि अपने सिद्धान्त के विपरीतपक्ष को समर्थन देने वाले को आदर देने का अर्थ होता है 'उसके पक्ष को आदर देना' जो उचित नहीं है। अतः उक्त विशेषणों का प्रयोग अनुवादमात्र समझना चाहिये। हाँ यदि श्रीहरिभद्रसूरि में महत्ता, उदारता और विवेक कि कमी होती तो वे विशेषण का त्याग कर केवल नाम मात्र से भी उनका निर्देश करते, किन्तु वे स्वयं संयमशील महान् पुरुष होने के नाते ऐसा न कर सके, यह विशेषता उनके समान ही जैनसम्प्रदाय के अन्य विद्वान् में भी प्राप्य है। दूसरी जानने योग्य बात यह है कि अन्य सम्प्रदाय के भी विद्वान् इसी दृष्टि

से आदर देने योग्य हैं कि वे भी अपनी दृष्टि से संसार वासना को शिथिल और आध्यात्मिक भावना को जागृत करने का प्रयास करते है। किन्तु जहाँ दृष्टियों और सिद्धान्तों के सत्याऽसत्य के निर्णय की बात है वहाँ उन्हें असत्पक्षानुयायी होने से अनादृत करने में श्रीहरिभद्रसूरिजी को तथा अन्य जैनविद्वानों को कभी कोई हिचक नहीं होती जैसा कि–'कुवादियुक्त्यपव्याख्या-निरासेन', 'पापश्रुतं सदा धीरैर्वर्ज्यं नास्तिकदर्शनम्' 'को विवादो नो बुद्धिशून्येन सर्वथा', 'दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धता दर्शनीया कुशास्त्राणाम्' ऐसे उनके अनेक प्रयोगों से स्पष्ट है।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजीने कहीं कहीं परवादियों के मन्तव्यों की आंशिक युक्तता भी बतायी है जिनका तात्पर्य उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि जैनेतर विद्वानों के कतिपय मन्तव्यों में अनेक विनेयजनों का आदर है, उनमें उनका बुद्धिभेद न हो इसलिये उन मन्तव्यो की किंचित् युक्तता बताने का प्रयास किया गया है, उदाहरणार्थ शास्त्रवार्त्ता ग्रन्थ में ईश्वरवाद में कहा गया है कि–"कर्त्तायमिति तद्वाक्ये यतः केषाञ्चिदादरः। अतस्तदानुगुण्येन तस्य कर्तृत्व-देशना"॥२०६॥ ईश्वरकर्तृत्ववाद का कथञ्चित् समर्थन ऐसे लोगों के उपकार की भावना से किया गया है जिनका उस वाद में आदर है, [जिन्हें उसी से नैतिक होने में सहायता मीलती है]। इससे स्पष्ट है कि श्रीहरिभद्रसूरिजी दूसरे दर्शनों के सिद्धान्तों में सत्य का अन्वेषण नहीं करते किन्तु जैन दर्शन के अनुसार उसमें कितना सत्यांश है और कितना असत्यांश है यह बताने का प्रयास करते हैं। अथवा असत्यांश बताने पर भी उन दर्शनों के अनुयायीओ में बुद्धिभेद न हो इस बात का भी पूरा ध्यान रखते हैं। अपने सभी ग्रन्थो में श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने वीतराग जिनको मङ्गलश्लोक में अभिवादन कर जैनदर्शन के प्रति अपनी गाढ़ श्रद्धा और अपने महान् आदरभाव का प्रदर्शन किया है, फिर भी उन्हें सभी दर्शनों में समभावधारक बताना कोरी धृष्टता है। यह भी एक विचित्र बात है कि महाशयजी ने एक ओर तो श्रीहरिभद्रसूरिजी की विशेषता बताने का यत्न किया है और दूसरी ओर स्थान स्थान में सम्मान सूचक शब्द से मुक्त केवल 'हरिभद्र' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्दव्यवहार उस महाशय की किस मनो-दशा का द्योतक है, पाठक स्वयं इसे समझ सकते हैं। महात्माजी के नाम से लोकप्रसिद्ध आधु-निक पुरुषविशेष का जहाँ उल्लेख होता है वहाँ भी उक्त महाशय को पूज्य-महात्मा आदि शब्दों के प्रयोग में भी प्रमाद नहीं होता, पर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी के लिये सम्मान-बोधक शब्दों से मुक्त केवल कोरे नाममात्र का प्रयोग करने में उसे कोई हिचक नहीं होती। इस से स्पष्ट हो जाता है कि महाशय की क्या वचनदरिद्रता है, सम्प्रदाय के महामहिम आचार्यों और विद्वानों के प्रति उसकी क्या धारणा है, महाशय के ऐसे तुच्छव्यवहार से पाठको को यह समझने में विलम्ब नहीं होगा कि आचार्य श्री के प्रति लेखक के हृदय में कोई

वास्तविक निष्ठा नहीं है, किन्तु उसने अपनी मिथ्याभ्रान्यताओं की पुष्टि के लिये उनके पवित्र नाम का अनुचित लाभ उठाया है।

कुछ लोग श्रीहरिभद्रसूरि के ग्रन्थों को अन्य जैन–जैनेतर ग्रन्थों में वर्णित विषयो और तथ्यों का संकलन मात्र मानते हैं, उन्हें श्री हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों में कोई मौलिकता या अपूर्व-प्रतिभा का दर्शन नहीं होता। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में अधिक कुछ न कह कर केवल इतना ही कहना है कि उन्हें सद्गुरुजी के चरणों में बैठ कर श्री सूरिजी के ग्रन्थों का श्रम पूर्ण अध्ययन फिर से करना चाहिये। बिना अध्ययन किये भ्रम और अज्ञान की निवृत्ति संभव नहीं है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार का महत्त्व अज्ञजनों की आलोचना से क्षीण नहीं होता। यह उक्ति सर्वथा सत्य है कि–

शैत्य–गाम्भीर्य–माधुर्य–वैधुर्यमवधार्यते ।
नावगाह्य न चाऽऽस्वाद्य तरङ्गिण्यास्तु तेन किम् ॥१॥

[अर्थ-]–किसी नदी में प्रवेश न कर और उसके जलका आस्वाद न कर यदि कोई अपना यह मत प्रकट करता है कि नदी में शीतलता, गहराई तथा मीठास नहीं है, तो इससे नदी का क्या बिगड़ता है !]

कतिपय लोगों ने श्री हरिभद्रसूरि तथा उपाध्याय श्री यशोविजयजी के ग्रन्थों का अन्य दर्शनिकों के ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने की हास्यास्पद चेष्टा की है, उनके इस निष्फल प्रयास को देखकर खेद होता हैं और उनकी बौद्धिक स्थिति पर दया आती है, क्योंकि वे तुलनात्मक अध्ययन का बहुत छिछला अर्थ समझते है–उनके अनुसार टिप्पणी में विभिन्न ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों की अभिन्नता या असमानता का उल्लेख मात्र कर देना ही तुलनात्मक अध्ययन हैं, जब कि तुलना शब्द से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलनात्मक अध्ययन का का अर्थ है समानरूप से भासमान दो मन्तव्यों का सर्वमान्य युक्ति–प्रमाण की तुला द्वारा गुरु–लघुभाव का निश्चय करना अर्थात् युक्ति और प्रमाण की तुला पर दोनों मन्तव्यों को चढाकर यह स्पष्ट करना है कि कौन मन्तव्य उच्च कक्षा का है और कौन निम्न कक्षा का हैं। प्राचीन काल में सभी तर्कशास्त्री अपने अपने मन्तव्यों का समर्थन और पर मन्तव्य का खण्डन युक्ति और प्रमाण द्वारा करते थे, दूसरे दार्शनिक सिद्धान्त को अपने सिद्धान्त के साथ युक्ति और प्रमाण को तुला पर तोलते थे। उनके प्रामाण्य–अप्रामाण्य का विवेक करते थे। इस प्रकार किये जाने वाले अध्ययन को ही वास्तव में तुलनात्मक अध्ययन कहा जा सकता है।

न कि विभिन्न सिद्धान्तों के दोष–गुण का विवेचन किये बिना ही किसी एक सिद्धान्त का निरूपण कर देना, जो कि आजकल के तुलनात्मकअध्येता वर्ग की लाक्षणिकता हैं।

एक विद्वान् का कहना है कि–"उपाध्याय श्री यशोविजयजी थे तो पक्के जैन और श्वेताम्बर, फिर भी विद्याविषयक उनकी दृष्टि इतनी विशाल थी कि वह अपने सम्प्रदाय मात्र में समा न सकी, अत एव उन्होंने पातञ्जल योगसूत्र के उपर भी लिखा"–यह विचारणीय है कि लेखक ने विद्याविषयक दृष्टि का सम्प्रदाय में समावेश न होना और योगसूत्र पर लिखना इन दोनों में हेतुहेतुमद्भाव की अवधारणा किस तरह कर ली है ? यह भी विचारणीय है कि 'विद्याविषयकदृष्टि संप्रदायमात्र में न समा सकी' इसका क्या अर्थ है ?–'दृष्टि के समक्ष केवल स्वसम्प्रदाय मात्र का न रहना किन्तु इतर सम्प्रदायों का भी दृष्टि के समक्ष उपस्थित होना'–यदि यह उसका अर्थ हो तो इससे श्रीउपाध्यायजी की कौन सी विशेषता प्रकट हुई ? यह तो जैन–जैनेतर सभी विद्वानों के लिये समान है। योगसूत्र के कतिपय सूत्रों पर ही वृत्ति लिखने के पीछे श्री उपाध्यायजी का जो उद्देश्य है वह योगसूत्र के प्रथमसूत्र की वृत्ति में बताये गये परिष्कार से ही पाठकों को भलीभांति ज्ञात हो जाता हैं, जो साधारणतया यह है कि योगसूत्र में जैनदर्शन संवादी जितना अंश है उस पर जैन दर्शन की दृष्टि से प्रकाश डालना। अतः अपने सम्प्रदायमात्र में विद्याविषयकदृष्टि के असमावेश को योगसूत्र पर वृत्ति लिखने में कारण या प्रयोजक बताना एक प्रकार की अज्ञानता ही हैं।

जैनदर्शनालङ्कार आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी तथा श्री यशोविजय उपाध्यायजी के बारे में आधुनिक विद्वानों के सारहीन–असङ्गत कथनों की अन्य लेखकों द्वारा पुनरावृत्ति न हो–केवल इसी दृष्टि से उपर्युक्तरूप में थोड़ी सी चर्चा की गई है। आशा है लेखकगण हमारे इसी आशयको ग्रहण करेंगे, यदि किसी को इस वक्तव्य से जिनशासन के प्रति किञ्चित् भी वैपरीत्य का आभास हो और वास्तव में यदि ऐसा कोई अनवधान हो गया हो तो उसके लिये हमें पर्याप्त मनस्ताप हैं, और यदि उपर्युक्त चर्चा से जिनशासन तथा उसके विद्वानों, पूर्वाचार्यों, मुनिजनों तथा उनकी शास्त्रीय कृतियों के संबंध में आधुनिक लेखकों की धारणा और चर्चा की प्रवृत्ति परिष्कृत हो सकी तो हम जिनशासन की यत्किंचित् सेवा कर सके उस का आत्मिक सन्तोष होगा।

सं. २०३२ भा. शु. ११ — मुनि जयसुन्दरविजय

अमलनेर

—×— ×—

—: विषयानुक्रमणिका:—

स्याद्वाद कल्पलता

(मङ्गल)

ऐन्द्रश्रेणिनताय दोषहुतभुङ्नीराय नीरागता-
धीराजद्विभवाय जन्मजलधेस्तीराय धीरात्मने ।
गम्भीरागमभाषिणे मुनिमनोमाकन्दकीराय स-
न्मासीराय शिवाध्वनि स्थितिकृते वीराय नित्यं नमः ॥१॥

हिन्दी विवेचना

ऐन्द्र०---इन्द्र आदि देवगणों द्वारा नमस्कृत ।

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का चरम विकास कर अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीरप्रभुने जब कैवल्य एवं परमेश्वरत्व प्राप्त किया तब इन्द्र आदि देवताओं ने उनके निकट पहुंचकर उनकी स्तुति और वन्दना की । इस शब्द द्वारा [1]यही घटना पुराणमें सूचित की गयी है ।

दोष०—दोषरूपी अग्नि के लिए जलस्वरूप

राग, द्वेष और मोह को दोष कहा जाता है। ये दोष मनुष्य को आग के समान दग्ध करते रहते हैं । महावीर प्रभु इस दोषाग्नि के लिए जलस्वरूप हैं । जल का सम्पर्क होने पर जैसे आग बुझ जाती है वैसे महावीर प्रभु की उपासना करने पर मनुष्य के सारे दोष दूर हो जाते हैं ।

नीरागता०-इस विशेषण के कई अर्थ हैं । जैसे—

(१) 'नीरागतायाः धिया राजन् विभवो यस्य तस्मै' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस का अर्थ है—'नीरागता' राग से शून्यता अर्थात् वैराग्य के ज्ञान से जिसके विभव की शोभा हो ।

१— द्रष्टव्य उ० पुराण, पृष्ठ ४६७ श्लोक १५४

इस कथन से यह सूचित होता है कि महावीर प्रभु का जन्म एक विभव-सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके जन्म से पूर्व उनके परिवार के लोग विभव की माया से उसके अर्जन और रक्षण में उद्युक्त रहा करते थे किन्तु भगवान महावीर को विभव के सम्बन्ध में वैराग्य बुद्धि रहती थी। वे समझते थे कि विभव में राग करना स्वयं उनके लिए तथा मानवजात के लिए अच्छी बात नहीं है। उनके इस ज्ञान से विभव की शोभा बढ़ गई क्यों कि इस ज्ञान के होने से उनके परिवार का चिरसंचित विभव अन्य जनों के भी विनियोग में आने योग्य हो गया। विभव की शोभा इसी में है कि उससे बहुत लोगों को लाभ पहुंचे और विद्या, धर्म तथा दीनों की सहायता के कार्य में उसका व्यय हो।

(२) 'नीरागतायां धीः एव राजन् विभवो यस्य तस्मै' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ है-वैराग्य ही मनुष्य के मङ्गल का मूल है यह बुद्धि ही जिसका शोभन धन है, जो लोकप्रसिद्ध धन को धन न मान कर वैराग्य बुद्धि को ही अपना उत्तम धन समझता है।

(३) 'नीरागतासहिता धीः नीरागता धीः (मध्यमपदलोपी समास), सैव राजन् विभवो यस्य तस्मै' इस व्युत्पत्ति के अनुसार नीरागता शब्द का वैराग्य-प्रधान चारित्र अर्थ और 'धी' शब्द का ज्ञान तथा दर्शन अर्थ लेने पर इस शब्द का अर्थ है चारित्र, ज्ञान और दर्शन ही जिसका शोभन धन है, जो सम्यक् चारित्र, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् दर्शन से सम्पन्न होने में ही अपनी शोभा मानता है।

(४) 'नीरागतायाः जनिका धीः नीरागताधीः, सैव राजन् विभवो यस्य तस्मै' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ है-'वैराग्य उत्पन्न करने वाली बुद्धि'-"संसार राग द्वेष से भरा होने के कारण दुःखमय है। संसार की वासनाओं से आत्मा को उपर उठाने का प्रयत्न करना ही सुख और शांति का उपाय है।"-इस ज्ञान से वैराग्य का उदय होता है, यह ज्ञान ही जिसकी दृष्टि में शोभन धन है।

(५) 'नीरागताधीराजद्विभवाय' पद में विभव शब्द का एक दूसरा भी अर्थ हो सकता है वह यह है-'विशिष्टो भवो यस्य स विभवः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विशिष्ट जन्मशाली,' विभव शब्द का यह अर्थ लेने पर उसके साथ 'नीरागताधीराजन्' शब्द का कर्मधारय समास होगा और पूरे शब्द का अर्थ होगा 'जो वैराग्यबुद्धि से राजित हो रहा हो तथा जिसे विशिष्ट जन्म प्राप्त हुआ हो। महावीर का जन्म एक विशिष्ट जन्म था क्यों कि उस जन्म में उन्हें कैवल्य सिद्धि प्राप्त हुई थी, और वे तीर्थंकर हुए थे।

'जन्मजलधेस्तीराय' जन्मरूपी समुद्र के तटस्वरूप।

जन्म—बार-बार जन्म होना यह जन्मों की अविच्छिन्न परम्परा समुद्र के समान है। जैसे समुद्र में पड़े मनुष्य का समुद्र से बाहर हो पाना कठिन होता है उसी प्रकार संसारासक्त मनुष्य का पुनर्जन्म के चक्कर से बाहर हो पाना भी कठिन होता है। पूर्व जन्म में किये कर्मों के फल-भोगने के लिए नया जन्म होना है और नये जन्म में किये जाने वाले कर्मों के फल-भोगने के लिए पुनः अगले जन्म की आवश्यकता होती है। इस प्रकार जन्मों की श्रृङ्खला बढ़ती चलती है, उससे छूट पाना दुष्कर होता है। इसीलिए जन्म एक प्रकार का समुद्र है। महावीर प्रभु उस समुद्र के तट हैं। जिस प्रकार तट पा जाने पर मनुष्य समुद्र को पार कर लेता है उसी प्रकार महावीर प्रभु को पा कर, उनके जीवनक्रम को आलम्बन रख उनके उपदेश को अपना करके मनुष्य जन्मों के सागर को तैर जाता है।

'धीरात्मने'—'धीर आत्मा चित्तं यस्य तस्मै' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस पद का अर्थ है धीर चित्त से युक्त। जिसके चित्त में धैर्य हो, अनुचित उतावलापन न हो, अध्यात्म मार्ग पर चलते हुए लक्ष्य की प्राप्ति में विलम्ब होने से जिसका चित्त अधीर न हो, जिसका यह अटल विश्वास हो कि उसकी अध्यात्मयात्रा एक दिन अवश्य पूरी होगी वह अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेगा।

अथवा 'धीरात्मा' का मतलब साधना कालमें अनेक उपस्थित उपद्रवों में जो अपनी साधना में व्याकुल न हो। अडिग रहे स्थितप्रज्ञ रहे, जिस श्रद्धा से साधना में प्रवेश किया था उसमें लेश भी न्यूनता न होने देते हुए वरना अधिकाधिक प्रबलता करने वाले।

गम्भीरागम०—गम्भीर आगम—शास्त्र के वक्ता।

आगम वह शास्त्र है जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल के ज्ञातव्य श्रेष्ठ अर्थों का वर्णन हो, महावीरने जिस आगमशास्त्र का उपदेश किया है वह असर्वज्ञोक्त सभी आगमों की अपेक्षा गम्भीर है। गम्भीर इस लिए है कि उसके उपदेष्टा महावीर सर्वज्ञ तीर्थकर है। अतः अपने आगममें पूर्वके सभी असर्वज्ञआगमो के ज्ञानका समावेश करना, भविष्य के लिए कोई बात छूट न पाये इसका ध्यान रखना तथा वर्तमानकी कोई समस्या असमाहित न रह जाय इस बातकी सावधानी रखना उनके लिए अत्यावश्यक था।

अथवा अगाध स्याद्वाद सिद्धांत,, अगाध जीवाजीवादितत्त्व अगाध अष्टविध ज्ञानावरणीयादि कर्म, पदार्थ विस्तार आदिसे प्रयुक्त गाम्भीर्य वाले आगम पदार्थ के वक्ता है।

मुनि०--मुनिजनों के मनरूपी माकन्द-आम्र के लिए शुकस्वरूप। जिस प्रकार शुक पक्षी आम्र की ओर निरन्तर आकृष्ट रहता है, उसके सम्पर्क में स्थित रहना चाहता है, उसे चखने कभी तृप्त नहीं होता उसी प्रकार महावीर मुनि-मानस की ओर सदा आकृष्ट रहते हैं, अतएव मुनियों के चिन्तन का विषय बने रहते हैं, एवं ध्यान का विषय बने रहने में कभी थकते नहीं। इस कथन से यह संकेत प्राप्त होता है कि मुनिजनों को अपना चित्त इतना निश्छल मृदु और मधुर बनाना चाहिए कि सर्वत्र विरक्त भी महावीर उसे अपना आश्रय बनाने के लिए आकर्षित रहे।

महावीर में राग और राग-योग्यता स्थायी रूप से समाप्त हो जाने के कारण यदि उनमें राग-साध्य आकर्षण की असम्भाव्यता के नाते यह अर्थ उचित न लगे, तो इस शब्द का एक दूसरा अर्थ लेना चाहिए। वह यह कि महावीर मुनि जनों के मनरूपी माकन्द के शोभाधायक शुक हैं। अर्थात् जैसे शुक के सम्पर्क से माकन्द की मनोरमता बढ़ती है, शुक के असन्निधान में वह उपेक्षित एवं शोभाहीन रहता है, उसी प्रकार मुनिजनों का मन महावीर के ध्यानात्मक सम्पर्क से रमणीय हो जाता है। जो मुनिजन महावीर के चिन्तन से वञ्चित रहता है, वह अशोभन होता है। मुनिमन की शोभा इसी में है कि वह महावीर का निरन्तर चिन्तन करे।

सन्ना०---सत्पुरुषों में नासीर---अग्रणी।

जो पुरुष संसार के विषय-सुखों में लिप्त नहीं होते, धर्मोपार्जन के सभी स्रोतों को समानभाव से सब के लिए खुला रखने को नैतिकता मानते हैं, आत्मिक उत्थान में ही मनुष्य जन्म की सार्थकता समझते हैं, उन्हें सत्पुरुष कहा जाता है। महावीर ऐसे पुरुषों में अग्रणी थे।

शिवा०....कृते— इस शब्द के दो अर्थ हैं, शिवमार्ग-कल्याणमार्ग—मोक्षमार्ग पर स्वयं स्थित होने वाले तथा दूसरों को उस मार्ग पर स्थित करने वाले। महावीरने संसार से विरक्त हो स्वयं उस मार्ग को ग्रहण किया, साथ ही अपने आचरणों और उपदेशों से अन्य अनेक लोगों को उस मार्ग का पथिक बनाया।

वीराय— 'नामैकदेशग्रहणे नामग्रहणम्—नाम का एक भाग कहने पर पूरे नाम का बोध होता है' इस नियम के अनुसार 'वीर' का अर्थ है महावीर, चोवीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी।

नित्यम्—प्रतिदिन, प्रतिक्षण।

'नमः'---'नमः' शब्द से महावीर स्वामी को नमस्कार कर व्याख्याकार ने उनके उत्कर्ष का ज्ञापन किया है क्यों कि उत्कर्ष बोधक व्यापार को ही नमस्कार कहा जाता है, और वह व्यापार यहां पर 'नमः' शब्द का प्रयोग ही है।

अथवा नमस्कार द्रव्य-भावसङ्कोचस्वरूप है। हस्त पाद शिर आदि द्रव्यों को संकोच कर नमनविधि योग्य विशिष्ट अवस्था में रखना यह द्रव्य नमस्कार है, एवं हृदय

(व्या०) प्रणम्य शारदां देवीं गुरूनपि गुणाधिकान्।
विवृणोमि यथाशक्ति 'शास्त्रवार्त्ता-समुच्चयम्' ॥२॥

को हुए भावों से संकोच कर प्रशस्त भाव में यानी परमात्मा से सम्बन्धित शुभ अध्यवसाय में स्थापित करना यह भाव नमस्कार है। द्रव्य नमस्कार यह भाव नमस्कार का पोषक होता है, और भाव नमस्कार से विघ्न-अंतरायकर्म नष्ट हो ग्रन्थरचना आदि इष्ट की सिद्धि निर्विघ्न सम्पन्न होती है।

व्याख्याकार यशोविजयजी ने इस पद्य द्वारा महावीर को वन्दना की है और उनकी वन्दनीयता के समर्थन में उनके उत्तम गुणों और विशिष्टताओं की चर्चा की है जो पद्य में आये शब्दों का अर्थ बता देने से स्पष्ट है ॥१॥

दूसरे पद्य में यशोविजयजीने सरस्वती और अपने गुण-गौरवशाली गुरुजनों को वन्दना कर मूलग्रन्थ 'शास्त्रवार्ता—समुच्चय' का विवरण करने की प्रतिज्ञा की है।

पद्य में 'विवरिष्यामि—विवरण करूंगा' के अर्थ में 'विवृणोमि-विवरण करता हूँ' का प्रयोग किया गया है। ऐसे प्रयोग के लिए व्याकरण शास्त्र में व्यवस्था है। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार वर्तमान के समीपवर्ती भविष्य के लिये वर्तमान का प्रयोग मान्य है। उससे भविष्य का नैकट्य सूचित होता है।

पद्य में मूलग्रन्थ का विवरण करने की प्रतिज्ञा का उल्लेख है। 'विवरण' का अर्थ होता है 'तुल्यार्थक स्पष्ट कथन'। मूल वाक्य से जो अर्थ विवक्षित हो किन्तु स्पष्ट न होता हो उसे स्पष्ट करने वाली शब्दावलि को 'विवरण' कहा जाता है। जैसे 'पचति' का विवरण है—'पाकं करोति।' इस विवरण वाक्य से 'पचति' के 'पच्' का 'पाक' अर्थ और 'ति' का 'करोति' अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यशोविजयजी ने अपनी व्याख्या का विवरण कह कर यह सूचित किया है कि वे अपनी व्याख्या में जो कुछ कहेंगे वह सब मूलग्रन्थ का ही अर्थ होगा उसमे कुछ नया नहीं होगा। वह तो मूलग्रन्थ को खोलने की एक कुञ्जी मात्र है इस कथन से मूलग्रन्थ की गम्भीरता, उसके प्रामाण्य से व्याख्या की प्रामाणिकता, तथा मूल ग्रन्थकार के प्रति व्याख्याकार के विनय की सूचना होती है।

यथाशक्ति विवरण करने की बात कह कर यह सूचित किया गया है कि व्याख्या में जो कुछ कहा जायगा, मूलग्रन्थ में उतना ही नहीं है। प्रतिभाशाली अध्येता उसमें और भी अर्थ प्राप्त कर सकते है। व्याख्या में तो मूलग्रन्थ के उतने ही अर्थ का सन्निवेश है जितने तक व्याख्याकार की पहुंच हो सकी है। इस कथन से भी मूलग्रन्थ की गम्भीरता और व्याख्याकार के विनय का सूचन होता है।

शास्त्रवार्त्तासमुच्चयः ।

मूलम्—प्रणम्य परमात्मानं वक्ष्यामि हितकाम्यया ।
सत्त्वानामल्पबुद्धीनां शास्त्रवार्त्ता–समुच्चयम् ॥ १ ॥

(स्या०) हारिभद्रं वचः क्वेदं बहुतर्क–पचेलिमम् ।
क्वच अहं शास्त्रलेशज्ञस्तादृक्तन्त्राविशारदः ॥३॥

श्रमो ममोचितो भावी तथाप्येष शुभायतिः ।
अर्हन्मतानुसारेण मेघेनेव कृषिस्थितिः ॥४॥

(स्या०) इह खलु निखिलं जगदज्ञानध्वान्तनिरस्ताऽऽलोकमवलोकमानस्तदुपचिकीर्षुर्भगवान् 'हरिभद्रसूरिः' प्रकरणमिदमारब्धवान् । तत्रादौ प्रारिप्सितग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तये मङ्गलमाचरन् प्रेक्षावत्प्रवृत्तयेऽभिधेयमाह–प्रणम्येति–

तीसरे पद्य में व्याख्याकार ने मूलग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों की दुर्ज्ञेयता और अपनी अल्पज्ञता बताते हुए पुनः अपने विनय की सूचना दी है। पद्य का आशय निम्नाङ्कित है।

हरिभद्रसूरि का वचन 'शास्त्रवार्त्तासमुच्चय' अनेकविध तर्कों द्वारा पचनीय-अवबोध-याग्य है। उसमें जो विषय वर्णित हैं, वे अनेक तर्कों पर आश्रित तथा अनेक तर्कों द्वारा ज्ञातव्य है। मूलकार की अपेक्षा व्याख्याकार को शास्त्रों का अत्यन्त संक्षिप्त ज्ञान है। वे शास्त्रवार्त्ता समुच्चय जैसे तर्कपूर्ण गम्भीर शास्त्र को समझनेमें दक्ष नहीं हैं। अथवा मूलग्रन्थकारके समान वे अनेक शास्त्रोंके मर्मज्ञ नहीं है। अतः शास्त्रवार्त्ता–समुच्चय' की व्याख्या करना उनके लिए एक दुष्कर कार्य है। ऐसा व्याख्याकार का विनम्र आशय है।

चौथे पद्य का आशय यह है—

शास्त्रवार्ता समुच्चय की व्याख्या करना व्याख्याकार के लिए यद्यपि एक दुःसाध्य कार्य है फिर भी वे व्याख्या करने के अपने प्रयास को उचित मानते हैं, क्यों कि अर्हन्मत—जैनसिद्धांत के प्रति उनका अनुराग और आदर है। उनका विश्वास है कि ग्रन्थ की व्याख्या करने में जो उन्हें श्रम होगा उसका परिणाम शुभ होगा। उनकी धारणा है कि जैसे मेघमण्डल जलवर्षा से कृषि की स्थिति को पुष्ट करते हुये उसके भविष्य को सुन्दर बनाता है उसी प्रकार जैन सिद्धांतों के प्रति अपना प्रेम व सिद्धांतों का बोध उनके व्याख्याश्रम को परिपुष्ट कर उसके भविष्य को उत्तम बनायेगा। उत्तर काल में उनकी व्याख्या की उपयोगिता होगी और उसकी निर्मल प्रशंसा होगी।

मूलग्रन्थ के प्रथम पद्य में तीन बातें बतायी गई है –

(१) ग्रन्थ की रचना के पूर्व परमात्मा को प्रणामरूप मंगल किया गया है।

(२) ग्रन्थ की रचना अल्पबुद्धि मनुष्यों के हितार्थ की जा रही है।

(३) ग्रन्थ में सभी शास्त्रों के सिद्धांतों का वर्णन तथा उनमें प्रतीत होने वाले विरोधों का समन्वय किया जायेगा।

इस पद्य की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए व्याख्याकार का कहना है कि भगवान हरिभद्रसूरि ने देखा की (१)जगत् के सभी जीव अज्ञान के अन्धकार में पड़े है। इस अज्ञान ने उनके ज्ञान—प्रकाश को निरस्त कर दिया है। जीवों की यह दशा देख कर भगवान् को उनका उपकार करने की अज्ञान को दूर कर उनके ज्ञान—आलोक को उद्दीप्त करने की इच्छा हुई। इस इच्छाके वशीभूत हो आचार्य भगवान् ने 'शास्त्रवार्ता—समुच्चय' नामक प्रस्तुत (२)प्रकरण ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ की। ग्रन्थ के आरम्भ में उन्होने परमात्मा को प्रणाम करते हुए मङ्गलाचरण किया और ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख किया। मङ्गलाचरण इसलिये किया कि जिससे प्रस्तुत ग्रन्थ की निर्विघ्नता पूर्वक समाप्ति हो, और प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख इसलिये किया, जिससे उस विषय के जिज्ञासु (३)प्रेक्षावान पुरुषों की प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति हो।

(१)—जगत्—इसका अर्थ है संसार में आसक्त जीवसमूह। द्रष्टव्य—गङ्गेशोपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि प्रत्यक्षखण्ड में प्रामाण्यवाद पर तार्किकशिरोमणि रघुनाथ की व्याख्या दीधिति। अथवा—'जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम्।'—ध्यानशतकटीका।

(२)—प्रकरण—शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः 'प्रकरणं' नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥ पराशर उपपुराण।

जिस ग्रन्थ में किसी एक शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों में किसी एक ही विषय का प्रधान रूपसे प्रतिपादन होता है, और साथ ही सम्बद्ध शास्त्र से अतिरिक्तशास्त्र के विषयों का भी प्रयोजनानुसार समावेश किया गया होता है, विद्वज्जन उसे 'प्रकरण' ग्रन्थ कहते हैं।

(३)—प्रेक्षावान्—इसका अर्थ है प्रयोजन का सम्यक् प्रेक्षण करके ही किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने वाला। द्रष्टव्य—प्रामाण्यवाद दीधिति पर गदाधर भट्टाचार्य की विवृति।

(स्या०) अथ समाप्तिमात्रे मङ्गलं न हेतुः, कादम्बरी-नास्तिकानुष्ठितयोरन्वय-व्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात् ।

मङ्गल के प्रयोजन के सम्बन्ध में व्याख्याकार ने पर्याप्त विचार किया है, जो इस प्रकार है,-समाप्ति को मङ्गल का फल मानने वाले प्राचीन आस्तिकों के विरुद्ध नास्तिकों की ओर से यह आक्षेप किया जाता है कि मङ्गल सर्वत्र समाप्ति का कारण नहीं हो सकता क्योंकि कादम्बरी³ में मङ्गल के रहते हुये भी उसकी समाप्ति न होने से तथा नास्तिकों के ग्रन्थों में मङ्गल न होने पर भी उनकी समाप्ति होने से मंगल में समाप्ति का अन्वयतः और व्यतिरेकतः दोनों प्रकार से व्यभिचार है ।

१-**मङ्गल**—'मङ्गं-विघ्नं लुनाति इति मंगलम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ है विघ्न का नाशक । 'विहन्ति इष्टं यः स विघ्नः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विघ्न शब्द का अर्थ है इष्टविघातक । इष्ट का विघातक होता है पाप, अतः पाप ही विघ्न है ।

मङ्गल के मुख्य भेद तीन हैं—नमस्कार, आशीर्वाद और वस्तुनिर्देश । नमस्कार का अर्थ है—नमस्कर्त्ता में नमस्कार्य की अपेक्षा अपकर्ष का अथवा नमस्कार्य में नमस्कर्त्ता की अपेक्षा उत्कर्ष का बोधक व्यापार । उस व्यापार के कई रूप हैं, जैसे नमः इत्यादि शब्द का प्रयोग, नमस्कर्ता द्वारा नमस्कार्य का चरणस्पर्श, नमस्कर्त्ता के शिर के साथ उसके कर का संयोग, नमस्कर्त्ता का अञ्जलिबन्ध आदि । आशीर्वाद का अर्थ है—इष्ट सिद्धि की कामना का बोधक शब्द । वस्तु-निर्देश का अर्थ है ग्रन्थ के प्रतिपाद्य वस्तु की बोधक शब्दावलि, जिसमें किसी पूज्य या किसी प्रशस्त घटना की चर्चा हो ।

२. **समाप्ति**—समाप्ति का अर्थ है 'चरम वर्ण का ध्वंस' चरम वर्ण का अर्थ है 'अन्तिम वर्ण'—'वर्णविशिष्टान्यवर्ण' । वैशिष्ट्य लेना है स्वाव्यवहितपूर्वत्व, स्वसमानकर्तृकत्व, स्वप्रयोजकाभिप्रायप्रयोज्यत्व, इन तीन सम्बन्धोंसे । इस परिभाषा के अनुसार किसी ग्रन्थ का चरमवर्ण वह होता है जिसके बाद ग्रन्थकार उस ग्रन्थ के अङ्ग रूप में किसी वर्ण का प्रयोग नहीं करता, क्योंकि वही ऐसा वर्ण है जो उक्त तीनों सम्बन्धों से वर्णविशिष्ट नहीं होता । पहले के सारे वर्ण अपने बाद वाले वर्ण से विशिष्ट हो जाते हैं, क्योंकि पूर्व वर्ण उत्तर वर्ण का अव्यवहितपूर्व होता है, इसलिये पूर्व वर्ण में उत्तर वर्ण का पहला सम्बन्ध रहता है । दोनों वर्ण एक ही पुरुष द्वारा उच्चरित होने से समानकर्तृक होते है, अतः पूर्व वर्ण में उत्तर वर्ण का दूसरा सम्बन्ध भी रहता है । पूर्व और उत्तरवर्त्ती दोनों वर्ण एक ही अर्थबोध के अभिप्राय से प्रयुक्त होते हैं, अतः पूर्व वर्ण के साथ उत्तरवर्ण का तीसरा सम्बन्ध होता है । इस प्रकार ग्रन्थ के समस्त पूर्ववर्त्ती वर्णों में उत्तरवर्त्ती वर्णों के इन तीन सम्बन्धों के रहने के कारण पूर्ववर्त्ती सभी वर्ण वर्ण-विशिष्ट हो जाते हैं । अन्तिम वर्ण में किसी भी वर्ण के उक्त तीनों सम्बन्ध न होने से वह वर्ण—विशिष्टान्य होने के कारण चरम वर्ण होता है ।

प्रश्न हो सकता है कि जब चरमवर्ण का उच्चारण होते ही ग्रन्थ समाप्त हो जाता है तब चरमवर्ण को समाप्ति न कह कर चरमवर्ण—ध्वंस को समाप्ति क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि यदि चरमवर्ण को समाप्ति माना जायेगा तो उस वर्ण का नाश होने पर समाप्ति का अभाव हो जायेगा । फलतः

समाप्त ग्रन्थमें असमाप्तता के व्यवहार की आपत्ति होगी। चरमवर्णध्वंस को समाप्ति मानने पर उक्त आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ध्वंस का विनाश न होने से समाप्ति का कभी अभाव नहीं हो सकता।

समाप्ति के प्रति मंगल की कारणता—

समाप्ति के प्रति मंगल को कई प्रकार से कारण माना जा सकता है,

(१) ग्रन्थकर्त्ता को समाप्ति का उत्पत्तिस्थल मान कर। इस पक्ष में कार्य का सम्बन्ध होगा 'स्वप्रतियोगिचरमवर्णानुकूलकृतिमत्त्व'। स्व का अर्थ है चरमवर्णध्वंस, उसका प्रतियोगी है चरमवर्ण, उसको सम्पन्न करने वाली कृति (प्रयत्न) है ग्रन्थकर्ता में। कारण का सम्बन्ध होगा 'स्वानुकूलकृतिमत्त्व'। स्व का अर्थ है मङ्गल, उसको सम्पन्न करने वाली कृति है ग्रन्थकर्त्ता में।

(२) ग्रन्थकर्त्ता के शरीर को समाप्ति का उत्पत्तिस्थल मानकर। इस पक्ष में कार्य का सम्बन्ध होगा स्वप्रतियोगिचरमवर्णानुकूलकृत्यवच्छेदकता'। 'स्व' है चरमवर्णध्वंस, उसका प्रतियोगी है चरमवर्ण, उसके अनुकूलकृति का अवच्छेदक है ग्रन्थकर्त्ता का शरीर, क्योंकि शरीररूप अवच्छेदक से अवच्छिन्न आत्मा में हीं कृति आदि की उत्पत्ति होती है।

कारण का सम्बन्ध है 'स्वानुकूलकृतिसमानाधिकरणादृष्टजन्यत्व'। 'स्व' है मंगल, उसके अनुकूलकृति का समानाधिकरण अदृष्ट है मंगलकर्त्ता का अदृष्ट, उससे जन्य है मङ्गलकर्त्ता ग्रन्थकार का शरीर।

(३) ग्रन्थ को—ग्रन्थ के चरमवर्ण को समाप्ति का उत्पत्तिस्थल मानकर। इस पक्ष में कार्य का सम्बन्ध है 'चरमवर्णनिष्ठप्रतियोगिता' और कारण का सम्बन्ध है 'स्वसमानकर्तृकत्व'। मङ्गल और चरमवर्ण का कर्त्ता एक होने से चरमवर्ण के साथ मङ्गल का स्वसमानकर्तृकत्व सम्बन्ध निर्विवाद है। इस सम्बन्ध से पूर्ववर्त्ती वर्णों में भी मङ्गल रहता है, पर समाप्ति चरमवर्णनिष्ठप्रतियोगिता सम्बन्ध से उनमें नहीं रहती, एतावता तृतीय पक्ष के कार्यकारणभाव में व्यभिचार की शङ्का करना उचित नहीं, क्योंकि चरमवर्णनिष्ठप्रतियोगिता सम्बन्ध से समाप्ति के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से चरमवर्ण भी कारण होता है। पूर्ववर्त्ती वर्णों में इस कारण के न रहने से उनमें समाप्ति के एक कारण मङ्गल के रहने पर भी व्यभिचार नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य की व्याप्ति कारणसमुदायरूप सामग्री में होती है, न कि एक कारणमात्र में।

३ कादम्बरी—यह एक उच्चकोटि का गद्यात्मक काव्यग्रन्थ है। इसके रचयिता है महाकवि बाण भट्ट (सातवीं शताब्दी)। ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकार ने मङ्गल किया है। किन्तु ग्रन्थकार द्वारा उसकी समाप्ति नहीं हुई है। ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध की रचना के बाद ही ग्रन्थकार की मृत्यु हो गई। अतः ग्रन्थ के शेषभाग की पूर्त्ति उनके पुत्र भूषणभट्ट ने की।

४ नास्तिक—पुण्य, पाप, पुनर्जन्म आदि में जिसका विश्वास नहीं होता उसे नास्तिक कहा जाता है। ऐसे पुरुष दृष्ट पदार्थ को ही किसी कार्य का कारण या बाधक मानते हैं। मङ्गल से किसी दृष्ट कारण का सम्पादन अथवा दृष्टबाधक का निवारण नहीं होता, अतः वे अपने ग्रन्थों में मङ्गल नहीं करते, फिर भी उनके ग्रन्थों की समाप्ति होती है। पूर्वकाल में ऐसे ग्रन्थ चार्वाक और उसके अनुयायी विद्वानों के होते थे, वर्त्तमान में समाजवादी, मार्क्सवादी, नक्सलवादी आदि ग्रन्थकारों के अनगिनत ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

५ अन्वयतः और व्यतिरेकतः—अन्वय का अर्थ है सम्बन्ध सद्भाव; और व्यतिरेक का अर्थ है अभाव। कतिपय स्थानों में दो भावात्मक वस्तुओं के अन्वय-सद्भाव-सहचार को देख कर जो व्याप्ति

ज्ञात की जाती है उसे अन्वय व्याप्ति कहा जाता है और उस व्याप्ति के विरोधी को अन्वय व्यभिचार कहा जाता है। जैसे महानस चत्वर आदि कई स्थानों में धूम और वह्नि के सहचार को देख कर यह व्याप्ति ज्ञात की जाती है कि "यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि" | जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होता है। इस व्याप्ति को मुख्य रूप से दो प्रकार से कहा जाता है। एक यह कि 'वह्निशून्य में धूम का असत्त्व–वह्न्यभाववदवृत्तित्व'। दूसरा यह कि 'वह्नि धूम का व्यापक होता है और धूम उस वह्नि के साथ रहता है—धूमव्यापकवह्निसामानाधिकरण्य। पहली व्याप्ति का विरोधी होगा 'वह्निशून्य में रहना–वह्न्यभाव, वद्वृत्तित्व' | दूसरी व्याप्ति का विरोधी होगा 'धूम के अव्यापक के साथ रहना–धूमाव्यापकमहानसीयवह्नि-सामानाधिकरण्य'। धूम का व्यापक सामान्य वह्नि होता है महानसीयवह्नि आदि विशेषवह्नि नहीं। इस लिये धूम में महानसीय वह्नि का व्यभिचार होता है | ये दोनों प्रकार के व्यभिचार अन्वय व्यभिचार कहे जाते हैं।

इसी प्रकार कतिपय स्थानों में दो व्यतिरेकों—अभावों के सहचार को देख कर जो व्याप्ति ज्ञात की जाती है उसे व्यतिरेकव्याप्ति कहा जाता है, जैसे नदी ह्रद आदि में वह्न्यभाव के साथ धूमाभाव के सहचार को देख कर यह व्याप्ति ज्ञात की जाती है कि 'यत्र वह्निः नास्ति तत्र धूमो नास्ति'– जहां वह्नि का अभाव होता है वहां धूम का अभाव होता है–धूमाभाव वह्न्यभाव का व्यापक होता है और धूम उस व्यापक अभाव का प्रतियोगी होता है–वह्न्यभावव्यापकाभावप्रतियोगित्व', वह व्याप्ति व्यतिरेक व्याप्ति है। इसका विरोधी होगा वह्न्यभाव के अव्यापक अभाव का प्रतियोगी होना | जैसे वह्न्यभाव का अव्यापक अभाव है द्रव्याभाव और द्रव्य उस अभाव का प्रतियोगी है। यह व्यभिचार व्यतिरेक व्यभिचार है।

अन्वयव्याप्ति :—

प्रकृत में अन्वयव्याप्ति का अर्थ है 'कारण के अन्वय में कार्य के अन्वय की व्याप्ति–कारण के होने पर कार्य के होने का नियम'।

एक कार्य के कई कारण होते हैं। जैसे लिखना एक कार्य है, उसके कई कारण हैं–कागज, कलम, स्याही, लेखक, लेखनीय विषय आदि। इन सब कारणों के उपस्थित होने पर लिखने का कार्य होता है। इनमें किसी में भी उसकी कारणता का निश्चय करने के लिये इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति का निश्चय आवश्यक है कि 'अन्य सभी कारणों के रहने पर अमुक के होने पर लिखने का कार्य होता है' जाय तो जैसे कागज से अतिरिक्त कलम आदि सभी कारणों के विद्यमान रहने पर यदि कागज भी विद्यमान हो लिखने का कार्य अवश्य हो जाता है।

इस प्रकार अन्वय व्याप्ति का स्वरूप है 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्' अर्थात् 'तदितरसकलतत्कार्यकारणसत्त्वे तत्सत्त्वे तत्कार्यसत्त्वम्'। इसका अर्थ है 'अमुक कारण से अतिरिक्त अमुक 'कार्य' के समस्त कारणों के रहने पर, अमुक के उपस्थित हो जाने पर,–अमुक 'कार्य' का सम्पन्न होना। इस व्याप्ति के न होने पर,–कारणता का निश्चय नहीं होता।

व्यतिरेक व्याप्ति :—

प्रकृत में व्यतिरेक व्याप्ति का अर्थ है, कारण के अभाव में कार्य के अभाव की व्याप्ति,– कारण न होने पर कार्य न होने का नियम।

एक कार्य के कई कारण होते हैं—जैसे लेखरूप कार्य के कारण हैं, कागज,–कलम–स्याही,–लेखक, लेखनीय विषय आदि । इन सभी कारणों में लेख की कारणता का निश्चय इसी आधार पर होता है कि इन सबों में किसी एक का भी अभाव रहने पर लेख का कार्य नहीं हो पाता ।

कारणाभाव में कार्याभाव की यह व्याप्ति ही कार्य में कारण की व्यतिरेकव्याप्ति का मूल होती है, और उसका स्वरूप होता है 'कारणाभावव्यापककार्याभावप्रतियोगित्व' । इसका अर्थ यह है कि कार्य का अभाव कारण के अभाव का व्यापक होता है और कार्य उस अभाव का प्रतियोगी होता है । कारणाभाव में कार्याभाव की व्याप्ति के अभाव में भी कारणता का निश्चय नहीं होता ।

अन्वय–व्यतिरेक-व्यभिचारः—

यह कहा जा चुका है कि अन्वय-व्यतिरेक भेद से व्याप्ति दो प्रकार की है, अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेक–व्याप्ति । इसलिये व्याप्ति के विरोधी व्यभिचार के भी दो भेद हैं– अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार । अब इस बात पर विचार करना है कि इन व्यभिचारों के ज्ञान से कारणता के निश्चय का प्रतिबन्ध क्यों होता है ।

अन्वय–व्यभिचार से कारणता का विरोद्धव्य अंश :—

कारणता का स्वरूप है 'अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववर्तित्व' । इसका अर्थ है—कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध न होते हुये उसके अव्यवहित पूर्वक्षण में साक्षात् उत्पत्ति स्थल में स्वयं अथवा अपने व्यापार द्वारा विद्यमान होना । कुछ कारण ऐसे होते हैं जो अपने कार्य के उत्पत्ति से पूर्व स्वयं विद्यमान रहते हैं, जैसे पट के कारण तन्तु आदि । और कुछ कारण ऐसे होते हैं जो कार्य से पूर्व स्वयं विद्यमान नहीं होते किन्तु उनका व्यापार विद्यमान होता है, जैसे स्मरण का कारण पूर्वानुभव । पूर्वानुभव स्मरण से पूर्व स्वयं विद्यमान नहीं रहता किन्तु उसका व्यापार संस्कार विद्यमान रहता है ।

कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध न होने का अर्थ है 'कार्य का नियतपूर्ववर्ती होते हुये भी जो कार्य के कारण नहीं माने जाते उन सभी पदार्थों से भिन्न होना । जैसे कागज, कलम आदि के रूपरंग, उनकी जाति, उनके उत्पादक, उनसे सम्बद्ध आकाश, उन्हें एकत्र करनेवाला नौकर, ये सब लेख कार्य के नियत पूर्ववर्ती होते हैं, पर ये लेख के कारण नहीं माने जाते । अतः लेख कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होने से ये लेख के कारण नहीं होते । कागज, कलम आदि अन्यथासिद्ध न होने से लेख के कारण होते हैं ।

अन्वय व्यभिचार के ज्ञान से कारणता के इस अनन्यथासिद्धत्व अंश के ज्ञान का ही प्रतिबन्ध होता है ।

इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि अन्वयव्याप्ति के शरीर में व्याप्यांश में अनन्यथासिद्धत्व विशेषण देना आवश्यक है,- क्योंकि उसके अभाव में अन्यथासिद्ध में भी कार्य की अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति होने से अन्यथासिद्ध में भी कारणता के निश्चय की आपत्ति होगी, और जब अन्वय व्याप्ति के शरीर में व्याप्यांश में अनन्यथासिद्धत्व विशेषण रहेगा तब अन्यथासिद्ध में उस विशेषण के न होने से अन्वयव्याप्ति का ज्ञान न हो सकने के कारण उसमें कारणता के निश्चय की आपत्ति न होगी । व्याप्यांश में अनन्यथासिद्धत्व विशेषण देने पर अन्वय व्याप्ति का स्वरूप होता है "तदितरसकलतत्कार्यकारणसत्त्वे अनन्यथासिद्ध-तत्सत्त्वे तत्कार्यसत्त्वम्" । इसका अर्थ है—'अमुक कार्य के अमुक से अतिरिक्त सकल कारणों के रहने पर अमुक के विद्यमान होने पर अमुक कार्य का होना और अमुक का अमुक कार्य के प्रति अन्यथा-

सिद्ध न होना'। जैसे लेख कार्य के कागज से अतिरिक्त सकल कारणों के रहने पर कागज के विद्यमान हो जाने पर लेख कार्य होता है और कागज लेख के प्रति अन्यथासिद्ध नहीं होता। अतः कागज में लेख की अन्वयव्याप्ति होने से कागज लेख का कारण होता है और कागज के रूप रंग आदि अन्यथासिद्ध होने से लेख की अन्वय व्याप्ति से हीन होने के नाते लेख का कारण नहीं होते।

अन्वय व्यभिचार का स्वरूप है 'तदितरसकलतत्कार्यकारणसत्त्वे तत्सत्त्वेऽपि तत्कार्यजातीयकार्यान्तरासत्त्वम्'। इसका अर्थ है—'अमुक कार्य के अमुक से अतिरिक्त सम्पूर्ण कारण होने पर अमुक के होने पर भी अमुक कार्य के सजातीय कार्यान्तर का न होना। जैसे 'कादम्बरी' से अन्य आस्तिक ग्रन्थों में समाप्ति के मङ्गलातिरिक्त सभी कारणों एवं मंगल के होने से उन ग्रन्थों की समाप्ति हुई है पर, कादम्बरीमें वैसी ही दशा में समाप्ति नहीं हुई है। मंगल में समाप्ति के इस अन्वय व्यभिचार को देख कर यह कल्पना की जा सकती है कि आस्तिक ग्रन्थों में जहां मंगल समाप्ति का नियत पूर्ववर्त्ती है वहां भी वह समाप्ति का कारण नहीं है किन्तु उसके प्रति अन्यथासिद्ध है।

इस प्रकार अन्वय-व्यभिचार के ज्ञान से अन्वय व्याप्ति के ज्ञान का साक्षात् प्रतिबन्ध न होने पर भी उससे अन्यथासिद्धत्व का ज्ञान हो कर उसके द्वारा अन्वय व्याप्ति ज्ञान का तथा कारणता के अनन्यथासिद्धत्व अंश के ज्ञान का प्रतिबन्ध होता है। इस प्रतिबंध के कारण ही अन्वय-व्यभिचार को कारणता-निश्चय का विरोधी माना जाता है।

इस प्रसंग में इस रहस्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि उक्त अन्वयव्याप्ति में 'तदितरसकलतत्कार्यकारणसहिततत्सत्त्व' व्याप्य और 'तत्कार्य' व्यापक है। किन्तु उक्त अन्वय व्यभिचार में व्याप्य तो वही है पर अव्यापक तत्कार्य नहीं है किन्तु 'तत्कार्यसजातीयकार्यान्तर' है। व्यापकता और अव्यापकता के धर्मियों में भेद होने से अन्वय व्याप्ति ज्ञान के प्रति अन्वयव्यभिचार की विरोधिता व्यापकत्व और अव्यापकत्व की दृष्टि से नहीं हो सकती। किन्तु अन्वय व्याप्ति के शरीर में व्याप्यांश में विशेषणभूत अनन्यथासिद्धत्व की दृष्टि से ही हो सकती है, और यह भी साक्षात् नहीं, किन्तु अन्यथासिद्धत्वज्ञान के सम्पादन द्वारा, क्योंकि अन्वयव्यभिचार के शरीर में व्याप्यांश में अन्यथासिद्धत्व का प्रवेश नहीं होता अपितु उक्त प्रकार से अन्वयव्यभिचार होने पर व्याप्यांश में अन्यथासिद्धत्व की कल्पना कर ली जाती है।

व्यतिरेक–व्यभिचार से कारणता का विरोद्धव्य अंश :—

कारण का अभाव होने पर भी कार्य के होने का नाम है 'कारणव्यतिरेक में कार्यव्यतिरेक का व्यभिचार'। इससे कारण में 'कार्यनियतपूर्ववर्त्तिता' के ज्ञान का प्रतिबन्ध होता है। स्पष्ट है कि जब कार्य उत्पत्ति से पूर्व कार्य के उत्पत्तिस्थल में कारण का अभाव रहेगा तब कारण कार्य का नियतपूर्ववर्त्ती न होगा। इस प्रकार व्यतिरेकव्यभिचार कारणता के विशेष्य भाग कार्यनियतपूर्ववृत्तित्व अंश का विरोधी होता है।

इस सन्दर्भ में यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार में दोनों अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति के ज्ञान के प्रतिबन्ध द्वारा भी कारणता निश्चय के विरोधी होते हैं और सीधे भी विरोधी होते हैं, क्यों कि अन्वयव्यभिचार से कल्पनीय अन्यथासिद्धत्व का कारणतागत अनन्यथासिद्धत्व के साथ सीधा विरोध है। इसी प्रकार कारणाभाव में कार्याभावके व्यभिचार—कारण में कार्यसमानाधिकरणअभाव के प्रतियोगित्व का कारणतागत कार्यनियतपूर्ववृत्तित्व—कारण में कार्यव्यापकत्व—कार्यसमानाधिकरण अभाव के अप्रतियोगित्व के साथ सीधा विरोध है।

न च स्वसमसंख्यविघ्नस्थलीयसमाप्तौ मङ्गलं हेतुः, नास्तिकानुष्ठितस्थले च जन्मान्तरीयमङ्गलादेव समाप्तिरिति वाच्यम्, विघ्नाधिकसंख्यमङ्गलस्थले समाप्त्य-भावप्रसङ्गात्। न च [1]स्वानधिकन्यूनसंख्यविघ्नस्थलीयत्वं निवेश्यम्, यत्र दश विघ्नाः पञ्च च प्रायश्चित्तेन नाशिताः, पञ्च च मङ्गलानि, तत्र समाप्त्यभावप्रसङ्गात्। नच प्रायश्चि-त्ताद्यनाश्यस्वानधिकसंख्यविघ्नस्थलीयत्वं निवेश्यम्, बलवतो विघ्नस्य बहुभिरपि मंगलैरनाशात्, बलवता मंगलेन बहूनामपि विघ्नानां नाशाच्च।

किंच विघ्नः समाप्तौ विशेषणम्, उपलक्षणं वा? नाद्यः, विघ्नस्यापि जन्यतापत्तेः, नान्त्यः, नियतोपलक्ष्यतावच्छेदकाभावादिति दिक्।

(प्राचीन आस्तिकों की ओर से इस पर कहा जा सकता है कि)

मङ्गल उसी स्थल में समाप्ति का कारण होता है जहां विघ्नों की संख्या मङ्गल की संख्या के समान होती है। 'कादम्बरी' में विघ्नों की संख्या मंगल की संख्या से अधिक है। अतः मंगल के रहते भी उस ग्रन्थ की समाप्ति न होने से अन्वय-व्यभिचार नहीं है।

इसी प्रकार नास्तिक ग्रन्थों में मंगल के अभाव में भी समाप्ति होने की बात बतला कर जो व्यतिरेक व्यभिचार प्रदर्शित किया गया है, उस सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है, कि नास्तिक ग्रन्थों की समाप्ति भी ग्रन्थकार द्वारा पूर्वजन्म में किये गये मंगल से ही होती है। मंगल के अभाव में नहीं होती है। अतः व्यतिरेक-व्यभिचार भी नहीं है। किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि मंगल को उक्त रीति से समाप्ति का कारण मानने पर जहां मंगल की संख्या विघ्नों की संख्या से अधिक होगी, वहां समाप्ति न हो सकेगी।

अगर कहें 'मंगल वहीं समाप्ति का कारण होता है जहाँ विघ्नों की संख्या मंगल की संख्या से अधिक नहीं होती। अतः जहां विघ्नों की संख्या मङ्गल की संख्या से न्यून है वहां भी मंगल से समाप्ति होने में कोई बाधा न होगी:' तो यह भी कल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जहां विघ्नों की संख्या दश हैं, जिनमें पांच का नाश प्रायश्चित्त से और पांच का नाश पांच मंगलों से होता है, वहां मंगलों की संख्या से विघ्नों की संख्या अधिक होने के कारण समाप्ति न हो सकेगी।

इस प्रकार, 'मंगल उसी स्थल में समाप्ति का कारण होता है जहां प्रायश्चित आदि अन्य उपायों से नष्ट न होने वाले विघ्नों की संख्या मंगल की संख्या से अधिक नहीं होती' यह कहना भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि जहां एक ही विघ्न इतना बलवान् है कि उसका नाश अनेक मंगलों से भी नहीं हो पाता, वहां मंगल की संख्या से विघ्नों की संख्या अधिक न होने के कारण समाप्ति की आपत्ति होगी, एवं जहां एक ही बलवान् मंगल से छोटे मोटे अनेक विघ्नों का नाश होता है वहां मङ्गल की संख्या से विघ्नों की संख्या अधिक होने के कारण समाप्ति की उत्पत्ति न हो सकेगी।

१ अहम्मदाबाद-संवेगी उपाश्रयकी प्रतमें 'स्वाधिकसूनसंख्य०' ऐसा पाठ है। विचार करने पर 'स्वा-धिकशून्यसंख्य'० अथवा 'स्वानधिकसंख्य'० पाठ उचित लगता है।

इस सन्दर्भ में एक बात और विचारणीय है। वह यह कि, समाप्ति और मङ्गल के बीच उक्त प्रकार से कार्यकारणभाव मानने पर मङ्गल से उत्पन्न होने वाली समाप्ति का स्वरूप होगा मंगलसमर्सक्यविघ्नस्थलीयसमाप्ति, अथवा मंगलानधिकरणसमाप्तिविघ्नस्थलीय समाप्ति, किंवा प्रायश्चित्तसाधनाद्यमंगलानधिकरणक्षणविघ्नस्थलीयसमाप्ति, इन में विघ्नस्थलीयसमाप्ति का अर्थ है विघ्नसमानाधिकरणसमाप्ति अथवा सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध से विघ्नवती समाप्ति। अब प्रश्न यह उठेगा कि समाप्ति में विघ्न 'विशेषण है या उपलक्षण? (१) यदि विघ्न को समाप्ति का विशेषण मान कर विघ्नविशिष्ट समाप्ति को मङ्गल का कार्य माना जायगा तो विघ्न को भी मङ्गल का कार्य मानना होगा, क्योंकि विशेषण और विशेष्य से अतिरिक्त विशिष्ट का अस्तित्व न होने से विघ्न और समाप्ति दोनों मंगल के कार्य न होंगे तो विघ्नविशिष्टसमाप्ति भी मंगल का कार्य न हो सकेगी, (२) और यदि विघ्न को समाप्ति में उपलक्षण मान कर विघ्नोपलक्षित समाप्ति को मङ्गल का कार्य माना जायगा, तो यह इसलिये उचित न होगा कि विघ्न का समाप्ति में उपलक्षण होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उपलक्षण वही होता है जो उपलक्ष्यतावच्छेदक धर्म का व्यापक होता है. प्रस्तुत में समाप्ति उपलक्ष्य है, समाप्तित्व उपलक्ष्यतावच्छेदक है, वह निसर्गतः निर्विघ्न स्थल में होने वाली समाप्ति में भी है, उस समाप्ति में विघ्न का सामानाधिकरण्य न होने से समाप्तित्व रूप उपलक्ष्यतावच्छेदक-उपलक्षणत्वेन विवक्षणीय विघ्न का व्यापक नहीं है अतः नियत-व्यापक उपलक्ष्यतावच्छेदक न होनेसे विघ्न समाप्ति में उपलक्षण नहीं हो सकता।

---

१ विशेषण—विशेषण का लक्षण है 'विद्यमानत्वे सति व्यावर्तकत्व'। व्यावर्तक का अर्थ है, इतर भेद का अनुमापक, इस लक्षण के अनुसार विशेषण वह होता है 'जो विद्यमान रहने पर अपने आश्रय में इतरभेद का अनुमान करावें, जैसे अपक्व घट में नीलरूप, यह रूप जिस समय घट में रहता है उसी समय अपने आश्रयभूत घटको अनील घटों से व्यावृत्त कर सकता है, किन्तु पाक से नीलरूप का नाश होकर रक्त रूप की उत्पत्ति हो जाने से घट जब रक्त हो जाता है तब विद्यमान न होने से नीलरूप उस घट का व्यावर्तक नहीं होता और इसी लिये उस समय वह घट का विशेषण नहीं कहा जाता।

२ उपलक्षण—उपलक्षण का लक्षण है 'अविद्यमानत्वे सति व्यावर्त्तकत्व'। इस लक्षणके अनुसार उपलक्षण वह होता है जो विद्यमान न रहने पर भी उस वस्तुको, जिसके साथ उसका कभी सम्बन्ध रहा हो, अन्यों से व्यावृत्त करे; जैसे 'कुरुक्षेत्र' में कुरु। पूर्वकाल में कुरु नाम का एक राजा हो चुका है, जिसका उस समय इस क्षेत्र के साथ सम्बन्ध था, वह इस समय विद्यमान नहीं है फिर भी इस क्षेत्र को अन्य क्षेत्रोंसे व्यावृत्त करता है अतः कुरुक्षेत्र में कुरु उपलक्षण है, विशेषण नहीं है।

ग्रन्थों में एक प्रकार के और भी उपलक्षण का उल्लेख मिलता है, उसका लक्षण है 'स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्व=अपनी और अपने जैसी अन्य वस्तु की सूचना देने वाला'। जैसे यदि यह कहा जाय कि पट का रूप तन्तुरूप से उत्पन्न होता है, तो रूप वहां स्पर्श आदि का उपलक्षण हो जाता है और उसका फल यह होता है कि 'पट का रूप तन्तुरूपसे उत्पन्न होता है', इस बात का ज्ञान होने पर 'पट के स्पर्श आदि तन्तु के स्पर्श आदि से उत्पन्न होते हैं' इस बातका भी ज्ञान हो जाता है। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में उपलक्षण का यह अर्थ ग्राह्य नहीं है।

(स्या०) ''आवश्यकत्वाद् विघ्नध्वंस एव मङ्गलफलम्, समाप्तिस्त्वसति प्रतिबंधे स्वकारणादेव भवति, कारीरीत इवावग्रहनिवृत्तौ वृष्टिः। 'निर्विघ्नं परिसमाप्यताम्' इति कामनाऽपि 'सविशेषणे हि०' इतिन्यायाद् विघ्नध्वंसमात्रावगाहिनी''–इत्यपि मतं न रमणीयम्, मङ्गलं विनाऽपि विघ्नध्वंसस्य प्रायश्चित्तादितो भावेन व्यभिचारात्।

विघ्नध्वंस को मङ्गल का फल मानने वाले नवीन आस्तिकों का मत है कि समाप्ति मङ्गल का कार्य नहीं है अपितु उसकी सम्पन्नता के लिये आवश्यक होने से विघ्न-ध्वंस ही मङ्गल का कार्य है, क्योंकि मङ्गल से प्रतिबन्धक विघ्न की निवृत्ति होने पर समाप्ति अपने सर्वसम्मत अन्य कारणों से ही ठीक उसी प्रकार सम्पन्न हो सकती है

विशेषण और उपलक्षण में अन्य वैलक्षण्य—विशेषण और उपलक्षण में उनके लक्षणों से जो वैल-क्षण्य ज्ञात होता है उससे अतिरिक्त भी उनमें वैलक्षण्य होता है, जैसे विशेषण अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक, विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकबुद्धि में विशेषण के संसर्ग का घटक तथा विशिष्टमें रहने वाले धर्म का आश्रय होता है; उपलक्षण ऐसा नहीं होता; इस विषय को इस प्रकार समझा जा सकता है,—

पाक से नीलरूप को खो कर रक्तरूप को प्राप्त हुआ घट जिस समय जिस स्थान में रहता है उस समय उस स्थान में ''इदानीमत्र नीलघटो नास्ति''–इस समय यहाँ नील घट नहीं है यह प्रतीति होती है। स्पष्ट है कि इस प्रतीति में नील रूप को घट में अगर उपलक्षण माना जायेगा तो यह प्रतीति न हो सकेगी; क्योंकि प्रतीति के समय नील से उपलक्षित घट के विद्यमान होने से नील से उपलक्षित घट का अभाव न हो सकेगा, और जब उक्त प्रतीति में नील रूपको घट का विशेषण माना जायेगा तब उक्त प्रतीति के समय नील-रूपविशिष्ट घट के अभाव के होने में कोई बाधा न होने से उक्त प्रतीति निर्बाध रूप से सम्पन्न हो सकेगी। अतः यह निर्विवादसिद्ध है कि उक्त प्रतीति में नीलरूप घट का विशेषण होने से ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक है, उपलक्षण होने से नहीं।

इसी प्रकार 'भूतलं नीलघटवत्–भूतल नीलघट से सम्बद्ध है' इस बुद्धि में नीलरूप घट में कभी विशेषण होता है और कभी उपलक्षण होता है, जिस बुद्धि में घट में नीलरूप विशेषण होता है, उसे नीलरूपविशिष्ट-घट के वैशिष्ट्य को विषय करने वाली बुद्धि कहा जाता है। उसमें भूतल में नीलघट के सम्बन्ध के रूप में नीलरूपविशिष्टघटप्रतियोगिकसंयोग का भान होने से नीलरूप सम्बन्ध का घटक होता है; तथा उस बुद्धि की उत्पत्ति के पूर्व 'घटो नीलः – घट नीलरूप से विशिष्ट है' इस बुद्धि की आवश्यकता होती है।

जिस बुद्धि में घट में नीलरूप उपलक्षण होता है उसे नीलरूपोपलक्षितघटवैशिष्ट्यविषयक कहा जाता है, उस में भूतल में नीलघट के सम्बन्ध के रूप में केवल संयोग का भान होने से नीलरूप सम्बन्ध का घटक नहीं होता, और उसकी उत्पत्ति के पूर्व 'घटो नीलः' इस बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती।

इसी प्रकार नीलरूप जब घट में विशेषण होता है तब नीलरूपविशिष्टघट में रहने वाला पाकपूर्व-कालवृत्तित्व नीलरूप में भी रहता है, किन्तु नीलरूप जब घट में उपलक्षण होता है तब नीलरूपोपलक्षित-घट में रहनेवाला पाकोत्तरकालवृत्तित्व नीलरूप में नहीं रहता।

(स्या०) न च प्रायश्चित्ताद्यनाश्यविघ्नध्वंसे मङ्गलं हेतुरतो न दोष इति वाच्यम्, प्रायश्चित्तादीनामपि मङ्गलाद्यनाश्यविघ्नध्वंसं प्रति हेतुत्वेऽन्योन्याश्रयात् ।

जिस प्रकार "कारीरी' से प्रतिबन्धक की निवृत्ति होने पर अपने अन्य कारणों से ही वृष्टि सम्पन्न हो जाया करती है ।

यदि यह कहा जाय कि "समाप्ति को मङ्गल का फल मानने पर मङ्गल से निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति रूप फल की कामना नहीं हो सकेगी तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्यबाधे=विशेषणसहित विशेष्य में बताये जाने वाले विधि या निषेध विशेष्य में बाधित होने पर विशेषणगामी हो जाते हैं' इस नियम के अनुसार निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति में बतायी जाने वाली मङ्गलकाम्यता उसके विशेष्य अंश "समाप्ति" में बाधित होने के कारण, उसके विशेषणअंश निर्विघ्नता में मान ली जायगी, अतः मंगल से निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति की कामना होने में कोई बाधा नहीं हो सकती ।

विचार करने पर नवीन आस्तिकों का यह मत भी समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि मंगल के न होने पर भी प्रायश्चित्त आदि विघ्नध्वंस के होने से व्यतिरेकव्यभिचार होने के कारण विघ्नध्वंसको भी मङ्गल का कार्य मानना सम्भव नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि 'प्रायश्चित्त आदि से उत्पन्न न होनेवाले विघ्नध्वंस के प्रति मंगल को कारण मानने से यह दोष न होगा, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे प्रायश्चित्त आदि से होने वाले विघ्नध्वंस को ले कर व्यतिरेकव्यभिचार होने से विघ्नध्वंसमात्रके प्रति मङ्गल कारण नहीं हो पाता, उसी प्रकार प्रायश्चित्त आदि के अभाव में मंगल से होने वाले विघ्नध्वंस को ले कर व्यतिरेकव्यभिचार होनेसे विघ्नध्वंसमात्र के प्रति प्रायश्चित्त आदि भी कारण नहीं हो सकता, अतः जैसे प्रायश्चित्त आदि से उत्पन्न न होने वाले विघ्नध्वंसके ही प्रति मंगल को कारण माना जायगा उसी प्रकार मङ्गल से उत्पन्न न होने वाले विघ्नध्वंसके ही प्रति प्रायश्चित्त आदि को भी कारण मानना पड़ेगा, फलतः विघ्नध्वंस और मंगल के बीच इस प्रकार के कार्यकारणभाव की कल्पना करने पर अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा, क्योंकि जब यह निश्चय न हो जायगा कि विघ्नध्वंस तो मंगल से भी उत्पन्न होता है और प्रायश्चित्त आदि से भी उत्पन्न होता है तो विघ्नध्वंस किस प्रकार का है ? मंगल से जननयोग्य ? या प्रायश्चित्त से जननयोग्य ? तब तक विघ्नध्वंस में 'प्रायश्चित्त आदि से उत्पन्न न होने वाले' तथा 'मङ्गल से उत्पन्न न होने वाले' इन विशेषणों की सार्थकता का ज्ञान न होगा, और जब तक इन विशेषणों की सार्थकता का ज्ञान न होगा, तब तक

१. 'कारीरी' एक वैदिक इष्टि—लधुयज्ञ है, जिसके लिए वैदिक मान्यता है कि जिसे पूर्वकाल में देश में अवर्षण होने पर किया जाता था और जिसका विधिवत् अनुष्ठान होने पर वृष्टि हुआ करती थी। उसके यथा विधि अनुष्ठान से आज भी वर्षा करायी जा सकती है; उस इष्टि में 'करीर' से होम करने का विधान है । 'वेदभाष्य' के अनुसार 'करीर' सोमलता जैसी एक विशेष प्रकार की लता का अङ्कुर है और 'निघण्टु' के अनुसार बाँस का अङ्कुर है, उत्तर भारत के कई प्रदेशों में उसे 'करील' कहा जाता है । 'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत' इस श्रुति से उसका विधान है ।

व्यतिरेकव्यभिचार होने के कारण विघ्नध्वंस के प्रति मंगल तथा प्रायश्चित आदि की कारणता का ज्ञान न होगा, और जब तक इस कारणता का ज्ञान न होगा तब तक मंगल से भी विघ्नध्वंस होता है और प्रायश्चित आदि से भी विघ्नध्वंस होता है, इस बात का ज्ञान न हो सकेगा। अतः विघ्नध्वंस और मंगल के बीच उक्त प्रकार से कार्यकारणभाव की कल्पना में [1]अन्योन्याश्रयदोष होना स्पष्ट है।

---

१ अन्योन्याश्रय दोष तब होता है जब किन्हीं दो वस्तुओं को परस्पर में ही एक दूसरे की अपेक्षा हो जाती है, यह अपेक्षा कभी उत्पत्ति के लिये कभी स्थिति के लिए और कभी ज्ञप्ति-ज्ञान के लिये होती है, अतः इस दोष के तीन भेद हैं उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय, स्थिति में अन्योन्याश्रय, और ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रय।

उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय—

यह अन्योन्याश्रय तब होता है जब किन्हीं दो वस्तुओं को अपनी उत्पत्ति के लिये परस्पर में ही एक दूसरे की अपेक्षा हो जाती है, जैसे यदि यह कल्पना की जाय कि विघ्नध्वंस के प्रति मङ्गल कारण है और मङ्गल के प्रति विघ्नध्वंस कारण है तो यह कल्पना अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त हो जायगी, क्योंकि इस कल्पना के अनुसार न मङ्गल के बिना विघ्नध्वंस की उत्पत्ति हो सकेगी और न विघ्नध्वंस के बिना मङ्गल की उत्पत्ति हो सकेगी, फलतः दोनों ही उत्पन्न न हो सकेंगे।

स्थिति में अन्योन्याश्रय—

यह अन्योन्याश्रय तब होता है जब किन्हीं दो वस्तुओं को अपनी स्थिति के लिये परस्पर में ही एक दूसरे की अपेक्षा हो जाती है, जैसे परमाणुओं से पृथक् समुदाय की और समुदाय से पृथक् परमाणुओं की उपलब्धि न होने से उन दोनों को यदि परस्पराश्रित मान लिया जाय, तो यह मान्यता अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होगी, क्योंकि परमाणु जब स्वयं समुदाय में आश्रय पा लेंगे तभी समुदाय के आश्रय बन सकेंगे, इसी प्रकार जब समुदाय स्वयं परमाणुओं में आश्रय पा लेगा तभी परमाणुओं का आश्रय बन सकेगा, फलतः दोनों ही आश्रय हीन हो जाने से अपना अस्तित्व ही खो बैठेंगे।

ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रय—

यह अन्योन्याश्रय तब होता है जब किन्हीं दो वस्तुओं को अपने ज्ञान के लिये परस्पर में ही एक दूसरे के ज्ञान की अपेक्षा हो जाती है। जैसे यदि गौ का लक्षण किया जाय सास्ना—सादड़ी—गले के नीचे लटकनेवाला चमड़े का थैला और सास्ना का लक्षण किया जाय गौ का एक विजातीय अवयव, तो ये दोनों लक्षण अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त हो जायेंगे, क्योंकि सास्ना का ज्ञान हुये बिना गौ का और गौ का ज्ञान हुये बिना सास्ना का ज्ञान न हो सकेगा।

प्रकृत में प्रायश्चित आदि से अजन्य विघ्नध्वंस के प्रति मंगल को, एवं मंगल से अजन्य विघ्नध्वंस के प्रति प्रायश्चित्त आदि को कारण मानने पर ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रय होगा, क्योंकि जब तक कुछ विघ्नध्वंसों में प्रायश्चित्तादि जन्यता एवं कुछ विघ्नध्वंसों में मंगलजन्यता का ज्ञान न होगा तब तक उक्त अजन्यान्त विशेषणों की सार्थकता का ज्ञान न हो सकेगा और जब तक उनकी सार्थकता का ज्ञान न होगा तब तक व्यभिचार होने के कारण विघ्नध्वंस में प्रायश्चित्तादिजन्यता अथवा मंगलजन्यता का ज्ञान न हो सकेगा।

(स्या०) 'विघ्नो मा भूत्' इति कामनया प्रवृत्तेर्विघ्नप्रागभाव एव मङ्गलफलमित्यपि न पेशलं वचनम्, प्रागभावस्यासाध्यत्वात्, स्वत आगन्तुकस्य समयविशेषस्य सम्बन्धरूपस्य तत्परिपालनस्यापि मङ्गलासाध्यत्वात् ।

'विघ्न की उत्पत्ति न हो' इस कामना से ही मङ्गल के अनुष्ठान में शिष्टजनों की प्रवृत्ति होती है, अतः विघ्न की अनुत्पत्ति ही मङ्गल का फल है' यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विघ्न की अनुत्पत्ति का अर्थ है विघ्नका प्रागभाव, और प्रागभाव होता है अनादि, अतः उसे मङ्गल का फल अर्थात् उत्पाद्य मानना सम्भव नहीं है ।

'मङ्गल न करने पर मङ्गलरूप प्रतिबन्ध के न होने से विघ्न के कारणों से विघ्न की उत्पत्ति अवश्य होगी, और विघ्नकी उत्पत्ति होने पर विघ्न का प्रागभाव नष्ट हो जायेगा अतः विघ्न की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक खड़ा कर विघ्न प्रागभाव की रक्षा करने के लिये मङ्गल का अनुष्ठान आवश्यक होने से यह मानना उचित है कि विघ्न प्रागभाव की रक्षा ही मङ्गल का फल है,' यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विघ्न प्रागभाव की रक्षा का अर्थ है, आने वाले काल के साथ विघ्न प्रागभाव का सम्बन्ध, और उसके लिये आवश्यक है काल और प्रागभाव दोनों का होना, जिसमें प्रागभाव पहले से विद्यमान है और काल प्रवाहक्रम से स्वयं उपस्थित होता रहेगा, फलतः काल और प्रागभाव इन दोनों सम्बन्धियों के विद्यमान होने से उनका सम्बन्ध स्वयं होता रहेगा, उसके लिये मङ्गल की कोई अपेक्षा न होगी, दोनों सम्बन्धियों के होते हुए भी यदि उनका सम्बन्ध न हो पाता तो सम्बन्ध को सम्पन्न करने के हेतु मङ्गल की अपेक्षा हो सकती थी, और यह स्थिति तब होती जब उनका सम्बन्ध घट और भूतल के संयोग के समान सम्बन्धियों से भिन्न होता पर यह बात है नहीं, क्योंकि काल और प्रागभाव का सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न न हो कर तत्स्वरूपात्मक ही है, अतः उसके लिये किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है।

१ प्रागभाव का अर्थ है वह अभाव, जो अनादि कालसे होता हुआ, वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व उसके उत्पत्ति स्थान में रहता है और वस्तु की उत्पत्ति होते ही नष्ट हो जाता है, जैसे तिल में तैल का अभाव, जब तक तिल का पेषण नहीं होता तब तक तिल में तैल का अभाव रहता है, तिल का पेषण होने पर तैल की उत्पत्ति होते ही तिल में रहने वाले तैलाभाव का नाश हो जाता है। पेषण से पूर्व तिल में तैलका अभाव कब आया, यह नहीं बताया जा सकता, इस बारे में तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि तिल में तैल का प्रागभाव अनादि है, उसका कोई प्रारम्भकाल नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि तिल तो स्वयं सादि है तो उसमें रहने वाला तैल का प्रागभाव अनादि कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि यतः तिल के साथ तैल के प्रागभाव का जन्म नहीं होता अतः वह तिलकी उत्पत्ति से पूर्व भी रहता है, किन्तु उस समय वह केवल काल और दिशा में ही कालिक और दैशिक सम्बन्ध से विद्यमान रहता है, जब तिल उत्पन्न होता है तब उसमें वह स्वरूप सम्बन्ध से रहने लगता है, तिल के स्वरूप को ही तैल प्रागभाव का सम्बन्ध माना जाता है, काल, दिशा या अन्य किसी वस्तु के स्वरूप को उसका सम्बन्ध नहीं माना जाता, अतः तैल की उत्पत्ति से पूर्व तैल प्रागभाव के सर्वथ अनादि काल से होते हुए भी किसी अन्य वस्तु में स्वरूप सम्बन्ध से उसकी स्थिति नहीं होती । तिल के साथ तिल में तैल प्रागभाव की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर तिल से पूर्व तैल प्रागभाव का अभाव मानना

(स्या०) शिष्टाचारपरिपालनं मङ्गलफलमित्यपि वार्त्तम्, तत्परिपालनस्यादृष्टद्वारा-भीप्सितसिद्धिहेतुत्वे मङ्गलस्यैवादृष्टार्थत्वौचित्यात्, विघ्नमविनाश्य धर्मविशेषस्य समाप्त्य-हेतुत्वे विघ्ननाशस्यैवावश्यकत्वाच्च ।

किं च शिष्टाचारेण विधिबोधितकर्तव्यत्वमनुमाय मङ्गले प्रवृत्तिरेव तत्परिपालनम्, न सा तत्फलं किन्तु तज्जनिकेति ।

'शिष्टजनों का यह आचार है कि ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गल किया जाय, मङ्गल न करने से इस शिष्टाचार का भङ्ग होगा, अतः इस शिष्टाचार के परिपालनार्थ मङ्गल का अनुष्ठान आवश्यक होने से यहि कहना उचित है कि उक्त शिष्टाचरण का पालन ही मङ्गल का फल है'। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शिष्टाचार का पालन स्वयं कोई इष्ट नहीं है, अतः ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति रूप इष्ट की सिद्धि के लिये ही वह उपादेय हो सकता है, उसकी यह उपादेयता भी उसे समाप्ति का साक्षात् कारण मान कर नहीं उपपन्न की जा सकती, क्योंकि समाप्ति होने से चिर पूर्व ही नष्ट हो जाने से वह शिष्टाचार पालन समाप्ति का साक्षात् कारण नहीं हो सकता। अतः अदृष्ट द्वारा ही उसे समाप्ति का कारण मानना होगा, तो फिर जब उसे भी अदृष्ट द्वारा ही समाप्ति का कारण मानना है तो उसकी अपेक्षा तो यही उचित है कि मङ्गल को ही अदृष्ट द्वारा समाप्ति का कारण मान लिया जाय, मङ्गल और समाप्ति के बीच शिष्टाचारपरिपालन को खड़ा कर उसे समाप्ति का कारण क्यों माना जाय ?

इसके अतिरिक्त यह भी एक विचारणीय बात है कि शिष्टाचार पालन या उससे उत्पन्न होने वाला अदृष्ट भी विघ्नध्वंस को उत्पन्न किये बिना तो समाप्ति का कारण होगा नहीं, तो यदि बीच में विघ्नध्वंस को मानना अनिवार्य ही है तो फिर उसी को शिष्टाचारपालन या तज्जनित अदृष्ट का फल मानना उचित है, न कि समाप्ति को उसका फल मानना उचित है ।

इस सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि विचार करने पर शिष्टाचारपरिपालन का जो स्वरूप सामने आता है उसे देखते हुए शिष्टाचारपरिपालन को मङ्गल का फल मानना सम्भव नहीं प्रतीत होता, जैसे ग्रन्थ के आरम्भ में शिष्टजनों द्वारा मङ्गल करने की परम्परा को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इस प्रकार का कोई विधिशास्त्र-कर्तव्यता बोधक शास्त्र अवश्य है जिससे शिष्टजनों को ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गल की कर्तव्यता का बोध होता है; क्योंकि यदि ऐसा शास्त्र न होता तो शिष्टसमाज में ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गल करने की परम्परा प्रतिष्ठित न होती, इस

होगा, और तैल प्रागभाव के अभाव का अर्थ होगा तैल का होना, जो तिल से पूर्व कथमपि सम्भव नहीं है। 'तैल प्रागभाव का अभाव होने पर भी तैलात्यन्ताभाव के कारण तैल के होने की आपत्ति का परिहार हो सकता है,' यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि तैल का कालगत विरोध तैल प्रागभाव और तैलध्वंस के ही साथ होता है, तैलात्यन्ताभाव के साथ नहीं होता, क्योंकि तैल और तैलात्यन्ताभाव दोनों स्थान भेद से एक काल में रहते हैं ।

(स्या०) न चाचारप्राप्तविलङ्घने प्रत्यवायस्मरणात् प्रत्यवायित्वपर्यवसन्नाशिष्टत्व-शङ्कानिरास एव तत्फलं तत्परिपालनमिति वाच्यम्, तादृशशङ्कायाः शिष्यावधानप्रतिपक्षत्वेऽपि समाप्त्यप्रतिपक्षत्वात्, 'कामनाविशेषनियतकर्तव्यताकस्य मङ्गलस्य तदभावेनाऽकरणेऽपि न प्रत्यवायः' इति विशेषदर्शनेन तच्छङ्कानिवृत्तेश्च। तस्माद् मङ्गलं निष्फलमिति चेत्?

अनुमान से अपेक्षणीय विधि शास्त्र का ज्ञान होने पर उससे मङ्गल की कर्तव्यता का अवगम होकर मङ्गल के अनुष्ठान में नये ग्रन्थकार की प्रवृत्ति होती है। ग्रन्थारम्भ में मङ्गल करने की यह प्रवृत्ति ही मङ्गल के सम्बन्ध में शिष्टाचार का परिपालन है।

स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति मङ्गल से पूर्व होती है, अतः यह मङ्गल का फल नहीं है किन्तु मङ्गल का कारण है, क्योंकि इस प्रवृत्ति से ही मङ्गल का उदय होता है, इस लिये शिष्टाचार का परिपालन मङ्गल का फल नहीं हो सकता।

"ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गल करना एक शिष्टाचार प्राप्त कार्य है और शिष्टाचार-प्राप्त कार्य के परित्याग को शास्त्र में प्रत्यवाय (पाप) का जनक माना गया है, अतः जो ग्रन्थकार ग्रन्थके आरम्भ में मङ्गल न करेगा उसके विषय में यह शङ्का हो सकती है कि यह ग्रन्थकार शिष्टाचार प्राप्त कर्तव्य का उल्लङ्घन करने के कारण अशिष्ट और प्रत्यवाय का भागी है। ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अशिष्टत्व की यह शङ्का न हो, एतदर्थ उसके लिये यह आवश्यक है कि वह ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गल करे, इस प्रकार अशिष्टत्व शङ्का का निरास ही मङ्गल का फल है और यही मङ्गल के सम्बन्ध में शिष्टाचार का परिपालन है" यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि मङ्गल करने पर ग्रन्थकार में अशिष्टत्व की शङ्का होने या उसके प्रत्यवायभागी होने से उसके बनाये ग्रन्थ के अध्ययन में शिष्टजनों की प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध हो सकता है किन्तु ग्रन्थ की समाप्ति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता तो जब मङ्गल न करने पर ग्रन्थ की समाप्ति में कोई बाधा नहीं है तब ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गल करने का प्रयास व्यर्थ ही है।

यदि यह कहा जाय कि "जैसे ग्रन्थ की समाप्ति ग्रन्थकार को काम्य होती है, उसी प्रकार उसे यह भी काम्य होता है कि उसके बनाये ग्रन्थ के अध्ययन में शिष्यजनों की प्रवृत्ति हो। पर मङ्गल न करने से ग्रन्थकार में अशिष्टत्व की शङ्का होगी और उसके ग्रन्थ को अशिष्टरचित जानकर उसके अध्ययन में शिष्यजनों की प्रवृत्ति न होगी, अतः प्रवृत्ति के प्रतिबन्धकभूत अशिष्टत्व शङ्का के निरासार्थ मङ्गल का अनुष्ठान आवश्यक है" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि मङ्गल न करने से ग्रन्थकार में अशिष्टत्व की शङ्का अथवा प्रत्यवाय का उदय नहीं हो सकता है यह शङ्कादि की बात तब हो सकती थी, जब ग्रन्थ के आरम्भ

१ यहाँ शङ्का का अर्थ है भ्रम, न कि सन्देहात्मक भ्रमविशेष, क्योंकि जिस बुद्धि को शङ्का शब्द से निर्दिष्ट करना यहाँ अभीष्ट है, वह एक वस्तु में परस्पर विरोधी भाव और अभाव का अवगाहन न करने से सन्देहरूप नहीं है।

(स्या०) अत्रोच्यते– विघ्नध्वंस एव मङ्गलं हेतुः, न चोक्तव्यभिचारः, प्रायश्चित्तादीनामपि मङ्गलत्वात् । 'प्रारिप्सितप्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्यसाधारणकारणं मङ्गलम्' इति हि तल्लक्षणं परैर्गीयते, तत्र चास्माभिर्लाघवात् 'प्रारिप्सितप्रतिबन्धक' इति विशेषणं त्यज्यत इति । तदिदमुक्तमाकरे–'स्वाध्यायादेरपि मङ्गलत्वाविरोधात्' इति ।

में मङ्गल के अनुष्ठान को शास्त्र में अवश्य कर्तव्य बताया गया होता, पर ऐसा कोई शास्त्र नहीं है। इसके विपरित वस्तुस्थिति यह है कि 'शास्त्र में मङ्गलानुष्ठान को अवश्य कर्तव्य न बता कर एक विशेष कामना की पूर्ति के लिए उसे कर्तव्य बताया गया है, अतः उस कामना के अभाव में मङ्गल न करने से प्रत्यवाय नहीं होता,' इस ज्ञान का होना स्वाभाविक है, तो फिर इस ज्ञान से ही ग्रन्थारम्भ में मङ्गल न करने वाले ग्रन्थकार में अशिष्टत्व शङ्का का निरास हो जायगा अतः उक्त शङ्का के निरासार्थ मङ्गल करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त युक्तियों से मङ्गल के सभी सम्भवित फलों का निराकरण हो जाने से यह निर्विवाद है कि मङ्गल का कोई फल नहीं है, वह नितान्त निष्फल है।

(मङ्गल सफल है—उत्तर पक्ष)

इस आक्षेप के उत्तर में व्याख्याकार उपाध्याय श्री यशोविजयजी का कहना है कि–मङ्गल निष्फल नहीं है, क्योंकि विघ्नध्वंस को मङ्गल का फल मानने में कोई बाधा नहीं है। प्रायश्चित्त आदि से उत्पन्न होने वाले विघ्नध्वंस को ले कर जो व्यभिचार बताया गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रायश्चित आदि भी मङ्गल ही है, और वह इस प्रकार कि अन्यलोगों ने मङ्गल का जो यह लक्षण बताया है कि 'प्रारम्भ करने को अभिमत कार्य की पूर्ति के प्रतिबन्धक विघ्न के विनाश का जो कारण हो वह मङ्गल है' उसमें प्रतिबन्धकपर्यन्त भाग को [1]निकाल देने पर मङ्गल का यह लघु लक्षण लब्ध होता है कि 'विघ्न के विनाश का जो कारण हो वह मङ्गल है।' इस लक्षण के अनुसार विघ्न का नाशक होने से प्रायश्चित्त आदि भी मङ्गल में अन्तर्भूत हो जाता है। 'स्वाध्याय आदि को मङ्गल मानने में कोई विरोध नहीं है' यह कह कर [2]आकर ग्रन्थ यानी विशेषावश्यक भाष्य में भी इस बात की पुष्टि की गयी है।

१. लक्षण में प्रतिबन्धक पर्यन्त भाग को रखने पर उक्त लक्षण से प्रायश्चित आदि का संग्रह न हो सकेगा, क्योंकि प्रारिप्सित कार्य के प्रतिबन्धक विघ्न का नाश करने के उद्देश्य से प्रायश्चित आदि का विधान न होने के कारण वह प्रारिप्सित कार्य के प्रतिबन्धक विघ्न का नाशक नहीं होता, अतः लक्षण से उक्त भाग को निकाल कर ही उसके द्वारा प्रायश्चित आदि में मङ्गलत्व का उपपादन किया जा सकता है।

२ 'आकर' यह श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यक भाष्य का एक सांकेतिक नाम है। अन्य शास्त्रों में भी 'आकर' शब्दसे इसी का उल्लेख मिलता है, एवं 'यदुक्तमाकरे' कर के निर्दिष्ट उद्धरण विशेषावश्यक भाष्य में प्राप्त होता है। यहां उल्लिखित 'स्वाध्यायादेरपि मङ्गलत्वाविरोधात्' पाठ भी उसी भाष्य की टीका का है।

तथाऽपि नानेन रूपेण हेतुत्वम्, आत्माश्रयात्, किन्तु नतित्वादिना प्रातिस्विकरूपेणैव, इति व्यभिचार एवेति चेत्? न, नत्याद्यभिव्यङ्ग्यभावविशेषस्यैव निश्चयतो दुरितक्षयहेतुत्वात्; निकाचितकर्मणश्चानपवर्तनीयत्वाद् न बलवतो विघ्नस्य नाशः ।

यदि यह कहा जाय कि 'प्रायश्चित्त आदि को मङ्गल मान लेने पर भी मङ्गल को दुरितनाशकत्व रूप से विघ्नध्वंस का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि नमस्कार आदि विजातीय मङ्गलों को विघ्ननाशकत्वरूप से विघ्नध्वंस का कारण मानने पर विघ्ननाशकत्व और विघ्नध्वंसकारणत्व में भेद न होने से [1]आत्माश्रय दोष होगा। इस दोष के भय से यदि नतित्व आदि [2]प्रातिस्विकरूप से मङ्गलों को विघ्नध्वंस का कारण माना जायगा तो एकजातीय मङ्गल से उत्पन्न होने वाले विघ्नध्वंस के प्रति अन्यजातीय मङ्गल का व्यभिचार होगा'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे निश्चयनय मानता है इस प्रकार बाह्य नति आदि विजातीय मङ्गलों को विघ्नध्वंस का कारण न मान कर उनसे अभिव्यक्त शुभभावात्मक [3]भावविशेष को ही विघ्नध्वंस का कारण मान लेने में कोई दोष नहीं है। 'बाह्य नत्यादि मङ्गल को विघ्नध्वंस का कारण न मानने पर विघ्नध्वंस के लिये नत्यादि बाह्य मङ्गल की उपादेयता न होगी,' यह शङ्का नहीं की जा सकती क्योंकि विघ्न के नाशक भावविशेषकी अभिव्यक्ति के लिये उसकी उपादेयता अक्षुण्ण बनी रहेगी। यह भी ध्यान में रहे कि बाह्य मङ्गल के कई प्रकारों का अनुगम नहीं हो सकता किन्तु उनसे अभिव्यक्त भावविशेष अनुगत होता है, उसका विघ्न के साथ नाश्यनाशकभाव मानने में व्यभिचार

१. आत्माश्रय–यह दोष तब होता है जब किसी वस्तु की उत्पत्ति, स्थिति अथवा ज्ञप्ति के लिये उसी वस्तु की उत्पत्ति स्थिति या ज्ञप्ति अपेक्षणीय हो जाती है, जैसे विघ्नध्वंस को ही यदि विघ्नध्वंस का कारण या आश्रय माना जाय अथवा उसके ज्ञान को ही उसके ज्ञान का साधक माना जाय तो यह मान्यता आत्माश्रयदोष से ग्रस्त होगी, जिसके कारण विघ्नध्वंस की न उत्पत्ति ही हो सकेगी, न स्थिति ही हो सकेगी और न उसका ज्ञान ही हो सकेगा। विघ्ननाशकत्व को विघ्नध्वंसजनकता का अवच्छेदक मानने में ज्ञप्ति में आत्माश्रय है, क्योंकि अवच्छेद्यके ज्ञान में अवच्छेदकज्ञान के कारण होने से विघ्नध्वंसजनकता के ज्ञान में उससे अभिन्न विघ्ननाशकत्व का ही ज्ञान प्रकृत में अपेक्षणीय हो जाता है।

२. प्रातिस्विक–इसका अर्थ है प्रत्येक 'स्व' में रहनेवाला, मङ्गल के कई स्व–स्वरूप हैं, जैसे नति-देववन्दन, प्रार्थना, वस्तुनिर्देश आदि, इनमें नति, प्रार्थना आदि प्रत्येक 'स्व' में रहने वाले नतित्व आदि धर्म नति आदि के प्रातिस्विक रूप हैं।

३. भावविशेष—जैन शास्त्रों में आत्मा के शुभ–अशुभ एवं शुद्ध–मलिन अध्यवसाय–परिणति को भाव कहते हैं। वे संक्लेश व विशुद्धि के नाम से प्रसिद्ध हैं। राग द्वेष काम क्रोधादि काषायिक भाव संक्लेश रूप मलिन अध्यवसाय हैं। वैराग्य–क्षमादि उपशम–संयमादि के भाव विशुद्धि रूप शुभ अध्यवसाय हैं। ज्यों ज्यों संक्लेश घटता है त्यों त्यों विशुद्धि बढ़ती है। अब रागादि में दो विभाग हैं, १. प्रशस्त, २. अप्रशस्त। अप्रशस्त कोटि के राग द्वेष वैषयिक इष्ट–अनिष्ट खानपान–धन–निर्धनता–स्नेहि–शत्रु आदि पर होते हैं। वे अशुभ भाव हैं। प्रशस्त कोटि का राग परमात्मा-सद्गुरु-शील-संयम-तप-जप आदि पर व द्वेष हिंसा, असत्य आदि पर होता है। वे शुभ भाव हैं। अशुभ भाव से अशुभ कर्म बन्ध व शुभ भाव से शुभ कर्म बन्ध होता है। देखिए उपदेशमाला गाथा–'जं जं समयं जीवो...'। इसीलिए कहा जाता है 'उपयोगे

नहीं होता है। व्यवहारनय से मान्य विघ्न व बाह्य मङ्गलके नाश्य नाशक भाव में व्यभिचार देख कर निश्चय नय मङ्गलाभिव्यङ्ग्य भावविशेष को ही विघ्न का नाशक मानता है।

यदि यह कहा जाय कि मङ्गल से अभिव्यक्त भावविशेष को विघ्न का नाशक मानना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर मङ्गल से भाव विशेष की अभिव्यक्ति होने पर भी बलवान विघ्न का नाश न होने से व्यभिचार की आपत्ति होगी, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि [१]निकाचित कर्म में अपवर्तन नहीं होता। फलतः मङ्गल व अनिकाचित विघ्नों के नाश का कार्य-कारण भाव प्राप्त होता है। बलवान विघ्न एक निकाचित कर्म है अतः बाह्य मङ्गल द्वारा अभिव्यक्त भावविशेष से उस में अपवर्तन नहीं हो सकता, फिर भी कोई व्यभिचार नहीं क्योंकि मङ्गल या उससे अभिव्यक्त भावविशेष उन्हीं विघ्नों में अपवर्तन का कारण होता है, जो निकाचित नहीं होते। निकाचित कर्म तो संक्रमण-उद्वर्तन-अपवर्तन आदि सर्व करणों के अयोग्य होता है।

अगर कहा जाय कि "[३]शब्दादिस्वरूप नमस्कार आदि जितने भी मङ्गल हैं उन्हें अपने अव्यवहित उत्तरक्षण में होने वाले विघ्ननाशका कारण मानना चाहिये। इस रूप में मङ्गल को विघ्नध्वंस का कारण मानने पर कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि जो विघ्न ध्वंस जिस मङ्गल के अव्यवहित उत्तरक्षण में होगा, वह मङ्गल उस विघ्नध्वंस के पूर्व अवश्य रहेगा, अन्यथा वह विघ्नध्वंस उस मङ्गल के अव्यवहित उत्तरक्षण में होने वाला विघ्नध्वंस न कहा जायेगा' तो यह उचित नहीं, क्योंकि ऐसे कार्य- कारण भाव से प्रतिनियत मङ्गल में उपादेयता का ज्ञान नहीं हो सकेगा जब कि भावविशेष को कारण व बाह्य मङ्गल को उसका अभिव्यञ्जक मानने पर मङ्गल में उपादेयता का ज्ञान हो सकेगा।

धर्म, न परिणामे बन्ध,'—धर्म आत्मा (चित्त) के शुद्ध उपयोग में है, व कर्मबन्ध आत्मा के शुभाशुभ परिणाम (भाव) के अनुसार होता है। शुद्ध उपयोग आत्मजागृति स्वरूप है, कषायोपशमन अपर नाम संयम विशुद्धि है। यही विशुद्ध अध्यवसाय है। इससे कर्मक्षय कर्मनिर्जरा होती है। शुभ भाव में जितना विशुद्धि अंश है उतना कर्मक्षय, व जितना प्रशस्त रागादि अंश है उतना शुभ कर्म बन्ध होता है।

अब अगर बाह्य से मङ्गल रूप परमात्म-नमस्कारादि प्रवृत्ति हो किन्तु अभ्यन्तर में कोई मानाकांक्षादि मलिन भाव है, संक्लेश है; तो वहां विशुद्धि न होने से दुरितक्षय नहीं होता। वह मङ्गल द्रव्यमङ्गल है। नाममङ्गल–स्थापनामङ्गल–द्रव्यमङ्गल–भावमङ्गल इन चार मङ्गलों में से भावमङ्गल ही अवश्य फलोपधायक होने का नियम है। इसमें अभ्यन्तर में विशुद्धि विशुद्ध अध्यवसाय समन्वित ही रहती है। यही 'भाव-विशेष' है। निश्चयनय इसी को विघ्नरूप दुरित का नाशक मानता है। व्यवहारनय-बाह्य मङ्गल नमस्कारादि को दुरितनाशक कहता है। किन्तु इसके पीछे अभ्यन्तर में अगर विशुद्धि न हो तो विघ्नध्वंस नहीं होता, अतः इसको विघ्ननाशहेतु कहने में व्यभिचार होगा। इसलिए निश्चयनय आभ्यन्तर भावविशेष को ही मङ्गल मानता है और विघ्नदुरितनाश का कारण कहता है।

यहां भावविशेष कभी तो बाह्य नमस्कारादि का प्रयोजक होता है, एवं कभी बाह्य नमस्कारादि से प्रयोज्य–(प्रयुक्त) होता है। अतः बाह्य नति नमस्कारादि पर से वह ज्ञाप्य होता है या उत्पाद्य होता है। 'अभिव्यक्त–अभिव्यङ्ग्य' शब्द ज्ञाप्य-उत्पाद्य दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसलिए टीका में कहा गया है

'नति आदि से अभिव्यङ्ग्य भावविशेष'। यह भावविशेष जो उपर्युक्त विशुद्धि स्वरूप है वह विशुद्धि स्वाध्याय में भी आती है, एवं प्रायश्चित में भी अतः विशुद्धिरूप भावविशेषात्मक मङ्गल में जो मङ्गलत्व यानी विशुद्धित्व है वह भावप्रायश्चित-भावस्वाध्याय—भावनमस्कार सब में अनुगत है। इस रूप से विशुद्धि-रूप मङ्गल का अनिकाचित विघ्नों के नाश के साथ अव्यभिचरित कार्य कारणभाव होता है।

१. निकाचित—इसका अर्थ है संक्रमण अपवर्तनादि करणों के अयोग्य, यानी विपाकोदय से अवश्य भोक्तव्य। अवश्यभोक्तव्य कर्म का नाश भोग से ही सम्पादित होता है, अन्य साधनों से नहीं होता, द्रष्टव्य 'पंचसंग्रह' निधत्ति—निकाचना० गाथा १, गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४४०

२. अपवर्तन—कर्म पौद्गलिक है, इस पर कई करण यानी प्रक्रिया लगती है, जैसे कि, बन्धन—संक्रमण-उद्वर्तन—अपवर्तन—उदीरणा—उपशमन, निधत्ति, निकाचना। इनमें निकाचना प्राप्त कर्म को पूर्व के कोई संक्रमण, अपवर्तन आदि करण नहीं लगते। वह कर्म तो अब सकल करण के लिए अयोग्य बन गया। करणों में उद्वर्तन अपवर्तन ये कर्म की कालस्थिति एवं रस के क्रमशः वृद्धि—ह्रास स्वरूप है। (द्रष्टव्य—पंचसंग्रह 'उद्वर्तना' अपवर्तना प्रकरण गा०९-१०) चित्त के शुभाशुभ भाव से यह होता है। निकाचित कर्म के स्थिति-रस में अपवर्तना न हो सकने से उसे अनपवर्तनीय कहा गया। इसीलिए भावविशेष स्वरूप मंगल से अनाश्य अविकृत रहता हुआ वह मात्र भोग से ही नष्ट होता है।

३. शब्दादिस्वरूप नमस्कार—यह पहले कहा जा चुका है कि नमस्कर्त्ता में नमस्कार्य की अपेक्षा अपकर्ष या नमस्कार्य में नमस्कर्त्ता की अपेक्षा उत्कर्ष का बोध नमस्कर्त्ता के जिस व्यापार से होता है उसे नमस्कार कहा जाता है। नमः आदि शब्दों के प्रयोग से, शरीर के उत्तमांग के अवनमन से, दोनों हाथों के अञ्जलिबन्ध आदि से उक्त बोध होने के कारण नमस्कार शब्दादिरूप होता है। किन्तु इसमें स्वाध्यायादिरूप मङ्गल अन्तर्भूत नहीं हो सकेगा। इसलिए नमस्कार को द्रव्य—भावसङ्कोचरूप माना गया है।

४. अपने अव्यवहित० इसका आशय यह है कि नमस्कार, प्रार्थना, स्वाध्याय आदि जितने भी मङ्गल हैं, उनमें मङ्गलत्व आदि कोई अनुगत धर्म नहीं है, क्योंकि मङ्गलत्व को विघ्ननाशकताके अवच्छेदक जाति के रूपमें यदि स्वीकार किया जायगा तो शब्दत्व आदि के साथ सांकर्य हो जायगा, जैसे शब्दत्व है 'कुक्कुरो बुक्कति—कुत्ता भूंकता है' इस मङ्गलानात्मक शब्दमें, एवं मङ्गलत्व है शब्दानात्मक 'करशिरः-संयोग' आदि में, शब्दत्व और मङ्गलत्व दोनों हैं 'नमः' आदि शब्दमें, अतः सांकर्य होने से मङ्गलत्व को जाति नहीं माना जा सकता। जाति से अतिरिक्त किसी अन्य रूपमें उसे अनुगत सिद्ध करने की कोई युक्ति नहीं है, अतः विभिन्न प्रकारके मंगलों को किसी अनुगत रूप से विघ्नध्वंसका कारण मानना सम्भव न होने से विभिन्न मङ्गलों को विभिन्न रूपों से ही विघ्नध्वंस का कारण मानना होगा, किन्तु वह सम्भव नहीं है, क्योंकि एक प्रकार के मंगल से उत्पन्न होने वाले विघ्नध्वंस के प्रति दूसरे प्रकार के मङ्गल में व्यभिचार हो जायगा, इस लिये कह सकते हैं कि मङ्गल में विघ्नध्वंस की कारणताका समर्थन करने का एक मात्र यही मार्ग है कि तत्तत् मंगल को तत्तत् मंगल के अव्यवहित उत्तर क्षण में होने वाले विघ्नध्वंस का ही कारण माना जाय, क्योंकि इस प्रकार के कार्य कारणभाव में व्यभिचार होने की कोई सम्भावना नहीं रहती; किन्तु ऐसे कार्यकारणभाव तत्तद् मंगल तत्तद् विघ्नध्वंस का होने से सामान्यरूप से 'मंगल विघ्नध्वंस का कारण,' यह न जानने पर विघ्नध्वंसार्थी मंगल में कैसे प्रवर्तमान होगा ?

अगर कहा जाए कि 'अपने विघ्नध्वंसविशेष मंगलविशेष का कार्यकारणभाव जान कर मंगल में प्रवृत्ति कर सके न ?' तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विघ्नविशेष व उसका ध्वंस अतीन्द्रिय है और वह पहले उपस्थित होने का अनुमानगम्य भी नहीं, तो इस विघ्नध्वंसविशेष व मंगलविशेष का कार्यकारणभाव कैसे ज्ञान

(स्या०) परे तु विघ्नध्वंस-तत्प्रागभावपरिपालन-समाप्तिप्रचयगमन-शिष्टाचारपरिपालनानां सर्वेषामेवाऽविनिगमाद् मङ्गलफलत्वम्, तत्तत्कामनया शिष्टाचारेण तत्तत्फलकत्वोन्नयनात्, "अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात्" (जैमि०१-३-१५) इतिन्यायेन यथाचारमेव श्रुतिकल्पनात् ।

अन्य लोगों का कथन यह है कि विघ्नध्वंस, विघ्न के प्रागभाव का परिपालन, समाप्ति पर्यन्त ग्रन्थ का निर्माण-ग्रन्थ की समाप्ति और शिष्टाचार का परिपालन यह सभी मङ्गल के फल हैं, क्योंकि इनमें अमुक ही मङ्गल का फल है अमुक नहीं है, इस बात में कोई 'विनिगमक युक्ति नहीं है। यदि यह प्रश्न हो कि उक्त सभी को मङ्गल का फल मानने में क्या युक्ति है ? तो इसका उत्तर यह है कि उक्त सभी फलों की कामना से मङ्गल करने का शिष्टाचार ही उन सभी को मङ्गल का फल सिद्ध करने की युक्ति है। कहने का आशय यह है कि शिष्टजन विघ्नध्वंस आदि सभी फलों की कामना से मङ्गल का अनुष्ठान करते है, अतः यह अनुमान कर लेना सहज है कि मङ्गल यह विघ्नध्वंस आदि सभी फलों का जनक है, क्योंकि उन सभी फलों की कामना से शिष्टजनों द्वारा यह अनुष्ठित होता है। यदि यह कहा जाय कि शिष्टजनों द्वारा उन सभी फलों के लिये मङ्गल का अनुष्ठान मानने पर "तत्तत्फलकामः मङ्गलमाचरेत्-तत्तत् फल की कामना से मङ्गल का अनुष्ठान करना चाहिये' इस प्रकार के श्रुतिवचन की कल्पना करनी होगी, और यह कल्पना उचित न्याय का समर्थन न पाने के कारण सम्भव नहीं है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'अनुमान का विषय व्यवस्थित होता है अतः व्यवस्थित विषय से युक्त ही श्रुतिरूप प्रमाण का अनुमान करना उचित है' इस 'जैमिनीय न्याय के अनुसार शिष्टसमाज में प्रचलित आचार के अनुसार ही श्रुति की कल्पना मान्य होने से 'तत्तत् फल की कामना से मङ्गल का अनुष्ठान करना चाहिये' इस आशय के श्रुति की कल्पना सर्वथा सम्भवित है ।

सकेगा ? व प्रवृत्ति में इष्ट साधनता का ज्ञान कारण होने से मंगल में इष्ट विघ्नध्वंस विशेष की साधनता के ज्ञान बिना मङ्गल में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ?

इसलिए यही मानना उचित है कि विघ्नध्वंस सामान्य के प्रति नमस्कारादि मंगलसे अभिव्यक्त विशुद्धिरूप भावविशेष ही कारण है । यह ज्ञान रहने पर संभवित विघ्नध्वंस का अर्थी का भावविशेष एवं उसके अभिव्यञ्जक मंगल में प्रवृत्त होना युक्तियुक्त है । निकाचित कर्म तो अल्प होने से निकाचित विघ्नकर्मके स्थल में व्यभिचार का ज्ञान मंगल प्रवृत्ति में बाधक नहीं होता है। दिखाई पड़ता है कि निकाचित कर्माधीन बलवान व्याधि स्थल में औषध का व्यभिचार ज्ञात रहने पर भी ऐसे कर्म अल्प होने के कारण वह व्यभिचार नगण्य मान कर व्याधिनाशार्थ औषधमें कारणता का ज्ञान प्रवृत्तिउपयोगी होता है व लोक औषधोपचार में प्रवृत्ति करते हैं।

१ विनिगमक—दो पक्षों के उपस्थित होने पर उनमें से किसी एक पक्ष का ही समर्थन करने वाली युक्ति को विनिगमक या विनिगमना कहा जाता है।

२. 'अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात्' यह पूर्वमीमांसा—जैमिनिसूत्र के अध्याय १, पाद ३, होलाकाधिकरण का १५ वां सूत्र है, इसका अर्थ इस प्रकार है—अनुमान—श्रुति के अनुमापक स्मृति और शिष्टाचार के विषय व्यवस्थित होते हैं, अतः उनसे व्यवस्थित पुरुषों से सम्बन्धित ही श्रुतिरूप प्रमाण

(स्या०) न चैकमङ्गलप्रयोगादनेकफलापत्तिः, अनेकफलबोधकश्रुतावुद्देश्यसाहित्याविवक्षणात्; अन्यथा 'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इत्यत्रापि तत्प्रसङ्गात्। कादम्बर्यादौ समाप्तिकामनया मङ्गलाचारे मानाभावाद् न दोष इत्याहुः।

अनेकफलकात्कर्मण उद्देश्यानुद्देश्य-प्रधानाप्रधानबहुविधफलदर्शनाद् नैतद् युक्तमित्यपरे।

यदि यह कहा जाय कि 'विघ्नध्वंस आदि उन सभी को यदि मङ्गल का फल माना जायगा तो एक मङ्गल का अनुष्ठान करने पर सभी फलों की एक साथ उत्पत्ति होने की आपत्ति होगी अतः उक्त सभी को मङ्गल का फल मानना उचित नहीं है', तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जो श्रुतियां अनेक फल देने वाले कर्मों का उपदेश करती हैं उन का ऐसे कर्मों के एक अनुष्ठान से सभी फलों के साहित्य यानी साथ उत्पन्न होने में तात्पर्य नहीं होता। यदि श्रुतियों का ऐसा तात्पर्य हो तो 'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ–सभी फलों के लिये दर्श और पूर्णमास का अनुष्ठान करना चाहिये' इस श्रुति के अनुसार दर्श पूर्ण मास के एक अनुष्ठान से सभी फलों की उत्पत्ति होनी चाहिये पर ऐसा नहीं होता अतः अनेक फल देने वाले कर्मों के सम्बन्ध में यहि मानना उचित है कि ऐसे कर्म जब जिस काम की कामना से किये जाते हैं तब उनसे उस फल की उत्पत्ति होती है। शास्त्र के अभिप्रायानुसार ऐसे कर्म एक समय एक हो फल की कामना से किये जाते हैं जिससे एक कर्म से एक ही समय अनेक फलों की उत्पत्ति नहीं होती।

'जो कर्म जिस फल का जनक होता है उस कर्म से उस फल की उत्पत्ति तभी होती है, जब वह कर्म उस फल की कामना से किया जाता है'–इस व्यवस्था को स्वीकार करने में एक लाभ यह है कि कादम्बरी में मङ्गल के होते हुये भी समाप्ति न होने से जो

का अनुमान करना उचित है। इस सूत्र द्वारा यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि कुछ प्रदेशों में होली आदि पर्वों का प्रचलन देखकर उन पर्वों की कर्तव्यता के बोधक जिस श्रुतिवचन का अनुमान किया जाता है, वह उन कतिपय प्रदेशों के निवासियों के लिये ही सीमित न होकर मनुष्यमात्र से सम्बन्धित होता है, अतः जिन प्रदेशोंमें होली आदि पर्वों का प्रचलन है, केवल उन प्रदेशों के निवासियों के लिये ही ये अनुष्ठेय नहीं हैं किन्तु सभी मनुष्यों के लिये अनुष्ठेय हैं। ऐसा मीमांसकमत है।

स्मृति और शिष्टाचार से श्रुतिका अनुमान करने के लिये इस अधिकरणमें जो न्याय निश्चित किया गया है उसे होलकाधिकरणन्याय कहा जाता है, इस न्याय के अनुसार यह अनुमान करना पूर्णतया संगत है कि शिष्टजन मङ्गल के उक्त फलोंमें से जब जिस फल के लिये मङ्गल का अनुष्ठान करते हैं तब मङ्गल उस फल का उत्पादक होता है।

१ दर्शपूर्णमासौ–वैदिक धर्म में दर्श और पूर्णमास नाम की दो इष्टियां हैं, जिस प्रकरण में इन इष्टियों का निर्देश किया गया है, उस प्रकरण में जितने फलों की चर्चा पहले की जा चुकी है, उन सभी फलों के लिये इन इष्टियों का विधान है। उन फलों में से जिस काम की कामना से जब इन इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है तब उस फल की प्राप्ति होती है, एक साथ सभी फलों की कामना से इनका अनुष्ठान श्रुतिसम्मत नहीं है। (चालु)

(स्या०) स्वतो मङ्गलभूत एव शास्त्रे शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहार्थं मङ्गलाचरणम्, अन्यथा मङ्गलवाक्यस्य शास्त्रबहिर्भावे वाक्यान्तराणामप्यविशेषाच्छास्त्रबहिर्भावप्रसङ्गे शास्त्रस्य चरमवर्णमात्रपर्यवसानप्रसङ्गात्, इति तु भाष्यकाराभिप्रायः। तत्त्वमत्रत्यं मत्कृतमङ्गलवादादवसेयम्। तस्मात् सफलं मङ्गलम्, इति युक्तं तदाचरणं ग्रन्थकारस्येति ॥

अन्वयव्यभिचार बताया गया था, वह नहीं होगा, क्योंकि उक्त व्यवस्था के अनुसार यह कल्पना की जा सकती है कि कादम्बरी में मङ्गल का अनुष्ठान समाप्ति की कामना से नहीं किया गया है, अतः मङ्गल होते हुये भी समाप्ति नहीं हुई है।

इसके विरुद्ध अन्य विद्वानों का कहना यह है कि 'अनेक फल देने वाले कर्मों से उद्देश्य-अनुद्देश्य, प्रधान-अप्रधान आदि अनेक फलों की उत्पत्ति का होना प्रामाणिक है, अतः यह कल्पना उचित नहीं है कि समाप्ति की कामना से मङ्गल न किये जाने के कारण मङ्गल के रहते हुये भी कादम्बरी की समाप्ति नहीं हुई।' उनका आशय यह है कि मङ्गल यदि समाप्ति का कारण है तो भले उसका अनुष्ठान समाप्ति की कामना से न भी किया गया हो किन्तु यदि उसका अनुष्ठान किया गया है, तो उससे समाप्ति की उत्पत्ति होनी ही चाहिये।

मङ्गल के प्रयोजन के सम्बन्ध में [1]भाष्यकारका अभिप्राय यह है कि शास्त्र तो स्वयं मङ्गल रूप ही है, फिर भी शास्त्र के आरम्भ में अन्य प्रकार के भी मङ्गल का अनुष्ठान किया जाता है, अतः उस मङ्गलानुष्ठान का कोई ऐसा प्रयोजन होना चाहिये जो शास्त्रनिर्माण के प्रयोजन से भिन्न हो. विचार करने से यह निश्चित होता है कि वह प्रयोजन है—'शिष्य को मङ्गलाचरणकी कर्तव्यता के बोध का सम्पादन'। स्पष्ट है कि शास्त्र के आरम्भ में मङ्गलाचरण

दर्शेष्टि—अमावास्या तिथिमें अग्नि की स्थापना करके शुक्ल पक्षकी प्रतिपद् तिथि में इस इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें तीन देवता और तीन द्रव्य होते हैं। देवता है इन्द्र, अग्नि और इन्द्राग्नि, द्रव्य हैं पुरोडाश, दधि और पय। शास्त्रोक्त विधि से तयार की जानेवाली यव की एक विशेष प्रकारकी रोटी का नाम है पुरोडाश। अग्निकी तुष्टि के लिये पुरोडाश से की जानेवाली इष्टि को 'आग्नेय', इन्द्रकी तुष्टि के लिये दधि से की जानेवाली इष्टिको 'ऐन्द्रदधि', इन्द्र और अग्नि दोनों की सह तुष्टि के लिये की जाने वाली इष्टि को 'ऐन्द्रपय' कहा जाता है, इस प्रकार आग्नेय, ऐन्द्रदधि और ऐन्द्रपय इन तीन इष्टियोंकी समष्टि को ही 'दर्श' नामक इष्टि कहा जाता है।

पूर्णमासेष्टि—पौर्णमासी तिथि में अग्नि की स्थापना कर कृष्णपक्ष की प्रतिपद् तिथि में इस इष्टि का अनुष्ठान विहित है। इसमें तीन देवता और दो द्रव्य होते हैं। देवता हैं, अग्नि, अग्नि और सोम तथा विष्णु। द्रव्य हैं पुरोडाश और आज्य। आज्य का अर्थ है घृत। अग्निकी तुष्टिके लिये पुरोडाश से की जाने वाली इष्टिको 'आग्नेय', अग्नि और सोमकी सहतुष्टि के लिये मन्त्रों का ऊँचे स्वर से उच्चारण करते हुये आज्य से की जाने वाली इष्टिको अग्नीषोमीय और विष्णु की तुष्टि के लिये मन्त्रों का अत्यन्त धीमे स्वर से उच्चारण करते हुये आज्य से की जानेवाली इष्टि को 'उपांशुयाज' कहा जाता है, इन तीनों इष्टियों की समाप्ति को ही पूर्णमास इष्टि कहा जाता है।

१ भाष्यकार शब्द से आवश्यक निर्युक्ति पर विशेषावश्यक भाष्य की रचना करने वाले जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (वि. सं. ६५०) का संकेत किया गया है, उन्होंने बीसवीं गाथा में 'सीसमइमंगलपरिग्गहत्थमेत्तं तदभिहाणं' कह कर मङ्गलाचरण के उक्त प्रयोजन का प्रतिपादन किया है।

(स्या०) अथाक्षरार्थ उच्यते—परमः=क्षीणघातिकर्मा य आत्मा तम्, प्रणम्य=भक्ति–श्रद्धाऽतिशयेन नत्वा, अल्पबुद्धीनाम्=असङ्कलिततत्त्वशास्त्रार्थग्रहणाप्रवणमतीनां सत्त्वानां, हितकाम्यया=अनुग्रहेच्छया, शास्त्राणां–बौद्धवैशेषिकादिदर्शनानां या वार्ताः=सिद्धान्तप्रवादाः, तासां समुच्चयमेकत्र सङ्कलनम्, 'कृदभिहित०' न्यायाश्रयणात् समुच्चिताः शास्त्रवार्ता इत्यर्थः, ता वक्ष्यामि–अभिधास्ये; नातो द्वितीयार्थानन्वयः, द्रव्यपरकृदर्थान्वितस्यैव तदुत्तरपदार्थेऽन्वयात् । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वनियमस्य 'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः' इत्यादावेव दूषितत्वात् । पाणिपादं वादय' इत्यत्र पाणिपादसमाहारस्यैवात्र समुच्चयस्य स्वाश्रयनिरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयस्त्वनुभवानुपारूढत्वाद् न कल्प्यत इति दिक् ।

होने पर उसे देख कर शास्त्र के अध्येता शिष्य को बड़ी सरलता से यह बोध हो सकता है कि 'जैसे शास्त्रकार ने शास्त्र की रचना आरम्भ करते हुये मङ्गलाचरण किया है उसी प्रकार मुझे भी कार्य का आरम्भ करते समय मङ्गलाचरण करना चाहिये ।'

मङ्गलाचरण के इस प्रयोजन की पुष्टि में भाष्यकार का यह तर्क है कि मङ्गलाचरण का यह प्रयोजन यदि न माना जाय तो प्रश्न होगा कि तब शास्त्र में प्रविष्ट मङ्गलवाक्य क्या शास्त्र का अंश नहीं है ? 'वह शास्त्र का अंश नहीं किन्तु शास्त्र बहिर्भूत है' यह तो कह सकते नहीं, क्योंकि तब तो वैसे मङ्गल वाक्य के समान शास्त्र के सभी अचरम वर्ण शास्त्रप्रविष्ट होते हुए भी शास्त्र बहिर्भूत होने की आपत्ति होगी, फलतः शास्त्र मात्र चरम वर्ण स्वरूप ही गिना जाएगा ! इसलिए मङ्गल वाक्य को शास्त्र का अंश मानना ही होगा । अलबत्त इस में यह आपत्ति महसूस होती है कि 'शास्त्र का मङ्गलवाक्यांश मङ्गल रूप होने से अर्थापत्ति से शास्त्र का अवशिष्ट अंश अमङ्गल रूप सिद्ध होगा ! और तत्त्वशास्त्र को अमङ्गल रूप कैसे कहा जाए ?' किन्तु इस आपत्ति का निवारण तो इस प्रकार हो सकता है कि समुद्र के एक अंश को जैसे समुद्र कहने पर भी अवशिष्ट समुद्रांश में असमुद्रता की अर्थापत्ति नहीं होती है वैसे मङ्गलवाक्य रूप शास्त्रांश मङ्गल भूत होने पर भी अवशिष्ट शास्त्रांश में अमङ्गलता की अर्थापत्ति नहीं हो सकती । अब प्रश्न इतना रहा कि 'शास्त्र मङ्गल रूप होते हुए भी इस में मङ्गलवाक्य का क्यों प्रवेश किया गया ?' इस का उत्तर यह है कि वह प्रवेश 'शिष्यमति–मङ्गलपरिग्रहार्थं' अर्थात् शिष्य को मङ्गलाचरण की उपादेयता-कर्तव्यता का बोध कराने के लिये किया गया है।

प्रस्तुत विचार का उपसंहार करते हुये व्याख्याकार ने कहा है कि इस सम्बन्ध की तत्त्वभूत बात उनके [1]मङ्गलवाद नामक ग्रन्थ से ज्ञात करनी चाहिये । सन्दर्भ के अन्त में व्याख्याकार का कहना है कि इस सम्बन्ध में अब तक जो बातें कही गयी हैं, उनसे यह सिद्ध है कि मङ्गल सफल है, अतः ग्रन्थकारने जो मङ्गलाचरण किया है वह उचित है ।

मङ्गलवाद सम्पूर्ण

१ श्रीयशोविजयजी का **मङ्गलवाद** नामक ग्रन्थ इस समय सुलभ नहीं है ।

मूलगत मङ्गल पद्य का अक्षरार्थ इस प्रकार है —

परमात्मा-जिस आत्मा ने अपने घातीकर्मों का क्षय कर डाला है। प्रणम्य-प्रणाम का अर्थ है प्रकर्ष से यानी अतिशय भक्ति और अतिशय श्रद्धा के साथ नमस्कार। अल्पबुद्धीनां सत्त्वानाम्-अल्पबुद्धिसत्त्व का अर्थ है-वे जीव, जिनकी बुद्धि विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों को, एकत्र संकलन किये बिना समझने में असमर्थ रहती है। हितकाम्यया-हितकाम्या का अर्थ है अनुग्रह की इच्छा।

शास्त्रवार्तासमुच्चयम्-'शास्त्रवार्तासमुच्चय' शब्द में जो 'समुच्चय' शब्द सुन पड़ता है वह 'सम्' और 'उत्' इन दो उपसर्गोंसे युक्त 'चि' धातु से भावरूप अर्थ में कृत्संज्ञक 'अ' प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है। "कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते-कृत्संज्ञक प्रत्यय से अभिहित भाव द्रव्यविशेषण के समान प्रतीत होता है' इस नियम के अनुसार समुच्चय शब्द का संकलनरूप अर्थ शास्त्रवार्ता का विशेषण हो जाता है, तदनुसार शास्त्रवार्तासमुच्चय का अर्थ होता है 'बौद्ध वैशेषिक आदि समस्त दर्शन शास्त्रों के एकत्र संग्रह किये गये सिद्धान्त,' क्योंकि 'वार्ता' शब्द से प्रकृत में सिद्धान्तप्रवादरूप अर्थ विवक्षित है। ग्रन्थकार का कहना है कि वे इस ग्रन्थ में सभी दर्शनशास्त्रों के संकलित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करेंगे।

'शास्त्रवार्तासमुच्चयम् अभिधास्ये' इस वाक्य में समुच्चय शब्द के उत्तर में द्वितीया विभक्ति अम् का श्रवण होता है, उसका अर्थ है कर्मता। यह कर्मता अभिधास्ये शब्द के संनिधान के कारण अभिधान-कर्मतारूप है। नियमानुसार उस में द्वितीया विभक्ति के प्रकृतिभूत समुच्चय शब्द के सङ्कलनरूप अर्थ का अन्वय होना चाहिए किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि सङ्कलन का अभिधान नहीं हो सकता, अतः उसमें सङ्कलित शास्त्रवार्ताका अन्वय होता है, जिससे शास्त्रवार्ता के प्रतिपादन की प्रतीति होती है। द्वितीयार्थ के अन्वय की इस प्रकार व्यवस्था कर देने से उसके अन्वय की अनुपपत्ति का परिहार हो जाता है, द्वितीयार्थ के अन्वय की उक्त व्यवस्था को स्वीकार करने में कोई बाधा भी नहीं है क्योंकि जहाँ कृत्प्रत्यय का अर्थ द्रव्य-विशेषणपरक होता है वहाँ कृत्प्रत्ययके उत्तरवर्ती पदार्थ के साथ उस प्रत्यय के अर्थ से अन्वित पूर्वपदार्थ का ही अन्वय माना जाता है। अतः कृत्प्रत्ययान्त समुच्चय शब्द के संकलनरूप अर्थ को पूर्ववर्ती पदार्थ शास्त्रवार्ता का विशेषण बनाकर संकलित शास्त्रवार्ता के उत्तरवर्ती पदार्थ शास्त्र वार्ता का अभिधान-कर्मता के साथ अन्वय मानने में कोई असङ्गति नहीं है।

इस पर यदि यह शङ्का की जाय कि "समुच्चरूप शब्द के उत्तर विद्यमान द्वितीया विभक्ति के अर्थ के साथ समुच्चय शब्दार्थ का अन्वय न कर शास्त्रवार्ता का अन्वय करने पर प्रत्यय के अर्थ में प्रकृतिभूत पद के अर्थ का अन्वय न होने से 'प्रत्यय अपने प्रकृतिभूत पद के अर्थ से अन्वित ही अपने अर्थ के बोधक होते हैं' इस नियम का विरोध होगा" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः अर्थात् राग द्वेष व मोह में मोह ही पापिष्ठ है, क्योंकि मोह रहित को राग द्वेष उत्पन्न नहीं होते हैं' इस

१. द्रष्टव्य—पाणिनिके अष्टाध्यायी पर पतञ्जलि के महाभाष्य में उपपदमतिङ् २।२।१९, सार्वधातुके यक् ३।१।६७ और एकस्य सकृच्च ५।४।१९ सूत्रों का भाष्य।

न्यायसूत्र में उत्पत्ति शब्द के उत्तर विद्यमान षष्ठी विभक्ति के अर्थ प्रतियोगिता में प्रकृतिभूत उत्पत्ति शब्द के अर्थ का अन्वय न मान कर उससे अन्वित अप्रकृतिभूत इतर शब्द के अर्थ का अन्वय स्वीकार करने से उक्त नियम दूषित होकर अमान्य हो गया है।

कहने का आशय यह है कि उक्त सूत्र के 'न अमूढस्य इतरोत्पत्तेः' इस भाग से मोह हीन में 'इतर' शब्दार्थ राग द्वेष की उत्पत्तिका अभाव बताना अभीष्ट नहीं है, किन्तु राग द्वेष का अभाव बताना अभीष्ट है, क्योंकि 'अमूढस्य' शब्द के प्रयोग से 'न इतरोत्पत्तेः' इस अंशद्वारा उसी अभाव का प्रतिपादन सूत्रकार को अभिमत प्रतीत होता है जो मोहाभाव से साध्य हो, और ऐसा अभाव राग द्वेष का ही अभाव हो सकता है, किन्तु राग द्वेष की उत्पत्ति का अभाव नहीं हो सकता क्योंकि उत्पत्ति के क्षणिक होने से मोह के रहते हुए भी राग द्वेष के उत्पत्ति का अभाव हो जाने से वह अभाव मोहाभाव से साध्य नहीं है, किन्तु मोह का अभाव होने पर ही सम्पन्न होने के कारण राग द्वेष का ही अभाव मोहाभाव से साध्य है। अतः उक्त सूत्र के 'न इतरोत्पत्तेः' इस भाग से राग द्वेष के अभाव का प्रतिपादन ही मान्य है, किन्तु यह तभी सम्भव है जब 'प्रत्यय के अर्थ में प्रकृतिभूत पद के अर्थ का ही अन्वय होता है' इस नियम का परित्याग कर सूत्र के उक्त भाग में उत्पत्ति शब्दोत्तर षष्ठी विभक्ति के अर्थ में प्रकृतिभूत उत्पत्ति शब्द के अर्थ का अन्वय न कर अप्रकृतिभूत 'इतर' शब्द के अर्थ राग द्वेष का अन्वय किया जाय। अतः स्पष्ट है कि प्रत्ययार्थ के अन्वय का उक्त नियम उक्त सूत्र में त्यक्त हो चुका है अतः 'शास्त्रवार्तासमुच्चयम्' में भी समुच्चय शब्दोत्तर द्वितीया विभक्ति के अर्थ अभिधान-कर्मता में समुच्चय शब्दार्थ का अन्वय न मान कर उससे विशेषित शास्त्रवार्ता का अन्वय करने में कोई आपत्ति नहीं है।

इसपर यह समीक्षा की जा सकती है कि " उक्त सूत्र में प्रत्ययार्थ सम्बन्धी उक्त नियम की उपेक्षा सूत्रकार की त्रुटि सूचित करती है, अतः 'शास्त्रवार्तासमुच्चयम्' में उस त्रुटि को स्वीकार करना उचित नहीं है, किन्तु उचित यह है कि समुच्चयशब्दोत्तर द्वितीया के अर्थ अभिधानकर्मता में 'स्वाश्रयनिरूपितत्व' सम्बन्ध से समुच्चय शब्दार्थ का ही अन्वय माना जाय, क्योंकि इस अन्वय के मानने में कोई बाधा नहीं है, और वह इसलिये नहीं है कि उक्त सम्बन्ध में 'स्व' का अर्थ है समुच्चय-सङ्कलन, उसका आश्रय है शास्त्रवार्ता और उससे निरूपित है अभिधानकर्मता, अतः द्वितीयार्थ अभिधानकर्मता के साथ समुच्चय शब्दार्थका उक्त सम्बन्ध अक्षुण्ण है।

प्रश्न हो सकता है कि 'शास्त्रवार्ता' तो अभिधेय होने से शास्त्रवार्ता अभिधान का कर्म है, अतः अभिधान-कर्मता उसके आश्रित हो सकती है, उससे निरूपित नहीं हो सकती, तो फिर समुच्चयशब्दार्थ का द्वितीयार्थ के साथ उक्त सम्बन्ध से अन्वय कैसे सम्भव होगा ?' इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अभिधान का अर्थ है प्रतिपादन, और 'प्रतिपादन' का अर्थ है 'ज्ञानानुकूलव्यापार', अतः 'अभिधास्ये' में ज्ञानानुकूल व्यापार के बोधक 'अभि' उपसर्गयुक्त 'धा' धातु के सन्निधान में समुच्चय शब्दोत्तर द्वितीया का अर्थ है विषयितारूप कर्मता, और विषयिता होती है विषय से निरूपित,

(स्या०) अत्राऽऽद्यपादेन मङ्गलं, निबद्धम्, मङ्गलेन स्वशास्त्रसिद्धावपि तन्निबन्धेन श्रोतॄणामनुषङ्गतोऽपि मङ्गलोपपत्तेः; शास्त्रवार्तासंग्रहश्चाभिधेयतयोक्तः ॥१॥

इसलिये प्रकृत में द्वितीयार्थ विषयिता यह शास्त्रवार्तारूप विषय से निरूपित होने के कारण उसमें समुच्चयशब्दार्थ का स्वाश्रयनिरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

किन्तु यह समीक्षा ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार 'पाणिपादं वादय -हाथ-पांव का वादन करो' इसवाक्य में 'पाणिपाद' शब्द के उत्तर सुनी जाने वाली द्वितीया विभक्ति के अर्थ 'वादनकर्मता' में पाणिपाद शब्द के अर्थ पाणिपाद समाहार का स्वाश्रयनिरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय अनुभव सिद्ध है उसी प्रकार प्रकृत में अभिधान कर्मता से शास्त्रवार्ताओं के सङ्कलन का स्वाश्रयनिरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय अनुभवसिद्ध नहीं है, अतः 'पाणिपादं वादय' के अनुसार 'शास्त्रवार्तासमुच्चयम्' के द्वितीयार्थ का अन्वय नहीं माना जा सकता।

आशय यह है कि 'पाणिपाद' शब्द, पाणि और पाद शब्दों का समाहार अर्थ में द्वन्द्वसमास करने से निष्पन्न होता है. अतः उसका अर्थ होता है, पाणि और पाद का समाहार। 'समाहार' का अर्थ है बुद्धिविशेषविषयता, फलतः पाणिपाद में विद्यमान जो पाणिपाद को ग्रहण करने वाली बुद्धि की विषयता, वही पाणिपाद का समाहार है, और समाहार वादन का कर्म नहीं होता, किन्तु वादन का कर्म होता है समाहार का आश्रय पाणिपाद, अतः 'पाणिपादं वादय' में वादनकर्म के साथ पाणिपाद समाहार का स्वाश्रयनिरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय अगत्या मानना पड़ता है, किन्तु 'शास्त्रवार्तासमुच्चयम् अभिधास्ये' में 'कृदभिहित०' न्याय से समुच्चयशब्दार्थ से विशेषित शास्त्रवार्ता का अभिधानकर्मता के साथ साक्षात् निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय हो सकता है अतः समुच्चय शब्दार्थ का स्वाश्रयनिरूपितत्वरूप परम्परा सम्बन्ध से अन्वय मानना भी अनावश्यक एवं अनुभव विरुद्ध है।

मूल ग्रन्थ के प्रारम्भिक पद्य में पहले पाद 'प्रणम्य परमात्मानं' से मङ्गल को ग्रन्थ में निबद्ध किया गया है, ग्रन्थपूर्ति तो मङ्गल को ग्रन्थ से बाहर रखने पर भी हो सकती थी, अतः ग्रन्थ की पूर्ति मङ्गल को ग्रन्थ में सम्मिलित करने का उद्देश्य नहीं है, उसका उद्देश्य है ग्रन्थाध्ययन के अनुषङ्ग से अध्येता द्वारा मङ्गल का सम्पादन। स्पष्ट है कि ग्रन्थ में मङ्गल का उल्लेख रहने पर ग्रन्थ का अध्ययन आरम्भ करते समय अध्येता द्वारा मङ्गल का अनुष्ठान अनायास ही सम्पन्न हो जाता है।

ग्रन्थ के नामकरण से यह सूचित किया गया है कि विभिन्न शास्त्रों के सङ्कलित सिद्धान्त इस ग्रन्थके अभिधेय हैं, यह ज्ञातव्य है कि माङ्गलिक पद्य द्वारा केवल ग्रन्थ का अभिधेय ही नहीं बताया गया है अपितु 'अल्पबुद्धीनां सत्त्वानाम्' कह कर अधिकारी, 'अभिधास्ये' कह कर ग्रन्थ के साथ अभिधेय का प्रतिपादकत्व सम्बन्ध और 'हितकाम्यया' कह कर अल्पज्ञ अध्येताओं को विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों का ज्ञानरूप प्रयोजन भी बताया गया है।

अवान्तरप्रयोजनमप्यत्र यद्यपि सामान्यतोऽल्पबुद्धिहितमुक्तमेव, तथापि विशेषप्रयोजनानुबन्धितया नामग्राहं तन्निर्देष्टुं प्रकृतग्रन्थमभिष्टौति–यमिति–

मूलम्— यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः ।
जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः ॥२॥

(स्या०) यं श्रुत्वा–तात्पर्यतः परिज्ञाय, सर्वशास्त्रेषु-सकलदर्शनेषु, प्रायो–बाहुल्येन तत्त्वविनिश्चयः= प्रामाण्याप्रामाण्यविवेको जायते ।

नन्वेवमितरदर्शनेष्वप्रामाण्यज्ञानात् तत्रानिष्टसाधनत्वज्ञाने द्वेषोदयात् संसारानुबन्ध्येव बहुशास्त्रज्ञानमापतितम्, इत्यत आह-'द्वेषशमन' इति।

प्रामाण्यनिश्चय उपादेयेऽर्थे निष्कम्पप्रवृत्तिजनकतयैवोपयुज्यते, इतरत्राऽप्रामाण्यनिश्चयस्तु तदर्थप्रवृत्तिप्रतिपक्षतयैव, द्वेषस्तु माध्यस्थ्यप्रतिबन्धादेव नोदेति; इति न कोऽपि दोषानुषङ्गः, प्रत्युतदानसंयमादौ विशुद्धप्रवृत्त्या स्वर्गसिद्धिसुखावह एव सः ।

पहली कारिका में ग्रन्थ का [1]अवान्तर प्रयोजन सामान्यरूप से बता दिया गया है और वह है-अल्पज्ञ जीवों के अज्ञान की निवृत्ति और उनके ज्ञान का संवर्धन। किन्तु इस ग्रन्थ का विशेष प्रयोजन है तत्त्वविनिश्चय व द्वेष शमन, जो कि स्वर्गसुख और मोक्षसुख का सम्पादक है, जिस का निर्देश पहली कारिका में नहीं किया गया है अतः उस विशेष प्रयोजन का नामपूर्वक निर्देश करने के उद्देश्य से ग्रन्थकार ने इस कारिका में अपने प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रशंसा की है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है--

शास्त्रवार्तासमुच्चय एक ऐसा ग्रन्थ है जिसके तात्पर्यान्त अध्ययन से सभी दर्शन शास्त्रों में अधिकांशतः तत्त्व का विनिश्चय हो जाता है। [2]तत्त्व-विनिश्चय होने का अर्थ है इस बातका विवेक होना कि कौन दर्शन प्रमाण है और कौन अप्रमाण है, यह विवेक इस ग्रन्थ के अध्ययन से निस्सन्देह सम्पन्न होता है।

शङ्का हो सकती है कि "इस ग्रन्थ के अध्ययन से जब अन्य दर्शनशास्त्रों में अप्रामाण्य का ज्ञान होगा, तब उन में अनिष्टसाधनता का ज्ञान हो कर उन दर्शनशास्त्रों के

---

१ अवान्तर प्रयोजन-इसका अर्थ है गौणप्रयोजन या आनुषङ्गिक प्रयोजन, यह मुख्यरूप से अभिमत न होने पर भी मुख्यप्रयोजन के लिए क्रियमाण कार्यसे अनायास सिद्ध हो जाया करता है।

२. तत्त्वविनिश्चय-'तत्त्वं ब्रह्मणि याथार्थ्ये' इस कोषके अनुसार 'तत्त्व' शब्द का अर्थ है-याथार्थ्य और याथार्थ्यका अर्थ है-प्रामाण्य। प्रामाण्य और अप्रामाण्यमें विरोधात्मक सम्बन्ध होनेसे तत्त्वशब्द से प्रामाण्य की उपस्थिति होने पर अप्रामाण्य की भी उपस्थिति हो जाती है, अतः तत्त्व शब्दसे प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों पक्षों का बोध सम्पन्न हो जाता है। 'वि' उपसर्ग के सन्निधान के कारण 'विनिश्चय' शब्दका अर्थ होता है-भिन्न वस्तुओं में या अंशभेद से एक ही वस्तुमें परस्परविरोधी धर्मोका निश्चय। ऐसे निश्चय का ही नाम होता है-विवेक। इस प्रकार तत्त्वविनिश्चयका अर्थ है प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विवेक।

प्रति अध्येता के मन में द्वेष अवश्य उत्पन्न होगा, और द्वेष संसार का एक दुर्भेद्य बन्धन है अतः बहुत से शास्त्रों का ज्ञान सांसारिक बन्धन का ही सर्जन और पोषण करेगा, इसलिए द्वेष उत्पन्न करनेवाले ज्ञान का साधक होने से प्रस्तुत ग्रन्थ सुख-शान्ति के इच्छुक जनों के लिये उपादेय नहीं हो सकता।"

इस शङ्का के निवारणार्थ ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के अध्ययन से होने वाले तत्त्वविनिश्चय को 'द्वेषशमनः' कहा है, और यह कह कर उस की पुष्टि की है कि अन्यदर्शनशास्त्रों में दोप्रकार के अर्थोंका वर्णन उपलब्ध होता है, एक अर्थ वे हैं जो इष्ट का साधन होने से उपादेय हैं, और दूसरे अर्थ वे हैं जो अनिष्ट का साधन होने से अनुपादेय हैं। इस ग्रन्थ के अध्ययनसे यह निश्चय होता है कि अमुक शास्त्र प्रमाणसिद्ध पदार्थ का प्रतिपादक होने से प्रमाणभूत है, और अमुक दर्शन प्रमाणविरुद्ध पदार्थ का प्रतिपादक होने से अप्रमाणभूत है। इस निश्चय के फलस्वरूप प्रमाणसिद्ध उपादेय अर्थ में अध्येता की असन्दिग्ध भाव से प्रवृत्ति होती है, व प्रमाणविरुद्ध अर्थ में प्रवृत्ति का निरोध होता है। इस प्रकार शास्त्रवार्तासमुच्चय ग्रन्थ द्वारा सम्पादित तत्त्वविनिश्चय यानी प्रामाण्य-अप्रामाण्यनिश्चयका फल मात्र प्रवृत्तिसम्पादन-प्रवृत्तिनिरोध है किन्तु रागद्वेष नहीं, कि जिस से अप्रमाणभूत दर्शनशास्त्र के प्रति द्वेष होनेकी आपत्ति आवे। वस्तुतत्त्व का निर्णय होने से मध्यस्थभाव अबाधित रहता है। इससे अध्येता के मनमें किसी भी दर्शनशास्त्र के प्रति द्वेष की भावना नहीं उत्पन्न होने देता, केवल इतना ही नहीं कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से होने वाले तत्त्वविनिश्चय से द्वेष का शमनमात्र ही होता है, अपितु इस के अध्ययन से दान, संयम आदि शुभकर्मों में विशुद्ध प्रवृत्ति का उदय हो कर [1]स्वर्गसुख और [2]सिद्धिसुख की प्राप्ति भी होती है।

---

१. स्वर्ग—'स्वः—सुखविशेषः गम्यते—प्राप्यते यत्र' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'स्वर्ग' एक ऐसे स्थानों का नाम है जहां जीवको ऐसे विशिष्ट सुखकी प्राप्ति होती है, जिसके भोगमें दुःख का स्पर्श नहीं होता, भोगके बाद भी दुःख नहीं होता और जो इच्छामात्र से सुलभ होता रहता है यथा—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्।

स्वर्गकी प्राप्ति द्वेषशमन पूर्वक धर्मके अनुष्ठान से होती है जहां पहुँचने के लिये जीव को पार्थिव शरीर को त्याग कर दिव्य शरीर ग्रहण करना होता है।

२ सिद्धि—सिद्धि का अर्थ है मोक्ष। भगवद्गीता में इस के लिए सम् उपसर्ग के साथ सिद्धिशब्द—संसिद्धिशब्द का प्रयोग हुआ है यथा—'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः;' यहां कर्म अर्थात् कर्तव्यानुष्ठान से भी मोक्ष बताया। किन्तु गीता में अन्यत्र 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुनः' कह कर व 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय' इस स्मृतिवाक्य से ब्रह्मज्ञानसे ही मोक्ष बताया। जैनशास्त्र 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (तत्त्वार्थ १·१) से सम्यग्दर्शन मूलक ज्ञान व चारित्र क्रिया से ही मोक्ष बताता है जो ज्ञान-क्रिया शास्त्रवार्ता-आदि ग्रन्थ से तत्त्वविनिश्चय द्वारा संपन्न द्वेषशमन से सुलभ होते है। अतः यहां कहा—'द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः।'

(स्या०) अत्र कश्चिदाह--

ननु 'स्वर्गे सुखम्' इत्यत्र न विप्रतिपत्तिरिति, सिद्धौ तु सुखे न मानमस्ति, सुखत्वावच्छेदेन धर्मजन्यत्वावधारणात् । न च विजातीयादृष्टानां विजातीयसुखहेतुत्वात्, तत्तत्कर्मणामेवादृष्टरूपव्यापारसम्बन्धेन तद्धेतुत्वाद् वा सामान्यतो हेतुत्वे मानाभाव इति वाच्यम्, तथापि विशेषसामग्रीविरहेण मोक्षसुखानुत्पत्तेः ।

(मोक्ष में सुख नहीं है—पूर्वपक्ष)

सिद्धिसुख के विषयमें किसी का यह कहना है कि—

'स्वर्ग में सुख होता है इस विषय में तो मतभेद नहीं है, पर 'मोक्ष में भी सुख होता है' इस बात में कोई प्रमाण न होने से मोक्षसुख का अस्तित्व अमान्य है। इस पक्ष का कहना है कि मोक्षसुख केवल इसीलिये अमान्य नहीं है कि उस में कोई प्रमाण नहीं है, अपितु उस के विरुद्ध प्रमाण भी उपलब्ध हैं, जैसे-'मोक्ष सुखमय या सुखरूप नहीं है क्योंकि वह धर्मजन्य नहीं है,' यह अनुमान । यदि यह शङ्का की जाय कि 'मोक्ष के धर्मजन्य न होनेपर भी उसे सुखमय या सुखरूप मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तो यह ठीक नहीं है,' क्योंकि सुख और धर्म में 'सुखमात्र के प्रति धर्म कारण होता है, ऐसा कार्यकारणभाव है, अतः जो धर्म के बिना उत्पन्न होता है उसे सुखमय या सुखरूप नहीं माना जा सकता ।

यदि यह कहा जाय कि-''सभी सुख एक जाति के नहीं होते किन्तु विभिन्न जाति के होते हैं, अतः 'सुख के प्रति धर्म कारण होता है'-केवल इस कार्यकारणभाव से काम न चल सकने के कारण उस के साथ ही यह कार्यकारणभाव भी मानना होगा कि विजातीय सुखों में विजातीयधर्मात्मक [1]अदृष्ट कारण है अथवा धर्मात्मक अदृष्टको उत्पन्न करने वाले विभिन्न कर्म ही धर्मादृष्टरूप [2]व्यापारात्मकसम्बन्ध से कारण हैं, तो फिर जब सुख-विशेष के प्रति धर्मविशेष या कर्मविशेष को कारण मानना अर्थात् विशेष रूप से कार्यकारण भाव मानना आवश्यक ही है तब 'सुखके प्रति धर्म कारण होता है' इस सामान्य रूप से

१ अदृष्ट—शंकाकार नैयायिकादि के मत से यह अदृष्ट आत्मा का एक विशेषगुण है। इस के दो भेद हैं, धर्म और अधर्म । शास्त्रविहित कर्मों से धर्म और शास्त्रनिषिद्ध कर्मों से अधर्म की उत्पत्ति होती है । धर्म को पुण्य तथा अधर्म को पाप कहा जाता है । जैनमतानुसार अदृष्ट यह पौद्गलिक शुभाशुभ कर्मस्वरूप है, जो आत्माके साथ क्षीरनीरवत् संबद्ध होता है ।

२ व्यापारात्मकसम्बन्ध —व्यापार का लक्षण है 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्व' । इस के अनुसार जो जिससे उत्पन्न हो तथा उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य का कारण हो, वह उसका व्यापार कहा जाता है—जैसे सत्कर्म को शास्त्र में सुख का कारण कहा है, किन्तु सत्कर्म करते ही सुख की प्राप्ति नहीं होती, अपितु कालान्तरमें होती है । जब सुख की प्राप्ति होती है तब सत्कर्म स्वयं विद्यमान नहीं रहते; अतः यह मानना आवश्यक होता है कि सत्कर्म स्वयं रहकर सुख का उत्पादन नहीं करते । किन्तु वे धर्म-पुण्य को उत्पन्न कर देते हैं और वह पुण्य ही कालान्तर में सुख को उत्पन्न करता है, इस प्रकार पूर्वकृत सत्कर्म को कालान्तरभावी सुख के साथ जोड़ने का कार्य इस धर्म से ही सम्पन्न होता है । अतः इस धर्म को व्यापारात्मक सम्बन्ध मान कर इस सम्बन्धके द्वारा ही सत्कर्म को सुख का कारण माना जाता है ।

न च 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिरेवात्र मानम्,

न च नित्यसुखे सिद्धे ब्रह्माभेदबोधनं, तद्बोधने च नित्यसुखसिद्धिरिति परस्पराश्रय इति वाच्यम्, स्वर्गत्वमुपलक्षणीकृत्य स्वर्गविशेषे यागकारणताबोधवत् सुखत्वमुपलक्षणीकृत्य सुखविशेषे ब्रह्माभेदोपपत्तेः।

कार्यकारणभाव की कोई आवश्यकता नहीं है, अतः मोक्षमें धर्मजन्य सुखविशेष मत हो, किन्तु इन समस्त सुखों से विलक्षण सुख मानने में कोई बाधा नहीं है।"

तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जितने प्रकार के सुख प्रमाणसिद्ध हैं वे सभी अपनी विशेष कारण सामग्री से उत्पन्न होते हैं, और मोक्ष में वह विशेष कारणसामग्री नहीं होती, अतः मोक्ष में सुख की कल्पना नहीं की जा सकती। यह कल्पना उस समय की जा सकती थी जब मोक्ष में अन्य सभी सुखों से विलक्षण सुख का होना किसी प्रमाण से सिद्ध होता, किन्तु ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह एक श्रुतिवचन[1] है, इसका अर्थ है--ब्रह्म नित्य भूत, वर्त्तमान और भविष्य इन तीनों कालो में किसी भी काल में बाधित न होने वाला, विज्ञान--अपरोक्षज्ञान स्वरूप-स्वप्रकाश और आनन्द--सुखस्वरूप है। इस श्रुति से ब्रह्मस्वरूप नित्यसुख सिद्ध है। यह सुख जीव को बन्धनावस्था में न प्राप्त हो कर मोक्षावस्था में ही प्राप्त होता है, अतः उक्त श्रुतिरूप प्रमाण से मोक्षमें सुख का अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध है।

यदि उक्त प्रमाण के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि "अनित्य सुख में नित्य ब्रह्म के अभेद का बोध सम्भव न होने से नित्य सुख में नित्यब्रह्म के अभेदबोध के लिये नित्यसुख की सिद्धि अपेक्षित है, और नित्य सुख का अन्य कोई साधक न होने से उस की सिद्धि के लिये सुख में नित्यब्रह्म के अभेद का बोध अपेक्षित है, इस में परस्पराश्रय दोष हुआ। इसके कारण ब्रह्मस्वरूप नित्यसुख की सिद्धि सम्भव न होने से उक्त श्रुति से मोक्ष में सुख के अस्तित्व को प्रमाणित करना असम्भव है।"

तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार गङ्गास्नान आदि अन्य साधनों से सम्पन्न होने वाले स्वर्ग से भिन्न स्वर्ग की सिद्धि न रहने पर भी 'स्वर्गकामो यजेत'--स्वर्ग का इच्छुक व्यक्ति यज्ञ से स्वर्ग का अर्जन करे' इस श्रुति वाक्य से 'स्वर्गत्व से उपलक्षित स्वर्गविशेष के प्रति यज्ञकी कारणता का निश्चय[2] होता है और उसके फलस्व-

---

१ द्रष्टव्य तैत्तिरीय आरण्यक।

२ 'स्वर्गत्व से उपलक्षित स्वर्गविशेष के प्रति यज्ञ की कारणता का निश्चय' इस का अर्थ है स्वर्गत्वसामानाधिकरण्येन अन्यसाधन (गङ्गास्नानादि) जन्य स्वर्ग में ही यागजन्यत्वका निश्चय। अन्यसाधनजन्य स्वर्ग में यागजन्यत्व का अभाव होने पर भी अतिरिक्त स्वर्ग की सम्भावना से, स्वर्गत्वावच्छेदेन यागजन्यत्वाभावका निश्चय न हो सकने के कारण, उस अन्यसाधनजन्य स्वर्ग में उक्त निश्चय के होने में कोई बाधा नहीं होती 'स्वर्गकामो यजेत' यह वाक्य उक्तनिश्चय को उत्पन्न कर ही स्वर्गकाम पुरुष को यज्ञ के अनुष्ठान में प्रवृत्त करता है और यज्ञ का अनुष्ठान होने पर उस से अतिरिक्त स्वर्ग की प्राप्ति होती है, ' ..कि उससे अन्यसाधनजन्य स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती।

चालु

(स्या०) यद्वा नित्यं सुखं बोधयित्वा तत्र ब्रह्माभेदो विधिनैव बोध्यते; न च वाक्यभेदः, वाक्यैकवाक्यत्वात् ।

रूप यज्ञजन्य स्वर्गविशेष की सिद्धि होती है, उसी प्रकार धर्मजन्य सुख से भिन्न नित्य सुख की सिद्धि न होने पर भी 'आनन्दं ब्रह्म' इस श्रुति भाग से सुखत्व से उपलक्षित सुखविशेष में ब्रह्म के अभेद का बोध हो सकता है और उस के बाद नित्य ब्रह्म के अभेदरूप हेतु से सुख में नित्यता की सिद्धि हो सकती है। अतः उक्त श्रुति द्वारा मोक्ष में ब्रह्मस्वरूप नित्यसुख के अस्तित्व को प्रमाणित करने में कोई बाधा नहीं है ।

इसके विरुद्ध यदि यह तर्क किया जाय कि 'जब तक नित्यसुख की सिद्धि नहीं हो जाती तब तक सुखत्व से उपलक्षित सुखविशेष के रूपमें भी जन्य सुख ही समझा जायगा

जिस स्वर्ग में यज्ञजन्यत्वाभाव का निश्चय है उसी में यज्ञजन्यत्व के निश्चय होने का रहस्य यह है कि परस्पर विरोधी भाव और अभाव की बुद्धियों में जो प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव माना जाता है उस में धर्मिविशेष का अन्तर्भाव नहीं होता अर्थात् अमुक व्यक्तिमें अमुक की बुद्धि के प्रति अमुक व्यक्ति में अमुक विरोधी का निश्चय प्रतिबन्धक है, इस प्रकार का प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव नहीं माना जाता, क्योंकि किसी एक रूप से भासमान जिस व्यक्ति में किसी धर्म का ज्ञान होता है, अन्य रूप से भासमान उसी व्यक्ति में उस धर्म के विरोधी का भी ज्ञान उसी समय होता है, जैसे 'द्रव्यं वह्निमत्' इस प्रकार द्रव्यत्वरूप से भासमान ह्रदमें वह्निका निश्चय रहते हुये ही 'ह्रदो न वह्निमान्' इस प्रकार ह्रदत्वेन भासमान ह्रदमें वह्न्यभाव की बुद्धि उत्पन्न होती है। इसलिए परस्पर विरोधी भाव और अभाव की बुद्धियों में जो प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव स्वीकार्य हो सकता है उसके दो ही प्रकार है। जैसे तद्धर्मसामानाधिकरण्येन तत्प्रकारक बुद्धि में तद्धर्मावच्छेदेन तदभावप्रकार निश्चय प्रतिबन्धक है और तद्धर्मावच्छेदेन तत्प्रकारकबुद्धि में तद्धर्मविशिष्ट में तदभावप्रकारक निश्चय प्रतिबन्धक है, चाहे वह निश्चय तद्धर्मसामानाधिकरण्येन हो या चाहे तद्धर्मावच्छेदेन हो । गङ्गास्नानादि जन्य स्वर्ग में यागजन्यत्वाभाव होने पर भी उस में उस का निश्चय स्वर्गत्वावच्छेदेन नहीं हो सकता, क्योंकि स्वर्गत्वावच्छेदेन यागजन्यत्वाभाव के निश्चय का अर्थ होगा कि कोई भी स्वर्ग यज्ञजन्य हो ही नहीं सकता, और यह निश्चय कभी हो नहीं सकता, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अधिकार पूर्वक यह निर्णय कैसे दे सके कि कोई स्वर्ग कभी यज्ञ से होता ही नहीं, फलतः ज्ञात स्वर्ग में यागजन्यत्वाभाव रहने पर भी स्वर्गत्वावच्छेदेन उस का निश्चय न हो सकने से स्वर्गत्वसामानाधिकरण्येनैव उसका निश्चय होगा अतः उस निश्चय के रहते भी ज्ञात स्वर्ग में स्वर्गत्वसामानाधिकरण्येन यागजन्यत्व का निश्चय होने में कोई बाधा नहीं हो सकती ।

प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की यह दृष्टि एकदेशीय नहीं है, क्योंकि रघुनाथ तार्किक शिरोमणी ने सामान्यलक्षणा प्रकरण की दीधिति में धूम में वह्निव्यभिचार संशयकी उपपत्ति करते हुये इसी दृष्टि को स्वीकार किया है।

गङ्गास्नानादिजन्यस्वर्ग में यागजन्यत्वका निश्चय यद्यपि भ्रम है तथापि परिणाम सुखद होनेसे वह उसी प्रकार प्रशस्य है जैसे मणि को प्राप्त करने वाला मणि प्रभा में मणि का भ्रमात्मक निश्चय। 'स्वर्गकामो यजेत,' से अभ्रान्त को बोध न हो सकेगा, यह शंका उचित नहीं कही जा सकती, क्योंकि यज्ञ आदि के अनुष्ठान में संसारी पुरुषों की ही प्रवृत्ति होती है अतः उनमें भ्रम होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। जिस में भ्रम की सम्भावना नहीं हो सकती जैसे आत्मज्ञानी को यदि उक्तवाक्य से बोध न हो तो कोई हानि नहीं है क्योंकि उसे यज्ञ आदि के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने की आवश्यकता नहीं है ।

न च 'आनन्दम्' इत्यत्र नपुंसकलिङ्गत्वानुपपत्तिः, छान्दसत्वात् ।

न च 'आनन्दं ब्राह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्' इति भेदपरषष्ठ्यनुपपत्तिः, 'राहोः शिर' इति वदभेदेऽपि षष्ठीदर्शनाद्, [1]इति वाच्यम्; आत्मनोऽनुभूयमानत्वेन नित्यसुखस्याप्यनुभवप्रसङ्गात्, सुखमात्रस्य स्वगोचरसाक्षात्कारजनकत्वनियमात् ।

और उसमें नित्य ब्रह्म का अभेद बाधित होने से नित्य सुख की सिद्धि हुये बिना सुखमें नित्य ब्रह्म के अभेद का बोध सम्भव नहीं है,' तो उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि नित्यसुख की सिद्धि के पूर्व उक्त रीति से सुखमें ब्रह्म के अभेद का बोध यदि सम्भव नहीं है, तो न हो, फिर भी उक्त श्रुतिवचन से सुख में ब्रह्म के अभेद बोध को अन्य प्रकार से उपपन्न किया जा सकता है, और वह प्रकार यह है कि उक्त श्रुति पहले 'नित्यम् आनन्दम' इस भागसे नित्य सुख का बोध उत्पन्न करती है और बाद में वही श्रुति 'आनन्दं ब्रह्म' इस अंश से ब्रह्म के अभेद का बोध उत्पन्न कराती है, अतः उक्त श्रुति से ब्रह्मरूप नित्यसुखकी सिद्धि में कोई बाधा न होने से उसके आधार पर मोक्षमें सुख का अस्तित्व स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं है। यदि यह कहा जाय कि 'एक ही श्रुति-वाक्य से क्रम से 'नित्यम् आनन्दम्' तथा 'आनन्दं ब्रह्म' ये दो बोध मानने पर [2]वाक्यभेद दोष होगा,' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त श्रुति वाक्य को दो अवान्तर वाक्यों से निष्पन्न एक महावाक्य मान कर [3]वाक्यैकवाक्यता मान लेने से वाक्यभेदका परिहार किया जा सकता है ।

यदि यह कहा जाय कि उक्त श्रुति वाक्य में आये 'आनन्द' शब्द को सुख का बोधक न मानकर सुख के आश्रय का बोधक मानना होगा, अन्यथा [4]'गुणे शुक्लादयः पुंसि' शुक्ल आदि शब्द गुण के बोधक होने पर पुंल्लिङ्ग होते हैं इस नियम के अनुसार आनन्द शब्द का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग असंगत होगा," तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्तवाक्य में

---

१ इसका अन्वय पूर्वमें आये 'नच 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिरेवाश्रमानम्' के साथ है ।

२ वाक्यभेद-जिस वाक्यसे दो स्वतन्त्र बोध,-ऐसे बोध जिनमें दो मुख्य विशेष्यतायें होती हैं,-उत्पन्न होते हैं, वह वाक्य स्वरूपतः एक होते हुए भी अर्थतः दो हो जाता है, यह स्थिति वाक्य का दोष है, क्योंकि एकवाक्य से दो वाक्यों का कार्य लेने में श्रोता को कठिनाई होती है ।

३ वाक्यैकवाक्यता-एकवाक्यता का अर्थ है 'एक बोध को जिसमें एक ही मुख्य विशेष्यता हो-उत्पन्न करना' । इसके दो भेद होते हैं-पदैकवाक्यता और वाक्यैकवाक्यता । कतिपय पदों से जो एक वाक्य बनता है उसमें पदैकवाक्यता होती है और कतिपय वाक्यों से जो एक महावाक्य बनता है उसमें वाक्यैकवाक्यता होती है । वाक्यैकवाक्यता हो जाने पर वाक्यभेद दोष नहीं होता, क्योंकि अवान्तर वाक्यों से विभिन्न बोध उत्पन्न होने पर भी महावाक्य से एक ही ऐसे बोध का उदय होता है जिसमें एक ही मुख्य विशेष्यता होती है । प्रकृतमें उक्तवाक्यके अवान्तर वाक्योंसे विभिन्न बोध उत्पन्न होने के अनन्तर महावाक्य से 'नित्य विज्ञाना-त्मक आनन्द ब्रह्म से अभिन्न है' ऐसा बोध मान लेने पर वाक्यैकवाक्यता सम्पन्न हो जानेसे वाक्यभेद दोष नहीं कहा जा सकता ।

४ द्रष्टव्य अमरकोश ।

न च 'आत्माऽभिन्नतया सुखमनुभूयत एव, सुखत्वं तु तत्र नानुभूयते, देहात्माभेदभ्रमवासनादोषाद्, आत्यन्तिकदुःखोच्छेदरूपव्यञ्जकाभावाद् वेति' वाच्यम्, आत्मसुखयोरभेदे सुखत्वस्यात्मत्वतुल्यव्यक्तिकत्वेनात्मत्वान्यजातित्वासिद्धेः ।

'आनन्दं' शब्द का प्रयोग छान्दस=वैदिक है और वैदिक प्रयोग पर लौकिक संस्कृत के व्याकरणसम्बन्धी नियमों का नियन्त्रण नहीं हो सकता ।

यदि यह कहा जाय कि "उक्त श्रुतिवाक्य से आनन्द में ब्रह्म के अभेद का बोध नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि आनन्द और ब्रह्ममें अभेद माना जायगा तो 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्–आनन्द ब्रह्मका रूप है और वह मोक्षमें प्रतिष्ठित–आवरणमुक्त हो अनुभूत होता है' इति शास्त्रीय वचन में आनन्द शब्द के सन्निधान में ब्रह्मशब्द के उत्तर सुन पडनेवाली [1]भेद–सम्बन्धबोधक षष्ठी विभक्ति की अनुपपत्ति होगी क्योंकि आनन्द और ब्रह्म में अभेद होने पर आनन्द के साथ ब्रह्म का भेद सम्बन्ध हो सकता, और [2]"नीलस्य घटः' इस वाक्यसे घटमें नीलके अभेद सम्बन्ध का बोध सर्वानुभव विरुद्ध होने के कारण षष्ठी विभक्ति को अभेद सम्बन्ध का बोधक न मान कर भेद सम्बन्ध का ही बोधक माना जाता है" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार [3]राहोः शिरः—राहुका सिर इस वाक्यमें राहु शब्द के उत्तर सुन पडने वाली षष्ठी विभक्ति से राहु और शिर में अभेद सम्बन्ध का ही बोध माना जाता है, उसी प्रकार 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इस वाक्य में भी ब्रह्मशब्दोत्तर षष्ठी से आनन्द में ब्रह्म के अभेद सम्बन्ध का बोध मानने में कोई आपत्ति न होने से 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति से ब्रह्मस्वरूप नित्य सुखकी सिद्धि में कोई बाधा नहीं है ।

किन्तु यह (मोक्षसुख में नित्यमित्यादि श्रुति को प्रमाण) कहना ठीक नहीं, क्योंकि अयमात्मा ब्रह्म–यह श्रुति के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है, अतः ब्रह्म और आत्मा में अभेद मानने पर आत्मा और आनन्द में ऐक्य मानना होगा, पर यह सम्भव नहीं है, क्योंकि बन्धन की अवस्था में भी जीव को आत्मा का अनुभव तो होता है पर नित्य आनन्द का अनुभव नहीं होता जब कि आत्मा और नित्य आनन्द में ऐक्य होने पर सभी सुख अपने साक्षात्कार–अनुभव का जनक होता है इस नियम के कारण उसका होना अनिवार्य है ।

यदि यह कहा जाय कि "आत्मा और सुख में ऐक्य मानने पर 'आत्माका अनुभव होने पर भी सुखका अनुभव नहीं होता' यह कहना असंगत है, क्योंकि आत्मा का अनु-

---

१–२ द्रष्टव्य व्युत्पत्तिवाद गादाधरी ।

३ यह पौराणिक कथा है कि देव और असुरों द्वारा समुद्र का मन्थन होने पर चौदह अनमोल पदार्थरत्न निकले थे जिन में एक अमृत भी था, देवताओं ने कुटनीति से उसे असुरों को न दे कर स्वयं ले लिया जब वे आपस में उसका बँटवारा करने लगे तो गुप्तरूपसे देवमण्डली में घुस कर एक असुर ने भी अमृत प्राप्त कर लिया, किन्तु उसी समय सूर्य और चन्द्र द्वारा देवश्रेष्ठ विष्णु को इस बात का पता लग गया और तत्काल उन्होंने अपने सुदर्शन चक्र से उसका शिरश्छेद कर दिया, किन्तु वह असुर इसके पूर्व अमृतपान कर चुका था, अतः शिरश्छेद होने पर भी वह नहीं मरा अपि तु शिर और शेष शरीर–कबन्धके रूपमें वह जीवित हो उठा, उसी समय से उसका शिर राहु और कबन्ध केतु के नाम से व्यवहृत हुआ, इस प्रकार शिर हि राहु है, राहु और शिरमें कोई भेद नहीं है । द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत ।

(स्या०) किञ्च, एवं सर्वाभेदश्रुत्या दुःखमपि सुखं स्यात्, सिद्धार्थत्वेनाऽप्रामाण्यं चोभयत्र तुल्यम्, इति चेत् ?

भव होने पर आत्मा से अभिन्न होने के नाते सुख का भी अनुभव होना अनिवार्य है, अन्तर केवल इतना ही है कि बन्धनावस्था में आत्मसुख का अनुभव आत्मत्वरूप से ही होता है, सुखत्वरूप से नहीं होता, सुखत्वरूप से अनुभव तो मोक्षकाल में ही होता है, जैसे कि उक्तवाक्य में 'तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्' इस भाग से सूचित किया गया है। यदि यह प्रश्न हो कि 'जब बन्धनावस्था में भी आत्मा सुखरूप है तब उस अवस्था में उसमें सुखत्व का अनुभव क्यों नहीं होता ?' तो इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि स्थूल देह में आत्मा के अभेद की भ्रमात्मक बुद्धि से देहात्मैक्य की जो वासना अनादिकाल से मनुष्य के मन में घर बना के बैठी है, वही बन्धनावस्था में आत्मामें सुखत्व का अनुभव नहीं होने देती, और दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण दुःखों का आत्यन्तिक विनाश ही आत्मा में सुखत्व का व्यञ्जक है, बन्धनावस्था में उस व्यञ्जक का अभाव रहता है अतः उस समय आत्मा में सुखत्व का अनुभव नहीं हो सकता।"

तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा और सुख में भेद न मानने पर आत्मत्व और सुखत्व नाम की दो भिन्न जातियाँ नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यह नियम है कि जो जातियाँ तुल्य व्यक्तिक होती हैं,--सर्वथा समान आश्रय में ही रहती हैं-उन में भेद नहीं होता। अतः जैसे [1]घटत्व और कलशत्व ये दो भिन्न जातियाँ नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मत्व और सुखत्व भी दो भिन्न जातियां नहीं हो सकतीं अतः यह कहना कि 'बन्धनावस्था में आत्मसुख का केवल आत्मत्व से ही अनुभव होता है, किन्तु सुखत्व रूप से नहीं। सुखत्वरूप से अनुभव तो मोक्षावस्था में ही होता है,' यह उचित नहीं हो सकता।

उपर्युक्त से अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति से आनन्द और ब्रह्म में अभेद का बोध होने से ब्रह्म को आनन्द रूप माना जायगा तो [2]सर्वाभेद का प्रतिपादन करने वाली श्रुति से सर्व पदार्थों में सुखात्मक ब्रह्म के अभेद का बोध होने से दुःख को भी सुखरूप मानना होगा, फलतः दुःख के प्रति द्वेष की समाप्ति हो जाने से मोक्ष के लिये मनुष्य की प्रवृत्ति ही बन्द हो जायगी, इस दोष के परिहारार्थ यदि यह कहा जाय कि सर्वाभेद की प्रतिपादक श्रुति [3]सिद्धार्थक होने से अप्रमाण है

---

१ द्रष्टव्य 'सिद्धान्त मुक्तावली' प्रत्यक्षखण्ड सामान्यनिरूपण में जातिबाधकसंग्रह कारिका की दिनकरीय व्याख्या।

२ सर्वाभेद का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ अनेक हैं जैसे—ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादि।

३ 'सिद्धार्थक वाक्य का अप्रमाण' कह कर 'मीमांसक प्रभाकर' के मतका संकेत किया गया है। उन का मत है कि वाक्य दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिन से ऐसे ही अर्थों का बोध होता है जो सिद्ध-पहले से ही सम्पन्न होते हैं जैसे—'दुग्धं मधुरं भवति दूध मीठा होता है' इस वाक्य से अर्थ बोध होने के बाद दूध या उसके माधुर्य दोनों तो पहले से ही सिद्ध रहते हैं, उक्त वाक्य से उनका कथन मात्र होता है। ऐसे वाक्यों को 'सिद्धार्थक' कहा जाता है। दूसरे वाक्य वे होते हैं जिनसे किसी ऐसे अर्थ का बोध होता है जो पहले

अत्रोच्यते—प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिरेव सिद्धिसुखे मानम् । न च क्षुदादिदुःखनिवृत्त्यर्थमन्नपानादिप्रवृत्तिवदत्रोपपत्तिः, तत्रापि सुखार्थमेव प्रवृत्तेः । अन्यथाऽस्वादुपरित्यागस्वादूपादानानुपपत्तेः, अभावे विशेषाभावेन कारणविशेषस्याऽप्रयोजकत्वात् ।

तो 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति के भी सिद्धार्थकता होने से यह श्रुति भी अप्रमाण होगी, अतः इसके द्वारा ब्रह्मरूप नित्य सुख के अस्तित्व को प्रमाणित करना असम्भव हो जायगा ।

(मुक्ति में सुख है—उत्तरपक्ष)

मोक्षसुख के विरुद्ध उठाये गये आक्षेपों के उत्तरमें कहा जा सकता है कि-मोक्ष के लिये प्रेक्षावान्- विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति का होना निर्विवाद है, परन्तु मोक्ष में सुख का अस्तित्व न मानने पर यह प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति सुखप्राप्ति के लिये ही हुआ करती है । अतः मोक्ष में यदि सुख प्राप्त होने की आशा न होगी तो उसके लिये कोई भी विवेकी पुरुष प्रयत्नशील न होगा, इसलिये मोक्ष में सुख का अभाव होने पर उसके लिये विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति की 'अनुपपत्ति ही 'मोक्ष में सुख होता है' इस बात में प्रमाण है ।

यदि यह कहा जाय कि 'जिस प्रकार भूख और प्यास के दुःख की निवृत्ति के लिये ही भोजन, जलपान आदि कार्यों में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार सांसारिक बन्धन के दुःख की निवृत्ति के लिये मोक्ष-साधना में भी प्रवृत्ति होती है,'-तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भोजन आदि कार्यों में भी सुख के लिये ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा यदि भूख-प्यास के दुःख की निवृत्ति के लिये ही भोजन आदि में मनुष्य की प्रवृत्ति होती तो वह स्वादहीन भोजन को त्याग कर स्वादयुक्त भोजन न ग्रहण करता, क्योंकि अभाव का कोई भावात्मक स्वरूप अथवा उसकी कोई जाति न होने से

से सिद्ध नहीं होता किन्तु बाद में साधनीय होता है जैसे 'तृप्तिकामो भुञ्जीत-तृप्ति का इच्छुक व्यक्ति भोजन से तृप्ति का सम्पादन करे' इस वाक्य के अर्थों में भोजन में नियोजनीय पुरुष ही केवल सिद्ध है, अन्य अर्थ भोजन और तृप्ति पहले से सिद्ध नहीं है किन्तु वाक्य से अर्थबोध होने के पश्चात् उन्हें सिद्ध करना होता है । ऐसे वाक्यों को साध्यार्थक या कार्यार्थक कहा जाता है । प्रभाकर के मतानुसार साध्यार्थक वाक्य ही प्रमाण होते हैं, सिद्धार्थक वाक्य प्रमाण नहीं होते । ऐसा मानने में उसका आशय यह है कि प्रमाण का कार्य है प्रमा का जन्म और प्रमा का प्रयोजन है कार्य में मनुष्य का नियोजन । अतः जिसके द्वारा उत्पन्न बोध से कुछ करने की प्रेरणा न हो उसे प्रमाण कहना उचित नहीं है, इसलिए उनके मतानुसार सिद्धार्थक वाक्य को प्रमाण नहीं माना जा सकता ।

१ मीमांसा आदि कतिपय दर्शनों में 'अन्यथाऽनुपपत्ति' (एक अर्थ के अभाव में अन्य अर्थ की अनुपपत्ति) को अर्थापत्ति नामक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है । इस प्रमाण से अन्यथा उपपन्न न होने वाले अर्थ के उपपादक अर्थ की प्रमा का उदय होता है । न्यायदर्शन में अर्थापत्ति प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण न मान कर केवलव्यतिरेकीअनुमान में उस का अन्तर्भाव किया है । जैनदर्शन में अन्यथानुपपत्ति यह अनुमान में उपयोगी व्याप्ति का लक्षण है । द्रष्टव्य 'प्रमाणनयतत्त्वाऽऽलोक ।'

न च चिकित्सास्थलीयप्रवृत्तिवदुपपत्तिः, तत्रापि दुःखध्वंसनियतागामिसुखार्थितयैव प्रवृत्तेः । न च प्रायश्चित्तवदत्र [1]दुःखद्वेषयोरनिष्टेरेव प्रवृत्तिरिति वाच्यम्, तत्राऽप्यभिमताऽऽगामि[2]बोधि[3]हेतुदुःखदकर्मक्षयार्थितयैव प्रवृत्तेः ।

उसमें कोई स्वरूपकृत या जातिकृत विलक्षणता नहीं होती । अतः स्वादयुक्त भोजन द्वारा भूख-प्यास की निवृत्ति होने से जो दुःख का अभाव होता है, एवं स्वादहीन भोजन द्वारा भूखप्यास की निवृत्ति होने पर जो दुःख का अभाव होता है, उनमें कोई अन्तर न होने से स्वादहीन भोजन को त्याग कर स्वादयुक्त भोजन के ग्रहण में मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु इस प्रकार की प्रवृत्ति होती है इस लिये यह मानना आवश्यक है कि भोजन से केवल दुःख की निवृत्ति ही नहीं होती, अपितु सुख की प्राप्ति भी होती है । अतः स्वादहीन भोजन से होने वाले सुख से अच्छे सुख की प्राप्ति के लिये ही स्वादहीन भोजन को त्याग कर स्वादयुक्त भोजन का ग्रहण करना उचित हो सकता है ।

यदि यह कहा जाय कि-'जैसे रोगमूलक दुःख की निवृत्ति के लिये चिकित्सा में प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार सांसारिक दुःख की निवृत्ति के लिये मोक्ष में प्रवृत्ति हो सकती है,'–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि चिकित्सा में जो प्रवृत्ति होती है वह भी रोगजन्य दुःख की निवृत्ति होने पर सुख प्राप्त होने की आशा से ही होती है ।

यदि यह कहा जाय कि-'दुःख स्वभावतः अनिष्ट होने से द्वेष्य है और द्वेष्य को उत्पन्न होने देना या जीवित रहने देना यह मनुष्य की प्रवृत्ति के विरुद्ध है, अतः दुःख की प्रवृत्ति के उद्देश्य से ही जैसे दुःखप्रद पापकर्मों के प्रायश्चित्त में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार जन्म-मृत्यु के बीच संसरण करते रहने से होने वाले दुःख की निवृत्ति के लिये मोक्षसाधना में भी प्रवृत्ति हो सकती है,'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रायश्चित्त में मनुष्य की जो प्रवृत्ति होती है उसके मूलमें भी उसकी सुखकामना ही प्रधान होती है, जैसे प्रायश्चित्त में प्रवृत्त होते समय मनुष्य यह सोचता है कि प्रायश्चित्त करने से उसके पाप के विपाक की शक्ति क्षीण होगी, उसके फलस्वरूप उसकी आत्मा में बोधि-तत्त्वार्थश्रद्धान का उदय होगा और उस बोधि से उसके दुःखद कर्मों का क्षय हो कर अन्त में उसे अभिमत सुख की प्राप्ति होगी । इस प्रकार प्रायश्चित्त में भी मनुष्य की प्रवृत्ति सुखाशामूलक ही है । अतः मोक्ष साधना में प्रवृत्ति होने के लिये मोक्ष को सुखमय मानना आवश्यक है ।

---

१ "दुःखद्वेषयोनिष्टेव०" ऐसा पाठ संवेगी उपाश्रय (अहमदाबाद) की हस्तलिखित प्रतमें है । पूर्वापर देखके एवं वस्तु के स्वरूप पर विचार करने से 'दुःखद्वेषयोरनिष्टे०' के स्थानमें 'दुःखद्वेषयोन्यनिष्टे'० पाठ उचित प्रतीत होता है जिसका अर्थ है–दुःख के प्रति द्वेष का कारण है दुःख का स्वभावतः अनिष्ट होना, दुःख स्वभावतः अनिष्ट होने से ही द्वेष्य होता है और द्वेष्य होने से ही निवर्तनीय होता है ।

२ 'अभिमतं सुखम् आगामयति=उत्पादयति' अथवा 'आगामयति=उत्पादयति इति आगामि अभिमतस्य आगामि इति अभिमताऽऽगामि' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अभिमतागामि का अर्थ है सुख का उत्पादक, यह कर्मक्षय का विशेषण है ।

३ अर्हत्समय के अनुसार बोधि का अर्थ है तत्त्वार्थ में श्रद्धान से ले कर वीतरागता तक के धर्म । प्रायश्चित्त से पाप की शक्ति क्षीण होने पर इसका उदय होता है और इसका उदय होने पर दुःखद कर्मों का क्षय हो कर सुखोत्पत्ति का द्वार उद्घाटित होता है ।

(स्या०) किं च, दुःखाभावदशायां 'सुखं नास्ति' इति ज्ञाने कथं प्रवृत्तिः, सुखहानेरनिष्टत्वात् ? न च वैराग्याद् न तदनिष्टत्वप्रतिसन्धानम्, विरक्तानामपि प्रशमप्रभवसुखस्येष्टत्वात्, अनुभवसिद्धं खल्वेतत्। किं च, दुःखे द्वेषमात्रादेव यदि तन्नाशानुकूलः प्रयत्नः स्यात् तदा मूर्च्छादावपि प्रवृत्तिः स्यात्। जायत एव बहुदुःखग्रस्तानां मरणादावपि प्रवृत्तिरिति चेत् ? न, विवेकिप्रवृत्तेरेवात्राधिकृतत्वात्। अतः सुष्ठूच्यते—

दुःखाभावोऽपि नावेद्यः पुरुषार्थतयेष्यते।
न हि मूर्च्छाद्यवस्थार्थं प्रवृत्तो दृश्यते 'सुष्ठूच्यते' सुधीः ॥इति॥

इसके अतिरिक्त यह भी एक प्रश्न है कि मनुष्य को सुख की हानि किसी भी स्थिति में इष्ट नहीं है, अतः जब उसे यह ज्ञान होगा कि 'दुःखाभावदशा-मोक्षदशा में सुख नहीं होता तब मोक्षसाधना में उसकी प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी, क्योंकि सुखहानि उसे कथमपि सह्य नहीं है। यदि यह कहा जाय कि सुख-दुःखमय सारे संसार के प्रति वैराग्य हो जाने पर ही मनुष्य को मोक्ष की इच्छा होती है, अतः मोक्षेच्छु मनुष्य के मन में सुख के प्रति भी विराग होने के कारण उसे सुखहानि में अनिष्टत्व की बुद्धि नहीं होती, इसलिये मोक्ष में सुखाभाव होने का ज्ञान रहने पर भी मोक्ष के लिये उसके प्रयत्नशील होने में कोई बाधा नहीं हो सकती,' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विरक्तजनों को भी प्रशमजन्यसुख की कामना का होना [1]अनुभवसिद्ध है।

इस सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि यदि यह माना जाय कि 'दुःख के प्रति द्वेष होने मात्र से ही मनुष्य दुःख नाशके लिये प्रयत्नशील होता है,' तब तो उसे मूर्छा आदि की अवस्था के लिये भी प्रयत्नशील होना चाहिये, क्योंकि उस अवस्था में भी उसे दुःख से मुक्ति मिल सकती है, किन्तु मनुष्य सत्रमुत्र मूर्च्छावस्था के लिये कभी प्रयत्न नहीं करता, अतः यह मानना उचित नहीं है कि दुःख के प्रति द्वेष होने से ही मनुष्य दुःखनाश के लिये प्रयत्न करता है. किन्तु यह मानना उचित होगा की दुःख के रहने पर मनुष्य को सुख का अनुभव नहीं हो सकता, इसलिये सुखानुभव की बाधा को दूर करने के उद्देश्य से वह दुःख नाश के लिये प्रयत्न करता है, और यह मानने पर यह निर्विवादरूप से सिद्ध हो जाता है कि सुख कामना ही उस की प्रवृत्ति का मूल है, अतः मोक्षदशा में सुखप्राप्तिकी आशा न रहने पर उसके लिये मनुष्यको प्रवृत्तिका होना सम्भव न हो सकेगा।

यदि यह कहा जाय कि-'संसार में ऐसे भी मनुष्य देखने में आते हैं जो बहुत दुःख से ग्रस्त होने पर मृत्युका आलिङ्गन करने के लिये आत्मघात तक कर लेते हैं, अतः यह कहने में कोई असंगति नहीं है कि सुख प्राप्ति की आशा न होने पर भी केवल दुःख से

१. यह अनुभव इस उक्तिसे प्रमाणित है कि–

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

अर्थ–संसारमें जितना भी काम सुख है और स्वर्गमें जितना भी दिव्य सुख है, वह सब मिल कर भी तृष्णा के क्षय से होनेवाले सुख के सोलह वे भाग की भी बराबरी नहीं कर सकते।

'दुःखं मा भूत्' इत्युद्दिश्य प्रवृत्तेर्दुःखाभाव एव पुरुषार्थः, तज्ज्ञानं त्वन्यथासिद्धमिति चेत् ? सत्यम्, अवेद्यस्य तस्य ज्ञानादिहानिरूपानिष्टानुविद्धतया प्रवृत्त्यनिर्वाहकत्वात् । एतेन 'वर्तमानोऽप्यचिरमनुभूयते' इति निरस्तम्, तथावेद्यताया मूर्च्छाद्यवस्थायामपि सम्भवात् ।

यत्तु 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' इति श्रुतेर्मुक्तौ सुखाभावसिद्धिः,

मुक्ति पाने मात्र के लिये भी मनुष्य की प्रवृत्ति का होना सम्भव है,'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत विचार विवेकी मनुष्यों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में है, न कि उन अविवेकी मनुष्यों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में है जो दुःख से कातर हो आत्मघात करने को प्रवृत्त होते हैं और यह नहीं सोच पाते कि 'आत्मघात उन्हें दुःखोंसे मुक्त नहीं कर सकेगा, अपितु स्वयं एक नया पाप होने के कारण नये जन्म में उनके लिये दुःख का कारण बनेगा' । इसलिये यह कहना सर्वथा उचित है कि-

दुःखाभाव का यदि अनुभव न हो, तो वह भी पुरुषार्थ-पुरुष को काम्य नहीं हो सकता । यही कारण है कि मूर्च्छावस्था में दुःख का अभाव होने पर भी उसका अनुभव न हो सकने के कारण उस अवस्था के लिये कोई विवेकी मनुष्य प्रयत्नशील होता नहीं दिखाई देता ।

यदि यह कहा जाय कि 'दुःख न हो' इस उद्देश्य से ही मनुष्य दुःख निराकरण के उपायों को आयत्त करने का प्रयत्न करता है, न कि 'दुःखाभाव का अनुभव हो' इस उद्देश्य से । अतः दुःख का अभाव ही पुरुषार्थ है, न कि दुःखाभाव का अनुभव। वह तो साधन मिलने पर अनुषङ्गतः हो जाता है, अतः वह पुरुषार्थ रूप नहीं है, किन्तु अन्यथा सिद्ध है,'-तो यह कथन आपाततः समीचीन प्रतीत होने पर भी उचित नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो दुःखाभाव अवेद्य (अनुभव के अयोग्य) होगा, वह ज्ञान आदि इष्ट पदार्थों की हानिरूप अनिष्ट से मिश्रित होने के कारण मनुष्य को काम्य न होगा । फलतः उसके लिये मनुष्य की प्रवृत्ति न हो सकेगी ।

यदि यह कहा जाय कि-'मोक्षकाल में दुःखाभाव की अनुभूति होती ही नहीं, यह बात नहीं है, होती है अवश्य, किन्तु उस समय अनुभव साधनों के क्षणिक होने से क्षण भर के लिये ही होती है अतः क्षण भर के लिये भी आत्यन्तिक दुःखाभाव का अनुभव पा सकने के लोभ से उसके लिये मनुष्य की प्रवृत्ति हो सकती है,'-तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दुःखाभाव का क्षणिक अनुभव तो मूर्च्छा के समय भी सम्भव है. अतः मोक्ष के महान प्रयास की सार्थकता यदि दुःखाभाव के क्षणिक अनुभव में ही मान्य हो सकती है, तो वह तो मूर्च्छा के समय भी सम्भव है, अतः इस स्थिति में मनुष्य के लिये यही उचित होगा कि वह महान श्रम से साध्य मोक्ष के लिये प्रयत्नशील न होकर स्वल्पश्रम से साध्य मूर्च्छावस्था के लिये ही प्रयत्नशील हो ।

यदि यह कहा जाय कि "अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'-शरीरहीन जीव को प्रिय और अप्रिय—सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते' इस श्रुति से मोक्षकाल में

द्वित्वेनोपस्थितयोः प्रियाप्रिययोः प्रत्येकं निषेधान्वयादिति, तदसत्, प्रियाप्रियोभयत्वावच्छिन्नाभावस्यैवात्र विषयत्वात्, द्वित्वस्याख्यातार्थान्विताभावप्रतियोगिन्यामितयैवोपपत्तेः। उपपादितं चैतदन्यत्र।

सुखाभाव की सिद्धि होती है, क्योंकि इस श्रुति में 'प्रियाप्रिये' शब्द के उत्तर द्विवचन विभक्ति से उपस्थित द्वित्व का प्रिय और अप्रिय में अन्वय होने से उनकी उपस्थिति यद्यपि उभयत्वरूप से होती है फिर भी 'न' शब्द के अर्थ अभाव के साथ उनका अन्वय प्रियाप्रियोभयत्वरूप से न होकर प्रियत्व और अप्रियत्व अपने प्रत्येकरूप से ही होता है, अतः श्रुतिके 'प्रियाप्रिये न स्पृशतः' इस भाग से प्रियाभाव-सुखाभाव और अप्रियाभाव दुःखाभाव इन दो अभावों का ही बोध होता है, न कि प्रिय और अप्रिय के एक उभयाभावका बोध होता है, क्योंकि उभयाभाव के एक होने से स्पृशतः शब्द के द्विवचन आख्यात 'तस्' प्रत्यय के द्वित्वरूप अर्थ का अन्वय उस में न हो सकेगा'। तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त श्रुति के 'प्रियाप्रिये न स्पृशतः' इस भाग से प्रियाभाव और अप्रियाभाव इन दो अभावों का बोध न मान कर प्रिय और अप्रिय के एक उभयाभाव का ही बोध मानना [1]उचित है, क्योंकि द्विवचनान्त क्रियापद के सन्निधान में 'न' शब्द से जिस अभाव का बोध होता है उसमें आख्यात तिङ् प्रत्ययके संख्यातिरिक्त अर्थ का अन्वय तो हो सकता है पर उसके संख्या रूप अर्थ का अन्वय अभाव के [2]प्रतियोगी में ही करना पड़ता है, अन्यथा

---

१ इस औचित्य का एक बीज यह भी है कि प्रतियोगी में उपलक्षणरूप से किसी भी धर्म का भान अमान्य होने के कारण प्रिय और अप्रिय में उभयत्व का भान विशेषणरूप में ही मानना होगा अतः 'प्रतियोगी में विशेषण हो कर भासित होने वाला धर्म प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है' इस नियम के अनुसार प्रियाप्रियोभयत्व के प्रतियोगितावच्छेदक होने से 'प्रियाप्रिये न स्पृशतः' इन शब्दों से प्रियाप्रिय उभय के एक अभाव का ही बोध हो सकता है न कि प्रियाभाव और अप्रियाभाव इन दो अभावों का।

२ शङ्का हो सकती है कि "प्रियाप्रिये न स्पृशतः' इस वाक्य के द्विवचन सुप् और द्विवचन आख्यात इन दो पदों से उपस्थित द्वित्वका अन्वय यदि विभिन्न अर्थों में न होकर प्रियाप्रिय रूप एक ही पदार्थ में होगा, तो द्वित्वरूप एक ही अर्थ को उपस्थित करने वाले दो पदों में एकका प्रयोग व्यर्थ होगा।" इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि 'सम्भेदे नान्यतरवैयर्थ्यम्' इस न्याय के कारण उक्त शंका को अवकाश नहीं प्राप्त हो सकता। न्याय का आशय यह है कि जहां सम्भेद होता है—एक अर्थ के बोधक दो पदों के प्रयोग की विवशता होती है, वहां दो पदों में किसी भी पद का प्रयोग व्यर्थ नहीं होता, क्योंकि दोनों पदों से उपस्थित होने वाले एक अर्थ का एकधैव बोध होने में दोनों पदों का तात्पर्य मान लिया जाता है। जैसे द्विवचनान्तकर्तृपद का प्रयोग यदि करना है तो व्याकरण की दृष्टि से वाक्य की साधुता के लिये द्विवचनान्त ही क्रियापद का प्रयोग करना होगा। ऐसी स्थिति में कर्तृवाचकपदोत्तर द्विवचन सुप् और धातुपदोत्तर द्विवचन आख्यात से द्वित्वरूप एक अर्थ की उपस्थिति और उस अर्थ के एकधा बोध में दोनों पदों का तात्पर्य अपरिहार्य है, अतः एक अर्थ के बोधक दो पदों का प्रयोग करने पर एक का वैयर्थ्य वहीं होता है जहां विवशता न होने से ऐसे प्रयोग का परिहार किया जा सकता है; 'घटोऽस्ति,'

न चेदेवम्, सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
तं वै मोक्षं विजानीयाद्दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः ॥' इत्यादिवचनविरोधः ।

यदि आख्यातार्थ संख्या का भी अन्वय अगर अभाव में ही किया जायगा तो 'पृथिव्यां स्नेह-गन्धौ नस्तः'–'पृथिवी में स्नेह और गन्ध इस उभय का अभाव होता है' इस वाक्य में 'स्तः' शब्दमें अस् धातु के उत्तर द्विवचन 'तस्' प्रत्यय के द्वित्वरूप अर्थ का अन्वय न हो सकेगा, क्योंकि पृथिवी में गन्धाभाव न होने के कारण उस वाक्यों में आये 'न' शब्द से स्नेहाभाव और गन्धाभाव इन दो अभावों का बोध न मानकर स्नेह-गन्ध उभय के एक अभाव का ही बोध मानना पड़ता है, और उस एक अभाव में द्वित्व का अन्वय स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। 'द्विवचनान्त क्रियापद के सन्निधान में आख्यातार्थ संख्या का अन्वय 'न' शब्द के अर्थ अभाव में न हो कर अभाव के प्रतियोगी में ही होता है,' इस बात का उपपादन अन्यत्र किया गया है।

यदि यह शङ्का की जाय कि-'उक्त श्रुतिसे सुखदुःखोभयाभाव का बोध मानने पर भी उससे मोक्षकाल में सुखाभाव की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि सुख दुख उभय का अभाव सुखाभाव से भी हो सकता है और दुखाभाव से भी हो सकता है एवं सुखाभाव दुखाभाव इस अभाव द्वय से भी हो सकता है। मोक्षकाल में उक्त उभयाभाव किम्मूलक है इस बातमें कोई विनिगमक नहीं है। अतः श्रुति का तात्पर्य इस बात में मान सकते है कि मोक्षकालमें सुख-दुखोभय का अभाव सुखाभाव और दुखाभाव उभय मूलक है, तो इस प्रकार उक्त श्रुति से मोक्षकाल में सुखाभाव की सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं है'-तो इस शंका के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मोक्षकाल में सुखदुख उभय का अभाव सुखाभाव मूलक है या दुःखाभावमूलक है अथवा द्वयमूलक है, इस बात में विनिगमक–निर्णायक का अभाव नहीं है, किन्तु दुखाभावमूलक है यह मानने में विनिगमक है, और वह इस प्रकार कि मोक्षकाल में सुखाभाव का होना विवादग्रस्त है, सर्वसम्मत नहीं, परंतु दुखाभाव का होना सर्वसम्मत है। अतः मोक्षकाल में दुःखाभावमूलक सुखदुखोभयाभाव को उक्त श्रुति से प्रतिपाद्य मानने में सर्वसम्मति हो सकने के कारण उसके अन्यथा तात्पर्य की कल्पना उचित नहीं है. फलतः उक्तश्रुति से मोक्षकाल में सुखाभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती।

अपरञ्च, मोक्षकाल में सुखाभाव मानने में एक बाधा यह है कि यदि मोक्षकाल में सुखका अस्तित्व न मान कर सुखाभाव का अस्तित्व माना जायगा तो "सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः॥ मोक्ष उसे समझना चाहिये जिस में मनुष्य को ऐसे आत्यन्तिक विशुद्ध शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है जो इन्द्रियवेद्य न होकर बुद्धिवेद्य होता है. तथा शास्त्रोक्त सत्कर्मों द्वारा अपने आत्मा का शोधन न करने वाले मनुष्यों को दुष्प्राप्य होता है" ऐसे वचनों का विरोध होगा। अतः

'कलशोऽस्ति' इन दोनों वाक्यों के प्रयोग की कोई विनशता नहीं है, इष्ट बोध के लिए दोनों में से किसी एक का प्रयोग किया जा सकता है, इसलिये यदि दोनों का प्रयोग किया जायगा तो एक का प्रयोग व्यर्थ होगा।

(स्या०)न च शरीरादिकं विना सुखाद्यनुत्पत्तिर्बाधिका, शरीरादेर्जन्यात्मविशेषगुणत्वावच्छिन्नं प्रत्येव हेतुत्वात्, तत्र च जन्यत्वस्य ध्वंसप्रतियोगित्वरूपस्येश्वरज्ञानादेरिव मुक्तिकालीनज्ञानसुखादेरपि व्यावृत्तत्वादिति । अधिकं मत्कृत 'न्यायालोकाद्' अवसेयम्, वक्ष्यते चावशिष्टमुपरिष्टात् ॥२॥

मोक्ष को सुखमय बताने वाले शास्त्रवचनों के अनुरोध से मोक्षकाल में सुखाभाव का अस्तित्व न मान कर सुख का ही अस्तित्व मानना तर्कसंगत एवं न्यायसंगत है ।

यदि यह कहा जाय कि-'मोक्ष में सुख या सुखानुभव इसीलिये नहीं माना जा सकता कि उस अवस्था में सुख एवं सुखानुभव के उत्पादक शरीर आदि का अभाव होता है,'-तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर आदि तो आत्मा के जन्य विशेषगुण के ही कारण होते हैं, और मोक्ष काल का सुख एवं सुखानुभव जन्य नहीं होता, अतः शरीर आदि के अभाव में भी मोक्षकाल में सुख एवं सुखानुभव के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

यदि यह प्रश्न हो कि- 'मोक्षकाल का सुख एवं सुखानुभव यदि जन्य न होगा तो सदातन (यानी अनादिकालीन) होने से बन्धनावस्थामें भी रहेगा, फलतः बन्धनावस्था और मोक्षावस्था में कोई अन्तर न हो सकेगा । अथवा अन्तर होने पर भी जो मोक्षावस्था में प्राप्तव्य है वह यदि बन्धनावस्था में भी सुलभ होगा तो मोक्षावस्था के लिये प्रयास करना व्यर्थ होगा.'-तो इसका उत्तर यह है कि मोक्षकाल के सुख एवं सुखानुभव को जन्य न मानने का यह अर्थ नहीं है कि 'वह सदातन है, (अनादि प्रकट है,) उसकी उत्पत्ति नहीं होती', किन्तु उसका अर्थ यह है कि मोक्षावस्था में जो सुख एवं सुखानुभव उत्पन्न होता है, अन्य जन्य पदार्थों के समान उसका ध्वंस नहीं होता, अपितु ईश्वरके ज्ञान आदि गुणों में जैसे ध्वंसप्रतियोगित्व का अभाव होता है, उसी प्रकार मोक्षकाल के सुख एवं सुखानुभव को जन्य न मानने का अर्थ है उसे ध्वंस का प्रतियोगी न मानना । इस पर यदि यह प्रश्न हो कि 'मोक्षकाल के सुख एवं सुखानुभव का ध्वंस भले न हो, पर यदि उसकी उत्पत्ति होती है तो मोक्षकाल में शरीर आदि कारणों के अभाव में वह कैसे हो सकेगी ?' तो इसका उत्तर यह है कि यदि शरीर आदि को आत्मा के प्रागभावप्रतियोगीरूप जन्य विशेष गुणों का कारण माना जाय, तो मोक्षकाल में शरीर आदि न होने से सुख एवं सुखानुभव की उत्पत्ति अवश्य असम्भव होगी, परन्तु ध्वंसप्रतियोगीरूपजन्यविशेषगुणों का कारण मानने पर यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्षकाल के सुख एवं सुखानुभव ध्वंस का अप्रतियोगी होने से उनकी उत्पत्ति के लिये शरीर आदि का होना अनावश्यक है, मोक्षकाल में सुख एवं सुखानुभव की उत्पत्ति शरीर आदि के अभाव में भी हो सके, एतदर्थ शरीर आदि को आत्मा के [1]ध्वंसप्रतियोगी विशेषगुणों का ही कारण मानना उचित है ।

१ आत्माके ध्वंसप्रतियोगीविशेषगुणों के प्रति शरीर आदि को कारण मानने के विरुद्ध यह शङ्का हो सकती है कि 'ध्वंसका लक्षण है जन्य अभाव, और ध्वंस का ध्वंस न होने से उसकी जन्यता ध्वंसप्रतियोगीत्वरूप न हो कर प्रागभावप्रतियोगित्वरूप है, अतः ध्वंस=प्रागभावप्रतियोगीअभाव, तो ध्वंसप्रतियोगी विशेष-

वक्तव्ये शास्त्रवार्त्तासमुच्चये पूर्वं सर्वविप्रतिपत्त्यविषयां शास्त्रवार्त्तामाह 'दुःखमि'ति –

मूलम्–दुःखं पापात् सुखं धर्मात् सर्वशास्त्रेषु संस्थितिः ।
न कर्त्तव्यमतः पापं, कर्त्तव्यो धर्मसञ्चयः ॥३॥

पापाद् अधर्मात् दुःखं भवति, धर्मात् सुखं भवति–इयं सर्वशास्त्रेषु समीचीना अविप्रतिपत्तिविषया, स्थितिः मर्यादा । अतो दुःखहेतुतया पापम्–अशुभकर्महेतु न कर्त्तव्यम्, सुखहेतुतया सञ्चितोऽज्ञवैकल्यादिरहितो धर्मः कर्तव्यः ॥३॥

शुभाशुभहेतूनां कर्त्तव्याकर्त्तव्यत्वमुक्तम् । अथ तद्धेतूनाह 'हिंसे'ति ।

पाप–धर्महेतुपरिहारासेवनाभ्यां तदकरणादि, इति तद्धेतूनाह 'हिंसे'ति इत्यपरे ।

मूलम्–हिंसाऽनृतादयः पञ्च तत्त्वाश्रद्धानमेव च ।
क्रोधादयश्च चत्वार इति पापस्य हेतवः ॥४॥

प्रस्तुत विचार के उपसंहार में व्याख्याकार का कहना है कि इस विषय में अब तक जो कुछ कहा गया है, यदि उससे अधिक जिज्ञासा हो तो व्याख्याकार के अन्य ग्रन्थ 'स्यायालोक' से ज्ञात करना चाहिये । व्याख्याकार ने यह भी सूचना दी है कि प्रस्तुत विषयमें जो बात इस व्याख्याग्रन्थ में अभी तक नहीं कही जा सकी है तथा जो बात 'स्यायालोक' में स्पष्ट उपलब्ध नहीं है, उसका प्रतिपादन इस व्याख्याग्रन्थ में ही आगे किया जायगा ॥२॥

इस ग्रन्थ में विभिन्न शास्त्रों की जो बातें कहनी हैं उनमें उस बातको, जिसमें किसी शास्त्र की विमति नहीं है, ग्रन्थकारने पहले कहा है । वह बात यह है कि अधर्म से दुःख होता है और धर्म से सुख होता है–यह सभी शास्त्रों का ऐसा सिद्धान्त है जिसमें किसी का कोई वैमत्य नहीं है । इसलिये मनुष्य को दुःख के हेतुभूत अशुभकर्म के उत्पादक पाप कर्म का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये और सुख के हेतुभूत धर्मकार्य का अनुष्ठान करना

गुण का अर्थ होगा प्रागभावप्रतियोगी अभाव का प्रतियोगीविशेषगुण, तो आत्मा के प्रागभावप्रतियोगी अभाव के प्रतियोगी विशेषगुण के प्रति शरीर आदि को कारण मानने की अपेक्षा तो आत्माके प्रागभावप्रतियोगी विशेषगुण के ही प्रति शरीर को कारण मानना उचित है क्योंकि कार्यतावच्छेदक के शरीर में प्रागभावप्रतियोगी अभाव के प्रतियोगित्व के निवेश की अपेक्षा प्रागभावप्रतियोगित्व के निवेश में लाघव है और उस स्थिति में मोक्षकाल में शरीर आदि का अभाव होने से सुख एवं सुखानुभव की उत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती ।

इस शङ्का के उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि विशेषगुण के विशेषणरूपमें प्रागभावप्रतियोगित्व का कार्यतावच्छेदक के शरीर में निवेश करने में कोई लाघव नहीं है, क्योंकि प्रागभाव का लक्षण है ध्वंसप्रतियोगी अभाव, अतः प्रागभावप्रतियोगी का अर्थ होगा ध्वंसप्रतियोगीअभाव का प्रतियोगी, तो फिर विशेषगुण में ध्वंसप्रतियोगीअभाव के प्रतियोगित्वका निवेश न कर ध्वंसप्रतियोगित्व का ही निवेश करने में लाघव होने से आत्मा के ध्वंसप्रतियोगीविशेषगुण के प्रति शरीर आदि को कारण मानने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि ध्वंस का प्रागभावप्रतियोगी–अभावत्वरूप से निवेश न कर अखण्डउपाधिस्वरूप ध्वंसत्वरूपसे निवेश करने पर उक्त शङ्का को अवकाश नहीं प्राप्त हो सकता ।

प्रमादयोगेन प्राणव्यपरोपणं हिंसा, धर्मविरुद्धं वचनमनृतम्; आदिपदाद् धर्मविरोधेन स्वामिजीवाद्यननुज्ञातपरकीयद्रव्यग्रहणमदत्तादानम्, स्त्री–पुंसव्यतिकरलक्षणमब्रह्म, सर्वभावेषु मूर्च्छालक्षणः परिग्रहश्च परिगृह्यते । अत्र च 'आदि'शब्दादवरोधेऽप्यनृतग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम्' इति वदन्ति । तत्ख्यापनं च प्रभृतिप्रधानार्थकयोरादिशब्दयोः कृतैकशेषयोर्बलादेवेति प्रतिभाति । 'आद्ये परोक्षम्' (त०सू० १–११) इत्यत्रेवोत्तरत्रयाऽपेक्षमनाद्यत्वमित्याक्षेपादेवानृतस्य प्राधान्यं लभ्यत इत्यपरे । एते पञ्चाविरतिरूपाः । तत्त्वस्य यथास्थितवस्तुनोऽश्रद्धानं यस्मादिति बहुव्रीह्याश्रयणात् तत्त्वाश्रद्धानं मिथ्यात्वम् । एवकारः प्रसिद्ध्यर्थः । च पुनरर्थः । क्रोधादयः–क्रोध–मान–माया–लोभाश्च चत्वारः इति एतावन्तः । योगानां साधारण्येनाग्रहणात् विषयप्रमादार्त्तरौद्रादीनां चात्रैवान्तर्भावात्, इति एवं प्रकारा वा पापस्य अशुभकर्मणः हेतवः कारणानि ॥ ४ ॥

चाहिये । धर्म का अनुष्ठान ऐसी सावधानी से किया जाना चाहिये जिससे उसमें संचितता रहे अर्थात् किसी अङ्ग की कोई त्रुटि न होने पाये ॥३॥

व्याख्याकार ने चौथी कारिका का अवतरण दो प्रकार से बताया है, एक अपनी ओर से और दूसरा अन्य विद्वानों की ओर से । उनका अपना कहना यह है कि–

तीसरी कारिका में शुभ के हेतुभूत कर्मों को कर्त्तव्य और अशुभ के हेतुभूत कर्मों को अकर्त्तव्य कहा गया है, किन्तु यह नहीं बताया गया कि वे कर्म क्या हैं, अतः 'हिंसानृतादयः' इत्यादि चौथी कारिका से उनका प्रतिपादन किया जा रहा है ।

अन्य विद्वानों का कहना यह है कि तीसरी कारिका में पाप को न करने और धर्म को करने का उपदेश दिया गया है, किन्तु पाप का न करना पापके हेतुओं के परिहारसे और धर्म का करना धर्म के हेतुओं के सेवन से ही सम्भव है, जिन्हें उक्त कारिका में नहीं बताया गया है । अतः अग्रिम चौथी कारिका से उन हेतुओं का प्रतिपादन किया जा रहा है ।

चौथी कारिका में यह बताया जा रहा है कि हिंसा असत्य आदि (दुष्कृत्य) एवं तत्त्वभूत पदार्थ का अश्रद्धान (मिथ्यात्व), व क्रोधादि चार (कषाय) ये पाप के हेतु हैं ।

'हिंसानृतादयः' का अर्थ है हिंसा, अनृत, अदत्तादान, अब्रह्म और परिग्रह । उनमें हिंसा तथा अनृत का प्रत्यक्ष उल्लेख है । और अन्य तीन का आदि शब्द से उल्लेख है ।

हिंसा– हिंसा का अर्थ है किसी जीव का प्रमादवश प्राणान्त करना । 'प्रमाद'का अर्थ है आत्मभाव से च्युत होना, अनात्मस्थ होना, जीवरक्षादि के विषय में असावधान रहना । '[1]मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंच पमाया,' मद्यादि व्यसन, शब्दादि विषय, क्रोधादि–हास्यादि कषाय, निद्रा-आलस्य-अनुद्योग, व राजकथादि विकथा, ये प्रमाद हैं ।

अनृत– अनृतका अर्थ है धर्मविरुद्ध बोलना । 'धारणाद् धर्मः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म शब्द का अर्थ है धारक-रक्षक, जिस वचन से धर्म का विरोध हो, किसी जीव के

१. द्रष्टव्य सिरिवाल-कहा ।

प्राण का संकट हो, वह वचन अनृत वचन है, मिथ्याभाषण है। इसके अनुसार वह सत्यभाषण भी अनृतकोटि में आ जाता है जिससे किसी जीवकी रक्षा में बाधा पड़े।

अदत्तादान- अदत्तादान का शब्दार्थ है अदत्त का आदान-न दी हुयी वस्तु को ग्रहण करना। अर्थात् ऐसे द्रव्य को ग्रहण करना, जिसके लिये उसके [1]स्वामी-जीव-तीर्थंकर और अपने गुरु की अनुमति न हो। जीव हिंसा में उस जीव से अदत्तप्राण का आदान होता है, इस में उस जीव की अनुमति नहीं होती है।

अब्रह्म- अब्रह्म का अर्थ है ब्रह्मविरोधी आचरण, 'बृंहकत्वाद् ब्रह्म' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मनुष्य शरीर के बृंहण-पोषण और संवर्धन का साधन होनेसे ब्रह्म शब्द का अर्थ है वीर्य, इसलिये अब्रह्म का अर्थ है वीर्यनाशक कार्य, और वह है स्त्री-पुरुष का व्यतिकर- यौनसम्पर्कपर्यवसायी स्त्री-पुरुष का पारस्परिक व्यवहार।

परिग्रह- परिग्रह का अर्थ है [2]सभी भावों में मूर्च्छा का होना-संसार की किसी भी वस्तु पर ममत्व होना, अधिकार स्थापित करने की अकांक्षा का होना।

'हिंसानृतादयः' के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि-आदि शब्द से अनृत का भी ग्रहण सम्भव होने से अनृत का पृथक् उल्लेख अनावश्यक है। इसके उत्तर में कुछ लोगों का कहना है कि हिंसा आदि पांचों में अनृत की प्रधानता बताने के लिये उसका पृथक् उल्लेख किया गया है। उनका आशय यह है कि 'हिंसाऽनृतादयः' शब्द में आये 'आदि' शब्द में "आदिश्च आदिश्च आदी" इस प्रकार एकशेष हुआ है, अतः उसके दो अर्थ हैं-प्रभृति और प्रधान। प्रभृति अर्थ में हिंसा का और प्रधान अर्थ में अनृत का अन्वय होने से 'हिंसाऽनृतादयः' का अर्थ है-अनृतप्रधानक-हिंसाप्रभृतिकार्य।

अन्य लोगों का कहना है- कि जैसे [3]मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय तथा केवल, ज्ञान के इन पांच भेदों में मति और श्रुत में अवधि आदि उत्तरनिर्दिष्ट तीन ज्ञानों की अपेक्षा प्रथम निर्देशगम्य आद्यत्व को ले कर 'आद्ये परोक्षम्' इस सूत्र में उन्हें परोक्ष कहने के लिये आद्यशब्द से उन दोनों का उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार 'हिंसाऽनृतादयः' में यह कहा जा सकता है कि अदत्तादान, अब्रह्म और परिग्रह इन उत्तर निर्दिष्ट तीनों की अपेक्षा हिंसा व अनृत ये दो आद्य होनेसे आदि शब्द से पूर्व में अनृत का उल्लेख किया गया है और आद्यत्वहेतुक अनुमान से उसमें प्राधान्य का बोध होता है।

हिंसा, अनृत आदि कर्मों के प्रतिज्ञाबद्ध अत्याग को पाँच अविरति कहा जाता है। अविरति का अर्थ है-हिंसादि की सतत अपेक्षा की विश्रान्ति न हो। इससे पापात्मक अशुभकर्मबन्ध की भी विरति-विश्रान्ति नहीं होती है। निरन्तर नये नये पापकर्मों का बन्ध होता रहता है। हिंसा, अनृत आदि का जहाँ तक प्रतिज्ञाबद्ध त्याग नहीं है वहाँ तक, भले हिंसादि का आचरण न भी हो, तो भी पापात्मक कर्मों की परम्परा बनती रहती है, उसकी विरति नहीं होती है। इसीलिये प्रतिज्ञाबद्ध त्याग नहीं किये ये पांचों कर्म अविरतिरूप माने जाते हैं।

१. सामिजीवादत्तं तित्थयर-अदत्तं तहेव गुरुहिं। एवं अदत्तं चउहा पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥ अति-
२. मुच्छा परिग्गहो वुत्तो-उत्तराध्ययन सूत्र। ३. द्रष्टव्य 'तत्त्वार्थ० १।९"। [चार सूत्र

'तत्त्वाऽश्रद्धान' शब्द में 'तत्त्वस्य अश्रद्धानं यस्मात्-जिसके प्रभाव से तत्त्व के विषय में अश्रद्धान का उदय हो'-इस अर्थ में बहुव्रीहि समास है। तत्त्वशब्दका अर्थ है वस्तु का वह सर्वज्ञदृष्ट-सर्वज्ञकथित पदार्थस्वरूप जिससे उसकी स्थिति है। 'अश्रद्धान' का अर्थ है अन्यथास्वीकार, मिथ्यामान्यता, जिस रूप से जिस वस्तु की स्थिति नहीं है उस रूप से उस वस्तु को मानना-स्वीकारना। इसप्रकार का अश्रद्धान जिससे उत्पन्न हो वही बहुव्रीहि समास द्वारा 'तत्त्वाऽश्रद्धान' शब्द का अर्थ है, और वह है 'मिथ्यात्व'-आत्मगत चिरन्तन मिथ्या भाव मिथ्यावासना, जिससे भ्रान्तियों का जन्म होता है।

कारिका में आये 'एव' शब्दका अर्थ है, प्रसिद्धि और 'च' शब्दका अर्थ है 'पुनः'। इन दोनों का अन्वय है तत्त्वाश्रद्धान-मिथ्यात्व के साथ।

'क्रोधादयः' में आदि शब्द से मान, माया और लोभ का ग्रहण अभिमत है। ये चार 'कषाय' कहे जाते हैं। 'इति' शब्द का अर्थ है "इतना-अमुकसंख्यक"।

[1]योग धर्म और अधर्म दोनों के साधारण कारण हैं अतः अधर्म के विशेष कारणों में उसकी गणना नहीं की गयी है। [2]विषय, [3]प्रमाद, [4]आर्त्तध्यान, [5]रौद्रध्यान, आदि भी यद्यपि अधर्म के कारण हैं तथापि उनका पृथक उल्लेख इसलिये नहीं किया गया कि उनका अन्तर्भाव अधर्म के उक्त कारणों में ही हो जाती है अतः अधर्म के कारिकोक्त कारणों को एक नियत संख्या में निर्दिष्ट करने में कोई असंगति नहीं है।

अथवा 'इति' शब्द का 'इतना-अमुकसंख्यक' अर्थ न करके 'इस प्रकार' अर्थ करना चाहिये, इस अर्थ के अनुसार कारिका में बताये गये अधर्म के कारण उसके अन्य कारणों के उपलक्षण हो जाते है। और अन्य कारणों का होना इन कारणों के उल्लेख में बाधक नहीं हो सकता, और अन्य कारणों का उल्लेख न होने से ग्रन्थ में न कोई न्यूनता ही हो सकती है।

पाप शब्द का अर्थ है-अशुभकर्म और हेतु शब्द का अर्थ है-कारण। पूरी कारिका का अभिप्राय यह है -

१. काया, वाक् और मन की चेष्टायें। ये शुभ-अशुभ दो प्रकार की होती है। शुभ योग धर्म का व अशुभयोग अधर्म का कारण बनता है।

२. शब्दादि विषयों की आसक्ति, जो पञ्चविध प्रमाद में मुख्य है।

३. भ्रम-अज्ञान विस्मृति-संशयादि-प्रमाद है-(द्रष्टव्य 'तत्त्वार्थ' सिद्धसेनीय टीका)

४. अनिष्ट सम्पर्क के परिहार या अनागमन की चिन्ता, उपस्थित रोग के प्रतिकार की चिन्ता; इष्ट वस्तु की सुरक्षा या प्राप्ति की चिन्ता, अप्राप्त इष्ट वस्तु की प्राप्ति की चिन्ता, यह चतुर्विध चिन्ता ही 'आर्त्त-ध्यान' है, द्रष्टव्य "तत्त्वार्थ० ३।३१ से ३४"।

५. हिंसा, असत्य, चोरी या विषयरक्षण के सम्बन्ध में होने वाली एकाग्र रौद्रचिन्ता का नाम है 'रौद्र-ध्यान' द्रष्टव्य "तत्त्वार्थ० ३।३६"

६. 'विषय' इन्द्रियविषयों की आसक्तिरूप है इसका अविरति में समावेश होता है। 'प्रमाद' मद्यादिका अविरति व कषाय में अन्तर्भाव होता है। 'आर्त्त-रौद्रध्यान' अशुभ एकाग्र मनोयोग रूप हैं, वे राग-द्वेषमूलक व रागद्वेषमिश्रित होते है, अतः उनका समावेश कषाय में होता है।

मूलम्- विपरीतास्तु धर्मस्य एत एवोदिता बुधैः ।
एतेषु सततं यत्नः सम्यक् कार्यः सुखैषिणा ॥५॥

(व्या०) विपरीतास्तु—अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्माऽपरिग्रह–सम्यग्दर्शन-क्षान्ति-मार्दवा-ऽऽर्जवाऽनीहारूपाः, तुर्विशेषणे, एत एव बुधैरर्हद्वचनानुसारिगीतार्थैः, धर्मस्य गुणाः शुभाशयलक्षणस्य हेतव उदिताः । अत एतेषु, सततं=निरन्तरं सुखैषिणा=कल्याणकामेन सम्यग् विधिना, यत्नः कार्यः, सुखोपाये प्रवृत्तेरेव सुखोत्पत्तेः ।

हिंसा अनृत आदि पांच अविरतियाँ, तत्त्वभ्रान्तिका कारण मिथ्यात्व, तथा क्रोध आदि चार कषायरूप मनोविकार, ये तथा इस प्रकार के अन्यभाव अशुभ कर्म के कारण होते हैं । अशुभकर्म से बचने के लिये इन कारणों का परिहार आवश्यक है।

पूर्व कारिका में जिन कर्मों को अधर्म का हेतु कहा गया है, उन कर्मों के विरोधी कर्मों को जैसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह-अनासक्ति, सम्यग् दर्शन, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, निर्लोभता आदिको भगवान् अर्हन् के उपदेशानुसार अर्थतत्त्व की व्याख्या करने वाले विद्वानों ने शुभअध्यवसायरूप-परिणतिरूप धर्म का कारण बताया है । इसलिये अपने कल्याण की कामना करने वाले मनुष्य को शास्त्र में बतायी गयी विधि से धर्म के इन कारणों के सम्पादनार्थ सदैव प्रयत्नशील होना चाहिये, क्योंकि सुख के उपायों के प्रयत्न करने से ही सुख की प्राप्ति होती है।

ग्रन्थकार का आशय यह है कि- भगवान् तीर्थंकर ने जीवमात्र के हितार्थ कहे हुए वचनों के अनुसार गणधर शिष्यों ने आगमों की रचना की है। उन आगमों में हेय-उपादेय दो प्रकार के कर्मों का वर्णन है। हेय वे कर्म हैं, जिनके करने से अशुभअध्यवसाय रूप अधर्म, व पाप की उत्पत्ति होती है, और उससे मनुष्य को विविध दुःखों की प्राप्ति होती है । उनमें मुख्य कर्म हैं, हिंसा, असत्यभाषण, अदत्त वस्तु का ग्रहण, ब्रह्मचर्य का अभाव, आसक्ति, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, कपटपूर्ण व्यवहार (माया) और लोभ । आगमों में इन कर्मों को न करने का निर्देश दिया गया है। दूसरे उपादेय कर्म वे हैं जो अधर्म के उत्पादक उक्त कर्मों के विरोधी हैं, जैसे अहिंसा, सत्य आदि । इन में अहिंसा का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि हिंसा न की जाय, किन्तु इसका अर्थ है ऐसे समिति गुप्तिपालन आदि कर्मों को करना जिससे हिंसा का मार्ग बन्द हो, क्योंकि हिंसा का त्याग करने से हिंसा मूलक पाप से मुक्ति और उस पाप से होने वाले दुःख की अनुत्पत्ति मात्र का तो लाभ होगा, पर हिंसा का त्याग कर देने मात्र से दुःखाभाव के अलावा कोई उपार्जन न होगा, फलतः मनुष्य को कल्याणकर्म की उपलब्धि न हो सकेगी । मनुष्य को केवल इतना ही आवश्यक नहीं कि उसे अशुभ अध्यवसाय न हो किन्तु उसके साथ यह भी आवश्यक है कि उसे शुभ अध्यवसायकी प्राप्ति हो । अतः दुःखकर अशुभ अध्यवसाय से मुक्ति पानेके लिये उसे जिस प्रकार दुःखद अशुभ अध्यवसाय के प्रेरक पापकर्मों का परित्याग आवश्यक है उसी प्रकार शुभ अध्यवसाय की प्राप्ति के लिये उसे समिति-गुप्ति आदि कर्मों का अनुष्ठान भी आवश्यक है । इसी तथ्यको दृष्टि में

स्वभावतः सुखदुःखेच्छाद्वेषवतामपि प्राणिनां सुखोपाये धर्मेऽनिच्छा, दुःखोपाये चाऽधर्म एवेच्छा खलु मोहमहाराजनिदेशविलसितम्, तदुक्तम्—

"धर्मस्य फलमिच्छन्ति धर्मं नेच्छन्ति मानवाः ।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति सादराः" ॥इति॥

उक्तहेतुषु प्रवृत्त्या च अहिंसादिनाऽविरतेः, सम्यग्दर्शनेन च मिथ्यात्वस्य, क्षमादिना च क्रोधादीनां निवृत्तेस्तन्मूलकदुःखविरहादनिवारितः सुखाऽवकाशः ।

रख कर प्रस्तुत कारिका में अधर्म के कारण हिंसा आदिके अभाव को धर्म का कारण न कह कर 'विपरीतास्तु' शब्द से हिंसा आदि के विरोधी कर्मों को धर्म का कारण बताते हुये उनके लिये सतत प्रयत्नशील होनेकी प्रेरणा दी गयी है ।

प्राणी को सुख की इच्छा और दुःख के प्रति द्वेष का होना स्वाभाविक है । यदि किसी व्यक्ति से यह पूछा जाय कि वह सुख की कामना क्यों करता है, तो उसके पास इस बात को छोड़कर दूसरा कोई उत्तर नहीं है कि सुख का स्वरूप ही ऐसा है कि वह ज्ञात होने मात्र से ही काम्य हो जाता है । इसीलिये सुखनिष्ठविषयता सम्बन्ध से इच्छा के प्रति सुखनिष्ठविषयता सम्बन्ध से ज्ञान को कारण माना जाता है । इसी प्रकार किसी व्यक्ति से यदि यह प्रश्न किया जाय कि वह दुःख से द्वेष क्यों करता है तो वह इस बात को छोड़कर दूसरा कोई उत्तर नहीं दे सकता कि दुःख का स्वरूप ही ऐसा है कि वह ज्ञात होते ही त्याज्य प्रतीत होने लगता है । इसीलिये दुःखनिष्ठ विषयता सम्बन्ध से द्वेष के प्रति दुःखनिष्ठविषयता सम्बन्ध से ज्ञान को कारण माना जाता है ।

सुख और दुःख के स्वभावतः काम्य और द्वेष्य होने से उचित यह है कि सुख के उपायभूत धर्मकार्यों में मनुष्य की रुचि हो और दुःख के उपायभूत अधर्मकार्यों में उसकी अरुचि हो, पर ऐसा न होकर, होता है इसके विपरीत, धर्मकार्यों में होती है मनुष्य की अरुचि और अधर्मकार्यों में होती है उसकी रुचि । ऐसा क्यों होता है ? यह होता है इसलिये कि मनुष्य मोहवश अधर्मकार्यों को सुख का साधन और धर्मकार्यों को दुःख का साधन समझने लगता है । सुख और दुःख के साधनों के सम्बन्ध में यह विपरीत बुद्धि जिस मोह के कारण होती है, उसी का नाम है मिथ्यात्व । और यह है आत्मा के वास्तव स्वरूप का विस्मरण हो कर अनात्मा में आत्मबुद्धि का होना । इस प्रकार धर्मकार्यों में अरुचि तथा अधर्मकार्यों में रुचि का होना व्याख्याकार के कथन के अनुसार मोहमहाराज के आदेश का प्रतिफल है, जिसकी पुष्टि में उन्होंने इस आशय की एक प्राचीन कारिका उद्धृत की है कि 'मनुष्य धर्म का फल तो चाहते हैं पर धर्म करना नहीं चाहते, और पाप का फल नहीं चाहते, पर पापकर्म बड़े आदर से करते हैं' ।

व्याख्याकार का कहना है 'कि-धर्म के अहिंसा आदि उक्त कारणों के लिये प्रयत्नशील होने से अहिंसा आदि अविरतियों की, सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व की व क्षमा आदि से क्रोध आदि की निवृत्ति होती है । फलतः हिंसा आदि से होने वाले दुःखों

"अहिंसया क्षमया क्रोधस्य, ब्रह्मचर्येण वस्तुविचारेण कामस्य, अस्तेया-ऽपरिग्रहरूपेण सन्तोषेण लोभस्य, सत्येन यथार्थज्ञानरूपेण विवेकेन मोहस्य, तन्मूलानां च सर्वेषां निवृत्तिः" इति तु पातञ्जलमतानुसारिणः । तदेदं विभावनीयम्—अहिंसादिना मूलगुणघातिक्रोधादिनिवृत्तावपि संज्वलनादिरूपक्रोधादिनिवृत्तिः क्षमाद्युत्तरगुणसाम्राज्यादेव ॥५॥

की उत्पत्ति न होने से सुख की उत्पत्ति का द्वार खुल जाता है। कहने का आशय यह है कि अधर्मकार्यों का अनुष्ठान होते रहने पर पहले तो धर्मकार्यों का अनुष्ठान ही नहीं हो पाता, और यदि होता भी है तो उनसे विशुद्ध सुख का उदय नहीं हो पाता। अतः विशुद्ध सुख के उदय को निष्प्रतिबन्ध बनाने के लिये यह आवश्यक है कि अधर्मकारणों का त्याग और धर्मकारणों का सेवन सावधानी और श्रम के साथ किया जाय।

'पातञ्जलमत का अनुसरण करने वाले बुध जनों का कहना है कि-क्रोध काम लोभ और मोह ये चारों दुःख और दुष्कर्म के द्वार हैं। उनका मूल है मोह-मिथ्याज्ञान-आत्मभ्रान्ति। अतः दुःख और दुष्कर्मों से मुक्ति पाने के लिये इन चारों का निराकरण आवश्यक है, इन में क्रोध की निवृत्ति अहिंसा और क्षमा से, काम की निवृत्ति ब्रह्मचर्य और वस्तु-विचार से, लोभ की निवृत्ति अस्तेय और अपरिग्रहरूप सन्तोष से, तथा मोह की निवृत्ति सत्य और यथार्थज्ञानरूप विवेक से करनी चाहिये। क्रोध आदि की निवृत्ति हो जाने पर तन्मूलक दुःख और दुष्कर्मों की निवृत्ति अनायास हो जाती है।

व्याख्याकारने इस कथन पर अपनी विमति प्रकट की है। उनका आशय यह है कि क्रोध, काम, लोभ और मोह के दो रूप हैं-एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। जैनपरिभाषानुसार स्थूल क्रोधादि (१) अनन्तानुबन्धी, (२) अप्रत्याख्यानीय व (३) प्रत्याख्यानावरणीय कोटि के होते हैं। विवेक सम्यक्त्व व संयम से हीन संसारासक्त मनुष्यों पर स्थूल-क्रोधादि का आक्रमण होता है, और उनसे उनके अहिंसादि मूलगुणों का सर्वथा विघात होता है। सर्वथा अहिंसादि मूलगुण वाले संयमी और विवेकी मनुष्यों पर स्थूल-क्रोधादि का आक्रमण नहीं हो पाता पर सूक्ष्मक्रोधादि से वे भी आक्रान्त होते रहते हैं, स्थूलक्रोधादि से अप्रभावित होने के कारण वे अपने मूलगुणों की हानि से तो बचे रहते हैं पर सूक्ष्मक्रोधादि के कारण उनको आध्यात्मिक उन्नतिविशेष में अन्तराय होता रहता है जिसके फलस्वरूप परमकल्याणमय सम्पूर्ण वीतराग अवस्था की उपलब्धि में बाधा पहुँचती रहती है। इसलिये स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार से क्रोधादि की निवृत्ति अपेक्षणीय है। अहिंसा आदि से स्थूल क्रोधादि की निवृत्ति तो हो सकती है, पर सूक्ष्म क्रोधादि, जिन्हें जैनशास्त्रों में 'संज्वलन कषाय' शब्द से अभिहित किया गया है,-की निवृत्ति क्षमा आदि उदात्त गुणों के संवर्धन से ही सम्पन्न की जा सकती है। अतः जैनशास्त्रों का यह मत ही मान्य है कि अहिंसा आदि से हिंसादि अविरतियों की, सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व की, एवं क्षमा आदि सद्गुणों से क्रोधादि दुर्गुणों की निवृत्ति कर तन्मूलक दुःखों की उत्पत्ति का निरोध करने से ही कल्याणोदय का द्वार उद्घाटित होता है।

---

१. पतञ्जलि ऋषि प्रणीत योगदर्शन के सिद्धांतों को पातञ्जलमत के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

(स्या०) अहिंसादिसम्पत्तिनिमित्तमेवाह–साध्विति—

मूलम्— साधुसेवा सदा भक्त्या मैत्री सत्त्वेषु भावतः ।
आत्मीयग्रहमोक्षश्च धर्महेतुप्रसाधनम् ॥६॥

सदा–सर्वकालम्, भक्त्या–बहुमानेन, साधुसेवा–ज्ञानादिगुणवृद्धोपासना, भावतो–निश्चयतः, सत्त्वेषु प्राणिषु, मैत्री–प्रत्युपकारनिरपेक्षा प्रीतिः । आत्मीयग्रहस्य–ममत्वपरिणामस्य मोक्षः–परित्यागो यस्माद्, बाह्यसङ्गत्याग इत्यर्थः । स च धर्महेतूनामहिंसादीनां प्रकृष्टं–फलायोगव्यवच्छिन्नं साधनम्; अत्र 'प्रसाधनम्' इत्येकवचनेन स्वेतरसकलकारणनियतत्वं व्यज्यते ॥६॥

इस कारिका में धर्म के अहिंसा आदि हेतुओं के सम्पादन का निमित्त बताया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

धर्मकामी मनुष्यों को ये तीन कार्य सदा करने चाहिये, (१) साधुजनों की भक्तिपूर्वक सेवा, (२) सभी प्राणियों के साथ भावपूर्वक प्रत्युपकार निरपेक्ष प्रीति, और (३) बाह्यसङ्ग का परित्याग । साधुजन का अर्थ है 'ज्ञानादिगुणवृद्ध'–ज्ञानादि से अधिक ज्ञान आदि सद्गुणों से सम्पन्न पुरुष; और उनकी सेवा का अर्थ है उनके सम्पर्क में आना, उनके उपदेश सुनना और उनके उपदेशों को जीवन में उतारने का प्रयत्न करना । यह तभी सम्भव है जब सेवाकारी में वैसे पुरुषों के प्रति भक्ति हो, सम्मान की भावना हो और उनके साथ सदैव सम्पर्क बनाये रहने की कामना हो । भावपूर्वक प्रत्युपकारनिरपेक्ष प्रीति का अर्थ है प्राणियों के साथ ऐसा प्रेम, जिसमें प्रत्युपकार की कुछ भी अपेक्षा न हो और उसे स्थिर रखने का दृढ़ निश्चय हो । इसके लिये आवश्यक है कि अपने स्वार्थभङ्ग को न देखकर प्राणियों से प्रेम करना, उनके कल्याण की कामना रखना, उनके प्रति वैर विरोध व हिंसा की भावना न रखना मनुष्य का स्वभाव बन जाय । कारिका के 'आत्मीयग्रहमोक्ष' शब्द का अर्थ है वह कार्य, जिससे आत्मीयग्रह से–अर्थात् ममत्व बुद्धि के बन्धन से; मुक्ति हो सके । वह है, बाह्यसङ्ग का परित्याग । बाह्यसङ्ग के परित्याग का अर्थ है सांसारिक विषयों में सुखसाधनता की बुद्धि और तन्मूलक विषयासक्ति का परित्याग ।

उक्त तीनों कार्यों में बाह्यसङ्गत्याग का सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि वह धर्म के अहिंसा आदि हेतुओं का एकमात्र प्रकृष्ट साधन है । 'प्रकृष्ट साधन' का अर्थ है वह साधन जिसमें फल का अयोग कभी न हो, जिसके उपस्थित होने पर फलोदय अनिवार्य हो, ऐसा साधन वही हो सकता है जो फल के अन्य सभी साधनों से युक्त हो, जिसके उपस्थित हो जाने पर फिर किसी अन्य साधन की उपस्थिति अपेक्षणीय न रह जाय । यही बात 'प्रसाधन' शब्द के उत्तर एक वचन विभक्ति के प्रयोग से व्यक्त की गयी है । बाह्यसङ्ग का त्याग धर्महेतुओं का ऐसा ही साधक है जिसके सिद्ध हो जाने पर अहिंसा आदि हेतु अनायास सम्पन्न हो जाते हैं ।

साधुसेवाव्यापारमाह 'उपे'ति—

मूलम्——उपदेशः शुभो नित्यं, दर्शनं धर्मचारिणाम् ।
स्थाने विनय, इत्येतत् साधुसेवाफलं महत् ॥७॥

नित्यं–निरन्तरं, शुभो–निःश्रेयसाऽभ्युदयहेतुः, उपदेशो–मौनीन्द्रप्रवचनप्रतिपादनरूपः । भवजलधियानपात्रप्रायः खल्वयम् । अस्य श्रवणमात्रादेव समीहितसिद्धेः, सुतरां च तदर्थज्ञानात् । तथा धर्मचारिणामुद्यतविहारपरायणानां साधूनां, दर्शनं–मुखारविन्दावलोकनम् , एतदपि परमबोधिलाभहेतुः, ततः क्लिष्टकर्मविगमात् । तथा, स्थाने–शास्त्रोक्तस्थले, विनयः करशिरःसंयोगविशेषाद्यभिव्यङ्ग्यो मानसः परिणामविशेषः । इत्येतत् साधुसेवाफलं महद् धर्माङ्गसाधनम्, उपदेशादिना चारित्रप्रतिबन्धककर्मक्षयोपशमादिना चारित्रधर्माऽवाप्तेः ॥७॥

इस कारिका में साधुसेवा का वह व्यापार बताया गया है जिसके द्वारा साधुसेवा से धर्म हेतुओं का सम्पादन होता है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

साधुसेवा के ये तीन महान फल हैं—(१) निरन्तर शुभ उपदेश की प्राप्ति, (२) धर्म के लिये विहरणशील साधु पुरुषों का दर्शन और (३) उचित स्थान के प्रति मन में नम्रभावना का उदय । (१) शुभ उपदेश का अर्थ है वह उपदेश जिससे मुख्यरूप से निःश्रेयस–परमकल्याण–मोक्ष की ओर गौण रूप से अभ्युदय–स्वर्ग-सुख की प्राप्ति हो । उपदेश का अर्थ है, मुनीन्द्र तीर्थंकर भगवान के प्रवचनों की व्याख्या, न कि आगम-निरपेक्ष मनमाने ढंग का शिक्षण, क्योंकि ऐसे शिक्षण से तात्कालिक कुछ लौकिक लाभ भले हो जाय, पर उससे निःश्रेयस अथवा अभ्युदय की प्राप्ति नहीं होती । आगमानुसारी उपदेश ही यथार्थ उपदेश है, वही संसारसागर को पार कराने वाला जलयान–जहाज है, उस उपदेश के सुनने मात्र से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है, उसके अर्थज्ञान से अभीष्ट की सिद्धि होने में तो सन्देह और विलम्ब होने की तो कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती ।(२) धर्मचारी साधुपुरुषों के दर्शन का अर्थ है-ऐसे पुरुषों के मुखारविन्द का अवलोकन, जो अपने संयम की रक्षा के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार करते रहते हैं, इससे जनता को धर्मलाभ देने के निमित्त उद्यत रहते हैं । ऐसे पुरुषों के दर्शन से क्लिष्ट कर्मों की निवृत्ति हो कर परमबोधि सम्यग्दर्शन के उदय में सहायता मिलती है । (३) उचित स्थान में विनय का अर्थ है उन स्थानों के प्रति मन में ऐसे भाव का उदय जिसे विनय, नम्रता आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है और करशिरःसंयोग आदि बाह्य प्रणामों से जिसकी अभिव्यक्ति होती है । मन में ऐसे भाव का उदय उन्हीं व्यक्तियों और स्थानों के प्रति होना चाहिये जिन्हें आगमों में ऐसे भावोत्पादन के लिए योग्य बताया गया है । साधुसेवा के इन फलों को महान् कहा गया है क्योंकि इनसे धर्महेतुओं का सम्पादन होता है, उपदेश आदि से चारित्र के विरोधी

१ उदितकर्मों का क्षय व उदयाभिमुख कर्मों का उपशम–फलतः जिसमें उन कर्मों का विपाकोदय स्थगित हो जाता है ।

मैत्रीव्यापारमाह मैत्रीमिति—

मूलम् मैत्रीं भावयतो नित्यं शुभो भावः प्रजायते ।
ततो भावोदकाज्जन्तोर्द्वेषाग्निरुपशाम्यति ॥८॥

मैत्रीमुक्तलक्षणां,नित्यं=सर्वकालं,भावयतोऽभ्यस्यतः,शुभः प्रशस्तः, भावः साम्यलक्षणो जायते,यमन्ये 'प्रशान्तवाहिता'[1] इत्याचक्षते । ततस्तस्मात् भावरूपादुदकात्, द्वेषलक्षणोऽग्निः उपशाम्यति समूलमुपयाति क्षयम् । एवं च शुद्धोपयोगलक्षणधर्मे[2] साम्यद्वेषोपशमद्वारा मैत्र्युपयुज्यत इति फलितम् ॥८॥

आत्मीयग्रहमोक्षव्यापारमाह 'अशेषे'ति—

मूलम्–अशेषदोषजननी निःशेषगुणघातिनी ।
आत्मीयग्रहमोक्षेण तृष्णाऽपि विनिवर्तते ॥९॥

अशेषाणां दोषाणां हिंसाऽनृतादीनां जननीव जनकेव । गुणानां तत्त्वं ज्ञान-

---

कर्मों का क्षयोपशम–विपाकोदयनिरोध होने से चारित्रधर्म की प्राप्ति होती है ॥७॥

इस कारिका में मैत्री का वह व्यापार बताया गया है जिसके द्वारा मैत्री से धर्महेतुओं का सम्पादन होता है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

मैत्री, जिसे प्रत्युपकार निरपेक्ष प्रीति के रूप में लक्षित किया गया है, उसके निरन्तर अभ्यास से प्रशस्त भाव का=सर्व समत्व भावना का उदय होता है. जब मनुष्य प्राणीमात्र से, बदले में कुछ चाहे बिना, विशुद्ध प्रेम करने लगता है तब समस्त प्राणियों में आत्मसाम्य की पवित्र भावना का उसके मन में उदय होता है, जिसके फलस्वरूप जिस प्रकार अपने प्रति उसका प्रेम निस्सीम और निःस्वार्थ होता है उसी प्रकार अन्य सभी प्राणियों के प्रति भी उसका प्रेम निस्सीम और निःस्वार्थ हो जाता है । इस साम्यभाव को अन्य विद्वानों ने 'प्रशान्तवाहिता' की संज्ञा प्रदान की है । समस्त प्राणियों में आत्मसाम्य का यह प्रशस्तभाव द्वेष रूपी अग्नि के लिये जल के समान है । क्योंकि मनुष्य जब सभी प्राणियों को अपने जैसा मानने लगता है तब जैसे अपने प्रति उसके मन में कोई द्वेष नहीं होता उसी प्रकार अन्यों के प्रति भी उसके मन में किसी प्रकार का द्वेष नहीं उत्पन्न होता है । आत्मसाम्य की भावना द्वेष के मूलभूत वैषम्यभावना को मिटा देती है । इस प्रकार मैत्री साम्य और द्वेषोपशम के द्वारा शुद्धोपयोगरूप अर्थात् रागादि से अकलङ्कित-ज्ञानोपयोग यानी विशुद्ध चित्तपरिणाम–आत्मपरिणति स्वरूप धर्म को सम्पन्न करने में सहायक होती है ॥८॥

इस कारिका में आत्मीयग्रहमोक्ष–बाह्यसङ्गत्याग का वह व्यापार बताया गया है जिसके द्वारा बाह्यसङ्गत्याग से धर्महेतुओं का सम्पादन होता है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

---

१. तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् । यो. सू. ३–१० । २. द्रष्टव्य–षोडशक (३–२) टीका 'चित्तं धर्मः' ।

दोषाणामवश्यम्भावात्; तदुक्तम्–"लोभमूलानि पापानि" इति, तथा निःशेषाणां गुणानामुपशमादीनां घातिनी, सतां विनाशात्, असतां चोत्पत्तिप्रतिबन्धात् । आत्मीयग्रहमोक्षेण=बाह्यसङ्गत्यागेन, तृष्णाऽपि=लोभवासनाऽपि, विनिवर्त्तते विषयसङ्गरूपोद्बोधकाभावादनुत्थानोपहता सती प्रतिपक्षपरिणामाभ्यासेन क्षीयत इति यावत् ॥ ॥

अतिदेशमाह 'एवमि'ति–

एवं गुणगणोपेतो विशुद्धात्मा स्थिराशयः ।
तत्त्वविद्भिः समाख्यातः, सम्यग् धर्मस्य साधकः ॥१०॥

एवंप्रकारैर्गुणगणैरुपेतः = सहितः, विशुद्धात्माऽत्यन्तापायहेतुकुग्रहमलरहितः, स्थिरचित्तो नास्तिक्यानुपहतोचितसाध्यवसायः, तत्त्वविद्भिः, सम्यग् = आगमोक्तविधिना, धर्मस्य साधको–धर्महेतुनिर्वाहाधिकारी, समाख्यातः, एवं विधस्याऽऽदित एव मार्गानुसारिप्रवृत्त्युपलम्भात्, तदर्थमेवादिकर्मविध्युपदेशाच्च ।

तृष्णा यह अहिंसा, अनृत आदि सम्पूर्ण दोषों की माता के समान है, क्योंकि उस के रहने पर समस्त दोषों की उत्पत्ति अनिवार्य है, जैसे कहा गया है कि–"लोभ सभी पापों का मूल है।" लोभ–तृष्णा यह उपशम आदि सभी गुणों का विघात करती है, क्योंकि उससे विद्यमान गुणों का नाश और भावी गुणों की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध होता है। बाह्यसङ्ग का परित्याग करने से इस तृष्णा की– लोभ वासना की निवृत्ति होती है। विषयसङ्ग ही तृष्णा का उद्बोधक है, उसका अभाव होने पर तृष्णा का उत्थान नहीं हो पाता और वह [1]प्रतिपक्ष परिणाम, यानी तृष्णा का प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी चित्तपरिणति–निरीहता परिणति के अभ्यास से क्षीण होती है। इस प्रकार बाह्यसङ्ग का परित्याग, तृष्णा की निवृत्ति के द्वारा, धर्महेतुओं के सम्पादन में सहायक होता है ॥९॥

इस प्रकार साधु सेवा, सर्वभूतमैत्री, बाह्यसङ्गत्याग आदि जिन गुणों की चर्चा पूर्वकारिकाओं में की गयी है, । दसवीं कारिका में उन गुणों का धर्महेतुओं की साधना में अतिदेश किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

जो मनुष्य इस प्रकार साधुसेवा आदि जैसे गुणगणों से युक्त होता है, उसकी आत्मा निर्मल हो जाती है, अर्थात् अतिशय अनर्थ के हेतुभूत कुत्सितमान्यतात्मक मल से नितान्त मुक्त हो जाती है, उसके चित्त में स्थिरता आ जाती है। उसके धर्मानुकूल निश्चयों का नास्तिक्य की भावना से अभिभव नहीं हो पाता। तत्त्ववेत्ता पुरुषों के कथनानुसार ऐसा मनुष्य ही आगमोक्तविधि से धर्म की साधना कर सकता है। वही धर्म के अहिंसा आदि हेतुओं का निर्वाह करने के लिये अधिकृत होता है, क्योंकि ऐसे मनुष्य में आरम्भ से ही मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली प्रवृत्ति देखी जाती है और उस प्रवृत्ति के लिये ही आगमों में आदिधार्मिक के कर्तव्यों के अनुष्ठान का उपदेश भी है।

---

१. द्रष्टव्य–पातञ्जलसूत्र–वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥२-३३॥

तदुक्तं- 'ललितविस्तरायां' ग्रन्थकृतैव—

"तत्सिद्ध्यर्थं तु यतितव्यमादिकर्मणि, परिहर्तव्योऽकल्याणमित्रयोगः, सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि, न लङ्घनीयोचितस्थितिः, अपेक्षितव्यो लोकमार्गः, माननीया गुरुसंहतिः, भवितव्यमेतत्तन्त्रेण, प्रवर्त्तितव्यं दानादौ, कर्तव्योदारपूजा भगवताम्, निरूपणीयः साधुविशेषः, श्रोतव्यं विधिना धर्मशास्त्रम् , भावनीयं महायत्नेन, प्रवर्त्तितव्यं विधानतः, अवलम्बनीयं धैर्यम्, पर्यालोचनीयाऽऽयतिः, अवलोकनीयो मृत्युः, भवितव्यं परलोकप्रधानेन, सेवितव्यो गुरुजनः, कर्तव्यं योगपट्टदर्शनम्, स्थापनीयं तद्रूपादि च चेतसि, निरूपयितव्या धारणा, परिहर्तव्यो विक्षेपमार्गः, यतितव्यं योगसिद्धौ, कारयितव्या भगवत्प्रतिमा, लेखनीयं भुवनेश्वरवचनम्, कर्तव्यो मङ्गलजापः, प्रतिपत्तव्यं चतुःशरणम्, गर्हितव्यानि दुष्कृतानि, अनुमोदनीयं कुशलम्, पूजनीया मन्त्रदेवता, श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि, भावनीयमौदार्यम्, वर्तितव्यमुत्तमज्ञातेन" इति ।

कहने का आशय है कि जिस मनुष्य को साधुजनों की सेवा का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता उसे संसारसागर को पार करने के उपायों का उपदेश नहीं मिल पाता। धर्मलाभ देने वाले मुनिजनों का दर्शन न हो सकने से उसके क्लिष्ट कर्म उस पर घेरा डाले रहते हैं। परमात्मा, गुरु, तीर्थ, मन्दिर, धर्मग्रन्थ आदि के प्रति उसके मन में श्रद्धा का उदय नहीं हो पाता। इसी प्रकार जिस मनुष्य के हृदय में अन्य प्राणियों के प्रति निःस्वार्थ प्रेम का उदय नहीं होता, वह द्वेष की आग से निरन्तर दग्ध होता रहता है, उसके मन में अन्य प्राणियों के प्रति आत्मसाम्य की भावना नहीं उत्पन्न हो पाती। वह शुद्धोपयोगरूप धर्म का अधिकारी नहीं हो पाता। इसी प्रकार जो मनुष्य बाह्यसङ्ग का त्याग नहीं करता उसकी तृष्णा (लोभवासना) सदा तरुण बनी रहती है और अपनी पूर्ति के लिये मनुष्य को हिंसा आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त करती रहती है। फलतः साधुसेवा आदि गुणों से हीन मनुष्य अहिंसा आदि के पालन की क्षमता नहीं प्राप्त कर पाता, अतः अहिंसा आदि धर्म हेतुओं को आयत्त करने के लिये यह परमावश्यक है कि मनुष्य साधुसेवा सर्वजीवमैत्री और बाह्यसङ्गत्याग जैसे सद्गुणों से अपने आपको सम्पन्न करे।

(आदिधार्मिक के अनुष्ठान)

'ललितविस्तरा' ग्रन्थ में इसी ग्रन्थकार श्रीहरिभद्रसूरि महाराज ने स्वयं यह बात कही है कि-"मोक्षमार्ग की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति हो, इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये उसे आदिधार्मिक के कर्मों के अनुष्ठान के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। जिन मित्रों का साथ आत्मकल्याण में बाधक हो उन मित्रों का साथ छोड़ देना चाहिये। जो मित्र आत्मकल्याण में सहायक हो उनका सम्पर्क करना चाहिये। उचित स्थिति-आजीविकादि व्यवहार में औचित्य का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। लोकमर्यादा का आदर करना चाहिये। गुरुजनों का सम्मान करना चाहिये। गुरुजनों की अधीनता स्वीकार करनी

'नानिवृत्ताऽधिकारायां प्रकृतावेवम्भूताः' इति कापिलाः । 'नाऽनवाप्तभवविपाके' इति च सौगताः । 'अपुनर्बन्धकस्तत्त्वेवंभूतः' इत्यार्हताः । न चापुनर्बन्धकस्याधिकारिविशेषणस्याऽनिश्चये प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति शङ्कनीयम्, अशाठ्यपूर्वकैतत्प्रयत्नेनैव तन्निश्चयात् । तदुक्तम्–'भग्नोऽप्येतद्यत्नलिङ्गोऽपुनर्बन्धकः', इति तं प्रत्युपदेशसाफल्यमिति । आदित एतत्प्रयत्न एवास्य कथं, इति चेत् ? अविरुद्धकुलाचारादि-परिपालनार्थितया इति गृहाण । अत एव 'सम्यग्दर्शनादिजन्यविवेकाभावादनाभोगतोऽपि "सदन्ध०" न्यायेन मार्गाऽऽगमनमेवास्य' इति वदन्ति । विभावनीयं चेदं "सुप्तमण्डितप्रबोधदर्शन०" न्यायेनेति दिक् ॥१०॥

चाहिये । दान आदि सत्कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिये । भगवान् परमात्मा की उदार पूजा करनी चाहिये । सच्चे चारित्र पात्र साधु की जाँच कर उनका परिचय प्राप्त करना चाहिये । विधिपूर्वक धर्मशास्त्र का श्रवण करना चाहिये । बड़े यत्न से उससे आत्मा को भावित करना चाहिये । यहाँ भावना मात्र चिन्तनरूप नहीं है किन्तु मृगमद से वस्त्र की तरह आत्मा को शास्त्रबोध से भावित=वासित करने रूप है । शास्त्र-विधान के अनुसार प्रवृत्तिशील होना चाहिये । आपत्ति में व्याकुल न हो धैर्य धारण करना चाहिये । भविष्य का विचार करना चाहिये । मृत्यु का ध्यान रखना चाहिये । मुख्यरूप से परलोक पर दृष्टि रखनी चाहिये । गुरुजनों की सेवा करनी चाहिये । जप ध्यान करने योग्य योगपट्ट का बारंबार दर्शन करना चाहिये । दर्शन द्वारा उसके रूप आकृति मंत्राक्षर आदि को चित्त में स्थापित-स्थिर कर देना चाहिए । चित्त में इनकी ठीक धारणा हुई या नहीं इसका निरिक्षण करना चाहिए । धारणा में विक्षेप करे ऐसे बाह्यभाव का (या जिस मार्ग पर चलने से धर्म में विक्षेप हो उसका) त्याग कर देना चाहिये । (धारणा अखंड सिद्ध होने पर ध्यान-धर्म) योग की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए । (योगसाधना में परमसाधनभूत वीतराग) भगवान की प्रतिमा बनवानी चाहिए । त्रिभुवनपति के वचन लिखाने चाहिए । मङ्गलमय (परमेष्ठि-मन्त्रादि) मन्त्रों का जप करना चाहिये । (अरिहंत-सिद्ध-साधु-सर्वज्ञोक्त धर्म इन चारके शरण) चारशरणों को प्रतिपत्ति करनी चाहिए । स्वकीय पूर्वजन्मीय व ऐहिक राग द्वेष-मोहमूलक विचार-वाणी-वर्तन रूप दुष्कृत्यों की निन्दा-भर्त्सना करनी चाहिए । महापुरुषों के कुशलकर्म यानी सुकृतों का अनुमोदन करना चाहिए । मन्त्रदेवता की पूजा करनी चाहिए । उत्तमचरित्रों का श्रवण करना चाहिए । उत्तम पुरुषों के दृष्टान्त के अनुसार वर्तन करना चाहिये ।'

(मुक्तिमार्ग प्राप्ति की योग्यता)

कपिलमुनि के सांख्यसिद्धान्त को मानने वाले मनीषियों का मत है कि जब तक प्रकृति का संसारोत्पादक प्रयत्न समाप्त नहीं होता तब तक प्रकृति के साथ अविविक्त-

---

१ विशेष विवरण के लिये देखिये पू० पं. भानुविजय (अधुना आचार्य श्री भुवनभानुसूरि) महाराज कृत 'ललितविस्तरा' का विवेचन ।

भावापन्न पुरुष मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख नहीं हो पाते। सुगत-बुद्ध के उपदेशों का अनुसरण करने वाले विद्वानों का कहना है कि जब तक संसारावर्जक कर्मों का परिपाक नहीं हो जाता तब तक मनुष्य मोक्षमार्ग की दिशा में पदन्यास नहीं कर पाता। भगवान जिनेश्वर के श्रेष्ठ शासन को शिरोधार्य करने वाले महनीय मुनिजनों की मान्यता है कि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति अब फिर से न बांधने वाले अर्थात् अपुनर्बन्धक मनुष्य ही मोक्षमार्ग का पथिक होने के लिए प्रयत्नशील होता है।

(अपुनर्बन्धक दशा-निश्चय के उपाय)

जैनों की इस मान्यता पर यह शङ्का हो सकती है कि 'यदि ऐसी उत्कृष्टकर्मस्थिति की अपुर्बन्धक दशा वाला मनुष्य ही मोक्षमार्ग पर चलने के लिए अधिकृत माना जाएगा तो वैसी उत्कृष्ट कर्मस्थिति की बन्धक-अबन्धक दशा तो अतीन्द्रिय होने के कारण इस का निश्चय न हो सकने से मोक्षमार्ग का पथिक होने में मनुष्य की प्रवृत्ति न हो सकेगी;-पर यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि शठता का परित्याग कर शास्त्रवर्णित ऐसी दशा के योग्य उक्त कर्मों में प्रयत्न देखने से ही अपुनर्बन्धक दशा का निश्चय हो जायगा, जैसे कहा गया है कि 'जिसका सम्यग्दर्शन गुण भग्न हो गया है ऐसी व्यक्ति भी अपुनर्बन्धक है अगर वह उन मोक्षमार्गानुसारी कर्मों में प्रयत्नवान है।' अपुनर्बन्धकता ऐसे प्रयत्नरूप लिङ्ग से अवगत की जा सकती है। अपुनर्बन्धक मनुष्य के लिए ही ललितविस्तरा के उपदेशों की सार्थकता है।

अपनी योग्यता समझे बिना मनुष्य उक्त कर्मों के लिए प्रयत्नशील ही कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मनुष्य आरम्भ में अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी समझकर उक्तकर्मों में प्रवृत्त नहीं होता किन्तु अपने कुलाचार आदि का परिपालन करने की भावना से प्रवृत्त होता है। वे कुलाचार अगर मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख करने वाले उक्त कर्मों के विरोधी नहीं होते तो उनके परिपालन में लगा हुआ मनुष्य उक्त कर्मों में भी निष्ठावान और प्रयत्नशील हो जाता है और फिर उस प्रयत्न से वह अपनी अपुनर्बन्धकता का निश्चय कर अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी समझने लगता है और अन्ततः मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है।

इसी लिये विद्वज्जनों का कहना है कि 'जिस मनुष्य को सम्यग दर्शन आदि के द्वारा आवश्यक विवेक प्राप्त नहीं है, मोक्षमार्ग की जानकारी और मोक्षमार्ग में अभिरुचि होने पर भी वह कुशल अन्धे के समान अभीष्ट मार्ग को ग्रहण कर लेता है।' यह बात 'सुप्तमण्डित-प्रबोधदर्शन०' न्याय से ज्ञात की जाती है। जैसे सोते हुये मनुष्य को मण्डनों से अलंकृत करने पर उस समय उसे उस बात की जानकारी नहीं हो पाती, पर सो कर उठने के बाद वह अपने को मण्डनों से अलंकृत देखता है। उसी प्रकार कुलाचार के परिपालन में लगा मनुष्य अपने को मोक्षानुकूल कर्मों में लगा नहीं समझता, पर उन कर्मों से अविरुद्ध कुलाचार के परिपालन में लगे रहने पर जब अनजान में ही मोक्षानुकूल कर्मों के प्रति श्रद्धावान हो तदर्थ प्रयत्नशील होने लगता है तब उसे अपनी अपुनर्बन्धकता और मोक्षाभिरुचि का परिज्ञान हो जाता है, और वास्तव में मोक्षमार्ग का यात्री बन जाता है ॥१०॥

ननु सुखार्थितानियता प्रेक्षावत्प्रवृत्तिर्धर्मे एवेति कुतो नियम्यते, स्रक्-चन्दनाङ्गनाभाषणादीनामपि सुखोपायत्वात् तत्रापि प्रवृत्तेर्न्यायप्राप्तत्वाद् ? अत आह 'उपादेयश्चे'ति–

मूलम्-उपादेयश्च संसारे धर्म एव बुधैः सदा ।
विशुद्धो मुक्तये, सर्वं यतोऽन्यद् दुःखकारणम् ॥११॥

उपादेयश्च=ग्राह्यश्च, बुधैर्ज्ञाततत्त्वैः, सदा=दुःखद्भोगादिकालव्यवच्छेदेन, मुक्तये=मोक्षार्थं, विशुद्धो=निरतिचारः, धर्म एव, यतोऽन्यद्=धर्मभिन्नं सर्वं स्रक्चन्दनाङ्गनालिङ्गनादिकं, दुःखसाधनं=नरकाद्यनुबन्धि । इत्थं च न तत्र प्रवृत्तिर्न्यायप्राप्तेत्यवधारणौचित्यम् । न खल्विष्टसाधनताज्ञानमात्रं प्रवृत्तिहेतुः, मधुविषसम्पृक्तान्नभोजनेऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात्; किन्तु बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताज्ञानम् । न च तथात्वं शृङ्गारादिविषयाणामिति ।

प्रश्न हो सकता है कि- 'यह ठीक है कि प्रेक्षावान् पुरुषोंकी प्रवृत्ति सुख के लिये होती है, पर वह प्रवृत्ति धर्म में ही होनी चाहिये इस प्रकार का नियन्त्रण उचित नहीं है, क्यों कि माला, चन्दन, व नवसुन्दरी के साथ सम्भाषण आदि अन्य भी सुख के साधन विद्यमान हैं, अतः उनमें भी सुखार्थी की प्रवृत्ति न्यायप्राप्त है ।' इसी प्रश्न का इस मूल कारिका में उत्तर दिया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

तत्त्वज्ञ पुरुषों को दुःखप्रद भोग एवं प्रमाद में काल गमाना छोडकर सभी काल में मुक्तिलाभ के लिये विशुद्ध धर्म का ही सेवन करना चाहिये, क्योंकि धर्म से भिन्न माला, चन्दन, सुन्दरी का आलिङ्गन आदि जो कुछ सांसारिक विषय है वह सब नरक आदि दुःखों का कारण है, अतः दुःखकारणों में सुखार्थी की प्रवृत्ति न्यायप्राप्त न होने से धर्म में ही सुखार्थी की प्रवृत्ति का नियमन उचित है । यदि यह शङ्का की जाय कि- "संसार के विषय दुःख के कारण भले हों, किन्तु जब ये सुख के भी कारण हैं तब उनमें सुखार्थी की प्रवृत्ति तो न्यायप्राप्त है ही"- पर यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति के प्रति केवल इष्टसाधनता का ही अर्थात् "यह मेरे इष्टका साधन है" इतना ही ज्ञान कारण नहीं है अपि तु बलवान् अनिष्ट की असाधनता का भी अर्थात् 'यह मेरे लिये बलवान अनिष्ट का साधन नहीं है'-ऐसा भी ज्ञान कारण है, इसी लिये मधु और विष से मिले अन्न के भोजन में क्षुधा की निवृत्तिरूप इष्ट की साधनता का ज्ञान होने पर भी मृत्युरूप बलवान अनिष्ट की असाधनता का ज्ञान न होने से उस अन्न के भोजन में क्षुधा से पीडित मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती, तो जिस प्रकार मधु एवं विष से मिले अन्न के भोजन से क्षुधा की निवृत्ति सम्भव होने पर भी बलवान अनिष्टरूप मृत्यु के भय से उस भोजन में मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती है उसी प्रकार संसार के शृङ्गार आदि विषयों से सुख की प्राप्ति सम्भव होने पर भी उनके सेवन से होने वाले नरकादि महान दुःखों के भय से उन में सुखार्थी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

[१]नन्वेवमविरतसम्यग्दृशां कथं निषिद्धकर्मणि प्रवृत्तिः? रागान्धतया तज्जन्यदुःखे बलवत्त्वाऽप्रतिसन्धानादिति चेत्! न, तत्र बलवत्त्वस्य निषेधविधिनैव बोधात्। न्यूनदुःखजनकत्वज्ञानस्याप्यलसप्रवृत्तिप्रतिबन्धित्ववद् बलवद्दुःखानुबन्धित्वज्ञानस्यापि रागान्धप्रवृत्तावप्रतिबन्धित्वाद् न दोषः, इत्यपि न सम्यग्, दुःखमात्रभीरोरलसस्य प्रवृत्तिफलेच्छाया एवानुदयादप्रवृत्त्युपपत्तेः। अत्र च रागान्धस्य द्वेषानुदयेऽपि विसामग्रीवशादेव प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

(अविरतसम्यग्दृष्टि–निषिद्धकर्म–प्रवृत्तिकारणताविचार–पूर्वपक्ष)

इष्टसाधनता के ज्ञानमात्र को प्रवृत्ति का कारण न मानकर बलवान् अनिष्ट की असाधनता के ज्ञान को भी प्रवृत्ति का कारण मानने पर यह प्रश्न होता है कि—निषिद्धकर्म बलवान अनिष्ट के साधक होते हैं; अतः उनमें बलवान अनिष्ट की असाधनता का का ज्ञान न हो सकने से सम्यग्दृष्टिपुरुषों की उनमें प्रवृत्ति न हो सकेगी,—जब कि हिंसा आदि की अविरति से ले कर अप्रमत्त अवस्था न हो तब तक सम्यग्दृष्टिपुरुषों की भी निषिद्ध-कर्मों में प्रवृत्ति का होना निर्विवाद दृष्ट है। यदि यह कहा जाय कि-'सम्यग्दृष्टि पुरुष भी अविरति से मुक्ति न पाने तक राग से ग्रस्त होते हैं, अतः रागान्धतावश उन्हें निषिद्धकर्मों से होने वाले दुःख में बलवत्त्व का ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिये निषिद्ध-कर्मों में बलवान अनिष्ट की असाधनता का ज्ञान सम्भवित होने से उन कर्मों में सम्यग्दृष्टि पुरुषों की प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं हो सकती'– तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के कारण शास्त्रश्रद्धावश निषिद्धकर्मों से होने वाले दुःख में निषेध बोधक शास्त्र से बलवत्त्व का ज्ञान हो ही जाता है, वह होने में रागान्धता बाधक नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि -'आलसी मनुष्य की प्रवृत्ति में तो न्यूनदुःखजनकत्व का भी ज्ञान प्रतिबन्धक होता है, किन्तु रागान्ध मनुष्य की प्रवृत्ति में बलवान दुःख के जनकत्व का भी ज्ञान उसकी रागान्धता के कारण प्रतिबन्धक नहीं होता, अतः सम्यग्दृष्टि पुरुष को निषिद्धकर्म में बलवान दुःख के जनकत्व का ज्ञान होने पर भी उसमें उसकी रागाधीन प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि आलसी मनुष्य और रागान्ध सम्यग्दृष्टि मनुष्य दोनों की प्रवृत्तियों में एक ही बाधक है, और वह है प्रवृत्ति की कारणसामग्री का अभाव; अन्तर केवल इतना ही है कि आलसी मनुष्य दुःख मात्र से डरता है और प्रत्येक प्रवृत्ति में कुछ न कुछ दुःख अवश्य होता है, अतः प्रवृत्ति से प्राप्त होने वाले फल में दुःखपूर्वकत्व का ज्ञान होने से उस फल के प्रति उसके मन में द्वेष उत्पन्न हो जाने से उसे उस फल की इच्छा ही नहीं होती। इस लिये प्रवृत्ति के फलेच्छारूप कारण का ही अभाव होने की वजह प्रवृत्ति की कारणसामग्री का अभाव हो जाने से न्यूनदुःखजनक कर्म में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि रागान्ध पुरुष होता है उसे निषिद्धकर्म में प्रवृत्ति होने पर उपलब्ध होने वाले तात्कालिक इष्ट

१—यहां से ले कर 'इति चेद्? सत्यम्' (पृष्ठ ६५) यहां तक पूर्वपक्ष है।

अथ प्रवृत्ताविष्टसाधनताज्ञानमेव हेतुः, न तु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानमपि, फले उत्कटेच्छाविरहविशिष्टदुःखजनकत्वज्ञानं च प्रवृत्तिप्रतिबन्धकम्, इति न मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने प्रवृत्तिः, अलसस्य च यदि फलेच्छाऽस्ति तदा दुःखद्वेषादपकृष्टा समा वा, न तूत्कटा, इति प्रतिबन्धकसाम्राज्याद् न तस्य प्रवृत्तिः, रागान्धानां च पारदार्यादिफले उत्कटेच्छासत्त्वात् तत्र प्रवृत्तिरिति चेत् ? न, तथापि निषेधविधिसामर्थ्याद् दुःखेऽत्युत्कटताविज्ञानस्य प्रवृत्तिफले उत्कटेच्छाविघातकतया प्रकृतानुपपत्तेः ।

फल के प्रति रागातिशय होने के कारण उस फल के प्रति द्वेष न होने से उसे उस फल की इच्छा तो होती है, पर उस फल के जनक निषिद्धकर्म में शास्त्र से बलवान दुःख के जनकत्व का ज्ञान होने के कारण उसमें उसे बलवान अनिष्ट की असाधनता का ज्ञान नहीं हो पाता, अतः जैसे फलेच्छारूप कारण के अभाव से प्रवृत्ति सामग्री का अभाव होने के कारण आलसी मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती उसी प्रकार बलवदनिष्टाजनकत्व-ज्ञानरूप कारण का अभाव होने से प्रवृत्ति सामग्री का अभाव होने के कारण निषिद्ध-कर्म में रागान्ध पुरुष की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । अतः आलसी मनुष्य और रागान्ध-मनुष्य में यह भेद करना कि- 'आलसी मनुष्य की प्रवृत्ति में न्यूनदुःखजनकत्व का ज्ञान भी प्रतिबन्धक है, अतः न्यूनदुःखजनककर्म में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती और रागान्ध पुरुष की प्रवृत्ति में बलवान दुःख के जनकत्व का भी ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होता अतः निषिद्धकर्म में उसकी रागाधीन प्रवृत्ति हो सकती है'-वह ठीक नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि—"प्रवृत्ति के प्रति केवल इष्ट साधनता का ज्ञान ही कारण है, बलवान अनिष्ट के अजनकत्व का ज्ञान कारण नहीं है; किन्तु प्रवृत्ति में दुःखजनकत्व का ज्ञान प्रतिबन्धक एवं प्रवृत्तिफल की उत्कटेच्छा उत्तेजक है, अर्थात् प्रवृत्ति के प्रति प्रवृत्तिफल की उत्कट इच्छा के अभाव से विशिष्ट दुःखजनकत्व का ज्ञान प्रतिबन्धक है । मधु और विष से मिले अन्न के भोजन में भोजनार्थी को मृत्युदुःख के जनकत्व का ज्ञान होता है, जिससे उसे उस भोजन से होने वाले क्षुधानिवृत्तिरूप फल की उत्कट इच्छा का अभाव रहता है, इसलिये उक्त प्रतिबन्धक वश उस भोजन में मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती। आलसी मनुष्य को प्रत्येक प्रवृत्तिफल में दुःखपूर्वकत्व का ज्ञान होने से प्रवृत्तिफल के प्रति द्वेष हो जाने से प्रवृत्तिफल की इच्छा ही नहीं होती और यदि होती भी है तो प्रवृत्ति-लग्न दुःख के प्रति उसके मन में जो द्वेष है, प्रवृत्ति फल की इच्छा उस द्वेष से या तो कम होती है या समान होती है, उससे उत्कट नहीं होती, अतः प्रवृत्तिफल की उत्कट इच्छा का अभाव तथा प्रवृत्ति के विषयभूत कर्म में दुःखजनकत्व का ज्ञान होने से प्रतिबन्धकवश आलसी मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती । पर रागान्ध मनुष्य को परस्त्रीगमन आदि निषिद्धकर्मों से होने वाले तात्कालिक सुख की उत्कट इच्छा होती है, अतः निषिद्धकर्म में शास्त्र से बलवान दुःख के जनकत्व का ज्ञान होने पर भी फल की उत्कटेच्छा का अभाव न होने से प्रतिबन्धक का सन्निधान न होने के कारण निषिद्ध-कर्म में सम्यग्दृष्टि रागान्ध पुरुष की प्रवृत्ति हो सकती है"—

एतेन 'प्रवृत्तौ समानविशेष्यतया बलवद्द्वेषस्यैव कार्यसहभावेन प्रतिबन्धकत्वादलसस्य स्वल्पदुःखजनकेऽपि बलवद्द्वेषाद् न प्रवृत्तिः, रागान्धस्य च बहुदुःखजनकेऽपि तद्विरहात् प्रवृत्तिः' इत्यपास्तम्, निषिद्धे बलवद्द्वेषस्याप्यावश्यकत्वाद्, अन्यथा विषभक्षणादावपि तदुपपत्तेः—

इति चेत् ? सत्यम्, मोहप्राबल्यदोषमहिम्नैव पारदार्यादिफलेच्छाविघातस्य तत्र बलवद्द्वेषस्य चानुदयाद् रागान्धप्रवृत्त्युपपत्तेः।

तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि निषेधबोधक शास्त्र से निषिद्धकर्म से होने वाले दुःख में अत्यन्त उत्कटता का ज्ञान होने से उस कर्म में प्रवृत्त होने से प्राप्त होने वाले तात्कालिकफल को उत्कट इच्छा का विघात हो जाता है। अतः निषिद्धकर्म में प्रवृत्त होने से प्राप्त होने वाले फल में उत्कट इच्छा का अभाव और उक्त कर्म में दुःखजनकत्व का ज्ञान दोनों के होने से प्रतिबन्धक का सन्निधान होने के कारण निषिद्ध कर्म में सम्यग्दृष्टि रागान्ध पुरुष की प्रवृत्ति का होना असम्भव है। किन्तु प्रवृत्ति होती तो है, तो कैसे होती है इसका उपपादन ऐसे तो नहीं हो सकता।

कोई लोक ऐसी कल्पना करते है—'प्रवृत्ति और बलवान् द्वेषका समानविशेष्यक होना अर्थात् जिसमें प्रवृत्ति है उसमें बलवान् द्वेष का होना अनुभवविरुद्ध है, अतः इस प्रकार के प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना होती है कि-'विशेष्यता सम्बन्ध से प्रवृत्ति के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से बलवान् द्वेष प्रतिबन्धक है। बलवान् द्वेष का अर्थ है विजातीय द्वेष, अतः गुणात्मक द्वेष बल का आश्रय न होने पर भी उसे बलवान् कहने में कोई अनौचित्य नहीं है। यह द्वेष प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक होता है कार्यकाल में=प्रवृत्ति की सम्भावित उत्पत्ति के काल में ही विद्यमान हो कर। यदि वह कार्य के पूर्वकाल में विद्यमान हो कर ही प्रतिबन्धक माना जायगा तब जब कोई मनुष्य विषमिश्र अन्न को अनजान में खाने को प्रवृत्त होता देख कर उस समय किसी आप्त व्यक्ति के वचन से उसे अन्न में विषमिश्रण के कारण मृत्युदुःख की जनकता का ज्ञान होगा तो भी उस अन्न के भोजन में उस मनुष्य की प्रवृत्ति की आपत्ति होगी, क्यों कि उक्तज्ञानकाल में प्रवृत्ति का विरोधी द्वेष उत्पन्न नहीं है, वह तो उत्पन्न होगा उस ज्ञान के अगले क्षण में, अतः पूर्वक्षण में प्रतिबन्धक के न होने से द्वेष के उत्पत्ति क्षण में प्रवृत्ति के होने में कोई बाधा न होगी। और जब वह कार्यकाल में विद्यमान हो कर प्रतिबन्धक माना जायगा तो उसे कार्य के पूर्वकाल में रहने की आवश्यकता न होगी, किन्तु जिस काल में प्रवृत्ति की उत्पत्ति सम्भावित है उस काल में भी उपस्थित होने पर वह प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध कर सकेगा, अतः द्वेष के उत्पत्ति क्षण में प्रवृत्ति की आपत्ति न होगी।

प्रवृत्ति के प्रति बलवान् द्वेष को उक्तरीति से प्रतिबन्धक मानने पर दोनों बातें उपपन्न हो सकेंगी, जैसे स्वल्पदुःखजनक कर्म में भी आलसी पुरुष को बलवान् द्वेष होने

तदुक्तम् - "जाणिज्जइ चिन्तिज्जइ जम्म-जरा-मरणसंभवं दुक्खम् ।
न य विसयेसु विरज्जइ, अहो, ! सुबद्धो कवडगंठी ॥१॥ इति ।

शास्त्रबोधितं दुःखबलवत्त्वमेव वा कर्मोदयदोषेणाऽपोद्यत इति । अधिकमस्मत्कृत-'अध्यात्ममतपरीक्षायाम्' ।

नन्वेवमेतादृशकर्मणः शास्त्रेणाऽनपनयात् तद्वैफल्यमिति चेत् ? न, अनिकाचितस्य तस्य शास्त्राभ्यासनिवर्त्तनीयत्वादिति दिक् ॥११॥

के कारण उस कर्म में भी उसकी प्रवृत्ति न होगी, जब कि प्रचुर दुःख के जनक कर्म में भी रागान्ध पुरुष को बलवान् द्वेष न होने से उस कर्म में उसकी प्रवृत्ति होगी ।"

यह कल्पना भी स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि निषिद्धकर्म में बलवान् द्वेष की उत्पत्ति अनिवार्य है, अन्यथा क्षुधा से पिड़ित मनुष्य को विषमिश्र अन्न के भोजन में भी बलवान द्वेष की उत्पत्ति न होने से क्षुधा की निवृत्ति के लिए उस अन्न के भोजन में भी प्रवृत्ति अनिवार्य हो जायगी ।

इन सभी विचारों से यह फलित होता है कि प्रवृत्ति के प्रति केवल इष्टसाधनता का ज्ञान मात्र ही कारण नहीं है किन्तु बलवान् अनिष्ट की असाधनता का ज्ञान भी कारण है, शास्त्र से निषिद्धकर्म में बलवान अनिष्ट की साधनता का ज्ञान होने से उस में बलवान् अनिष्ट की असाधनता का ज्ञान नहीं हो सकता अतः अपेक्षित सभी कारणों का सन्निधान न होने से निषिद्ध कर्म में सम्यग्दृष्टि अविरतपुरुष की प्रवृत्ति का उपपादन अशक्य है ।

(अविरतसम्यग्दृष्टि-निषिद्धकर्म-प्रवृत्तिकारणताविचार-उत्तरपक्ष)

इस के उत्तर में व्याख्याकार का कहना है कि-प्रवृत्ति के प्रति इष्टसाधनता का ज्ञान मात्र ही कारण है, बलवान् अनिष्ट की असाधनता का ज्ञान कारण नहीं है, किन्तु प्रवृत्ति फल की उत्कट इच्छा का अभाव होने पर दुःखजनकत्व का ज्ञान अथवा प्रवृत्ति के विषयभूत कर्म के प्रति प्रवर्तनेच्छु पुरुष का बलवान् द्वेष प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक है। विषमिश्र अन्न के भोजन में बलवान् दुःख के जनकत्व का ज्ञान होने से उससे होने वाले क्षुधानिवृत्तिरूप फल की इच्छा का विघात हो जाता है अथवा उस भोजन में बलवान् द्वेष का उदय हो जाता है, अतः प्रतिबन्धक-वश उस भोजन में क्षुधार्त्त मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती । सम्यग्दृष्टि अविरत पुरुष को मोह की प्रबलतारूप दोष के कारण निषिद्ध कर्म से प्राप्तव्य फल के प्रति अनिच्छा अथवा उस कर्म में बलवान् द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती अतः प्रतिबन्धक की उपस्थिति न होने से उस कर्म में उसकी प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं होती। सम्यग्दृष्टि पुरुष का निषिद्ध कर्म से वैमुख्य तभी होता है जब सम्यग्दर्शन के साथ हिंसादि अविरति का त्याग होने पर उसके अविरति स्वरूप प्रबल मोह की निवृत्ति हो जाती है ।

कहा गया है कि-"मनुष्य में कपट की गाँठ इतनी दृढ़ता से बंधी है, उसका मोह

---

१. ज्ञायते चिन्त्यते जन्मजरामरणसंभवं दुःखम् । न च विषयेषु विरज्यतेऽहो! सुबद्धः कपटग्रन्थिः ॥

यदुक्तम् 'अन्यत्सर्वं दुःखकारणमिति', तदेव विवेचयति 'अनित्य' इति—

मूलम् —अनित्यः प्रियसंयोग इहेर्ष्याशोकवत्सलः ।
अनित्यं यौवनं चापि कुत्सिताऽऽचरणास्पदम् ॥१२॥
अनित्याः सम्पदस्तीव्रक्लेशवर्गसमुद्भवाः ।
अनित्यं जीवितं चेह सर्वभावनिबन्धनम् ॥१३॥

'इह'=संसारे, ईर्ष्या—प्रतिपक्षाभ्युदयजनितो मत्सरविशेषः । तदत्ययादिचिन्ता-प्रभवो दुःखभेदः—शोकः, तौ वत्सलाववश्योपनतकारणौ यत्र तादृशः प्रियसंयोगो=वल्लभ-समागमः, अनित्यः—स्वप्नसमागतकामिनीविलासवत् पर्यन्तविनश्वरप्रकृतिः । एतेन पूर्वं

इतना प्रबल है, कि वह जन्म, जरा और मृत्यु के दुःख को जानता है, उसकी चिन्ता भी करता है, किन्तु आश्चर्य है कि वह संसार के विषयों से विरक्त नहीं हो पाता।''

यह भी कल्पना की जा सकती है कि निषिद्धकर्म से होने वाले शास्त्रकथित दुःख में जो बलवत्ता होती है, 'कर्मोदयदोष के कारण उसका बाध हो जाता है, निषिद्धकर्मजन्य दुःख में रहा बलवत्त्व कर्मोदय दोष से उसे लगता नहीं । वह दुःख सामान्यदुःखरूप लगता है, बलवद् दुःखरूप नहीं । और बलवद्दुःखजनकता का ज्ञान ही इष्टसाधनताज्ञानाधीन प्रवृत्ति में प्रतिबंधक होता है. अतः वहाँ प्रतिबन्धक का अभाव हो जाने से निषिद्धकर्म में प्रवृत्त होता है । इस प्रकार प्रवृत्ति के प्रति बलवान दुःख की असाधनता के ज्ञान को कारण मानने पर भी निषिद्धकर्म में सम्यग्दर्शी अविरत पुरुष की प्रवृत्ति का होना सहज है । व्याख्याकार का संकेत है कि इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी के लिये उनके 'अध्यात्ममतपरीक्षा' ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिये ।

शंका होती है कि—'ऐसे कुत्सित कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति पर रोक लगाने में शास्त्र यदि असमर्थ है तो शास्त्र की रचना, उसका अध्ययन और उसका अभ्यास निष्फल है,''—इसका उत्तर यह है कि निकाचित कर्मों के उदय से होने वाली निषिद्ध-कर्मों में प्रवृत्ति रोकने में शास्त्र असमर्थ होने पर भी, अनिकाचित कर्मों के उदय से होने वाले निषिद्ध कर्मों के परिहार के लिये उसकी उपादेयता होने के कारण उसकी रचना, उसका अध्ययन और उसके अभ्यास की सार्थकता निर्बाध है । क्योंकि शास्त्र-बोध के द्वारा जनित शुभभाव से अनिकाचित कर्मों का विपाकोदय स्थगित होने पर मात्र प्रदेशोदय से कर्म का नाश हो जाता है । इसलिए तत्कर्म विपाकरूप मोह नहीं उठता, फलतः निषिद्ध कर्म में प्रवृत्ति रुक जाती है ॥११॥

११वीं कारिका में धर्म से भिन्न वस्तुमात्र को दुःख का कारण कहा गया है, इन कारिकाओं में उसका विवेचन किया गया है । कारिकाओं का अर्थ इस प्रकार है—

२. कर्मोदय का तात्पर्य उस प्रबल अविरति प्रेरक निकाचित कर्म के विपाक में है जिससे बाध्य होकर मनुष्य को निषिद्ध कर्म करना पड़ता है । उसे दोष इसलिये कहा जाता है कि उससे निषिद्ध कर्म में प्रवृत्ति के प्रतिबन्धक का विघटन होता है । 'निकाचित' की व्याख्या के लिये देखिए पृ० २५ की टिप्पण (१),

पश्चाच्च दुःखानुबन्धित्वं प्रियसंयोगस्योक्तम् । यौवनमपि=कुसुमशरमित्रं वयोऽपि,–कुत्सिता-चरणस्य=कामक्रीडादिगर्हिताचारस्यास्पदं=मूलभूतम्, अनित्यं च ॥१२॥

तथा—तीव्रो=दुःसहो यः क्लेशवर्गो=निशितशरप्रयोगपरायणकिराताऽऽक्रान्तविकट-कान्तारगमन–प्रतिकूलपवनसमुच्छलद्बहलजलपरिक्षुब्ध–जलधियानपात्रारोहण–प्रकृतिभीषणराजसेवादिजन्यः, ततः समुद्भव उत्पत्तिर्यासामेतादृश्यः सम्पदोऽनित्याः=विद्युद्विलसितवदकस्मात् नश्वराः । तथा, इह=जगति, सर्वभावनिबन्धनं=सकलव्यवहारकारणम्, जीवितं चानित्यम् ॥१३॥

इदमैहिकं दुःखमुक्तम्, अथाऽऽमुष्मिकं तदाह 'पुनरि'ति–

मूलम्—पुनर्जन्म पुनर्मृत्युर्हीनादिस्थानसंश्रयः ।

पुनः पुनश्च यदतः सुखमत्र न विद्यते ॥१४॥

पुनरेतज्जन्मापेक्षयाऽग्रिमं जन्म, बीजरूपस्य जन्मान्तरनिमित्तादृष्टस्य सत्त्वेऽङ्कुर-रूपस्य जन्मान्तरस्य प्रादुर्भावात् । तथा पुनर्जन्मनि सति पुनर्मृत्युः, जन्मनो मृत्युनान्तरीयकत्वात् । तथा प्रागुपात्तनीचैर्गोत्रादिकर्मविपाकात् पुनः पुनश्च=वारं वारं च, हीनादिस्थानाना-

---

संसार में सुखी रहने के लिये मनुष्य मुख्यरूप से चार वस्तु को चाहता है–प्रियसंयोग, यौवन, सम्पत्ति और जीवन । किन्तु ये चारों वस्तु मनुष्य के लिये दुःख का ही सर्जन करती हैं । प्रियसंयोग में ईर्ष्या और शोक सदा सन्निहित रहते हैं । विरोधी के उत्कर्ष को देख कर उसके प्रति ईर्ष्या होती है । प्रियजनों तथा इष्टवस्तु के विनाश की चिन्ता से शोक होता है। प्रियसंयोग स्वयं स्वप्न में प्राप्त कामिनी के प्रणयव्यापार के समान विनश्वर होता है । इस प्रकार ईर्ष्या, शोक और अनित्यता से ग्रस्त होने के कारण प्रियसंयोग प्राप्ति के पूर्व और प्राप्ति के बाद दोनों काल में दुःखमय होता है ।

यौवन पुष्पधन्वा-कामदेव का मित्र है । कामचेष्टा आदि निन्दनीय कर्मों का मूल तथा अस्थिर होने से वह भी दुःखमय है ॥१२॥

सम्पत्ति दुस्सह क्लेशों से अर्जित की जाती है । उसके लिये कभी ऐसे भयंकर जंगलों की यात्रा करनी पड़ती है जहाँ तीखे बाणों की वर्षा करने वाले जंगली जाति के लोग चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं । कभी विपरीत वायु को झंकारों से लहराते जलसमूह में डगमगाती जहाजों से समुद्र की यात्रा करनी पड़ती है और कभी अनेक प्रकार के संकटों से भरी भीषण राजसेवा आदि का शरण लेना पड़ता है । इतने विशाल क्लेशों से सम्पत्ति उपलब्ध होने पर भी बिजली की चमक के समान क्षणभङ्गुर होती है, किसी भी समय हाथ से बाहर हो सकती है ।

जीवन जो सभी व्यवहारों का आधार है, वह इतना दुर्बल है कि किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है । इस प्रकार मनुष्य का ऐहिक जीवन संकटों से भरा है, संसार का प्रत्येक विषय जीवों के लिये दुःखों का स्रोत है ॥१३॥

पूर्व दो कारिकाओं में मनुष्य के ऐहिक दुःख का विवेचन किया है, इस कारिका

मधमाऽधमतराऽधमतमादिजातीनां संश्रय–आश्रयणं, यद्–यस्मात्कारणात्, अतो हेतोः अत्र जगति सुखं प्रवृत्त्युपयोगि न विद्यते, व्यवहारतः प्रतिभासमानस्यापि सांसारिकस्य सुखस्य बहुतरदुःखानुविद्धत्वेन हेयत्वात्, निश्चयतस्तु कर्मोदयजनितत्वात् सुखशब्द-वाच्यतामेव नेदमास्कन्दति।

तदुक्तं 'विशेषावश्यके'—(एकादशगणधरवादे गाथा ३३–३४–३५)

"पुण्णफलं दुक्खं चिय कम्मोदयओ फलं व पावस्स।
नणु पावफले वि समं पच्चक्खविरोहिया चेवं॥
जत्तो च्चिय पच्चक्खं सोम्म ! सुहं णत्थि दुक्खमेवेदं।
तप्पडियारविभिण्णं तो पुण्णफलं ति दुक्खं ति॥
विसयसुहं दुक्खं चिय दुक्खपडियारओ तिगिच्छ व्व।
तं सुहमुवयाराओ ण य उवयारो विणा तच्चं॥इति॥

में उसके आमुष्मिक-वर्तमान जीवन के बाद के दुःख का प्रतिपादन किया जाता है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

मनुष्य का बार बार जन्म और बार बार मरण होता है, बार बार उसे हीन, हीनतर और हीनतम जातियों में जाना पड़ता है। इस लिये संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उसके लिये सुखप्रद हो, तथा जिसके लिये उसको प्रयत्नशील होना उचित हो।

पुनर्जन्म का अर्थ है–वर्त्तमान जन्म के बाद होने वाला जन्म। मनुष्य के इस पुनर्जन्म का होना तब तक अनिवार्य है जब तक मनुष्य का अदृष्ट यानो पूर्वजन्म में किये गये दुष्कर्मों से उत्पन्न कर्मों का संचयरूप जन्मान्तर का बीज विद्यमान है। अतः बीज के रहने पर जन्मान्तररूप अङ्कुर का होना आवश्यक है। पुनः मृत्यु का अर्थ है, वर्त्तमान जन्म में होने वाली मृत्यु के बाद होने वाले जन्म में होने वाली मृत्यु। पुनर्जन्म होने पर पुनर्मृत्यु का होना अवश्यंभावी है, क्योंकि प्रत्येक जन्म मृत्यु से व्याप्त होता है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' उत्पन्न होने पर मरना ध्रुव (निश्चित) है। पूर्वजन्म में संचित किये गये नीच गोत्र आदि कर्मों के फलोन्मुख होने पर मनुष्य को अपने पूर्वकर्मानुसार कभी हीन, कभी हीनतर और कभी हीनतम जाति में उत्पन्न होना पड़ता है; और यह क्रम मोक्ष लाभ न होने तक चलता रहता है। इन्हीं सब कारणों से संसार में ऐसा कोई सुख नहीं है जिसे मनुष्य की प्रवृत्ति का उद्देश्य बनाया जा सके। संसार में व्यवहारतः जिसे सुख समझा जाता है वह भी बहुतर दुःखों से ग्रस्त होने के कारण त्याज्य होता है। निश्चय दृष्टि से देखा जाय तो संसार में जिसे सुख कहा जाता है उसमें सुख शब्द से व्यवहृत होने की पात्रता ही नहीं होती, क्योंकि कर्मोदय से उत्पन्न होने के कारण वास्तव में वह भी दुःख ही है। यह अनुमान से सिद्ध करते हैं,—

(संसार के सुख दुःखरूप हैं)

'विशेषावश्यक–भाष्य' में कहा गया है कि—

"पाप के फल के समान पुण्य का फल भी कर्मोदय से उत्पन्न होने के कारण

अत एव व्यास–पतञ्जलिप्रभृतिभिरपि संसारे सुखाभाव एवोक्तः। गौतमेनापि चैकविंशतिदुःखमध्य एव सुखं परिगणितमिति। न च वस्तुभूतसुखप्रतिक्षेपाद् विपर्यासः, स्वाभाविकसुखविकाररूपयोर्द्वयोरेकपक्षनिक्षेपे विपर्यासाऽयोगादिति दिक् ॥१४॥

फलितमाह 'प्रकृत्ये'ति—

मूलम्–प्रकृत्याऽसुन्दरं ह्येवं संसारे सर्वमेव यत्।
अतोऽत्र वद, किं युक्ता क्वचिदास्था विवेकिनाम्? ॥१५॥

एवमुपदर्शितप्रकारेण, हि=निश्चितं, यद्=यस्मात्कारणात्, सर्वमेव प्रियसंयोगादिकं, संसारे=जगति, प्रकृत्या=स्वभावेन, असुन्दरं=बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वाभाववत् अतो

दुःखरूप ही है। यदि कर्मोदय से उत्पन्न होने पर भी पुण्य फल को दुःख रूप न माना जायगा, तो प्रत्यक्षविरोध होगा। पाप का फल सुख नहीं है यह प्रत्यक्ष है, अतः वह निस्सन्देह दुःख है। अतः कर्मोदय से जन्य होने के कारण, जैसे पाप का फल दुःख है उसी प्रकार पुण्य का फल भी दुःख ही है। पाप के फलभूत दुःख से पुण्य के फलभूत दुःख में अन्तर इतना ही है कि पुण्यफल में पापफल (दुःख)के प्रतिकार का मिश्रण है। जैसे कि भोजन से आनन्द मिला–वह क्या है? भूख के दुःख का प्रतिकार। अगर भूख ही न हो, तो भोजन आनन्द नहीं देता। सत्य यह है कि विषयसुख, जो पुण्य से प्राप्त होता है, वास्तव में दुःख ही है, किन्तु चिकित्सा के समान उससे पापजन्य दुःख का प्रतिकार होने से उसे उपचार से गौणी वृत्तिसे सुख कहा जाता है। अयथार्थ यथार्थ पर, एवं गौण मुख्य पर आश्रित होता है, अतः पुण्यफल में सुख के उपचार की उपपत्ति के लिये तथ्यभूत सुख का अस्तित्व (जो कि मोक्ष में है वह) माना जाता है। पर वह सुख वैषयिक न हो कर आत्मिक है और वह विशुद्ध धर्म के सेवन से प्राप्य है। अगर तथ्यभूत सुख न हो, तो औपचारिक सुख कैसे?"

पुण्यफल भी वास्तव में दुःखरूप ही है, इसीलिये व्यास, पतञ्जलि आदि वेदवादी ऋषियों ने भी संसार में सुखाभाव का ही प्रतिपादन किया है। न्यायसूत्रकार गौतम ने भी [1]इक्कीस दुःखों के मध्य में ही सुख की गणना है।

'पुण्यफल को दुःखरूप मानने पर वास्तवसुख का निषेध हो जाने से असंगति होगी' यह शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि पुण्य और पाप दोनों के फल स्वाभाविक सुख के विकार हैं, अतः दोनों को दुःखरूप एक पक्षमें डाल देने में कोइ असंगति नहीं है॥१४॥

'प्रकृत्याऽसुन्दरं'–इस कारिका में संसार के सम्पूर्ण वस्तु को दुःखमय बताने का फलितार्थ कहा गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

१–चक्षु आदि छह इन्द्रियाँ, रूप आदि छह विषय, इन्द्रियों से होने वाले विषयों के छह अनुभव, शरीर, दुःख और सुख ये इक्कीस गौतम के मतानुसार दुःखरूप है। इनमें दुःख मुख्य दुःख है, और अन्य बीस दुःख का साधन एवं दुःख से अनुविद्ध होने के कारण औपचारिक–गौण दुःख है। द्रष्टव्य–'न्यायसूत्र' पर उद्योतकर का वार्त्तिक–आरम्भ भाग।

हेतोः अत्र संसारे, वद इति शिष्यसंबोधनं व्यामोहादिदोषनिरासेनावधानार्थम्, किं क्वचित् प्रियसंयोगादौ, विवेकिनामिष्टसाधनत्वांशेऽभ्रान्तानाम् आस्था प्रवृत्त्यादिरूपा, तत्प्रवर्तकवचनप्रामाण्यप्रतिपत्तिरूपा वा 'युक्ता' ?, न युक्तेति काक्वर्थः ॥१५॥

अपवादमाह—'मुक्त्वे'ति—

मूलम्—मुक्त्वा धर्मं जगद्वन्द्यमकलङ्कं सनातनम्।
परार्थसाधकं धीरैः सेवितं शीलशालिभिः ॥१६॥

जगतां वन्द्यमिष्टसाधनत्वेन स्पृहणीयम्, अकलङ्कमैहिकाऽऽमुष्मिकदोषाननुबन्धिनं, सनातनं प्रवाहापेक्षयाऽनादिनिधनम्। अनेनाऽऽधुनिकत्वशङ्कानिरासः। परः प्रकृष्टो= मोक्षः, अर्थो=धनम्, उपलक्षणात् कामोऽपि गृह्यते, तत्साधकं तन्निबन्धनम्, अनेन चतुर्वर्गाभ्यर्हितत्वमुक्तम्। तथा, शीलशालिभिः काष्ठाप्राप्तब्रह्मचर्यैस्तीर्थकरादिभिः, सेवितमाचीर्णम्। अनेन सुसम्प्रदायायातत्वमुक्तम्। एतादृशधर्मं मुक्त्वाऽन्यत्रास्था नोचिता, धर्मे तूचितैव, दोषाऽभावादिति भावः ॥१६॥

उक्तरीति से यह सिद्ध है कि प्रियसंयोग आदि संसार की सारी वस्तु स्वभावतः असुन्दर है, कोई भी वस्तु बलवान् अनिष्टका अनुत्पादक होते हुये इष्ट का साधक नहीं है। संसार की वस्तु इष्टसाधक होती हुई भी बलवान अनिष्ट की उत्पादक होती है। अतः गुरु शिष्य के व्यामोह आदि दोष का निरास कर उसे सावधान करते हुये काकु (वक्र कथन) द्वारा उसको यह उपदेश देता है कि जिन्हें इष्टसाधनता आदि के विषय में भ्रम नहीं होता, वैसे विवेकी पुरुषों की संसार के प्रियसंयोग आदि किसी भी वस्तु में प्रवृत्ति रूप आस्था अथवा प्रवृत्तिसम्पादक वचन में प्रामाण्य की प्रतिपत्तिरूप आस्था का होना उचित नहीं है ॥१५॥

'मुक्त्वा धर्मं'...इस कारिका में, 'संसार की किसी भी वस्तु में विवेकी पुरुष की आस्था का होना अनुचित है,' इस बात का अपवाद बताया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

इष्ट का साधक होने के कारण धर्म जगत् के सभी मनुष्यों के लिये स्पृहणीय है। उसमें ऐहिक अथवा आमुष्मिक किसी प्रकार का कोई कलङ्क अर्थात् दोषजनकता नहीं है। उसके प्रवाह की उत्पत्ति तथा विनाश न होने से प्रवाह की दृष्टि से वह शाश्वत है, अतः 'धर्म तो आधुनिक है' ऐसी उसमें आधुनिक होने की शङ्का का कोई अवसर नहीं है। वह परार्थसाधक है, 'परार्थ' में 'पर' शब्द का अर्थ है प्रकृष्ट अर्थात् मोक्ष, 'अर्थ' शब्द का अर्थ है धन, वह काम का उपलक्षण है। अतः 'परार्थ' शब्द का अर्थ है मोक्ष-धन और काम। धर्म इन तीनों का साधक होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों वर्गों में सर्व श्रेष्ठ है। पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप शील से सम्पन्न तीर्थकर आदि धीरपुरुष द्वारा सेवित होने से वह धर्म प्रशस्त सम्प्रदाय द्वारा-शिष्ट पुरुषों की सम्मान्य परम्परा द्वारा प्राप्त है। अतः वह संसार की समस्त वस्तुओं में अपवाद है, इसलिये उस धर्म

पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते—आहेति—

मूलम् आह तत्रापि नो युक्ता, यदि सम्यङ् निरूप्यते ।
धर्मस्यापि शुभो यस्माद् बन्ध एव फलं मतः ॥१७॥

तत्रापि धर्मेऽपि, नो युक्ताऽऽस्था, यदि 'सम्यङ् निरूप्यते'सूक्ष्ममीक्ष्यते, यस्माद् हेतोः, धर्मस्यापि शुभः सातादिहेतुः, बन्ध एवाऽभिनवकर्मपुद्गलपरिग्रह एव, फलं मतः= इष्टः ॥१७॥

ननु किमेतावता, इष्टसाधनत्वस्यानपायात् ! अत आह नचेति

मूलम्— न चायसस्य बन्धस्य तथा हेममयस्य च ।
फले कश्चिद् विशेषोऽस्ति पारतन्त्र्याऽविशेषतः ॥१८॥

न चाऽऽयसस्य=लोहनिगडादेः, हेममयस्य च कनकशृंखलादेः बन्धस्य फले कश्चिदनुकूलत्वप्रतिकूलत्वकृतः बलवत्त्वाऽबलवत्त्वकृतो वा विशेषोऽस्ति, पारतन्त्र्यस्य स्वेच्छानिरोधदुःखस्याऽविशेषतः=उभयत्र विशेषाभावात् ॥१८॥

उपसंहरन्नाह 'तस्मादि'ति—

को छोड़ कर संसार के किसी अन्य वस्तु में विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति उचित नहीं है; किन्तु धर्म में कोइ दोष न होने से उसमें विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति का होना उचित ही है ।।१६॥

(धर्म भी त्याज्य है—पूर्वपक्ष)

'आह तत्रापि'—इस कारिका में पूर्व पक्षी द्वारा पूर्वकारिका में कही गयी बात का खण्डन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

'संसार की अन्य वस्तु में विवेकी पुरुषों की आस्था उचित नहीं है, किन्तु धर्म में आस्था उचित है'—इस कथन पर 'आह' इस अव्यय शब्द द्वारा आश्चर्य प्रकट करते हुये पूर्वपक्षी का कहना है कि—यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो धर्म में भी विवेकी पुरुष की आस्था उचित नहीं है क्योंकि धर्म का फल शुभ बन्ध ही माना गया है । 'शुभ' का अर्थ है सुखसातादि का जनक, और 'बन्ध' का अर्थ है नये कर्मपुद्गलों का ग्रहण ॥१७॥

'न चायसस्य' इस कारिका में 'शुभबन्ध का जनक होने पर भी इष्ट का साधक होने से धर्म की उपादेयता अक्षुण्ण है,' इस कथन की समीक्षा की गयी है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

जंजीर चाहे लोहे की हो,—चाहे सुवर्ण की हो, दोनों के फल में कोइ अन्तर नहीं होता । यह नहीं कहा जा सकता—कि सोने की जंजीर का बन्धन प्रिय या दुर्बल होता है, और लोहे की जंजीर का बन्धन अप्रिय या प्रबल होता है,—क्योंकि दोनों के द्वारा जो परतन्त्रता होती है, इच्छा का निरोध होने से जो दुःख होता है, उस में कोई भेद नहीं होता ॥१८॥

मूलम्–तस्मादधर्मवत् त्याज्यो धर्मोऽप्येवं मुमुक्षुभिः ।
　　धर्माधर्मक्षयाद् मुक्तिर्मुनिभिर्वर्णिता यतः ॥१९॥

तस्मात् संसारपरिभ्रमणजन्यबलवद्दुःखानुबन्धित्वात्, अधर्मवत् धर्मोऽपि त्याज्यः मुमुक्षुभिः=मोक्षेच्छावद्भिः, तदितरेषां संसारसुखाविरक्तत्वेन विवेकाभावात् । बलवद्दुःखानुबन्धित्वेन त्याज्यत्वमुक्त्वा इष्टसाधनीभूताऽभावप्रतियोगित्वेनाऽपि त्याज्यत्वमाह–मुनिभिः परिणतप्रवचनैः धर्माऽधर्मयोरुभयोः क्षयाद् मुक्तिर्यतो वर्णिता । अतोऽप्यधर्मवत् त्याज्यो धर्म इति भावः ॥१९॥

मूलम्–उच्यत एवमेवैतत् किन्तु धर्मो द्विधा मतः ।
　　संज्ञानयोग एवैकस्तथान्यः पुण्यलक्षणः ॥२०॥

'उच्यते'- अत्र समाधानं क्रियते–'एतद्' पूर्वोक्तं धर्मस्य संसारहेतुत्वं मोक्षविरोधित्वं च, एवमेव–अविप्रतिपत्तिविषय एव । ननु कथमेकस्य मोक्षजनकत्वं तत्प्रतिबन्धकत्वं च, विरोधात् ?, अत आह–किन्तु धर्मो=धर्मपदवाच्यः, द्विधा=द्विप्रकार उक्तः । एवं च धर्मपदमक्षादिपदवद् नानार्थकम् , तथा च मोक्षजनकप्रतिबन्धकयोर्विभेदाद् न विरोधः इत्यनुपदं ग्रन्थकृता स्पष्टाक्षरैरेव वक्ष्यते । द्वैविध्यमेव स्पष्टयति,–एको धर्मः, संज्ञानयोगः =समीचीनमर्हत्प्रवचनानुसारि ज्ञानं गुरुपारतन्त्र्यनिमित्तं संवेदनं, तेन सहितो 'योगः' शुभवीर्योल्लासः । एवकारः प्रसिद्ध्यर्थः । तथा अन्यो धर्मः, पुण्येन सातादिना कार्येण लक्ष्यत इति पुण्यलक्षणः ॥२०॥

---

१९ वीं कारिका में उक्त पूर्वपक्ष का उपसंहार करते हुये यह कहा गया है कि–अधर्म के समान धर्म भी संसार में प्राणी के परिभ्रमण का सम्पादक होने से बलवान् दुःख का उत्पादक होता है । अतः संसार सुख से अविरक्त अविवेकी पुरुषों के लिये धर्म भले ग्राह्य हो, पर मुमुक्षु पुरुषों के लिये वह भी अधर्म के ही समान त्याज्य है । यह ध्यान देने की बात है कि धर्म बलवान् दुःख का जनक होने मात्र से ही त्याज्य नहीं होता किन्तु मोक्षरूप इष्ट के कारण भूत अभाव (धर्माधर्मक्षय) का प्रतियोगी होने से भी त्याज्य होता है; क्योंकि जिन मुनिजनों के जीवन में तीर्थंकरों के प्रवचन परिणत हो चूके हैं उन्होंने धर्म-अधर्म दोनों के क्षय से मुक्ति होने की बात कही है. अतः अधर्म के समान ही धर्म भी त्याज्य होने से धर्म में विवेकी पुरुष की आस्था होने को उचित कहना ठीक नहीं है ।

(धर्म–द्वैविध्य बताने द्वारा पूर्व आक्षेपों का समाधान)

२० वीं कारिका में धर्म के सम्बन्ध में किये गये पूर्वपक्ष का समाधान किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

धर्म को जो संसार का कारण और मोक्ष का विरोधी कहा गया है, यह ठीक ही है, उसमें किसी की कोइ विमति नहीं है । प्रश्न होता है कि-धर्म को पहले मोक्ष का

अत्र पुण्यलक्षणधर्मस्य सुप्रसिद्धत्वाज्ज्ञानयोगधर्मस्य स्वरूपं फलं चाह–'ज्ञानयोग' इति ।

मूलम्–ज्ञानयोगस्तपः शुद्धमाशंसादोषवर्जितम् ।
अभ्यासातिशयादुक्तं तद्धि मुक्तेः प्रसाधकम् ॥२१॥

'आशंसादोषेण' इह–परलोकादिदुष्टाशंसया वर्जितं=तज्जन्येच्छाऽविषयीभूतं शुद्धं ज्ञानसंयमोपबृंहितं, तपो-ज्ञानयोग उच्यते । 'तद्' उक्तगुणोपपन्नं तपः 'अभ्यासातिशयात्' क्षायोपशमिकभावपूर्वकदृढयत्नात्, 'विमुक्तेः प्रसाधकं'–मोक्षस्य जनकम्, उक्तम्, दुष्टाशंसापूर्वकस्य तपसो निषिद्धत्वात्, "नो इहलोगट्ठाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठाए तवमहिट्ठिज्जा" इति वचनात् । केवलस्य च तस्य विशिष्टनिर्जरां प्रत्यजनकत्वात्, समुदितानामेव त्रयाणां प्रकाशकत्वदानाऽनाश्रवरूपव्यापारैर्निःशेषकर्माभावोपपत्तेः, अभ्यासस्य च स्वजनकभाव-वृद्धिहेतुत्वेन ततोऽशुभवासनाक्षयादविलम्बेन फलोदयाच्च ॥

जनक भी कहा गया है, फिर एक ही धर्म मोक्ष का जनक और मोक्ष का प्रतिबन्धक दोनों कैसे हो सकता है? क्योंकि मोक्षजनकत्व और मोक्षप्रतिबन्धकत्व में विरोध है । इसका उत्तर यह है कि-[1]अक्ष आदि पदों के समान धर्मपद नानार्थक है, अतः उसके दो अर्थ हैं। मोक्ष का जनक धर्मपदार्थ दूसरा है, और मोक्ष का प्रतिबन्धक धर्मपदार्थ दूसरा है। इसलिये एक धर्म में दोनों के न रहने से कोई विरोध नहीं है । इस बात को ग्रन्थकार शीघ्र अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहेंगे । धर्मपद के जो दो अर्थ बताये गये, वे स्पष्ट और प्रसिद्ध हैं, उनमें एक का नाम है 'संज्ञानयोग', दूसरे का नाम है 'शुभकर्म' । 'संज्ञान योग' का अर्थ है समीचीन ज्ञान से युक्त योग । समीचीन ज्ञान वह है जो भगवान् अर्हन् के प्रवचनरूप आगमों के अनुसार हो तथा गुरु की आज्ञा में रहकर गुरुकृपा से प्राप्त किया जाय, एवं आजीवन गुरुपारतन्त्र्य बनाया रखे । 'योग' का अर्थ है शुभ प्रवृत्ति में उल्लास । 'शुभकर्म' का अर्थ है वह कर्म जिसे शास्त्र ने कर्तव्य बताया हो, तथा जिसका निषेध न किया हो, एवं पुण्यजनक हो । वह साता आदि पुण्यफलों द्वारा उनके कारण के रूप में अनुमित होता है ॥२०॥

(ज्ञान योग का स्वरूप और फल)

उक्त धर्मपदार्थों में पुण्यलक्षण धर्म सुप्रसिद्ध है, उसे संसार में आसक्त मनुष्य भी जानते हैं, किन्तु ज्ञानयोगरूप धर्म उस प्रकार प्रसिद्ध नहीं हैं, अतः २१ वीं कारिका में उसके स्वरूप और फल का प्रतिपादन किया गया है, कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

ज्ञानयोग उस तप को कहा जाता है जो इहलोक और परलोक के इष्ट पौद्गलिक लाभ की अतिशय लालसा से पराभूत होकर ऐहलौकिक फलों की कामना से न किया गया हो तथा ज्ञान और संयम से समृद्ध हो । इस प्रकार के तप को ही अभ्यासातिशय रूप [2]क्षायोपशमिकभावपूर्वक दृढप्रयत्न से करने पर मोक्ष का साधक कहा गया

१. 'अक्ष' के अर्थ होते हैं–रथ का चक्र, रुद्राक्ष, आत्मा, सर्प इत्यादि ।

२. शुभ भाव से कर्म का विपाकोदय स्थगित कर के प्रदेशोदय बनाना यह क्षायोपशमिकभाव है । मोहनीय कर्मों के ऐसे क्षयोपशम से मोहविपाक बन्द हो जाने पर पौद्गलिक लालसा रुक जाती है ।

अङ्गीकृतं च पातञ्जलैरप्येतत्–"[1]अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (पा. १-१२)। [2]ताः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिलक्षणाः पञ्च वृत्तयः (पा. १-६)। [3]तत्र प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि (पा. १-७)। [4]विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् (पा. १-८)। तद् [5]अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशभेदेन पञ्चविधम् (पा. २-३)। [6]अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या (पा. २-५)। [7]दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता (पा. २-६)। [8]सुखानुशयी रागः (पा. २-७)। [9]दुःखानुशयी द्वेषः (पा. २--८)। [10]स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः(पा. २-९)। [11]शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यः प्रमाभ्रमविलक्षणोऽसदर्थव्यवहारो विकल्पः (पा. १-९), शशविषाणम्, असत्पुरूषस्य चैतन्यमित्यादि। [12]अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा (पा. १--१०), चतसृणां वृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः=कारणं तमोगुणस्तदालम्बना वृत्तिर्निद्रा, न तु ज्ञानाद्यभावमात्रमिति भावः। [13]अनुभूतविषयासम्प्रमोषप्रत्ययः स्मृतिः (पा. १--११), पूर्वानुभवसंस्कारजं ज्ञानमित्यर्थः। तासां निरोधः समासमानां क्षयः। [15]स चाभ्यासेन वैराग्येण च भवति॥

है। क्योंकि दुष्ट आशंसा से ऐहिक वा पारलौकिक फल की कामना से तप करने का निषेध है, जैसे कि 'नो इहलोगट्ठाए' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि न ऐहलौकिक फलके लिये तप का अनुष्ठान करना चाहिये, और न पारलौकिक फल के लिये तप का अनुष्ठान करना चाहिये। तप भी ज्ञान संयम के अभाव में अकेला मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं है, क्योंकि केवल तप से विशिष्ट निर्जरा यानी प्रचुर 'सकाम निर्जरा एवं नूतनकर्मास्रवण-निरोधपूर्वक निर्जरा की सिद्धि नहीं होती। ज्ञान, संयम और तप तीनों मिल कर ही क्रमशः प्रकाश, अनास्रव एवं व्यवदान=तत्त्वबोध, कर्मनिरोध एवं कर्मक्षय रूप व्यापारों द्वारा अशेष कर्मबन्धनों के निवर्त्तक होते हैं। अभ्यास से क्षायोपशमिक भाव की वृद्धि होने से अशुभ वासनाओं का क्षय हो कर अभिमत फल की प्राप्ति शीघ्रता से होती है। अतः ज्ञान-संयम युक्त तप के अभ्यास की उपयोगिता निर्विवाद है।

(पातञ्जल मत से समर्थन)

पतञ्जलिके मतानुयायियों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि [1]अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों का निरोध होता है। [2]वृत्तियां पाँच हैं, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। [3]प्रमाण तीन हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। [4]विपर्यय का अर्थ है मिथ्याज्ञान। [5]उसके पाँच भेद हैं-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। [6]अविद्या का अर्थ है अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा को क्रम से नित्य, शुचि, सुख और आत्मा समझना। [7]अस्मिता का अर्थ है दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति को एक मानना। [8]राग का अर्थ है सुखानुभव के फल स्वरूप सुख में आसक्ति का होना।

1. सकाम निर्जरा अर्थात् निर्जरा की ही कामना से किये गए सुकृताचरण या परीषह सहन से होने वाली कर्मनिर्जरा यानी कर्मक्षय।

वैराग्येण चित्तनद्या विषयप्रवाहो निवर्त्यते, समाध्यभ्यासेन च प्रशान्तवाहिता सम्पाद्यते, इति द्वारभेदादुभयोः समुच्चयात्, एकद्वारत्वे हि व्रीहियववद् विकल्प एव स्यात्, न तु समुच्चय इति । 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (पा. १–१३), तत्र= द्रष्टरि शुद्धे चित्तस्याऽवृत्तिकस्य प्रशान्तवाहितारूपा निश्चला स्थितिस्तदर्थं यत्नो मानस उत्साहो 'बहिर्मनो निरोत्स्यामि' इत्याकारः, स चाऽऽवर्त्यमानोऽभ्यास उच्यत इति । स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः' (पा.१–१४), अनिर्वेदेन दीर्घकाला-ऽऽसेवितः, अविच्छेदेन निरन्तराऽऽसेवितः, श्रद्धातिशयेन सत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिर्वि-षयसुखवासनया चालयितुमशक्यो भवति । अन्यथा तु लयविक्षेपकषायसुखास्वादापरिहारे व्युत्थानसंस्कारप्राबल्यात् समाधिसंस्काराणां भङ्गुरतयाऽदृढभूमिरेव स्यात्, इति कथं ततो विशिष्टफलसिद्धिः स्यात् ?॥

[9]द्वेष का अर्थ है दुःखानुभव के फलस्वरूप दुःख के प्रति घृणा का होना । [10]अभिनिवेश का अर्थ है विद्वान को भी स्वाभाविक रूप से सुख की प्राप्ति का और दुःख के परिहार का आग्रह होना । [11]विकल्प का अर्थ है वह ज्ञान, जिसका कोई विषयभूत वस्तु न हो, जो प्रमा और भ्रम से विलक्षण हो, शब्द ज्ञान से उत्पन्न होता हो और जिससे असद् अर्थों का भी लौकिक व्यवहार किया जा सके, जैसे 'खरगोश की सींग', 'पुरुष की सत्ता के बिना चैतन्य का होना' इत्यादि व्यवहारों के प्रवर्त्तक ज्ञान । [12]निद्रा का अर्थ है प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति, इन चारों वृत्तियों के अभाव के कारणभूत तमोगुण को आलम्बन करनेवाली चित्त की वृत्ति । ज्ञान आदि का अभावमात्र उसका अर्थ नहीं है । [13]स्मृति का अर्थ है वह ज्ञान जो अनुभूत विषय का अपहरण नहीं होने देता, जो पूर्वानुभवजनित संस्कार से उत्पन्न होता है । इन वृत्तियों का निरोध अर्थात् वासनात्मक कारणों के साथ इन सभी वृत्तियों का क्षय अभ्यास और वैराग्य से सम्पन्न होता है ।

चित्त नदी के समान है । उसकी धारा निरन्तर विषयों की ओर प्रवाहित होती है । वैराग्य चित्तधारा के इस बहाव को रोकता है । समाधि का अभ्यास करने पर चित्तधारा विषयों में अपने अमर्यादित बहाव को छोड़कर प्रशान्तरूप से आत्मा की ओर प्रवाहित होने लगती है । इस प्रकार वैराग्य का कार्य है चित्त के विषयाभिमुख प्रवाह को रोकना; और अभ्यास का कार्य है चित्तप्रवाह को आत्मा की ओर मोड़ना । इस व्या-पारभेद के कारण ही वैराग्य और अभ्यास दोनों का समुच्चय अपेक्षित होता है । यदि दोनों का एक ही व्यापार होता तो उनका समुच्चय न होकर [1]व्रीहि और यव के समान विकल्प होता ।

१–आशय यह है कि वेद के ब्राह्मणभागमें 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्यजेत' इसप्रकार दो विधिसे दो साधन की प्राप्ति होती है–तदनुसार व्रीहि और यव दोनों का यज्ञमें विकल्पमें विनियोग प्राप्त होता है । अतः कभी यवका और कभी व्रीहि का प्रयोग होता है, क्योंकि दोनों का एक ही द्वारा है 'पुरोडाश' (हवन के लिये बनने वाली रोट) प्रकृत में वैराग्य का द्वार है चित्त का विषयों से निवर्तन, और अभ्यास का द्वार है–आत्माभिमुख चित्तप्रवर्तन । अतः दोनों के द्वार भिन्न होने से वैराग्य और अभ्यास में व्रीहि और यव के समान विकल्प की प्राप्ति नहीं है ।

वैराग्यं च द्विविधं परमपरं च । तत्र यतमानसंज्ञा–व्यतिरेकसंज्ञा–एकेन्द्रिय-वशीकारसंज्ञाभेदैरपरं चतुर्विधम् । तत्र किमिह सारं ? किं चाऽसारम् ? इति गुरुशास्त्र-पारतन्त्र्येण ज्ञानोद्योगो यतमानम् । विद्यमानस्वचित्तदोषाणां मध्येऽभ्यस्यमानविवेके-नैतावन्तः पक्वाः, एतावन्तश्चावशिष्टा इति चिकित्सावद् विवेचनं व्यतिरेकः । दृष्टा-नुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखमयत्वबोधेन बहिःप्रवृत्तिमजनयन्त्या अपि तृष्णाया औत्सुक्यमा-त्रेण मनस्यवस्थानमेकेन्द्रियम् । तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्तिर्ज्ञानप्रसादरूपा वशीकारः । तदिदं सूत्रितम्– "दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" (पा०१–१५) इति । तदन्तरङ्गसाधनं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः, असम्प्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गम् ।

अभ्यास का अर्थ है आत्मा में चित्त को स्थिर करने का यत्न । आत्मा का अर्थ है, 'शुद्ध द्रष्टा' । चित्त को स्थिर करने का अर्थ है—'चित्त को विषयोन्मुख वृत्तियों से मुक्त कर उसे आत्मा में प्रशान्तरूप से प्रवाहित करना-आत्मा में उसकी स्थिति को अविचलित करना' । यत्न का अर्थ है 'मन का उत्साह-आत्मा को छोड़ किसी अन्य विषय में चित्त को न जाने देने का सुदृढ संकल्प' । यह यत्न ही बार बार दोहराने पर अभ्यास कहा जाता है ।

अभ्यास के उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये उसे दृढभूमि बनाना-विषय सुख की वासना से विचलित न होने योग्य बनाना आवश्यक होता है, और यह होता है तब, जब किसी प्रकार का कष्ट अनुभव किये बिना, बीच में व्यवधान न करते हुये पूर्ण श्रद्धा के साथ दीर्घकाल तक उसके क्रम को चालू रखा जाय । यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद इन चार विघ्नों का परिहार न हो सकने से व्युत्थान के प्रबल संस्कार समाधि के संस्कारों को भङ्ग कर देगें, जिससे अभ्यास दृढभूमि न हो सकेगा, फिर दुर्बल अभ्यास से विशिष्ट फल की सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

(वैराग्य के पर और अपर भेद)

वैराग्य के दो भेद हैं पर और अपर । उनमें अपर वैराग्य के चार प्रकार हैं-यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, और वशीकार संज्ञा । संसार में क्या सार है और क्या असार है?' गुरु एवं शास्त्र के अनुसार इस बात का ज्ञान प्राप्त करने का उद्योग का नाम है 'यतमान' । 'चित्त में विद्यमान दोषों के मध्य पच्यमान दोषों को छोड़ शेष दोषों के सम्बन्ध में कुशल चिकित्सक के समान यह निश्चय करना चाहिये कि 'कितने दोष पक चुके है और कितने पकने को अवशिष्ट हैं।' दोषों का इस प्रकार विवेचन करने का नाम है 'व्यतिरेक' । '"इष्टसिद्धि के लौकिक और वैदिक उपायों को आयत्त करने का प्रयत्न दुःखमय है '। इस ज्ञान के होने पर मनुष्य की तृष्णा यद्यपि बाह्य विषयों में उसे प्रवृत्त नहीं कर पाती, फिर भी मन में विषयों के प्रति उत्सुकता के रूप में बनी रहती है, इस प्रकार योगाभ्यासी के मन में उत्सुकता के रूप में तृष्णा के जीवित रहने का नाम है 'एकेन्द्रिय' । 'चित्त में निर्मलज्ञान रूप वृत्ति का उदय होने पर तृष्णा

परं तु वैराग्यं सम्प्रज्ञातसमाधिपाटवेन गुणत्रयात्मकात् प्रधानाद् विविक्तस्य पुरुषस्य साक्षात्कारादशेषगुणत्रयव्यवहारेषु वैतृष्ण्यं यत् । "तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" (पा० १-१६ इति) सूत्रम् । तदन्तरङ्गं साधनमसम्प्रज्ञातसमाधेः, तत्परिपाकनिमित्ताच्च चित्तोपशमातिशयात् कैवल्यम्, इति यथास्थानं व्यवस्थापनात् ।

अत्रेदमवधेयम्—अभ्यस्तं तपः समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्तिरूपं ध्यानमेव, तस्यैव साक्षाद् मोक्षहेतुत्वात् । न च मोक्षहेतुशुद्धात्मज्ञानेन तस्य व्यवधानम्, समकालभाविनोरपि ज्ञान-ध्यानयोः प्रदीप-प्रकाशयोरिव निश्चयतो हेतुत्वाश्रयणात् । तदिदमभिप्रेत्योक्तम्—"मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत् ।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद् ध्यानं हितमात्मनः" ॥ इति । (योगशास्त्र-४-११३)

का विनाश हो जाता है । तृष्णा को निर्मूल करने वाली इस चित्तवृत्ति का ही नाम है 'वशीकार' । इसके सम्बन्ध में पतञ्जलि ने एक सूत्र में कहा है कि "लौकिक और वैदिक विषयों में तृष्णा की निवृत्ति होने पर 'वशीकार' संज्ञक वैराग्य का उदय होता है ।" यह चतुर्विध अपर वैराग्य 'सम्प्रज्ञात समाधि' का अन्तरङ्ग साधन है, और 'असम्प्रज्ञात समाधि' का बहिरङ्ग साधन है ।

सम्प्रज्ञात समाधि में पटुता प्राप्त हो जाने पर योगी को यह साक्षात्कार होता है कि 'पुरुष त्रिगुणात्मिका प्रकृति से भिन्न है'-इस साक्षात्कार के फलस्वरूप गुणत्रयमूलक समस्त व्यवहारों में वह विगततृष्ण हो जाता है । गुणमूलक समस्त व्यवहारों में होने वाली इस तृष्णा-निवृत्ति का ही नाम है 'पर वैराग्य' । यही बात सूत्र में इस प्रकार कही गयी है कि 'प्रकृति से भिन्न पुरुष की ख्याति-प्रत्यक्षअनुभूति होने पर योगी को जो तृष्णा का आत्यन्तिक अभाव होता है; वही 'पर वैराग्य' है । पर वैराग्य असम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरङ्ग साधन है । असम्प्रज्ञातसमाधि के परिपाक से चित्त का आत्यन्तिक उपशम होने पर 'कैवल्य' की प्राप्ति होती है, यह बात यथास्थान बतायी गयी है ।

(पातञ्जल मत की समीक्षा)

इस सम्बन्ध में व्याख्याकार ने यह समीक्षा की है कि-अभ्यस्त तप, जिसे मोक्ष का साधक कहा गया है वह और कुछ न हो कर ऐसा ध्यान है जिसमें समुच्छिन्न क्रिया की अनिवृत्ति हो अर्थात् जिस ध्यान में सभी प्रकार की क्रियाओं का उच्छेद हो जाय और वह उच्छेद पुनः कभी निवृत्त न हो, क्रियाओं का उच्छेद सतत बना रहे । यहां 'क्रिया' से विवक्षित है सूक्ष्म भी मनो-वाक् काय योग । उनका आत्यन्तिक उच्छेद इस ध्यान में सम्पन्न रहता है । इस प्रकार का ध्यान ही अभ्यस्त तप है, क्यों कि ध्यान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है अतः अभ्यस्त तप को जब मोक्ष का साधक कहा गया तो उसका अर्थ ही यह हुआ कि वह सर्वविध क्रियाओं के उच्छेद से समृद्ध आत्मध्यान-आत्मस्थिरता रूप है । पातञ्जल मत में शुद्ध आत्मज्ञान (प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार) को मोक्ष का कारण बता कर उससे आत्मध्यान व मोक्ष के बीच जो व्यवधान

समाधिरिति च शुक्लध्यानस्यैव नामान्तरं परैः परिभाषितम् । तथाहि चतुर्विधस्तैः सम्प्रज्ञातसमाधिरुक्तः—'सवितर्कः निर्वितर्कः, सविचारः, निर्विचारश्चेति । (१) यदा स्थूलं महाभूतेन्द्रियात्मकषोडशविकाररूपं विषयमादाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखेन च भावना क्रियते सविकल्पवृत्तिरूपा तदा सवितर्कः समाधिः । (२) यदा, स्वस्मिन्नेवालम्बने शब्दार्थस्मृतिविलये तच्छून्यत्वेन भावना प्रवर्त्तते निर्विकल्पकवृत्तिरूपा, तदा निर्वितर्कः समाधिः । (३) यदाऽन्तःकरणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य देशकालधर्मावच्छेदेन सविकल्पकवृत्तिरूपा भावना प्रवर्त्तते तदा सविचारः समाधिः । (४) यदा चास्मिन्नेव विषये तदवच्छेदं विना निर्विकल्पकवृत्तिरूपा धर्मिमात्रभावना प्रवर्त्तते तदा निर्विचारः समाधिरिति ।

रजस्तमोलेशानुविद्धान्तःकरणसत्त्वस्य भावनात्मको भाव्यमानसत्त्वोद्रेकेण सानन्दः समाधिः, यत्र बद्धधृतयः प्रधानपुरुषतत्त्वान्तरादर्शिनो विदेहशब्देनोच्यन्ते । रजस्तमोलेशानभिभूतशुद्धसत्त्वमालम्ब्य भावनात्मकश्चिच्छक्त्युद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन सास्मितः समाधिः यत्र स्थिताः परं पुरुषं पश्यन्ति ।

बताया गया है, वह ठीक नहीं है, क्यों कि आत्मध्यान बीच में शुद्ध आत्म ज्ञान की अपेक्षा न रख कर स्वयं ही मोक्ष को सम्पन्न करता है । आत्मध्यान और आत्मज्ञान की उत्पत्ति में क्रम नहीं होता, दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं । फिर भी निश्चयदृष्टि से आत्मध्यान को आत्मज्ञान का कारण कहा जाता है । यह कथन ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार प्रदीप और प्रकाश के एक साथ उत्पन्न होने पर भी प्रदीप को प्रकाश का कारण कहा जाता है । इसी आशय से योगशास्त्र में कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि ने यह बात कही है कि-मोक्ष कर्मों के क्षय से होता है, कर्मों का क्षय आत्मज्ञान से होता है, आत्मज्ञान आत्मध्यान से होता है । अतः आत्मध्यान ही आत्मा के हित का साधक है" ।

व्याख्याकार का कहना है कि जैनदर्शन के शुक्लध्यान को ही पातञ्जलों ने समाधि नाम से अभिहित किया है तथा सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद बताये हैं-सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार ।

समस्त जड पदार्थों की दो श्रेणियाँ है- स्थूल और सूक्ष्म । पञ्चमहाभूत=पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश, पाँच कर्मेन्द्रियां = वाक्, पाणि, पाद, पायु, (मलेन्द्रिय) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय), पांच ज्ञानेन्द्रियाँ =घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र, तथा एक उभयेन्द्रिय-मन; ये सोलह स्थूल विषय हैं । प्रकृति, महत्, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्रायें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द, ये आठ सूक्ष्म विषय हैं । सवितर्क और निर्वितर्क समाधि के विषय हैं स्थूल पदार्थ । तथा सविचार और निर्विचार समाधि के विषय हैं सूक्ष्म पदार्थ ।

सवितर्क-उक्त सोलह स्थूल पदार्थों में जब किसी एक के विषय में सविकल्पक-वृत्तिरूप ऐसी भावना की जाती है, जिसमें उस विषय के पूर्व-अपर-कारण-कार्यभूत

---

१ द्रष्टव्य-पात० १ पाद के ४२ से ४६ तक के सूत्रों पर व्यासभाष्य ।

विषयों का अनुसन्धान तथा शब्द और अर्थ के रूप में उस विषय उल्लेख होता है, तो वह भावना 'सवितर्क' समाधि कही जाती है, क्यों कि वह चित्त के सविकल्पक स्थूल आभोगरूप वितर्क से युक्त होती है।

निर्वितर्क-जिस विषय में सवितर्क समाधि सम्पन्न हो चुकी है उसी विषय की जब निर्विकल्पकवृत्तिरूप भावना की जाती है, जिसमें शब्द और अर्थकी स्मृति का विलय हो जाता है तथा जो पूर्वापर के अनुसन्धान एवं शब्दार्थ के उल्लेख से शून्य होती है तब वह भावना 'निर्वितर्क' समाधि शब्द से व्यवहृत की जाती है, क्योंकि वह उक्त वितर्क से शून्य होती है।

सविचार—उक्त सूक्ष्म विषयों में किसी एक के सम्बन्ध में जब ऐसी सविकल्पक वृत्तिरूप भावना की जाय जिसमें उस विषय के साथ देश, काल और विभिन्न अवस्थारूप धर्मों का सम्बन्ध भासित हो तब वह भावना 'सविचार' समाधि शब्द से व्यपदिष्ट होती है, क्यों कि वह चित्तके सविकल्पकसूक्ष्मआभोगरूप विचार से युक्त होती है।

निर्विचार-जिस विषय में सविचार समाधि सम्पन्न हो जाय, उसी विषय की जब ऐसी भावना हो जिसमें देश, काल. अवस्थाओं का भान न हो, केवल धर्मी मात्र का भान हो, तब उसे 'निर्विचार' समाधि कहा जाता है, क्योंकि वह निर्विकल्पक होने के कारण उक्त विचार से शून्य होती है।

सम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद और बताये गये हैं-उनके नाम हैं 'सानन्द और सास्मित। उक्त चारों से इनका भेद यह है कि उक्त चार समाधियां 'ग्राह्य' पदार्थों को विषय करती हैं. और ये दोनों क्रम से 'ग्रहण'-ज्ञानसाधन अन्तःकरण को तथा 'ग्रहीता' पुरुष को विषय करती हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं-

सानन्द सम्प्रज्ञात- अन्तःकरण सत्त्व, रजः और तम इन तीन गुणों की समष्टि रूप प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण त्रिगुणात्मक है। इस अन्तःकरण को विषय बना कर जब ऐसी भावना की जाय जिसमें उसके रज और तम अंश का अत्यन्त गौणरूप से तथा सत्त्व अंश का प्रधान रूप से भान हो तो वह भावना 'सानन्द' सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है, क्योंकि सुखात्मक 'सत्त्व' के स्फुरणरूप आनन्द से वह युक्त होती है। इस समाधि की अवस्थामें स्थित योगी 'विदेह कहे जाते हैं, इस समाधि की अवस्था में प्रकृति और पुरुष से भिन्न तत्त्वका दर्शन नहीं होता।

सास्मित सम्प्रज्ञात—जब अन्तःकरण के रज और तम से असम्पृक्त शुद्ध सत्त्व को विषय कर ऐसी भावना की जाय जिसमें शुद्ध सत्त्व भी गौणरूप से भासित हो, प्रधानरूप से पुरुषरूपा चिति शक्ति का ही भान हो तो वह भावना 'सास्मित' सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है, क्योंकि वह शुद्धसत्त्व से अभिन्नरूप में पुरुष के स्फुरणरूप 'अस्मिता' से युक्त होती है इस समाधि में स्थित योगी को 'पर पुरुष' का दर्शन होता है। इस समाधि में दृश्यमान पुरुष को 'पर' इस लिये कहा जाता है कि इसमें वह शुद्ध सत्त्व के साथ एकीभूत हो कर गृहीत होता है।

---

१. द्रष्टव्य पात० १ पाद का १७ वां सूत्र और उसका व्यासभाष्य।

तदिदं समाधिद्वयं ग्रहीतृ–ग्रहणयोरपि चित्तवृत्तिविषयतया ग्राह्यकोटावेव निक्षेपाद् नातिरिच्यते । तदिदमुक्तं "सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यन्तम्" (पात० १–४५) इति । सूत्रितं च "चतुर्विधा ग्राह्यसमापत्तिः" इत्यादि । 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः' (पात० १–४१) इति समापत्तिलक्षणम् । तत्स्थता तदेकाग्रता तन्मयता न्यग्भूते चित्ते भाव्यमानोत्कर्षः स्फटिकोपरागस्थानीयः ।

निर्विचारसमाधेः प्रकृष्टाभ्यासाच्छुद्धसत्त्वोद्रेके क्लेशवासनारहितस्य चित्तस्य भूतार्थविषयः क्रमाऽननुरोधो स्फुटः प्रज्ञाऽऽलोकः प्रादुर्भवति । तदुक्तं–"निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः" (पात० १–४७) इति। "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" (पात० १–४८), ऋतं सत्यमेव बिभर्ति भ्रान्तिकारणाऽभावाद् इति ऋतम्भरा, यौगिकीयं संज्ञा, सा चोत्तमो योगः, तथा च भाष्यम्

आगमेनाऽनुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥इति ।

ग्रहीता पुरुष और ग्रहण–अन्तःकरण ये दोनों भी चित्तवृत्ति का विषय होने से ग्राह्यकोटि में समाविष्ट हो जाते हैं । अतः ग्राह्य को आलम्बन करने वाली समाधियों से सानन्द और सास्मित समाधि को पृथक् मानने में कोई औचित्य नहीं है । क्योंकि सूक्ष्म विषय को आलम्बन करने वाली सविचार और निर्विचार समाधियों में इनका अन्तर्भाव किया जा सकता है । [1]सूत्रों द्वारा अलिङ्ग–प्रकृति में सूक्ष्मता की चरमसीमा बताते हुये तथा ग्राह्यसमापत्ति–ग्राह्यालम्बन समाधि के चार भेद बताते हुये पतञ्जलि ने इस बात का संकेत किया है । समापत्ति का लक्षण बताते हुये पतञ्जलि ने कहा है कि—

'[2]जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिकमणि जपापुष्प आदि उपाधियों के सन्निधान में उनके रूपात्मक आकार को ग्रहण करती है उसी प्रकार अभ्यास और वैराग्य से राजस–तामस वृत्तियों का क्षय होने से निर्मलीभूत चित्तसत्त्व ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य के सम्पर्क में उनके आकार को ग्रहण करता है, शुद्धचित्तसत्त्व द्वारा ग्रहीता आदि के आकार को ग्रहण करने का ही नाम है समापत्ति, इसमें चित्तसत्त्व ग्रहीता आदि में एकाग्र हो जाता है, तन्मय हो जाता है, तन्मयी भूतचित्तसत्त्व में भावना की विषयभूत वस्तु निखर जाती है, भाव्यमान वस्तु का यह निखार स्फटिक में जपापुष्प के प्रतिभास से उपमेय होता है ।

निर्विचार समाधि के प्रकृष्ट अभ्यास से चित्तसत्त्व क्लेशवासनाओं से–राजस और तामस वृत्तियों की वासनाओं से मुक्त हो कर शुद्ध हो जाता है । फिर उसमें वैसे स्फुट प्रज्ञारूप आलोक का उदय होता है जो बिना क्रम के एक साथ ही सम्पूर्ण वस्तुभूत पदार्थों को प्रकाशित करता है । पतञ्जलि ने [3]सूत्रों द्वारा इस बात को इस रूप में कहा है कि–

१. द्रष्टव्य– पात० १ पाद का ४५ वां सूत्र तथा ४३ वें सूत्र का व्यासभाष्य ।

२. द्रष्टव्य–पात० १ पादका ४१ वां सूत्र । ३. द्रष्टव्य– पात १ पादका ४७ वा सूत्र ।

तज्जन्यसंस्काराणां व्युत्थानादिसंस्कारविरोधित्वात् तत्प्रभवप्रत्ययाभावेऽप्रतिहत-प्रसरः समाधिः। ततस्तज्जा प्रज्ञा, ततस्तत्कृताः संस्काराः, इति नवो नवः संस्काराशयो वर्धते। ततश्च प्रज्ञा। ततश्च संस्कार इति। ततो योगिप्रयत्नविशेषेण सम्प्रज्ञातसमाधेर्व्युत्थानजानां च संस्काराणां निरोधादसम्प्रज्ञातसमाधिर्भवति। तदुक्तम्–"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधाद् निर्बिजः समाधिः" (पा० १–५१) इति। तदा च निरोधचित्तपरिणामप्रवाहस्तज्जन्यसंस्कारप्रवाहश्चावतिष्ठते। तदुक्तम्–"संस्कारशेषोऽन्यः" (पा० १–१८) इति। ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्। साक्षुभितस्य चित्तस्य निरिन्धनाग्निवत् प्रतिलोमपरिणामेनोपशमः, तत्र पूर्वप्रशमजनितः संस्कार उत्तरोत्तरप्रशमहेतुरिति। ततो निरिन्धनाग्निवत् चित्तं क्रमेणोपशाम्यद् व्युत्थानसमाधिनिरोधसंस्कारैः सह स्वस्यां प्रकृतौ लीयत इति।

"निर्विचार समाधि का वैशारद्य होने पर आत्मा में प्रसाद का उदय होता है"। 'वैशारद्य' का अर्थ है चित्त की शुद्ध सात्त्विक वृत्तियों का एकाकार स्वच्छ प्रवाह। निर्विचार समाधि का सुचिर अभ्यास करने पर चित्तसत्त्व किसी एक सूक्ष्म विषय में स्थिर हो जाता है। उसी एक विषय में उसकी स्वच्छ सात्त्विक वृत्तियां प्रवाहित होने लगती हैं। निर्विचार समाधि की इस अवस्था को ही उसका वैशारद्य कहा जाता है। 'आत्मा में प्रसाद के उदय' का अर्थ है–पुरुष में वस्तुभूत अर्थ के क्रमहीन ज्ञानात्मक प्रकाश का प्रादुर्भाव। जब निर्विचार समाधि विशद होती है तब योगी का निर्मल चित्त सम्पूर्ण सत्य पदार्थों को सहसा आलोकित कर देता है। योगी एक ही समय सारे सत्य पदार्थों का साक्षात्कार करने लगता है।

समाधि की उक्त अवस्था में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसे 'ऋतम्भरा' कहा जाता है। इसमें सत्य पदार्थ का ही भान होता है, भ्रम का कारण न होने से इसमें किसी असत्य पदार्थ का भान नहीं होता। इस प्रज्ञा का यह नाम यौगिक है, सान्वर्थ है, भाष्यकार व्यास ने इसे 'उत्तम योग' की संज्ञा प्रदान की है और आगमश्रवण, अनुमान–मनन तथा आदर पूर्वक पुनः पुनःचिन्तन–निदिध्यासन से इसकी उत्पत्ति बतायी है।

ऋतंभराप्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारव्युत्थानअवस्था असमाधि अवस्था में होनेवाली प्रज्ञा के संस्कारों का क्षय कर देती है। उन संस्कारों का क्षय होने पर तन्मूलक प्रतीतियों की उत्पत्ति के निरुद्ध हो जाने से समाधिसिद्धि की बाधा दूर हो जाती है। फिर समाधिसिद्धि होने पर समाधि से प्रज्ञा और प्रज्ञा से संस्कारों के जन्म का सातत्य चल पड़ता है, जिस के फलस्वरूप नित्य नूतन संस्कारों की सृष्टि होने लगती है। इस प्रकार प्रज्ञा और संस्कारों का चक्र अविरल गति से चालु हो जाता है। योगी जब विशेष प्रयत्न द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि और व्युत्थान अवस्था के संस्कारों का निरोध कर इस चक्र को रोक देता है तब असम्प्रज्ञात समाधि का प्रादुर्भाव होता है। जैसा कि निर्बीज समाधि के नाम से उसका लक्षण बताते हुये कहा गया है कि प्रज्ञा के साथ प्रज्ञा अन्य संस्कार का भी निरोध हो जाने पर सर्वनिरोध हो जाने से निर्बीज समाधि का उदय

अत्र चतुर्विधोऽपि संप्रज्ञातसमाधिः शुक्लध्यानस्याऽऽद्यपादद्वयं प्रायो नातिशेते । षोडशकादिविषयोपवर्णनं च तत्राऽप्रामाणिकस्वप्रक्रियामात्रम् , तत्र मानाभावात्, आत्मविषयकसाक्षात्कारे आत्मविषयकस्यैव ध्यानस्य हेतुत्वाच्च ।

वितर्कश्चात्र विशिष्टश्रुतसंस्काररूपः, विचारश्च योगान्तरसंक्रमरूपो ग्राह्यः, विशिष्टत्वे सविकल्पक-निर्विकल्पकत्वाऽभ्युपगमात्, परिभाषामात्रस्य निरालम्बनत्वात्, पृथक्त्वानभिधानेन चात्र न्यूनत्वम् ।

प्रज्ञालोकश्च केवलज्ञानादधः सवित्रालोककल्पश्चतुर्थीनप्रकर्षोत्तरकालभावी प्रातिभाऽपरनामा ज्ञानविशेषः । ऋतम्भरा च केवलज्ञानम् । ततः संस्काराऽऽशयवृद्धिश्चाऽसंभवदुक्तिका, मतिज्ञानभेदस्य संस्कारस्य तन्मूलभूतज्ञानावरणक्षयेणैव क्षीणत्वात् अतश्चरमशुक्लध्यानांशस्थानीयो संप्रज्ञातसमाधिन वृत्तिनिरोधार्थमपेक्षणीयः; किन्तु भवोपग्राहिकर्मक्षयार्थमिति सूक्ष्ममीक्षणीयम् , ज्वरपरवशपुरुषवचनप्रायाणां परतन्त्राणां काकतालीयन्यायेनैव क्वचिदर्थाऽबाधादिति दिक् ।

होता है । 'निर्बीजशब्द का योगलभ्य अर्थ है बीज से=आलम्बन से रहित, अथवा बीज से=क्लेशकर्माशय से मुक्त । इस शब्द से यह सूचित होता है कि असम्प्रज्ञात समाधि सम्प्रज्ञात समाधि के समान सालम्बन या क्लेशकर्माशय से युक्त नहीं होती । इसका प्रादुर्भाव परवैराग्य से होता है, जैसे कि 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' इस सूत्र में कहा गया है । सूत्र का अर्थ इस प्रकार है-विराम-वृत्तियों के अभाव के प्रत्ययकारणभूत परवैराग्य के अभ्यास से अन्य-सम्प्रज्ञात से भिन्न असम्प्रज्ञात का उदय होता है । उक्त सूत्र के 'संस्कारशेषः' पद से सूचित होता है कि असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के निरोधात्मक परिणाम का तथा तन्मूलक संस्कार का प्रवाह चलता रहता है । 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' इस सूत्र से प्रशान्तवृत्तिक चित्त की संस्कार हेतुक प्रवहमानता के कथन से भी असम्प्रज्ञात समाधि में निरोध संस्कारों का अस्तित्व सूचित होता है । 'प्रशान्तवाहिता' का अर्थ है 'वृत्तिहीन चित्त का इन्धनहीन अग्नि के समान उपशम, जो प्रतिकूल परिणाम से सम्पन्न होता है । इस अवस्थामें चित्त के पूर्व पूर्व प्रशम से उत्पन्न संस्कार उसके उत्तरोत्तर उपशम के उत्पादक हो कर उपशम की दृढ़ता का सम्पादन करते हैं. अन्यथा चित्त का उपशम दुर्बल होने पर व्युत्थान के संस्कार उसे पुनः अशान्त बना सकते है, चित्त के धारावाहिक उपशम का परिणाम यह होता है कि जैसे ईन्धन समाप्त हो जाने पर अग्नि धीरे धीरे बुझ जाती है. उसी प्रकार चित्त क्रमसे उपशान्त होते होते व्युत्थान, सम्प्रज्ञातसमाधि तथा निरोध-असम्प्रज्ञातसमाधि के संस्कारों सहित अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है । यहां चित्त के लीन होने का अर्थ चित्त का नष्ट होना नहीं है। किन्तु चित्त के अधिकार-कर्तव्य का समाप्त होना है। चित्त के दो ही मुख्य कर्तव्य हैं विषयों के उपयोग का सम्पादन और प्रकृति-पुरुष

---

१. द्रष्टव्य-पात० पाद १, सू०-५१ का व्यासभाष्य और तत्त्ववैशारदी टीका ।

के विवेक ख्याति–भेद साक्षात्कार का जनन। असम्प्रज्ञात समाधि का परिपाक होने तक ये दोनों कार्य सम्पन्न हो चुकते हैं, अतः उक्त समाधि के पूर्णरूप से परिनिष्ठित होने पर चित्त कृतकृत्य होने से अपनी प्रकृति में लीन हो निःशेष हो जाता है।

पातञ्जलों द्वारा वर्णित समाधि के स्वरूप भेद और फलों की आलोचना करते हुये व्याख्याकार का कहना है कि सम्प्रज्ञात-समाधि के सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार ये चारों भेद जैन दर्शन में वर्णित शुक्लध्यान के आदिम दो [1]पादों से अतिरिक्त नहीं है। सम्प्रज्ञात समाधि के प्रथम दो भेदों के विषय के रूप में पाँच महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन इन सोलह स्थूल पदार्थों का तथा अन्तिम दो भेदों के विषय के रूप में प्रकृति, महत्त्व, अहंकार और पांच तन्मात्र, इन आठ सूक्ष्म पदार्थों का वर्णन किया गया है वह पातञ्जल दर्शन में मनमाने ढंग से स्वीकृत प्रक्रिया का प्रदर्शन मात्र है, उसमें कोई प्रमाण नहीं है। सम्प्रज्ञातसमाधि आत्मसाक्षात्कार के लिये उपयुक्त भी नहीं है, क्यों कि वह अनात्म पदार्थों को विषय करती है, आत्म-साक्षात्कार में तो आत्मध्यान ही हेतु हो सकता है, अनात्मध्यान से आत्मदर्शन की सम्भावना तो पश्चिमदिशा की यात्रा से पूर्वदिशा की उपलब्धि के समान सर्वथा दुर्घट है।

पातञ्जलों ने जो चित्त के स्थूल आभोग–स्थूलाकार परिणाम को 'वितर्क' और सूक्ष्म आभोग–सूक्ष्माकार परिणाम को 'विचार' कहा वह भी ठीक नहीं है, क्यों कि विशिष्ट श्रुतज्ञान (आगम शास्त्रबोध) से उत्पन्न संस्कार ही [2]'वितर्क' है इससे पृथक् 'वितर्क' का स्वरूप प्रमाण सिद्ध नहीं है, तथा अर्थ (द्रव्य पर्याय), व्यञ्जन (अर्थ बोधक शब्द) और योग (मनोवाक्काययोग) से अन्य अर्थ, व्यञ्जन और योग में ध्यान का संचार ही [3]विचार है, इस से अतिरिक्त 'विचार' का अस्तित्व अप्रामाणिक है। सवितर्क-निर्वितर्क तथा सविचार–निर्विचार को क्रम से स्थूल अर्थ विषयक तथा सूक्ष्म अर्थ विषयक सविकल्पक और निर्विकल्पक वृत्ति के रूप में जो विभाजन किया गया है वह भी उचित नहीं है क्योंकि विशिष्ट ज्ञान में ही सविकल्प निर्विकल्प की व्यवस्था हो सकती है, तो फिर बाद में सविकल्प-निर्विकल्प के अलग भेद बताने में इनके कोई विषय नहीं रहने से ऐसी मनःकल्पित सविकल्प-निर्विकल्प की परिभाषा निर्विषयक अर्थात शब्द मात्र रूप रह जाती है। योग दर्शन की प्रक्रिया में न्यूनता भी है, क्यों कि वितर्क व विचार तो लिये किन्तु पृथक्त्व का अभिधान नहीं किया। पृथक्त्व का अर्थ है भेद–नानाविधत्व; द्रव्य के एक पर्याय पर से अन्य पर्याय पर वितर्क=श्रुतोपयोग जाय यह पृथक्त्व है। इससे 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' नामक पहला प्रकार बनता है। और जब चित्त की स्थिरता बढ कर एक ही पर्याय पर जम जाता है, तब 'एकत्व-वितर्क अविचार' नामक दूसरा प्रकार बनता है। ऐसे पृथक्त्व का उल्लेख न होने से न्यूनता है।

निर्विचार सम्प्रज्ञात–सूक्ष्म अर्थविषयक निर्विकल्पक चित्तवृत्ति के प्रकृष्ट अभ्यास से जिस प्रज्ञालोक के प्रादुर्भाव की बात पातञ्जल दर्शन में कही गयी है वह भी सर्वार्थ-ग्राही ज्ञान–प्रकाश न होकर केवलज्ञान से निम्नश्रेणी का एक ज्ञान है जो सचित्र आलोक

१. पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्काऽविचार–द्रष्टव्य तत्त्वार्थ० ९ ४१ ।

२ 'वितर्कः श्रुतम्' तत्त्वार्थ० ९–४५ ॥ ३–'विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः'–तत्त्वार्थ० ९–४६ ॥

तदेवं ध्यानरूपमेव तपो ज्ञान-क्रियाभ्यामपृथग्भूतमपृथग्भूततत्तद्व्यापारयोगि परमयोगाभिधमपवर्गहेतुरिति निर्व्यूढम् । तत्र च धर्मपदशक्तिराप्तवाक्यादेव, स्वारसिकप्रयोगे लक्षणाऽनवकाशाद्, अन्यथा विनिगमनाविरहात् । 'देवार्चादौ धर्मजनकत्वेनैव धर्मपदप्रयोगो न तु स्वरसत' इति चेत् ? तथाप्यत्र योगजादृष्टप्रयोजकतया धर्मपदप्रयोग इति न वैषम्यम् ॥२१॥

के समान है तथा श्रुत, मति, अवधि, और मनःपर्याय इन चार ज्ञानों के प्रकर्ष पर पहुंचने के बाद प्रादुर्भूत होता है और जिसे 'प्रातिभज्ञान' के नाम से व्यवहृत किया जाता है ।

पातञ्जलदर्शन में जिसे 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा गया है वह जैनदर्शन का 'केवलज्ञान'[1] है, उससे संस्काराशय को वृद्धि होने को जो बात कही गई है वह ठीक नहीं है, क्यों कि संस्कार मति ज्ञान का ही एक भेद है जो केवलज्ञान के मूलभूत ज्ञानावरण के क्षय से ही क्षीण हो जाता है ।

असम्प्रज्ञात समाधि भी शुक्लध्यान का [2]अन्तिमपाद है और उसका कार्य वृत्तियों का निरोध नहीं है किन्तु भवोपग्राही संसार सम्पादक कर्मों का क्षय है ।

व्याख्याकार की दृष्टि में जैन शास्त्र से भिन्न सभी असर्वज्ञोक्त शास्त्र ज्वरपरवशमनुष्यों के प्रलाप के समान हैं जो [3]काकतालीय न्याय से किसी किसी बातों में सत्य उतर जाते हैं, पर सभी बातों में सत्य नहीं माने जा सकते ।

उक्त विचार के अनुसार यह सिद्ध है कि ध्यानस्वरूप तप ही मोक्ष का साधन है, और वह तप ज्ञान तथा क्रिया से पृथक् नहीं है, उनके व्यापारों में भी पार्थक्य नहीं है, ध्यान के घटक ज्ञान और क्रिया दोनों का व्यापार एक ही है और वह है भवोपग्राही कर्मों का क्षय । इस ध्यानात्मक तप का ही नाम है परमयोग-सर्वोत्कृष्ट योग।

मोक्ष के साधनभूत इस तप में धर्म पद की शक्ति आप्तवाक्य से ही सिद्ध होती है, क्योंकि इसमें धर्म पद का स्वारसिक-अनादि काल से स्वाभाविक प्रयोग होता है, और जिस अर्थ में जिस पद का स्वारसिक प्रयोग होता है उसमें उस पद की शक्ति

---

१. 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' तत्त्वार्थ १-३० और 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' तत्त्वार्थ० १०-१ । केवलज्ञान यह आत्मा का निरावरण ज्ञानस्वभाव है, और वह तीनों काल के समस्त अनन्त द्रव्य-पर्याय को विषय करता है ।

२. 'पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि' तत्त्वार्थ० ९-४१ ।

३. 'काके उपस्थिते तालस्य पतनम्'-काकतालीयो न्यायः । इस न्याय का आशय यह है कि जैसे स्वाभाविक कारणों से तालफल के किसी अवश्यंभावी पतन के समय दैववश वहां काक के उपस्थित हो जाने पर सामान्य जनों द्वारा वह तालपतन काक की उपस्थिति से जन्य मान लिया जाता है, पर वास्तव में वह तन्मूलक नहीं होता, क्योंकि अन्य तालपतन उसके अभाव में भी होते हैं; उसी प्रकार कोई भी कार्य अपनी सहज उत्पत्ति के समय दैववश उपस्थित होने वाले पदार्थ से असम्यग्दर्शी जनों द्वारा जन्य मान लिये जाने पर भी वस्तुतः तज्जन्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसी प्रकार से दूसरे कार्य अन्यथा भी उत्पन्न होता है ।

गूढाशयः पृच्छति 'धर्म' इति-

मूलम्- धर्मस्तदपि, चेत्सत्यं, किं न बन्धफलः स ? यत् ।
आशंसावर्जितोऽन्येऽपि किं नैवं ? चेन्न यत्तथा ॥२२॥

तदपि=शुद्धतपोऽपि धर्मो=धर्मव्यवहारविषयः ? गूढाशय एवोत्तरयति-इति चेत्, सत्यं-धर्मपदव्यवहारविषय एवेत्यर्थः । उद्घाटिताशयः पृच्छति-बन्धफलः=कर्मबन्धहेतुः, स धर्मः, किं न भवति ?, धर्मव्यवहारविषयत्वं हि शुभबन्धहेतुत्वेन सहचरितमुपलब्धम् । अतो ज्ञानयोगेनापि धर्मेण सता बन्धफलेन भवितव्यमिति परस्याशयः । व्यक्ताशय एव समाधत्ते-यत्=यस्माद्धेतोः, स धर्मः, आशंसावर्जितः, प्रसिद्धधर्मव्यापकधर्माभिधानमेतत्; अन्यो हि धर्मो बन्धहेतुः, अन्यश्चानीदृशः, अतो न धर्मव्यवहारविषयत्वेन बन्धहेतुत्वमस्य, सहचारमात्रेण व्याप्त्यग्रहात्, अन्यथा पार्थिवत्व-लोहलेख्यत्वयोरपि तद्ग्रहप्रसङ्गादित्याशयः । इदमेव व्यतिरेकाऽऽशङ्कानिरासेन दृढयति अन्येऽपि पुण्यलक्षणा धर्माः, एवम्=अबन्धफलाः, किं न ? इति चेत् ? यत्=यस्माद्धेतोः, तथा=आशंसावर्जिता न, अबन्धहेतुत्वनियतधर्माभावाभिधानमेतत् ।

ही मानी जाती है, उसमें उस पद की लक्षणा नहीं होती। यदि स्वारसिक प्रयोग के विषयभूत अर्थ में भी पद की लक्षणा मानी जायगी तो शक्ति और लक्षणा की मान्यता में कोइ विनिगमना-एकता की साधिका युक्ति न रह जायगी, फलतः किस अर्थ में किस पद की शक्ति मानी जाय और किस अर्थ में किस पद की लक्षणा मानी जाय इस बात का निर्णय न हो सकेगा।

यदि यह कहा जाय कि-धर्म पद की शक्ति अनुष्ठानजन्य अतिशय में ही होती है जिसे पुण्य कहा जाता है, देवार्चनआदि अनुष्ठान में धर्म पद का प्रयोग उस पुण्यात्मक धर्म का जनक होने के नाते ही होता है, स्वरसतः-स्वभावतः नहीं होता-तो ध्यानात्मकतपरूपयोग के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि योग से उत्पन्न होने वाला अदृष्ट ही वास्तव में धर्म है, उस धर्म का प्रयोजक होने से ही योग में धर्मपद का प्रयोग होता है। इसलिये स्वर्ग के साधन भूत शुभानुष्ठान और मोक्ष के साधनभूत तप की धर्मरूपता में-धर्मपदव्यवहारविषयता में कोइ वैषम्य नहीं है, दोनों ही स्वभाव से अथवा धर्म का प्रयोजक होने से धर्मपद से व्यवहृत होते हैं।

(शुद्ध तप भी धर्म है)

आशय को गूढ रखते हुये पूर्वपक्षकर्ता प्रश्न करता है कि-क्या शुद्ध तप भी धर्म है? आशय को गूढ रखते हुये ही उत्तरकर्ता उत्तर देता है-'हाँ शुद्ध तप भी सचमुच धर्म ही है।' अपना आशय प्रकट करते हुये पूर्वपक्षकर्ता पुनः प्रश्न करता है कि यदि शुद्ध तप भी धर्म है तो वह कर्मबन्धन का कारण क्यों नहीं होता? प्रश्नकर्त्ता का स्पष्ट आशय यह है कि 'जिसे धर्म कहा जाता है उसे तो शुभबन्ध का कारण होते देखा गया है; अतः यदि ध्यानयोग-शुद्धतप भी धर्म है तो उससे बन्धनरूप फल

"ननु इदमयुक्तमुक्तम्, एकस्यैव चारित्रस्य सरागत्ववीतरागत्वाभ्यां शुभबन्धमोक्षोभयहेतुत्वसम्भवात् । अत एव पूर्वतपः–पूर्वसंयमयोः स्वर्गहेतुत्वं 'भगवत्याम्' उक्तम् । न च बन्धमोक्षजनकतावच्छेदकरूपविभेदाद् नोक्त दोष इति वाच्यम् , सरागत्ववीतरागत्वातिरिक्ततज्जनकतावच्छेदकरूपकल्पने मानाभावात् । कर्मक्षयोपशम–क्षयजन्यतावच्छेदकयोरेव तज्जनकतावच्छेदकत्वमिति चेद ? एवं सति शैलेसीसमयभाविन एव चारित्रस्य मोक्षहेतुत्वपर्यवसाने ऋजुसूत्रनयाऽऽश्रयणप्रसङ्गादिति चेत् ?

का होना अनिवार्य है' । उत्तरकर्त्ता अपना आशय व्यक्त करते हुये इस प्रश्न का यह उत्तर देता है कि शुद्ध तप धर्म होते हुये भी आशंसावर्जित मोक्षान्यफल की कामना से अकृत होने के कारण कर्मबन्ध का कारक नहीं होता । उत्तरकर्त्ता का अभिप्राय यह है कि शुद्धतप में धर्मत्वरूप का जो अभिधान है वह धर्म में जिस रूप से बन्ध हेतुता प्रसिद्ध है उस रूपकी अपेक्षा व्यापक–अतिप्रसक्त रूप का अभिधान है। आशंसायुक्त धर्म बन्धका हेतु होता है, यह हेतुता सामान्य धर्मस्वरूप से न होकर आशंसायुक्त धर्मस्वरूप से होती है। अतः केवल धर्मत्व उस रूप का व्यापक-अतिप्रसक्त रूप है क्यों कि वह आशंसावर्जितधर्म में भी है, अतः शुद्ध तप में धर्मत्व होने पर भी बन्धहेतुता की प्रसक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि धर्म में धर्मत्व इस सामान्य रूप से बन्धहेतुता नहीं है । धर्मत्व और बन्धहेतुता का सहचार आशंसायुक्त धर्म में अवश्य है, पर इस सहचार मात्र से यहां व्याप्ति नहीं सिद्ध हो सकती कि 'जो जो धर्म होता है वह सभी बन्ध का हेतु होता है' । सहचार मात्र से यदि व्याप्ति मानी जायगी तो पार्थिवत्व में भी लोहलेख्यत्व की व्याप्ति माननी होगी । अर्थात् यह नियम स्वीकृत करना होगा कि 'जो भी पार्थिव पदार्थ होता है वह सब लोह से उत्किरण के लिये योग्य होता है' किन्तु यह नियम मान्य नहीं हो सकता क्यों कि वज्र पार्थिवपदार्थ होते हुये भी लोह से उत्किरण के लिये योग्य नहीं होता । ग्रन्थकार ने कारिका के अन्तिम भाग में व्यतिरेक की आशंका का निरास करते हुये इसी बातको दृढ किया है ।

व्यतिरेक की आशंका इस प्रकार होती है कि जैसे शुद्धतप धर्म होते हुये भी बन्ध का अहेतु है उसी प्रकार अन्य पुण्यधर्म भी बन्ध के अहेतु क्यों नहीं होते ? इसका उत्तर यह है कि अन्य पुण्यधर्म यतः आशंसावर्जित नहीं होते अतः वे बन्ध के अहेतु नहीं होते । अन्य पुण्यधर्मों में यह अबन्धहेतुता के व्यापकधर्म आशंसाराहित्य के अभाव का कथन है । व्यापकाभाव के कथन से व्याप्याभाव का बोध स्वाभाविक है । इस लिये आशंसाराहित्यरूप व्यापकधर्म का अभाव बता देने से अबन्धहेतुता रूप व्याप्यधर्म के अभाव—बन्धहेतुता का लाभ अनायास हो जाता है।

(शुद्धतप में केवल मोक्षजनकता का विधान असंगत–पूर्वपक्ष)

यहां पूर्वपक्ष इस प्रकार हो सकता है–'शुद्धतप मोक्ष का ही हेतु है बन्ध का नहीं, एवं अन्य पुण्यधर्म बन्ध के ही हेतु है, मोक्ष के नहीं'–यह कहना असंगत है क्यों कि एक ही चारित्र रागयुक्त होने से स्वर्ग का तथा रागहीन होने से मोक्ष का

सत्यम्, तदुपगृहीतव्यवहाराश्रयणेनैवेत्थमभिधानात्; शुद्धर्जुसूत्रनयेन तु ज्ञान-तपसोरन्यथासिद्धत्वं, तज्जन्यक्रियाया एव मोक्षोपपत्तेः। यदाह भगवान् भद्रबाहुः- "सद्दुज्जुसुआणं पुण निव्वाणं संजमो चेव" इति (आव. नि. गाथा ७८९)।

हेतु हो सकता है। इसी लिये 'भगवतीसूत्र' में सराग तप और सराग संयम को स्वर्ग का हेतु कहा गया है।

यदि यह कहा जाय कि- "चारित्रनिष्ठबन्धजनकता' तथा 'मोक्ष जनकता' के अवच्छेदक रूपों के भेद होने से एक चारित्र में बन्ध और मोक्ष की जनकता मानने पर भी उक्त कथन में कोइ असंगति नहीं है, क्योंकि शुद्धतप-संयम 'बन्ध जनकता के अवच्छेदक रूप से शून्य होने के कारण केवल मोक्ष का ही हेतु होता है, तथा अन्य पुण्यधर्म 'मोक्षजनकता के अवच्छेदक रूप से शून्य, होने के कारण केवल बन्ध के ही हेतु होते हैं'—

तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सरागत्व एवं वीतरागत्व से भिन्न बन्धजन-कता तथा मोक्षजनकता के अवच्छेदक रूपों की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है, और सरागत्व एवं वीतरागत्व शुद्ध तप में भी सम्भव है फलतः एक ही शुद्ध तप में सराग होने से बन्धहेतुता एवं वीतराग होने से मोक्षहेतुता-इन दोनों के सम्भव होने से शुद्ध तप को केवल मोक्ष का ही हेतु कहना संगत नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि—"चारित्र का उदय कर्मक्षयोपशम से भी होता है और कर्मक्षय से भी होता है, तो जिस रूप से चारित्र कर्म-क्षयोपशम से उत्पन्न होता है उस रूप से वह शुभ बन्ध का तथा जिस रूप से वह कर्मक्षय से उत्पन्न होता है उस रूप से वह मोक्ष का हेतु होता है, इस प्रकार सरागत्व और वीतरागत्व से भिन्न बन्धजनकता और मोक्षजनकता के अवच्छेदक रूपों के होने में कोई विवाद न होने से रूपभेद से एक ही चारित्र के बन्ध और मोक्ष का हेतु होने पर भी कर्मक्षयजन्य शुद्धतप को केवल मोक्ष का ही हेतु कहने में कोई अनौचित्य नहीं है"—

तो इस कथन को स्वीकार करने पर मुमुक्षु के शैलेशी अवस्था यानी १४ वे गुण-स्थानक के काल में जो अयोगीअवस्थापन्न चारित्रसम्पन्न होता है केवल उसी चारित्र में मोक्ष की हेतुता का पर्यवसान होगा, अर्थात् वही चारित्र मोक्षका हेतु होगा और इस बातको स्वीकार करने के लिये ऋजुसूत्र नय को आश्रय करने की आपत्ति आएगी। ऋजुसूत्रनय मात्र वर्तमानग्राही है इसलिये तत्काल कार्यकारी को ही कारण मानेगा। फलतः कालविलम्ब से कार्यकारी चारित्रादि कारण में मोक्ष के प्रति अहेतुता प्राप्त होगी।

(अर्ध स्वीकार से पूर्व आपत्ति का समाधान—उत्तर पक्ष)

इस पर टीकाकार का यह कहना है कि—शैलेशी अवस्था में होने वाले चारित्र में ही मोक्षहेतुता का पर्यवसान उचित ही है, क्यों कि शुद्धतप को जो मोक्ष का हेतु कहा गया है वह ऋजुसूत्रगर्भित व्यवहारनय की दृष्टि से कहा कहा गया है। शुद्ध ऋजु-सूत्र की दृष्टि से ज्ञान और तप दोनों ही मोक्ष के प्रति अन्यथा सिद्ध हैं, मोक्ष का उदय तो ज्ञान और तप के परिपाक से होनेवाली [1]क्रिया से ही सम्पन्न होता है।

१— यह क्रिया मुमुक्षु के द्वारा ज्ञान कैवल्य के बल पर शैलेशी अवस्थामें की जाती योगनिरोध की क्रिया, उसमें ही चतुर्थ शुक्लध्यान की क्रिया संभवित है।

यद्वा आशंसासाहित्यराहित्याभ्यां बन्ध-मोक्षजनकतावच्छेदकरूपभेद एवात्रोपवर्णितः । तथा 'अन्यः पुण्यलक्षणः' इत्यत्राऽन्यपदं च वैधर्म्यार्थकम्, अतो न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

परे तु 'तपस्त्व-चारित्रत्वाभ्यामेव मोक्षहेतुता, सङ्कोचे मानाभावात्, सरागताकालीनप्रशस्तसङ्गादेव स्वर्गोत्पत्तेः । वस्तुतः सरागतपसः स्वर्गहेतुत्वं "सविशेषणे हि०" इति न्यायेन रागमात्र एव पर्यवस्यति' इत्याहुः ।

अपरे तु—'मोक्षोद्देशेन क्रियमाणयोस्तपःसंयमयोर्मोक्षहेतुत्वमेव, स्वर्गस्य चानुद्देश्यत्वाद् न फलत्वम्, कर्मांशप्रतिबन्धाच्च न तदा मोक्षोत्पादः, ततो गत्यन्तरजनकाऽदृष्टाऽभावादर्थत एव स्वर्गोत्पत्तिः' इत्याहुः ।

सर्व एवैते सदादेशाः, भगवदनुमतविचित्रनयाऽऽश्रितमहर्षिवचनानुयायित्वादित्यवसेयम् ॥२२॥

भगवान भद्रबाहु ने भी आवश्यक सूत्रकी निर्युक्तिमें यह कहते हुये कि "शब्दनय और ऋजुसूत्रनय के अनुसार निर्वाण ही संयम है"- इसी बात की पुष्टि की है ।

अथवा आशंसासाहित्य एवं आशंसाराहित्य विशेषणों द्वारा बन्ध तथा मोक्ष की कारणता के अवच्छेदक रूप भेदों का ही वर्णन इस २२ वी कारिका में किया गया है। बीसवी कारिका में पुण्यलक्षण धर्म का जो 'अन्य' पद से निर्देश किया गया है उसका तात्पर्य उस धर्म को मोक्षजनक धर्म से भिन्न बताने में नहीं है किन्तु विधर्मा-विलक्षण बताने में है, क्योंकि 'अन्यः पुण्यलक्षणः' इस वाक्य में प्रयुक्त 'अन्य' शब्द भेदार्थक न हो कर वैधर्म्यार्थक है, और वह वैधर्म्य आशंसासाहित्य रूप ही है इसलिये तप को ही आशंसायुक्तप के रूप में स्वर्ग का तथा आशंसाहीनतप के रूप में मोक्ष का कारण मानने में कोइ अनुपपत्ति नहीं है ।

दूसरे विद्वानों का मत है कि-तप और चारित्र तपस्त्व और चारित्रत्वरूप से ही मोक्ष के कारण है, संकोच में अर्थात् तपस्त्व और चारित्रत्व से व्याप्य रूप से उन्हें मोक्ष का कारण मानने में कोइ प्रमाण नहीं है । स्वर्ग की उत्पत्ति तप और चारित्र से न हो कर सरागता काल में होने वाले प्रशस्तसङ्ग प्रशस्तराग यानी प्रशस्तकर्मानुष्ठान के ममत्व से ही सम्पन्न होती है । वस्तुगत्या 'सरागतप स्वर्ग का हेतु है' इस विधान में 'सविशेषणे हि०' न्याय से स्वर्गहेतुता का पर्यवसान राग में होता है । न्याय यह है—'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः'-अर्थात् कोइ विधि या निषेध विशेषण युक्त किसी विशेष्य में प्रतिपादित किया जाता है तब वह विधि या निषेध विशेषण मात्र में लागु होता है । जैसे कि कहा गया-'अनीतिमयव्यापार दुःख का कारण है', यहां दुःख की कारणता ऐसे तो अनीतिमयतायुक्त व्यापार में बताई गई, किन्तु फलित यह है कि दुःखकारणता विशेषण 'अनीतिमयता' में हैं। इसी प्रकार यहां सराग

उक्तधर्मद्वैविध्यं शब्दान्तरेण तन्त्रान्तरेऽपि सम्मतमित्याह–'भोग' इति–

मूलम्—भोगमुक्तिफलो धर्मः स प्रवृत्तीतरात्मकः ।
सम्यङ्मिथ्यादिरूपश्च गीतस्तन्त्रान्तरेष्वपि ॥२३॥

भोगफल एको धर्मः, अन्यश्च मुक्तिफल इति शैवाः । प्रवृत्यात्मक एकः, निवृत्त्यात्मकश्चान्य इति त्रैविद्यवृद्धाः। सम्यग्रूप एकः मिथ्यारूपश्चान्य इति शाक्यविशेषाः। आदिपदाद् हेयोपादेयाऽभ्युदयनिःश्रेयसपरिग्रहः । एवं 'तन्त्रान्तरेषु'–जैनातिरिक्तदर्शनेष्वपि, अयं द्विभेद उक्तः ।

तप में स्वर्गहेतुता कहने का तात्पर्य यह फलित होता है कि स्वर्गहेतुता प्रशस्तराग में है । तपस्त्वेन तप तो कर्मक्षय का हेतु है ।

अन्य मनीषियों का मत है कि जो तप और संयम मोक्ष के उद्देश्य से किये जाते हैं वे मोक्ष के ही हेतु होते हैं उद्देश्य न होने से स्वर्ग उनका फल नहीं होता, किन्तु वे ही तप और संयम जब मोक्ष के उद्देश्य से सम्पादित नहीं होते तब उनसे मोक्ष की उत्पत्ति नहीं होती, चूँकि भोगार्थ बचे हुए कर्म के अंश से मोक्ष का प्रतिबन्ध हो जो जाता है ।

प्रश्न हो सकता है कि–क्या मोक्ष को उद्दिष्ट न करके किये गये तप और संयम निरर्थक ही होते हैं ? उत्तर यह है कि नहीं–निरर्थक नहीं होते, किन्तु स्वर्ग से भिन्न किसी दूसरी गति का जनक अदृष्ट न होने से किसी अन्य गति की उत्पत्ति न हो कर उनसे स्वर्ग की ही उत्पत्ति होती है, क्योंकि मुमुक्षु के पवित्र जीवन में स्वर्ग के जनक अदृष्ट की ही सामग्री सदैव सन्निहित रहती है ।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि तप और संयम से स्वर्ग एवं मोक्ष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो मत प्रस्तुत किये गये हैं वे सब भगवान महावीर को अनुमत विविधनयों पर आश्रित महर्षि-वचनों के अनुगामी होने से सदुपदेश=सम्यग् उपदेश रूप हैं ॥२२॥

२३ वीं कारिका से यह बात बतायी गयी है कि–धर्म के जो दो भेद कहे गये हैं, वे शब्दान्तर से अन्य शास्त्रों में भी स्वीकृत है । जैसे शैवों का यह मत है कि धर्म दो है–एक भोगफलक और दूसरा मोक्षफलक । वेदों के विशिष्ट विद्वानों का मत है कि धर्म के दो रूप हैं–एक प्रवृत्तिरूप और दूसरा निवृत्तिरूप । बौद्धों का भी यह मत है कि धर्म के दो रूप है–एक सम्यग्रूप और दूसरा मिथ्यारूप । कारिका के तीसरे पाद में मिथ्या शब्द के उत्तर जो 'आदि' पद सुन पड़ता है उससे हेय उपादेय तथा अभ्युदय और निःश्रेयस का ग्रहण-अभिमत हैं । उसके अनुसार धर्म के बारे में यह बात होता है कि धर्म दो है एक हेय के त्यागरूप और दूसरा उपादेय के आदररूप । अथवा एक अभ्युदय का साधन और दूसरा निःश्रेयस का साधन । इस प्रकार जैन शास्त्र से भिन्न दूसरे दर्शनशास्त्रों में भी धर्म के दो रूप बताये गये हैं ॥२३॥

आगम के प्रामाण्य में जिन्हें विप्रतिपत्ति है, उन्हें आगम से सज्ञानयोग–सम्यग् ज्ञानरूप योग की प्रामाणिकता नहीं बतायी जा सकती, अतः उन्हें २४ वीं कारिका

आगमविप्रतिपन्नं प्रति संज्ञानयोगे कार्यान्यथानुपपत्तिं प्रमाणयति-तमन्तरेण इति—

मूलम्—तमन्तरेण तु तयोः क्षयः केन प्रसाध्यते ?
सदा स्यान्न कदाचिद्वा यद्यहेतुक एव सः ॥२४॥

तमन्तरेण तु-संज्ञानयोगं विना तु, तयोः—धर्माऽधर्मयोः, क्षयः केन हेतुना प्रसाध्यते ? न केनापि तथाविधहेत्वनुपलम्भादहेतुक एवायमस्तु, सहेतुकविनाशस्य दुःश्रद्धानत्वादिति बौद्धाशङ्कायामाह-यद्यहेतुक एव=हेतुरहित एव, सः—धर्माधर्मोभयक्षयः, तदोत्पत्तिस्वभावत्वे सदैव स्याद्, अनुत्पत्तिस्वभावत्वे कदापि वा न स्यात् । 'कदाचिदुत्पत्तिस्वभावत्वाद् न सदैव स्यादि'ति चेत् ? तर्हि कालान्तरेऽप्युत्पत्तिप्रसङ्गः । 'तदहरेवोत्पत्तिस्वभावत्वाद् नान्यदोत्पत्तिः' इति चेत् ? तर्हि तत्तद्धेतुसकाशादेवोत्पत्तिस्वभावत्वादायातं सहेतुकत्वम् । 'आकाश(त्व)स्य कदाचित्कत्ववत् कादाचित्कत्वमप्यत्र न नहेतुनियम्यमि'ति चेत् ? न, कादाचित्कत्वस्याऽवधिनियतत्वात् । 'सन्त्ववधयः, न तु तेनाऽपेक्ष्यन्त' इति चेत् ? न, नियतपूर्ववृत्तित्वस्यैवापेक्षार्थत्वाद्, अन्यथा 'गर्दभाद् धूमः' इत्यपि प्रमीयेतेति । अधिकमुपरिष्टाद् वक्ष्यते ॥ २४ ॥

द्वारा कार्य की अन्यथाऽनुपपत्तिरूप प्रमाण से उसकी प्रामाणिकता बतायी जा रही है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

प्रश्न : संज्ञानयोग को स्वीकार न करने पर धर्म और अधर्म का क्षय किस हेतु से सम्पन्न होगा ?

उत्तर : विचार करने पर उसका अन्य कोई हेतु नहीं सिद्ध होता, अतः धर्माधर्मक्षयरूप कार्य की अन्यथा उपपत्ति न होने से उसके उपपादक रूपमें संज्ञानयोग को स्वीकार करना अनिवार्य है ।

(निरन्वयनाशवादी बौद्धमत का खण्डन)

इस विषय में बौद्धों का कथन यह है कि—"विनाश को सहेतुक मानना शक्य नहीं है, क्योंकि यदि विनाश सहेतुक होगा तो जिस जन्य पदार्थ के विनाश का हेतु कभी सन्निहित न होगा, उस जन्य पदार्थ को अविनाशी मानना होगा, जो उचित नहीं है, क्योंकि जन्य पदार्थ के विनाश की अनिवार्यता सर्वसम्मत तथ्य है, इसलिये यह संकट न उपस्थित हो एतदर्थ विनाश को अहेतुक ही मानना उचित है । अतः धर्म और अधर्म का विनाश भी बिना हेतुके ही उपपन्न हो जायगा, इसलिये उसके उपपादनार्थ संज्ञानयोग की कल्पना नहीं की जा सकती" ।

इस कथन का निराकरण कारिका के उत्तरार्ध में इस प्रकार किया गया है कि—धर्म और अधर्म के क्षय को अहेतुक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अहेतुक मानने पर यदि उसे उत्पत्ति स्वभाव माना जायगा तो सभी काल में उसका अस्तित्व मानना पड़ेगा, क्योंकि उत्पत्ति स्वभाव होने के कारण वह कभी अनुत्पन्न न रह सकेगा और यदि उसे अनुत्पत्ति स्वभाव माना जायगा तो किसी भी काल में उसका अस्तित्व न होगा चूंकि

अनुत्पत्ति स्वभाव होने के कारण वह कभी उत्पन्न न हो सकेगा; और उत्पन्न हुये विना अस्तित्व में न आ सकेगा

यदि यह कहा जाय कि-'कदाचित् ही उत्पन्न होना उसका स्वभाव है, अतः सभी काल में उसकी उत्पत्ति और सभी काल में तत्प्रयुक्त उसकी स्थिति की आपत्ति नहीं हो सकती'—तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि कदाचित् ही उत्पन्न होना उसका स्वभाव होगा तब भी उसके विषय में यह प्रश्न उठेगा कि वह किसी नियतकाल में ही क्यों उत्पन्न होता है ? कालान्तर में क्यों नहीं उत्पन्न होता ? इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि-'अमुक काल विशेष में ही उत्पन्न होना उसका स्वभाव है, अतः अन्यकाल में उस की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती'-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर वह अहेतुक न हो सकेगा। इसका कारण यह है कि यदि उसे सहेतुक न मान कर अहेतुक माना जायगा तो उसके लिये सभी काल समान होने से-'अमुक काल विशेष में ही उत्पन्न होना उसका स्वभाव है'-उसका यह स्वभाव ही न बन सकेगा। यह स्वभाव तो तभी बन सकेगा जब उसे सहेतुक माना जाय, क्योंकि सहेतुक मानने पर यह कल्पना की जा सकेगी कि-जिस काल में उसके हेतुओं का सन्निधान होता है उसी काल में उत्पन्न होना उसका स्वभाव है।

यदि यह कहा जाय कि-"जैसे अहेतुक आकाश के धर्म आकाशत्व का क्वाचित्कत्व=किसी आश्रय विशेष में ही रहने का स्वभाव-हेतु नियम्य नहीं है, उसी प्रकार धर्माधर्म के क्षय का कादाचित्कत्व=किसी कालविशेष में ही उत्पन्न होने का स्वभाव भी हेतु-नियम्य नहीं है, यह मानने में कोई बाधा नहीं है,"-तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कादाचित्कत्व का अवधिनियम्य होना सर्वसम्मत है। यदि यह कहा जाय कि-"अवधि-नियम्य होने पर भी वह हेतु-नियम्य नहीं हो सकता, क्योंकि अवधि उसके उत्पत्ति के लिये अपेक्षणीय न होने से उसका हेतु नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी उत्पत्तिमान् पदार्थ का अवधि वही पदार्थ होता है जो उसकी उत्पत्ति के पूर्व उसके उत्पत्तिस्थल में नियम से विद्यमान हो। तो जो पदार्थ जिस उत्पत्तिमान् का ऐसा अवधि होगा, वह उस उत्पत्तिमान् की उत्पत्ति में अपेक्षणीय होने से उसका हेतु अवश्य होगा, क्योंकि किसी उत्पत्तिमान् की उत्पत्ति के पूर्व उसके उत्पत्तिस्थल में नियम से किसी का विद्यमान होना जो आवश्यक है वही उत्पत्ति के लिये उत्पत्तिमान द्वारा उसका 'अपेक्षणीय' होता है। और इस प्रकार उसके अपेक्षणीय होने का ही अर्थ है उत्पत्तिमान के प्रति उसका हेतु होना।

यदि यह कहा जाय कि-'अवधि' और 'हेतु' के लक्षण में ऐक्य नहीं है किन्तु पार्थक्य है, और वह इस प्रकार कि जो पदार्थ जिस उत्पत्तिमान् की उत्पत्ति के पूर्व उत्पत्ति-स्थल में विद्यमान हो वह उसकी 'अवधि' है, और जो उत्पत्तिमान् की उत्पत्ति के पूर्व उसके उत्पत्ति स्थल में नियम से विद्यमान हो वह उसका 'हेतु' है। अतः लक्षणभेद के कारण अवधि और हेतु में भेद होने से धर्माधर्मक्षय में सावधित्व सिद्ध होने से सहेतुकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अवधि के लक्षण में नियमांश का प्रवेश न करने पर जो जिसका अनियत पूर्ववर्ती है वह भी उसका अवधि हो जायगा, फलतः 'गर्दभ' धूम का अनियतपूर्ववर्त्ती होने पर भी उसका अवधि होगा और उसका

फलितमाह–'तस्मादि'ति—

मूलम्–तस्मादवश्यमेष्टव्यः कश्चिद्धेतुस्तयोः क्षये ।
स एव धर्मो विज्ञेयः शुद्धो मुक्तिफलप्रदः ॥२५॥

तस्मात्=कादाचित्कत्वस्य सहेतुकत्वव्याप्यत्वाद्, अवश्यं कश्चित्, तयोः=धर्माऽधर्मयोः क्षये हेतुरेष्टव्यः=अङ्गीकर्तव्यः । य एव चानयोः हेतुः स एव शुद्धः सर्वाशंसारहितः, मुक्तिलक्षणफलप्रदः, धर्मो धर्मपदवाच्यः, मन्तव्यः श्रद्धेयः ॥२५॥

चोद्यशेषं परिहरति 'धर्माऽधर्मे'ति—

मूलम्–धर्माऽधर्मक्षयाद् मुक्तिर्यच्चोक्तं पुण्यलक्षणम् ।
हेयं धर्मं तदाश्रित्य, न तु संज्ञानयोगकम् ॥२६॥

यच्च 'धर्माऽधर्मक्षयाद् मुक्तिः' इत्युक्तं, तत् पुण्यलक्षणं हेयं=त्याज्यं धर्ममाश्रित्य–प्रकृतधर्मपदशक्तिग्रहविषयीकृत्य, न तु संज्ञानयोगसंज्ञं धर्ममाश्रित्य, तेन न बाध इति सर्वमवदातम् ॥२६॥

दुष्परिणाम यह होगा कि–'गर्दभाद् धूमः धूम गर्दभावधिक है'–इस प्रतीति में प्रमात्व की आपत्ति होगी । अतः अवधि और हेतु के लक्षण में उक्त रूप से पार्थक्य की कल्पना उचित न होने से अवधि और हेतु में ऐक्य होने के कारण धर्माधर्मक्षय के सावधि होने का अर्थ होगा सहेतुक होना, और यह सहेतुकता संज्ञानयोग को छोड़ किसी अन्य हेतु द्वारा सम्भव नहीं है–अतः धर्माधर्मक्षय के हेतुरूप में संज्ञानयोग की कल्पना अपरिहार्य है ॥२४॥

२५ वीं कारिका में पूर्वोक्त विचारों का निष्कर्ष बताते हैं—

कादाचित्कत्व अर्थात् समूचे काल में न हो कर कुछ ही काल में होना, यह सहेतुकत्व का व्याप्य है 'जहाँ जहाँ कादाचित्कत्व है वहां वहां सहेतुकत्व होता ही है', इस व्याप्ति के कारण धर्माऽधर्म के क्षय का कोई हेतु मानना आवश्यक है, क्योंकि वह भी सार्वदिक न हो कर कादाचित्क ही होता है । तो जो ही धर्माधर्म के क्षय का हेतु माना जायगा उसे ही मुक्ति रूप फल को देने वाला 'शुद्ध'–समस्तफलकामनाओं से शून्य धर्म मानना चाहिये ॥२५॥

२६ वीं कारिका में अवशिष्ट प्रश्नों का समाधान किया जा रहा है–

शुद्ध धर्म को मोक्ष का हेतु मानने पर यह प्रश्न उठता है कि जब मोक्ष भी धर्म से ही उत्पाद्य है तब धर्म और अधर्म दोनों के क्षय को जो मोक्ष का कारण कहा गया है वह कैसे संगत होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि धर्माधर्म के क्षय को जो मोक्ष का हेतु कहा गया है, वह पुण्यलक्षण त्याज्य धर्म को 'धर्म' पद का अर्थ मान कर कहा गया है, न कि संज्ञानयोग नामक धर्म को धर्म पद का अर्थ मान कर कहा गया है । अतः शुद्ध धर्म को मोक्ष का हेतु कहने से 'धर्माधर्म के क्षय से मोक्ष का उदय होता है' इस कथन का बाध नहीं हो सकता । फलतः मोक्षकारणता के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह सब निर्दोष है । 'संज्ञानयोगक' शब्द में 'योग' शब्द के उत्तर जो 'क' शब्द

पर्यवसितमाह 'अत' इति--

मूलम्—अतस्तत्रैव युक्ताऽऽस्था यदि सम्यङ् निरूप्यते ।
संसारे सर्वमेवान्यद् दर्शितं दुःखकारणम् ॥२७॥

अतः=पूर्वपक्षोक्तयुक्तिनिरासात्, तत्रैव=धर्म एव आस्था युक्ता, यदि सम्यग्=आगमोपपत्त्यनुसारेण, निरूप्यते=विचार्यते, प्रतिपक्षप्रवृत्तिनिरासायोक्तमेव स्मारयति-संसारे सर्वमेवान्यद् -धर्मातिरिक्तं, दुःखकारणं=केवलदुःखमयं दर्शितम्–"अनित्यः प्रियसंयोगः"....(का०१२) इत्यादिना ।

अत्रेदं पतञ्जलिसूत्रम्–"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (पात० २–१५) इति । राग एव हि प्रवृद्धभूतः सन् विषयप्राप्त्या सुखं परिणमते । तस्य च प्रतिक्षणं प्रवर्धमानत्वेन स्वविषयाऽप्राप्तिनिबन्धनदुःखस्य दुष्परिहारत्वात् परिणामदुःखता । तथा, सुखमनुभवन् दुःखसाधनानि द्वेष्टि, तदपरिहारक्षमश्च मुह्यतीति तापदुःखता । तथा वर्तमानसुखानुभवः स्वविनाशकाले संस्कारमाधत्ते, स च सुखस्मरणं, तच्च रागं, स च मनःकायवचनप्रवृत्तिं, सा च पुण्यापुण्यकर्माशयौ, तौ च जन्मादीनि, इति संस्कारदुःखता एवं कालत्रयेऽपि सुखस्य दुःखानुषङ्गाद् दुःखरूपता सिद्धा । उद्भूतसत्त्वकार्यत्वेऽपि सुखस्याऽनुद्भूतरजस्तमःकार्यत्वात् स्वभावतोऽपि दुःखविषादरूपता, समवृत्तिकानामेव हि गुणानां युगपद्विरोधः, न तु विषमवृत्तिकानाम्, इत्येकदोद्भूताऽनुद्भूततया न सुखदुःखमोहविरोधः ॥२७॥

सुन पड़ता है वह संज्ञा अर्थ में 'क' प्रत्यय करने से अस्तित्व में आया है । अतः 'संज्ञानयोगक' का अर्थ है संज्ञानयोगनामक' । संज्ञानयोग का अर्थ है सम्यग्ज्ञानरूप योग ॥२६॥

(विवेकीजनों के लिये धर्म से भिन्न सब दुःखमय है ।)

२७ वीं कारिका में पूर्व के पूरे कथन का निष्कर्ष बताया जा रहा है--

यदि आगम और युक्ति के अनुसार मोक्ष के कारण का विचार किया जाय तो मोक्ष के हेतु के रूप में धर्म में ही आस्था करना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि पूर्व पक्ष में धर्म के विपरीत कही गयी समस्त युक्तियों का निषेध किया जा चूका है । कारिका के उत्तरार्ध में प्रतिकूलपक्ष की प्रवृत्ति के निराकरणार्थ पूर्वोक्त का स्मरण कराते हुये कहा गया है कि संसार में धर्म से भिन्न जो कुछ है वह सब दुःख का कारण है, पूर्ण रूप से दुःखमय है । यह तथ्य 'अनित्यः प्रियसंयोगः' इत्यादि श्लोक द्वारा प्रतिपादित किया गया है ॥२६॥

इस संदर्भ में पतञ्जलि का यह सूत्र ध्यान देने योग्य है कि "परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (यो. सू. २-१५), अर्थात् विवेकीजनों की दृष्टि से संसार का सब कुछ यहाँ तक कि सांसारिक विषयों से उपलब्ध होने वाला

सुख भी दुःखरूप ही है, इस सूत्र में सांसारिक विषयों को चार प्रकार से दुःखरूप बताया है - परिणाम से, तापसे, संस्कार से तथा स्वरूप से ।

(परिणाम से विषयों की दुःखरूपता)

(१) परिणाम से दुःखरूपता का आशय है कि संसार के जिन विषयों से मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है उनमें मनुष्य का राग हो जाता है जो विषयसुखानुभव से निरन्तर उपचित होता रहता है और जिसके वशीभूत हो कर मनुष्य इस बात की चेष्टा करने लगता है कि जिन विषयों से उसे सुख का अनुभव हुआ है वे उसे सदा सुलभ रहें, तथा उन जैसे नये नये विषयों पर उत्तरोत्तर उसका अधिकार होता चले किन्तु जब वे विषय नष्ट होने लगते हैं, या उसके अधिकार से निकलने लगते हैं, अथवा उस प्रकार के नये विषयों की प्राप्ति में बाधायें खडी होने लगती हैं तब उसे दुस्सह दुःख की अनुभूति होती है , इस प्रकार संसार के सुखद विषय भी परिणाम में दुःख में पर्यवसित हो जाते हैं, परिणाम में दुःख में पर्यवसित होना ही विषयों की परिणामदुःखता है ।

(ताप से विषयों की दुःखरूपता)

(२) ताप से विषयों की दुःखरूपता का आशय यह है कि संसार के जिन विषयों के सम्पर्क से मनुष्य को दुःख का अनुभव होता है उनके प्रति तथा संसार के प्रिय विषयों की प्राप्ति में जो बाधक होते हैं उनके प्रति एवं संसार के दुःखद विषयों तथा प्रिय विषयों की प्राप्ति में उत्पन्न होने वाली बाधाओं के जो कारण होते हैं उनके प्रति मनुष्य के मन में द्वेष का उदय होता है जिससे उसका वर्तमान सुखानुभव भी दुष्प्रभावित हो जाता है ।

फलतः ऐसे विषयों से वह अपना गला छुडाने का प्रयत्न करता है और जब वह अपने इस प्रयत्न में असफल होता है तब उसे तीव्र ताप की अनुभूति होती है, इस प्रकार संसार के विषय तापका जनक होने से दुःखात्मक बन जाते हैं, सांसारिक विषयों की यह तापजनकता ही उनकी तापदुःखता है ।

(संस्कार से विषयों की दुःखरूपता)

(३) विषयों की संस्कारदुःखता का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को जब सांसारिक विषयों से सुख या दुःख का अनुभव होता है तब उस अनुभव से मनुष्य के मन में इस प्रकार का संस्कार उत्पन्न हो जाता है कि संसार के अमुक विषय सुख के तथा अमुक विषय दुःख के उत्पादक हैं । इस संस्कार से कुछ विषयों के प्रति उसे राग और कुछ के प्रति उसे द्वेष उत्पन्न होता है । फिर वह राग के विषयों को प्राप्त करने और द्वेष के विषयों को दूर करने के लिये मन वचन और शरीर से अनेक प्रकार की चेष्टायें करता है, इन चेष्टाओं से पुण्य-पापकी उत्पत्ति होती है जो मनुष्य को पुनर्जन्म लेने और उसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के सांसारिक दुःख में पडने को उसे विवश करती हैं । इस प्रकार संस्कार द्वारा विषयों का दुःखदायी होना ही उनकी संस्कारदुःखता है ।

(४) इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि संसारका सुख तीनोंकाल में दुःख से अनुसक्त होता है और इसी कारण वह पुरा का पुरा दुःखात्मक होता है । विषयसुख दुःख से

तदेवं 'धर्म एव मुक्ताऽऽस्था' इति समर्थितम् । तस्माद् मुक्त्युत्पत्तिप्रकारश्चावश्यवक्तव्योऽपि प्रतिबन्धकशिष्यजिज्ञासासत्त्वाद् नेदानीं वक्ष्यते, पुरस्तादेव चावसरसंगत्या वक्ष्यत इत्याह–'तस्माच्च'ति—

मूलम्—तस्माच्च जायते मुक्तिर्यथा मृत्यादिवर्जिता ।
तथोपरिष्टाद् वक्ष्यामः सम्यग् शास्त्रानुसारतः ॥२८॥

अनुसक्त होने के कारण ही दुःखरूप नहीं होता अपितु स्वरूप से भी दुःखात्मक होता है, और वह इसलिये कि सुख की उत्पत्ति जिस उद्भूतसत्त्वगुण से होती है उसमें अनुद्भूतरजोगुण और तमोगुण का भी मिश्रण होता है । अतः उद्भूतसत्त्वगुण से सुख की उत्पत्ति के साथ अनुद्भूत रज से दुःख और अनुद्भूत तम से विषाद की भी उत्पत्ति होती है. और जैसे सत्त्व रज तथा तम आपस में मिले जुले होते हैं किसी का पृथक् अस्तित्व नहीं होता उसी प्रकार उनसे उत्पन्न होने वाले सुख, दुःख और विषाद भी परस्पर में मिले जुले होते हैं, उनमें भी किसी का पृथक् अस्तित्व नहीं होता। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों में जब कोई एक गुण उद्रिक्त हो कर अन्य दो गुणों को दबा कर अपने कार्य को उत्पन्न करता है, तब उस कार्य के प्रति केवल वह उद्रिक्त गुण ही कारण नहीं होता किन्तु उद्रिक्तगुण द्वारा दबाये गये अन्य दो गुण भी उसके कारण होते हैं, फलतः उद्रिक्तसत्त्व से उत्पन्न होनेवाला सुख अनुद्रिक्त रज और तम से भी उत्पन्न होने के कारण दुःख और विषाद उभयात्मक होता है । इस प्रकार प्रत्येक सांसारिक सुख दुःखानुसक्त होने से दुःखात्मक होने के साथ ही दुःख के कारण से उत्पन्न होने के कारण स्वरूप से भी दुःखात्मक होता है ।

यदि यह कहा जाय कि 'सुख, दुःख और मोह का सह अनुभव न होने से उनमें विरोध मानना आवश्यक है, अतः इन विरोधीभावों का एक काल में उदय या उनमें परस्पर तादात्म्य मानना असंगत है'–तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उन भावों का समानरूप में ही विरोध होता है विषमरूप में नहीं । अतः उक्त तीनों भाव उद्भूत अनुद्भूत रूप में न तो सह उत्पन्न ही हो सकते हैं, और न उनमें परस्पर तादात्म्य ही हो सकता है । पर अनुद्भूत दुःख और मोहके साथ उद्भूत सुख के उत्पन्न होने में अथवा सुख में अनुद्भूत दुःख और मोह का तादात्म्य होने में कोई विरोध या असंगति नहीं है । सूत्र के "गुणवृत्तिविरोधाच्च" इस अंश से यही बात कही गई है जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि समवृत्तिक गुणों में ही विरोध होता है, विषमवृत्तिक गुणों में विरोध नहीं होता । अतः एक काल में एक ही धर्म के उद्भूत रूप में सुख, दुःख और मोहरूप होने में कोई विरोध नहीं है ।

उक्त रीति से इस बात का समर्थन किया गया कि शुद्ध धर्म मुक्ति का साधन है अतः धर्म में ही आस्था रखना उचित है । इस समर्थन के अनन्तर मुक्ति की उत्पत्ति किस प्रकार होती है इस बात का ही प्रतिपादन करना उचित है, किन्तु ग्रन्थकार ने ऐसा नहीं किया है, व्याख्याकार के अनुसार इसका कारण यह है कि मुक्ति के साधन

'तस्माद्'=धर्मात् च यथा येन प्रकारेण, मृतिः=आयुःक्षयः, आदिना रोगशोकादिपरिग्रहः, तद्वर्जिता=तद्रहिता, मुक्तिः=निर्वृतिः, यथा भवति तथोपरिष्टाद् अग्रे, सम्यग् अविरोधेन, शास्त्रानुसारतः शास्त्रतात्पर्यं परिगृह्य वक्ष्यामः ॥२८॥

इदानीं तु प्रसङ्गसङ्गत्या शास्त्रपरीक्षैव क्रियते इत्याह—

मूलम्- इदानीं तु समासेन शास्त्रसम्यक्त्वमुच्यते ।
कुवादियुक्त्यपव्याख्यानिरासेनाऽविरोधतः ॥२९॥

इदानीं तु समासेन=संक्षेपेण, विस्तारतस्तत्करणे त्वायुःपर्यवसानात्, शास्त्रस्य सम्यक्त्वं=प्रामाण्याऽप्रामाण्यविभाग उच्यते । कथम् ? इत्याह कुवादिनां चार्वाकमीमांसकादीनां युक्तयश्चापव्याख्याश्च कुवादियुक्त्यपव्याख्याः, तासां निरासेन बलवत्प्रमाणबाध्यत्वभ्रान्तिमूलकत्वोपदर्शनेन, अविरोधतः तदापादितविरोधाऽऽशङ्कानिरासादिति भावः ॥२९॥

भूतधर्म की चर्चा हो जाने के पश्चात् शिष्य को यह जिज्ञासा होती है कि—'इस विषय में किस शास्त्र को प्रमाण माना जाय और किस शास्त्र को प्रमाण न माना जाय' ? अतः जब तक इस जिज्ञासा को शान्त न कर दिया जाय तब तक किसी अन्य विषय का प्रतिपादन समीचीन नहीं हो सकता, क्योंकि जिज्ञासा के अनुसार किये जाने वाला वस्तु प्रतिपादन ही संगतप्रतिपादन माना जाता है ।

यह कहना कि-"मुक्ति के साधनभूत धर्म का प्रतिपादन करने के बाद मुक्ति की उत्पत्ति के प्रकार का प्रतिपादन ही अवसरप्राप्त है"—ठीक नहीं है, क्योंकि एक वस्तु के प्रतिपादन पश्चात् दूसरी वस्तु के अवश्यवक्तव्य होने मात्र से ही दूसरी वस्तु का प्रतिपादन अवसरप्राप्त नहीं माना जा सकता, अवश्यवक्तव्य होने पर भी उसके प्रतिपादन का अवसर तभी मान्य हो सकता है जब किसी अन्य वस्तु की जिज्ञासा न हो क्योंकि विरोधिनी जिज्ञासा के अभाव में ही अवश्यवक्तव्य को अवसरसंगति माना गया है । प्रस्तुत में शिष्य को उक्त विरोधिनी जिज्ञासा होने के कारण मुक्ति की उत्पत्ति के प्रकार का प्रतिपादन करने में उपयुक्त अवसरसंगति का अभाव है, अतः उसका प्रतिपादन बाद में किया जायगा। कारिका २८ में यही बात कही गई है-'रोग, शोक, जन्म, जरा, मृत्यु आदि समस्त दुःखकारणों से रहित मुक्ति जिस प्रकार धर्म द्वारा प्राप्त की जाती है उसे शास्त्रतात्पर्य के आधार पर अविरुद्ध रीति से आगे बताया जायगा' ॥२८॥

इस समय तो प्रसङ्गसङ्गति के अनुरोध से शास्त्र के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की ही परीक्षा करनी है यह आशय २९ वीं कारिका से बता रहे हैं-'शास्त्र के सम्यक्त्व का अर्थात् इसके प्रामाण्य-अप्रामाण्य का प्रतिपादन यदि विस्तार से किया जाय तो उसमें मनुष्य की पूरी आयु ही समाप्त हो जायगी, वह और कोई बात न जान ही सकेगा, और न कुछ कर ही सकेगा । अतः संक्षेप से ही शास्त्र के प्रामाण्य अप्रामाण्य का प्रतिपादन किया जायगा। प्रतिपादन की विधि यह होगी कि चार्वाक मीमांसक आदि समस्त कुवादियों ने भौतिक और आध्यात्मिक विचारों के क्षेत्र में जिन कुयुक्तियों का प्रयोग किया है तथा पदार्थों की जो अनर्गल व्याख्यायें की हैं उन सभी को प्रबल प्रमाणों से बाधित और भ्रममूलक बताया जायगा । साथ ही उन कुवादियों ने जैन मान्यताओं के सम्बन्ध में जो विरोध और असंगति की शङ्का उपस्थित की है उसका प्रतिकार भी किया जायगा' ॥२९॥

तत्रादौ चार्वाकयुक्तीर्निराचिकीर्षुस्तन्मतोपन्यासमाह—'पृथिव्यादी'ति ।

मूलम्—पृथिव्यादिमहाभूतमात्रकार्यमिदं जगत् ।
न चात्मा, दृष्टसद्भावं मन्यन्ते भूतवादिनः ॥३०॥

इदं=प्रत्यक्षोपलभ्यमानं, जगत्=चराचरम्, पृथिव्यादीनि=पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणानि यानि चत्वारि महाभूतानि, तन्मात्रकार्यम् । मात्रपदेनाकाशादिव्यवच्छेदः । नन्वात्मन एव न तथात्वम्, इत्यत आह—न चात्मा शरीरातिरिक्तोऽहम्प्रत्ययालम्बनमस्ति—'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' इति वचनात् । एवं भूतवादिनः=लौकायतिकाः,=दृष्टसद्भावं—प्रत्यक्षवस्तुन एव पारमार्थिकत्वं मन्यन्ते, नादृष्टस्य, तत्र मानाभावात् ।

(निराकरण करने के लिये चार्वाकमत का उपन्यास)

कुवादियों के मतों के खण्डन का उपक्रम करते हुये सर्वप्रथम चार्वाक की युक्तियों का निराकरण करने के अभिप्राय से ३०वीं कारिका में चार्वाक का मत प्रस्तुत किया गया है, कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

यह संसार, जिसका हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, जिसमें सभी चर-चलने फिरने वाले पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी प्रकार के प्राणी, तथा सभी अचर-चलने फिरने में अशक्त-जन्म से विनाश तक एक ही स्थान में स्थित रहने वाले पहाड़ आदि सभी जड़ पदार्थ अन्तर्भूत हैं, वे सब पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार महाभूतों से ही उत्पन्न होते हैं, इन चारों से भिन्न आकाश आदि किसी भी पदार्थ का इस संसार की उत्पत्ति में कोई योगदान नहीं है, क्योंकि उक्त चारों से भिन्न किसी अन्य कारण-तत्त्व का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि—"संसार में तो आत्मा का भी अस्तित्व है, और वह पृथिवी आदि भूतों से उत्पन्न नहीं होता, अपितु अपने शुभ-अशुभ कर्मों से संसार की उत्पत्ति में योगदान करता है क्योंकि आत्मा को उसके शुभ-अशुभ कर्मों का फल देने के लिये ही संसार की उत्पत्ति होती है। अतः यह कहना कि 'सारा संसार पृथिवी आदि चार भूतों से ही उत्पन्न होता है। उन चारों से अन्य किसी दूसरे कारण का संसार की उत्पत्ति में कोई योगदान नहीं होता'-असंगत है,"—तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहम्-मैं' इस प्रकार की प्रतीति के विषयभूत वस्तु को ही आत्मा माना जाता है और शरीर को छोड़ अन्य कोई पदार्थ उस प्रतीति का विषय नहीं होता, क्योंकि संसार का प्रत्येक मनुष्य अपने शरीर को ही 'अहं' के रूप में समझता है। अतः मनुष्य का शरीर ही उसकी आत्मा है और वह स्पष्टरूप से पृथिवी आदि भूतों से ही उत्पन्न होता है। इसीलिये चार्वाक का यह कथन है कि-'चैतन्य से युक्त शरीर ही पुरुष है'। चार्वाक और उसके अनुयायी भूतवादी हैं, पृथिवी आदि चार भूतों और उनसे उत्पन्न होने वाले पदार्थों का ही अस्तित्व मानते हैं। वे लोकायतिक कहे जाते हैं जो लोक में आयत हैं, संसार के आपामर जनों तक जो अनुभूत होता है, उसे ही

न ह्यनुमानं तत्र मानम्, व्यभिचारिसाधारण्येन तस्याऽप्रमाणत्वात् । वह्न्यादिसम्भावनयैव तत्र प्रवृत्त्युपपत्तेः । अगृहीताऽसंसर्गकवह्न्यादिस्मृतिरूपायां सम्भावनायामसद्विषयिण्यां परमार्थसत्स्वलक्षणविषयविषयकत्वरूपसंवादोऽपि न सम्भवतीति चेत् ? न, अध्यक्षमूलकविकल्पे[1]विषयविषयकत्वरूपसंवादस्य तत्राऽसत्त्वात्[2] । तादृशसंवादस्य सद्विषयकत्वरूपप्रामाण्याऽसहचारात् कथं ततस्तदभिमानः ? इति चेत् ? सत्यम्, तथाप्यध्यक्षमूलकाध्यक्षान्तरसाधारणस्याध्यक्षमूलकविषयविषयकत्वलक्षणसंवादस्योक्तप्रामाण्यसहचारात् ।

वे स्वीकार करते हैं । जो सर्वसामान्यजनों के अनुभव से पर है, संसार में जिसे कोई प्रत्यक्ष नहीं देख सकता ऐसे किसी पदार्थ का अस्तित्व उन्हें मान्य नहीं है । वे प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु को ही सत्य मानते हैं । जो अदृष्ट है, कभी किसी को दिखाई नहीं देता, उसे वे इसलिये मानने को तैयार नहीं होते कि वैसे पदार्थ के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं होता ।

(अनुमानप्रामाण्य में विवाद का आरम्भ)

आत्मा के अस्तित्व में 'अनुमान प्रमाण है,' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अनुमान साध्य का व्यभिचारी होने से प्रमाण ही नहीं हो सकता । कहने का आशय यह है कि जो लोग अनुमान को प्रमाण मानते हैं, उनके मतानुसार वह हेतु अनुमान प्रमाण होता है, जिसमें साध्य की व्याप्ति का ज्ञान हो । साध्य की व्याप्ति का अर्थ है 'साध्यान्यथानुपपन्नत्व=साध्य के बिना न घटना, साध्यशून्य स्थान में न रहना,' जैसे धूम से जब वह्नि का अनुमान किया जाता है तब अनुमान से पूर्व यह ज्ञान अपेक्षित होता है कि धूम वह्नि से व्याप्त है अर्थात् धूम वह्निशून्यजलाशय आदि स्थानों में नहीं रहता । इस ज्ञान के फलस्वरूप यह निश्चय होता है कि जब धूम वह्निशून्यस्थान में नहीं रहता तो यह निर्विवादरूप से मानना होगा कि जहां धूम है वहां वह्नि अवश्य है, इस प्रकार धूम में वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान होने के कारण धूम से वह्नि का अनुमान किया जाता है । फलतः वह्नि के व्याप्यरूप में ज्ञात धूम वह्नि के अस्तित्व में अनुमान रूप प्रमाण होता है ।

अनुभव को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक आदि का इसके विरुद्ध यह तर्क है कि– किसी हेतु से किसी साध्य का अनुमान करने के लिये मुख्यरूप से दो ज्ञान की अपेक्षा होती है, एक यह है कि 'अमुक हेतु अमुक स्थान में है', दूसरा यह कि 'वह अमुक हेतु अमुकसाध्य का व्याप्य है' । यदि यह दोनों ज्ञान यथार्थ होंगे तो इनके आधार पर हेतु से साध्य का ज्ञान भी यथार्थ होगा । किन्तु यदि इन ज्ञानों में कोई अयथार्थ होगा तो उनके आधार पर होने वाला अनुमान भी अयथार्थ होगा । यह देखा जाता है कि उक्त दोनों ज्ञान सर्वथा नहीं होते । क्योंकि कभी कभी साध्य के व्यभिचारी को भी साध्य का व्याप्य समझ लिया जाता है और कभी कभी हेतुशून्य स्थान में भी हेतु का ज्ञान होता है; और जब इस प्रकार के ज्ञान हो जाते हैं तब हेतु साध्य का

१. 'विकल्पविषयकत्व०' इति पूर्वमुद्रितप्रतौ । २–'तत्रा...संवादस्य' इयान् पाठः पूर्वमुद्रिते नास्ति ।

व्यभिचारी होने से साध्य के अस्तित्व में प्रमाण नहीं हो पाता, जैसे महानस आदि कतिपय स्थानों में वह्नि को धूम के साथ देख कर यदि ऐसा ज्ञान हो जाय कि 'वह्नि धूम का व्याप्य है,' तो यह ज्ञान यथार्थ नहीं है, क्योंकि तपते हुये लोहगोलक में अग्नि धूम के विना भी रहता है। फलतः वह्नि धूम के अस्तित्व में प्रमाण नहीं बन सकता। इसी प्रकार 'धूम वह्नि का व्याप्य है,' इस यथार्थ ज्ञान के होते हुये भी यदि धूमसे समान रंग वाली धूल को धूम समझ कर वह्नि का अनुमान किया जायगा तो धूम वह्नि के अस्तित्व में प्रमाण न हो सकेगा। इस प्रकार अनुमान अनुमेय अर्थ का व्यभिचारी होने से उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। तो जब अनुमान प्रमाण ही नहीं हो सकता तब उससे आत्मा के अस्तित्व को कैसे प्रमाणित किया जा सकता है ? फलतः प्रमाण के अभाव में प्रमाणाभास से आत्मा को मान्यता देना उचित नहीं है।

अनुमान प्रमाण न मानने पर यह प्रश्न ऊठ सकता है-"कि यदि अनुमान को प्रमाण न माना जायगा तब धूम से वह्नि का अस्तित्व प्रमाणित न होगा और फिर उस दशा में वह्नि को प्राप्त करने की आशा से मनुष्य उस स्थान में, जहां उसे धूम दिखाई पडा है, जाने का प्रयत्न न करेगा। पर वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य जिस स्थान में धूम को देखता है उस स्थान में अग्नि के अस्तित्व को प्रामाणिक मान कर अग्नि पाने की आशा से उस स्थान तक पहुंचने का प्रयत्न करता है, वह प्रयत्न क्यों करता है" ?-इस प्रश्न के उत्तर में चार्वाक आदि की ओर से यह कहा जा सकता है कि-जिस स्थान में धूम दिख पडता है उस स्थान में वह्नि के अस्तित्व को प्रामाणिक मान कर मनुष्य उस स्थान तक पहुंचने का प्रयत्न नहीं करता किन्तु उस स्थान में वह्नि के अस्तित्व को सम्भावित मान कर वहां जाने का प्रयत्न करता है। कहने का आशय यह है कि कई स्थानों में धूम को वह्नि के साथ देख कर मनुष्य जब किसी नये स्थान में दूर से केवल धूम को देखता है किन्तु वह्नि को नहीं देखता तब उसे उस स्थान में धूम के होने से वह्नि के होने की केवल सम्भावना ही होती है, न कि उसे यह निश्चय होता है कि उस स्थान में वह्नि अवश्य है। क्योंकि इस प्रकार के निश्चय के लिये उसके पास कोई उपयुक्त प्रमाण नहीं है। फलतः धूमको देखने से मनुष्य को वह्नि की जो सम्भावना होती है उसीसे वह अग्नि पाने की आशा से उस स्थान में-जहाँ उसे धूम दिख पडा है-जाने का प्रयत्न करता है।

इस पर यह शङ्का की जा सकती है कि-अग्नि की सम्भावना से धूमयुक्त स्थान में अग्नि-कामी पुरुष के जाने का समर्थन तभी किया जा सकता है जब अग्नि की सम्भावना को प्रमाणरूप में ग्रहण करना अग्निकामी पुरुष के लिए सम्भव हो। क्योंकि मनुष्य का यह स्वभाव है कि जब वह प्रमाण से किसी वस्तु को जान लेता है तभी उसके सम्बन्ध में कोइ कार्य करता है, अन्यथा नहीं करता। विचार करने पर अग्निकी सम्भावना को प्रमाण रूप में ग्रहण करने का कोई साधन नहीं प्रतीत होता, चूँकि धूमयुक्त नये स्थान में अग्नि की सम्भावना का अर्थ है 'उस स्थान में अग्नि नहीं है' इस निश्चय के अभाव के साथ 'धूमयुक्त स्थान में अग्नि रहता है,' इसरूप में अग्नि का स्मरण। स्पष्ट है कि यह स्मरण धूमयुक्त नये स्थान के अग्नि को विषय नहीं कर

सकता, चूँकि वह अभी तक निर्णीत नहीं है। निर्णीत है धूमयुक्त अन्यस्थानों का अग्नि, जो धूमयुक्त नये स्थान में स्थित नहीं है। अतः विवश होकर यह मानना होगा कि इस स्मरण का विषय कोई विशेष अग्नि नहीं है, किन्तु सामान्य अग्नि है। और सामान्य अग्नि काल्पनिक होने से असत् है, अतः यह अग्निस्मरण असद्विषयक होने से अग्निस्मरणरूप अग्नि की सम्भावना में प्रमाणभूतअध्यक्ष-निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का समानविषयकत्वरूप संवाद नहीं है, क्योंकि अध्यक्ष का विषय स्वलक्षण-विशेषअग्नि है जो परमार्थरूपमें सत् है, और स्मरण का विषय सामान्य अग्नि है जो कल्पित होने से असत् है, अतः प्रमाण का संवाद न होने से उस में प्रामाण्य का ज्ञान सम्भवित नहीं है।

(बौद्धदर्शन के अनुसार पदार्थ का स्वरूप)

इस विषय को हृदयंगम करने के लिये बौद्धदर्शन की इस मान्यता को ध्यान में रखना आवश्यक है कि-बौद्धमतानुसार पदार्थ के दो भेद होते हैं-एक विशेष और दूसरा सामान्य। (१)विशेष क्षणिक होता है, उसका किसी के साथ कोई ताल्लुक नहीं होता। न तो उसका कोई नाम होता है और न कोई जाति होती है। निजी स्वरूप के अतिरिक्त उसका कोइ लक्षण भी नहीं होता, इसीलिये उसे स्वलक्षण कहा जाता है। इस प्रकार का पदार्थ ही परमार्थ रूप में सत् होता है। यह शब्द या अनुमान से नहीं गृहीत होता, किन्तु एक मात्र अध्यक्ष-निर्विकल्पकप्रत्यक्ष से ही गृहीत होता है। (२) सामान्य वह पदार्थ होता है जिसमें अनेकव्यक्ति और अनेकक्षणों के सम्बन्ध की कल्पना होती है जिसे व्यवहारयोग्य करने के हेतु नाम और जाति की कल्पना की जाती है। यह पदार्थ सविकल्पकप्रत्यक्ष से तथा शब्दज और अनुमानजन्य ज्ञान से गृहीत होता है। यही पदार्थ पूर्व में अनुभूत रहने पर कालान्तर में स्मरण द्वारा गृहीत होता है। संसार का संपूर्ण व्यवहार इस सामान्यात्मक पदार्थ पर ही निर्भर होता है। इस पदार्थ की कल्पना को सम्भव बना सकने के लिये ही विशेषपदार्थ की प्रामाणिकसत्ता स्वीकार की जाती है, क्योंकि जब तक कोई प्रामाणिक वस्तु न मानी जायगी तब तक जगत् के काल्पनिक रूप को किस आधार पर चित्रित किया जा सकेगा? कहावत है कि-'सति कुड्ये चित्रम्-दीवार होने पर उस पर चित्र की रचना हो सकती है'। यदि दीवार ही न होगी तो चित्र कहाँ बनेगा ? !

यदि यह कहा जाय कि-"सम्भावना में प्रमाणभूत अध्यक्ष का समानविषयकत्वरूप संवाद न होने पर भी उस प्रमा से उत्पन्न होने वाले सविकल्पकप्रत्यक्ष का समानविषयकत्वरूप संवाद तो है ही, तो फिर उसी संवाद से सम्भावना में प्रामाण्य की आभिमानिकबुद्धि हो जायगी" -तो यह ठीक नहीं है, चूँकि उक्तसंवाद प्रमाणभूत अध्यक्ष का संवाद न हो कर अप्रमाणभूतसविकल्पकप्रत्यक्ष का संवाद है। अतः उसमें प्रामाण्य का सहचार न होने से उसके द्वारा सम्भावना में प्रामाण्य की अभिमानिक प्रतीति की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

उक्तशंका के समाधान में चार्वाक आदि की ओर से यह कहा जा सकता है-की "यह ठीक है कि-अध्यक्षमूलक सविकल्पक में प्रामाण्य नहीं होता, अतः उसके समानविषयकत्वरूपसंवाद में प्रामाण्य का सहचार न होने से उस संवाद से सम्भावना

तथापि दृष्टसाधर्म्येणानुमानाऽप्रामाण्यसाधनमनुमानप्रामाण्यानभ्युपगमे दुःसमाधान मिति चेत् ? सत्यम्, साधर्म्यदर्शनस्योद्बोधकविधया, साधारणधर्मदर्शनविधया वाऽगृहीताऽसंसर्गकार्थस्मृतिरूपायामुत्कटकोटिकसंशयरूपायां वा सम्भावनायामेवोपयोगात् । सम्भावनाया एव च बहुशो व्यवहारहेतुत्वात् । अत एव न परकीयसन्देहादिप्रतिसन्धान-निमित्तशब्दप्रयोगाद्यनुपपत्तिः ।

में प्रामाण्य की आभिमानिक बुद्धि नहीं हो सकती. पर अध्यक्षमूलक अध्यक्ष तो अध्यक्ष-मूलक विषय को ही विषय करता है और इसीलिये सद्विषयक होने से प्रमाण भी होता है, अतः अध्यक्षमूलक अध्यक्षों में अध्यक्षमूलकविषय-विषयकत्वरूप अध्यक्ष का संवाद प्रामाण्य का सहकारी हो जाता है और यह संवाद सम्भावना में भी विद्यमान होता है, क्योंकि सम्भावना का विषयभूत सामान्यपदार्थ—अध्यक्षमूलकविशेषपदार्थ पर आश्रित होने से अध्यक्षमूलक होता है, इसलिए प्रमाणभूत अध्यक्ष के अध्यक्षमूलकविषयविषय-कत्वरूप संवाद से सम्भावना में प्रामाण्य का अभिमान हो सकता है। फलतः यह कहने में कोई बाधा नहीं हो सकती की जब किसी स्थान में धूम को देखने पर वहाँ अग्नि होने की सम्भावना मनुष्य को होती है तब वह उस सम्भावना को ही प्रमाण मान कर अग्नि पाने की आशा से उस स्थान में जाने का प्रयत्न करता है।"

(दृष्टसाधर्म्य से अनुमानाऽप्रामाण्य का साधन दुष्कर नहीं है।)

प्रश्न हो सकता है—"यदि अनुभव को प्रमाण न माना जायगा तो 'अनुमान प्रमाण नहीं है' इस बात का भी साधन कैसे होगा ?" यदि यह कहा जाय कि-'जो हेतु साध्य का व्यभिचारी है उस हेतुरूप अनुमान में अप्रामाण्य दृष्ट-अर्थात् सर्वसम्मत है, अतः उसके साधर्म्य से अनुमानमात्र में अप्रामाण्य का साधन किया जा सकता है –' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'अनुमान मात्र अप्रमाण है चूँकि वह उस अनुमानविशेष का–जिसे सभी लोगोंने अप्रमाण माना है–सधर्मा है, जो अप्रमाण का सधर्मा है वह प्रमाण नहीं हो सकता,' यह भी तो एकप्रकार का अनुमान ही है, तो फिर जिस मत में अनुमानमात्र ही अप्रमाण है उस मतमें यह विशेष अनुमान भी अनुमान के अप्रामाण्य में प्रमाण कैसे हो सकेगा" ?—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि–दृष्टसाधर्म्य से अनुमान मात्र को अप्रमाण कहने का अर्थ यह नहीं है कि दृष्टसाधर्म्य से अनुमान मात्र में अप्रामाण्य का अनुमान किया जा सकता है; किन्तु उसका अर्थ यह है कि अप्रमाणत्वेन दृष्ट अनुमानविशेषके साधर्म्य-ज्ञान से अनुमानमात्र में अप्रामाण्य की सम्भावना की जा सकती है। कहने का आशय यह है कि सम्भावना यदि धर्मी के साथ जिसका असम्बन्ध ज्ञात नहीं है वैसे अगृहीताऽ-संसर्गकअर्थ की स्मृतिरूप होगी तो साधर्म्यदर्शन उद्बोधकरूप में उसका कारण होगा। और यदि सम्भावना उत्कटकोटिकसन्देहरूप होगी तो साधर्म्यदर्शन साधारणदर्शन रूप में उसका कारण होगा। इस प्रकार उभयथैव साधर्म्यदर्शन से अनुमानप्रमाण का उदय नहीं होता किन्तु स्मृतिरूप या संशयरूपसम्भावना का ही उदय होता है। अनुमान-मात्र में अप्रामाण्य की सम्भावना होने से भी अनुमान के प्रामाण्य का विघटन हो जाता है। चार्वाक आदि को यही इष्ट भी है; अतः अनुमान में अप्रामाण्य को सिद्ध करने

'धूमदर्शनात्प्रागप्यर्थसंशयरूपा सम्भावनाऽस्त्येव, न तु प्रवृत्तिः, इति व्यभिचार' इति चेत् ? न, धूमदर्शनप्राक्कालीनस्य तस्य विध्यंशेऽनुत्कटकोटिकत्वेन सम्भावना-ऽनात्मकत्वात् । 'धूमदर्शनोत्तरकालीनस्यापि तस्याऽविशेषात् कथमुत्कटकोटिकत्वम् ?' इति चेत् ? तर्हि विशिष्यैव धूमदर्शनादेरुत्कटकोटिकार्थसंशयहेतुत्वमाऽऽद्रियताम् ।

अथ 'अनुमानं न प्रमाणम्' इति वाक्यस्य प्रामाण्ये शब्दप्रामाण्याऽऽपातः,

---

के लिये कोई प्रमाण न होने पर भी कोई हानि नहीं है; क्योंकि सम्भावना से ही अधिकांश व्यवहार सम्पन्न होते हैं । अतः अनुमान में अप्रामाण्य की प्रमा न होने पर भी अप्रामाण्य की सम्भावना से अनुमान में अप्रमाणत्व का व्यवहार हो सकता है ।

"अनुमान को प्रमाण न मानने पर अन्यपुरुष के संशय, विपर्यय, जिज्ञासा, वेदना आदि का ज्ञान न हो सकने के कारण उनके ज्ञापनार्थ शब्दप्रयोग तथा उनके निराकरणार्थ आवश्यकउपायों के सम्पादन में मनुष्य की प्रवृत्ति न हो सकेगी"- यह भी शङ्का नहीं की जा सकती, क्यों कि अन्यपुरुषों के संशय, विपर्यय आदि की प्रमा न होने पर भी उनकी सम्भावनामात्र से ही शब्दप्रयोग की उपपत्ति हो सकती है और सम्भावना के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह तो अप्रमाणभूत अनुमान आदि से भी उत्पन्न हो सकती है ।

यदि यह शङ्का की जाय कि-"दूरस्थ पर्वत आदि में अग्नि की संशयात्मक सम्भावना तो धूमदर्शन के पूर्व भी होती है, किन्तु उस समय उस सम्भावना से अग्नि की प्राप्ति के लिये पर्वत आदि पर जाने की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः प्रवृत्ति के प्रति सम्भावना व्यभिचारी होने से उसे प्रवृत्ति का कारण नहीं माना जा सकता"-तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि धूमदर्शन से पूर्व पर्वतआदि में जो अग्नि और उसके अभाव का संशय होता है वह विधिभूत अग्निअंश में उत्कटकोटिक न होने से सम्भावनारूप नहीं होता, अतः उस संशय से प्रवृत्ति न होने पर भी सम्भावना को प्रवृत्ति की व्यभिचारिणी नहीं कहा जा सकता । यदि यह कहा जाय कि-"धूमदर्शन के अनन्तर उत्पन्न होने वाला अग्निसंशय भी उससे पूर्व होने वाले अग्निसंशय के समान ही होता है अतः उसे भी अग्नि अंश में उत्कटकोटिक न होने से सम्भावना नहीं कहा जा सकता"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि धूमदर्शन को विशेषरूप से अग्निसम्भावना का कारण माना जा सकता है अतः धूमदर्शन से पूर्व होने वाला अग्निसंशय सम्भावना रूप न होने पर भी धूमदर्शन के अनन्तर होने वाला अग्निसंशय सम्भावनारूप मानने में कोई बाधा नहीं है ।

(शब्दाऽनुमानाऽन्यतरप्रामाण्याऽऽपत्ति का उद्धार)

यदि यह कहा जाय कि-"चार्वाकआदि के 'अनुमानं न प्रमाणम्=अनुमान प्रमाण नहीं है,' इस वाक्य को प्रमाण मानने पर शब्द में प्रामाण्य की स्वीकृति हो जायगी, और यदि शब्द को प्रमाणरूप में स्वीकृत कर लिया जायगा 'तो प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है, प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण नहीं होता'-चार्वाक आदि के इस सिद्धान्त की हानि होगी । और यदि इस संकट से त्राण पाने के अभिप्राय से यह कहा जाय कि 'उक्त वाक्य

अप्रामाण्ये चानुमानप्रामाण्याऽऽपातः इति चेत् ? न, एतद्वाक्यस्य प्रमाकरणत्वाभावरूपाऽप्रामाण्यविषयत्वात्, असत्ख्यातिसत्त्वे विशिष्टज्ञानमात्रस्यैव भ्रमत्वेन भ्रमजनकत्वेऽप्यविरोधाच्च ।

न च प्रत्यक्षप्रामाण्यमप्यनुमानाधीनग्रहम्, इत्यनुमानोपगम आवश्यकः, स्वतः प्रामाण्यग्रहे तत्संशयाऽयोगादिति वाच्यम्, स्वलक्षणविषयकत्वरूपव्यावर्त्तकधर्मदर्शनात्, स्वसंवेदनेन तत्तद्व्यक्त्यात्मकसद्विषयकत्वनिश्चयाच्च । निर्विकल्पके तत्संशयाऽयोगात्, सविकल्पकस्य चानुमानवदप्रमाणत्वात् । निर्विकल्पके सन्मात्रावलम्बनत्वस्वप्रकाशविषयत्व-प्रामाण्यावगाहित्वानां सिद्धिरप्यनुमानादेवेति चेत् ? न, स्वरूपतस्तेषामपि स्वाग्राह्यत्वात् तत्तद्रूपेण तु सम्भावनाविषयत्वादेव, 'निर्विकल्पकं सन्मात्र विषयम्' इति धियः 'अयं घटः' इति धीतुल्यत्वादिति दिक् ।

अप्रमाण है' तो अनुमान में प्रामाण्य की आपत्ति होगी, क्योंकि उक्त वाक्य अप्रमाण तभी होगा जब उससे होने वाले अनुमान में अप्रमाणत्व का ज्ञान अप्रमा हो और वह ज्ञान और अप्रमा तभी होगा जब अनुमान को प्रमाण माना जाय । इस प्रकार उक्त वाक्य को अप्रमाण मानने के फलस्वरूप अनुमान को प्रमाण मानना पड़ेगा अतः उक्त वाक्य को अप्रमाण कहने पर भी 'प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण नहीं होता' इस चार्वाकसिद्धांत की हानि होगी । इसलिये चार्वाकआदि के लिये यह कहना भी सम्भव नहीं है कि 'अनुमानं न प्रमाणम्=अनुमान प्रमाण नहीं है''-

तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'अनुमानं न प्रमाणम्' इस वाक्य से अनुमान में प्रमाकरणत्वाभावरूप अप्रमाण्य का ज्ञान होता है, अतः उक्त वाक्य को अप्रमाण मानने पर भी अनुमान में प्रामाण्य की आपत्ति नहीं हो सकती । इस सम्बन्ध में यह कहना कि-'अनुमानं न प्रमाणम्' इस वाक्य के अप्रमाणत्व की उपपत्ति के लिये उक्त वाक्य से होने वाले ज्ञान को अप्रमा मानना होगा, और इस ज्ञान को अप्रमा मानने के लिये अनुमान को प्रमाण मानना होगा'-ठीक नहीं है, क्यों कि अनुमान को प्रमाण न मानने पर भी अनुमान में अप्रमाणत्व का ज्ञान इसलिये अप्रमा-भ्रम हो सकता है, कि वह विशिष्ट ज्ञान है, और चार्वाक आदि के मत में विशिष्टविषयकज्ञानत्व ही भ्रम का लक्षण है । यदि यह कहा जाय कि-'विशिष्टविषयकज्ञानत्व को भ्रम का लक्षण मानने पर शुक्ति में रजतत्व का ज्ञान भ्रम न हो सकेगा, क्योंकि रजतत्वविशिष्टशुक्ति अप्रसिद्ध होने से उक्तज्ञान विशिष्टविषयक नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि चार्वाक आदि को असत्ख्याति मान्य है, अतः उनके मत में रजतत्वविशिष्टशुक्तिरूप असत् की भी ख्याति हो सकती है । इस प्रकार जब विशिष्टविषयकज्ञान मात्र ही भ्रम है, तब 'अनुमानं न प्रमाणम्' इस वाक्य से होने वाला ज्ञान भी भ्रम होगा, अतः भ्रम का जनक होने से, न तो उक्तवाक्य में ही प्रामाण्य की आपत्ति होगी, और उक्तज्ञान के विशिष्टविषयक होने से भ्रमरूप होने के कारण अनुमान में भी प्रामाण्य की आपत्ति न होगी। अतः उक्तवाक्य को अप्रमाण मानने पर भी 'प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण नहीं होता' इस सिद्धांत को स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि-"अनुमान को प्रमाण न मानने पर प्रत्यक्ष में भी प्रामाण्य की सिद्धि न होगी, क्योंकि 'प्रत्यक्षं प्रमाणं, प्रमितिकरणतावच्छेदकधर्मवत्त्वात्, यन्न प्रमाणं तन्न प्रमितिकरणतावच्छेदकधर्मवद् यथा घटादिः,=प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि वह प्रमितिकरणता के अवच्छेदक प्रत्यक्षत्वधर्म का आश्रय है, जो प्रमाण नहीं होता वह प्रमितिकरणता के अवच्छेदक धर्म का आश्रय नहीं होता, जैसे घट आदि पदार्थ' -इस अनुमान को छोड कर प्रत्यक्ष में प्रामाण्य को सिद्ध करने का कोई अन्य साधन नहीं है। अतः इस संदर्भ में यह कहना कि 'प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है, अतः प्रत्यक्ष में प्रामाण्य की सिद्धि स्वतः हो जायगी, तदर्थ अनुमान को प्रमाण मानना अनावश्यक है'-यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानने पर प्रामाण्य का संशय न हो सकेगा, जब कि उसका होना सर्वसम्मत है। फलतः प्रत्यक्ष में प्रामाण्य की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण की स्वीकृति अनिवार्य होने के कारण 'प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण नहीं होता' इस सिद्ध का परित्याग आवश्यक है।'-तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रामाण्य को स्वतो-ग्राह्य मानने में कोई बाधा नहीं है।

प्रमाण्य को स्वतोग्राह्य मानने में प्रामाण्यसंशय की अनुपपत्ति होने की जो बाधा बतायी गयी है वह ठीक नहीं है, क्यों कि यह बाधा तब होती जब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अथवा सविकल्पक प्रत्यक्ष में प्रामाण्यसंशय का होना सिद्ध होता। किन्तु वह सिद्ध नहीं है, प्रत्युत उनका न होना ही सिद्ध है। जैसे-निर्विकल्पक में प्रामाण्य का संशय नहीं हो सकता क्योंकि उसमें अप्रामाण्य के व्यावर्तकधर्म स्वलक्षणविषयकत्व का दर्शन होने से उसमें अप्रामाण्य का भान नहीं हो सकता, और उसके भान के बिना प्रामाण्य का संशय नहीं हो सकता। इसी प्रकार ज्ञान संवेदनशील होने से अपने पूरे स्वरूप का ग्राहक होता है, अतः निर्विकल्प अपने स्वप्रकाशत्व स्वभाव के कारण अपने प्रामाण्य तद्व्याप्ति-रूप सद्विषयकत्व को भी ग्रहण कर लेगा, फलतः निर्विकल्पक में प्रामाण्य का ग्रहण हो जाने से अप्रामाण्यभान की सम्भावना समाप्त हो जाने के कारण उसमें अप्रामाण्य का संदेह नहीं हो सकता। सविकल्पकप्रत्यक्ष में भी प्रमाण्य का संशय नहीं हो सकता क्यों कि विशिष्टविषयक होने से अनुमान के समान सविकल्पक प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ही है। अतः सविकल्पक में अप्रामाण्य का निश्चय हो जाने से उसमें भी प्रामाण्य का संशय अस-म्भवित है। तो इस प्रकार जब प्रामाण्य संशय का होना सिद्ध ही नहीं है तो उसकी अनु-पपत्ति के भय से उसके स्वतोग्राह्यत्व का त्याग नहीं किया जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि-'निर्विकल्पक में सन्मात्रविषयकत्व, स्वप्रकाशविषयत्व और प्रामाण्याव्यवगाहित्व की सिद्धि के लिये भी तो अनुमान प्रमाण की आवश्यकता है ही, फिर अनुमान के प्रामाण्य को अस्वीकार कैसे किया जा सकता है ?"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त तीनों धर्म भी निर्विकल्पक स्वरूप होने से स्वतोग्राह्य ही हैं, अतः उनके ग्रहण के लिये अनुमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यदि यह कहे कि-'वे धर्म अपने अपने पृथक् स्वरूप-सन्मात्रविषयकत्वत्वआदिरूप से स्वतोग्राह्य नहीं हैं, उन रूपों से उनके ग्रहण के लिये अनुमानप्रमाण मानना आवश्यक है-' तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि उन रूपों से उन धर्मों की प्रमाण होती ही नहीं, उन रूपों से तो उनकी केवल सम्भावना

अत एव शब्दोऽपि न मानम्, परस्परविरुद्धार्थाभिधायकानामाऽऽगमानां विनिगन्तुमशक्यत्वात्, शब्दस्य वासनामात्रप्रभवत्वात्, तन्मात्रजनकत्वाच्च । अन्यथाऽसदर्थप्रतिपादकशब्दप्रयोगो दुर्घटः स्यात् । 'तर्हि तत्रागमो निष्प्रयोजनः स्यादि'ति चेत्? न, परं प्रति दूषणपर्यनुयोगात्, परस्य तदनुत्तरमात्रेण निग्रहे च तत्सार्थक्यात् । अत एव "सर्वत्र पर्यनुयोगपराणि सूत्राणि बृहस्पतेः" इत्यभिहितम् । ततोऽदृष्टे मानाभावाद् नास्त्यात्मा, इति लोकायतिकप्रवादः ॥३०॥

ही होती है, क्योंकि 'निर्विकल्पकं सन्मात्रविषयम्=निर्विकल्पक सन्मात्रविषयक होता है' यह ज्ञान 'अयं घटः=यह घटत्व से विशिष्ट है' इस ज्ञान के समान है । कहने का आशय यह है कि जैसे 'अयं घटः' यह विशिष्टज्ञान प्रमारूप न हो कर केवल सम्भावनारूप है, उसी प्रकार 'निर्विकल्पकं सन्मात्रविषयम्' इत्यादि ज्ञान भी प्रमारूप न होकर केवल सम्भावनारूप ही है । अतः सन्मात्रविषयकत्वत्व आदि रूपों से सन्मात्रविषयकत्व आदि के ग्रहण के लिये अनुमान को प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है ।

(शब्द को प्रमाण नहीं मानने में कारण)

कई कारणों से शब्द को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, जैसे, एक कारण यह है कि ऐसे अनेक शास्त्र उपलब्ध होते हैं जो परस्पर विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, उनमें कौन शास्त्र प्रमाण है ? और कौन अप्रमाण है ? इस बात का निश्चय करने के लिये कोई उचित युक्ति नहीं है ।१।

दूसरा कारण यह है कि शब्दों का प्रयोग केवल वासना से अर्थात् वस्तुशून्य ज्ञान से होता है, तथा शब्दों से केवल वासना अर्थात् वस्तु शून्य ज्ञान की ही उत्पत्ति होती है, क्योंकि यदि ऐसा न मान कर शब्दप्रयोग को प्रमात्मक ज्ञान से जन्य माना जायगा एवं शब्दों से प्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति मानी जायगी, तो असत् अर्थों के बोधक शब्दों का प्रयोग न हो सकेगा, क्योंकि उन शब्दों के मूलभूत ज्ञान तथा उनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान दोनों ही वस्तुशून्य होते हैं । 'असत् अर्थों के बोधक शब्दों का प्रयोग होता ही नहीं यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसे शब्दों का प्रयोग सभी को मान्य है ।२।

इस पर यह शंका हो सकती है कि-"शब्दमात्र को अप्रमाण मानने पर चार्वाक के शब्द भी प्रमाण न हो सकेंगे । फलतः प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण मानने वाले वादियों के विरोध में चार्वाक का सम्पूर्ण कथन ही निष्फल हो जायगा'-पर यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि चार्वाक की ओर से जो कुछ कहा जाता है उसका उद्देश्य किसी सिद्धान्त की स्थापना नहीं है, किन्तु अन्यवादियों की मान्यताओं में दोषों का उद्भावन मात्र होता है । यदि उद्भावित दोषों का परिहार अन्यवादी नहीं कर पाते तो उतने से ही उनकी मान्यताओं का निराकरण हो जाने से चार्वाक के उद्देश्य की पूर्ति हो जाने से उसके कथन की सार्थकता सम्पन्न हो जाती है। इसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि-"बृहस्पति=चार्वाक के सूत्र केवल प्रश्नात्मक होते हैं" ।

अत्र परमार्थवादिनामार्हतानां मतमाह—अचेतनानि इति—

मूलम्—अचेतनानि भूतानि न तद्धर्मो न तत्फलम् ।
चेतनाऽस्ति च, यस्येयं स एवात्मेति चापरे ॥३१॥

भूतानि=पृथिव्यादीनि, अचेतनानि=चैतन्याऽभाववत्त्वेन प्रमितानि । अतश्चेतना तद्धर्मो न=भूतस्वभावभूता न । अत एव च तत्फलं न=भूतोपादानकारणजन्या न, मृदो घटस्येव तत्स्वभावस्यैव तदुपादेयत्वात् । अस्ति च चेतना, प्रतिप्राण्यनुभवसिद्धत्वात् । अतो यस्येयं स्वभावभूता फलभूता च, स एवात्मा, परिशेषाद्, इति चापरे=जैनाः । ३१॥

विपक्षे बाधकमाह 'यदीयमि'ति-

फलतः ऐसी कोई भी वस्तु-जो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं होती-प्रमाणहीन होने से उसका अस्तित्व नहीं माना जा सकता । अतः प्रत्यक्षग्राह्य न होने से आत्मा का भी अस्तित्व स्वीकार्य नहीं हो सकता । प्रमाण के सम्बन्ध में लोकायतिकों चार्वाक के अनुयायियों का यही वक्तव्य है । [चार्वाक पूर्वपक्ष समाप्त] ॥३०॥

'अचेतनानि' इस श्लोक द्वारा आत्मा के विषय में परमार्थवादी जैनों का मत बताया गया है, जिसका आशय निम्नोक्त है ।

[परमार्थवादी जैनों का उत्तरपक्ष]

पृथिवी आदि भूतों में चैतन्य का अभाव प्रमाणसिद्ध है, इस लिये चैतन्य को भूतों का स्वभाव नहीं माना जा सकता । चैतन्य भूतों का स्वभाव नहीं है, इसीलिये भूतात्मक उपादानकारण से उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती । क्योंकि यह नियम है कि 'जो जिसका स्वभाव होता है वही उसका उपादेय कार्य होता है' जैसे घड़ा मिट्टी का स्वभाव होने से मिट्टी का उपादेय होता है । चैतन्य भूतों का स्वभाव न होने से भूतात्मक उपादानकारण से नहीं उत्पन्न हो सकता ।

यदि यह कहा जाय कि-"'चेतना' नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, अतः 'वह किसका स्वभाव है और किस उपादानकारण का कार्य है' यह विचार ही निरर्थक है"-तो यह कहना ठीक न होगा, क्योंकि प्रत्येक प्राणी को चेतना का अनुभव होता है, अतः चेतना के अस्तित्व में किसी का वैमत्य नहीं हो सकता । तो फिर चेतना का अस्तित्व जब निर्विवाद है तो उसे किसी का स्वभाव और किसी उपादानकारण का कार्य मानना ही होगा, तो उसे जिसका स्वभाव तथा जिस उपादानकारण का कार्य माना जायगा, वह उपर्युक्त बाधा के कारण पृथिवी आदि भूतपदार्थ न हो कर उनसे कोई अन्य ही होगा । तो पृथिवी आदि से भिन्न ऐसा जो पदार्थ होगा, जिसे चैतन्य स्वभाव का आश्रय एवं चैतन्य का उपादानकारण माना जा सके, वही 'आत्मा' है । इस प्रकार परिशेष अनुमान से चेतना के आश्रय और उपादानकारण के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है । आत्मा के विषय में जैनों की यही मान्यता है ॥३१॥

'चेतना पृथिवी आदि भूतों से भिन्न आत्मा का धर्म है' यह सभी आत्मवादी दार्शनिकों का स्वपक्ष है । चेतना पृथिवी आदि भूतों का ही धर्म है, चेतना का

मूलम्—यदीयं भूतधर्मः स्यात् प्रत्येकं तेषु सर्वदा ।
उपलभ्येत सत्त्वादि—काठिनत्वादयो यथा ॥३२॥

यदि इयं=चेतना, भूतधर्मः स्यात, तदा 'तेषु'=भूतेषु, प्रत्येकम=असङ्घातावस्थायां, सर्वदा=इन्द्रियविषयसम्प्रयोगकाले, 'उपलभ्येत', भूतसामान्यधर्मत्वे सत्त्वादिवत् , भूत-विशेषधर्मत्वे च कठिनत्वादिवत् , योग्यत्वादिति भावः, मध्यगताऽऽदिपदादयं विभागः प्रतीयते ॥३२॥

पराभिप्रायमाह 'शक्ती'ति—

मूलम्—शक्तिरूपेण सा तेषु, सदाऽतो नोपलभ्यते ।
न च तेनापि रूपेण सत्यसत्येव चेत् ? न तत् ॥३३॥

सा=चेतना, तेषु=भूतेषु,सदा=असङ्घातावस्थायामपि, शक्तिरूपेण वर्त्तते । अत-स्सदा नोपलभ्यते, व्यक्तिरूपाक्रान्तस्यैव योग्यत्वात् । न च तेनापि=प्रसिद्धेन शक्त्या-ख्येनापि रूपेण सती चेतना असती । न ह्यनुपलब्धिमात्रादभावः सिद्ध्यति, किन्तु योग्यानुपलब्ध्या । न चात्र साऽस्ति, तत्र तद्रूपावच्छिन्नायास्तस्या अयोग्यत्वादिति । समाधत्ते इति चेत् ? न तत्=पूर्वोक्तम् ॥३३॥

आश्रय "आत्मा" नाम का कोइ अन्य पदार्थ नहीं है, यह अनात्मवादी विद्वानों का पक्ष होने से आत्मवादियों का विपक्ष है। प्रस्तुत श्लोक ३२ में इस विपक्ष के बाधकतर्क का लिक किया गया है, जो निम्नोक्त रूप से ज्ञातव्य है ।

चेतना यदि भूतपदार्थ का धर्म होगी तो वह प्रत्येक असंहत भूत में भी रहेगी । फलतः शरीरात्मक संघात से भिन्न जिस किसी भी भूत के साथ जब भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष होगा तब उसमें चेतना के प्रत्यक्षअनुभव की आपत्ति होगी । यदि उसे भूत-सामान्य-सभी भूतों का धर्म माना जायगा तो सत्ता आदि के समान सभी भूतों में उसके प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, और यदि उसे भूत विशेष –गिने चुने भूतों का ही धर्म माना जायगा तो काठिन्य आदि के समान गिने चुने भूतों में ही उसके प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । यदि यह कहा जाय कि-'उसे भूतों का अतीन्द्रिय स्वभाव मान लेने पर यह दोष नहीं हो सकता'–तो यह कहना ठीक न होगा, क्योंकि शरीरात्मक संघात की अवस्था में उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने से वह प्रत्यक्ष योग्य धर्म है । श्लोक में सत्त्व और कठिनत्व के मध्य में आदि शब्द को रख कर भूतसामान्य और भूतविशेष के धर्म रूप में दो प्रकार से चेतना की अनुभूति की आपत्ति का संकेत किया गया है ॥३२॥

(शक्तिरूप से प्रत्येक भूत में चेतना के अस्तित्व की शंका)

श्लोक ३३ में भूतचैतन्यवादी के अभिप्राय का उल्लेख कर उसका समाधान किया गया है, जो निम्नोक्त प्रकार से ज्ञातव्य है ।

भूत चैतन्यवादियों का कहना है कि "चेतना प्रत्येक असंहत भूत में भी रहती है, किन्तु असंहत भूत में शक्तिरूप से—अव्यक्तरूप से रहती है । इसलिये असंहत

कुतः ? इत्याह 'शक्ती'ति—

मूलम्—शक्तिचैतन्ययोरैक्यं नानात्वं वाऽथ सर्वथा।
ऐक्ये सा चेतनैवेति नानात्वेऽन्यस्य सा यतः ॥३४॥

शक्तिचैतन्ययोः सर्वथा भेदाऽसहिष्णुतयैक्यम्=अभेदः, अथेति पक्षान्तरे, सर्वथा अभेदाऽसहिष्णुतया नानात्वं=भेदः ? आद्यपक्षे दोषमाह–ऐक्ये=अभेदे, सा=शक्तिः चेतनैव। ततश्च यदि योग्या सा, तदा प्रागप्युपलब्धिप्रसङ्गः, यदि च न योग्या तदा पश्चादप्यनुपलब्धिप्रसङ्ग। द्वितीयपक्षे दोषमाह–नानात्वे=भेदे, सा=चेतना, अन्यस्य स्याद्, न भूतानां, तदन्यशक्तिरूपत्वात् तेषाम्। यत एवं ततो न तदिति योजना।

भूत के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर उसमें चेतना के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती, चूँकि असंहत भूत में चेतना जिस रूपसे रहती है, उस रूप से वह प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। प्रत्यक्ष योग्य तो वह तब होती है जब उसे व्यक्तरूप प्राप्त होता है. और भूतों के शरीरात्मक संघात की अवस्था में ही उसे व्यक्त रूप प्राप्त होता है। यदि यह कहा जाय कि-"असंहत भूत में चेतना की उपलब्धि नहीं होती अतः उसमें चेतना होती ही नहीं"–तो यह कहना ठीक न होगा, क्योंकि संहतभूत में चेतना की उपलब्धि को संगत बनाने के लिये असंहतभूत में शक्तिरूप से उसका अस्तित्व मानना आवश्यक है और जब शक्तिरूप से असंहतभूत में उसका अस्तित्व युक्तिसम्मत है तब अनुपलब्धि मात्र से उसमें उसका अभाव मानना उचित नहीं हो सकता, क्योंकि अनुपलब्धि मात्र से अभाव की सिद्धि नहीं होती, किन्तु योग्यानुपलब्धि से अभाव की सिद्धि होती है। असंहतभूत में चेतना की अनुपलब्धि है, योग्यानुपलब्धि नहीं है. क्योंकि असंहतभूत में अवस्थित चैतन्य उपलब्धि के लिये अयोग्य होता है।

भूतचैतन्यवादियों के इस कथन के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना यह है कि चेतना के व्यक्त और अव्यक्त रूपों कि कल्पना निर्मूल होने से भूतों में उसके अस्तित्व का समर्थन करना शक्य नहीं है ॥३३॥

चेतना के दो रूप हैं एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। अव्यक्तचेतना को चेतनाशक्ति और व्यक्तचेतना को चेतना कहा जाता है। चेतनाशक्ति प्रत्येक असंहतभूत में रहती है, और चेतना स्वयं संहतभूतसमुदाय अर्थात् शरीर में रहती है। पूर्व कारिका में इस मान्यता के खण्डन का संकेत किया गया है, ३४ वीं कारिका में उसी को युक्तियों द्वारा उपपत्ति और पुष्टि की गयी है, जो इस प्रकार है—

शक्ति और चेतना इन दो रूपों में चेतना की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि उक्त कल्पना करने पर यह प्रश्न उठेगा कि शक्ति और चेतना में ऐक्य है या नानात्व? यदि ऐक्य माना जायगा तो ऐक्य तो भेद के साथ रहता नहीं, अतः दोनों में पूर्णरूप से ऐक्य मानना होगा। फलतया चेतनाशक्ति और चेतना में कोई अन्तर न होगा। अब यदि चेतनाशक्ति योग्य होगी तो भूतों का शरीरात्मकसंघात होने के पूर्व भी प्रत्येकभूत में उसकी उपलब्धि होने की आपत्ति होगी, और यदि वह अयोग्य होगी तो उससे अभिन्न होने के कारण चेतना भी अयोग्य होगी, जिसके फलस्वरूप शरीरात्मक संघात के बाद भी उसमें चेतना की उपलब्धि न हो सकेगी।

अथ चेतनायाः स्वाऽभिन्नव्यक्तिरूपा तज्जनकताख्या शक्तिः स्वरूपतो निर्विकल्पकविषयाऽपि तद्रूपेण सविकल्पकागोचर इति न दोष इति चेत्? न, व्यक्तचेतनाया अप्युत्तरचेतनाजनकतया शक्तिरूपेणायोग्यत्वप्रसङ्गात्। चेतनात्वेनैव सा योग्या न तु शक्तिरूपेणेति चेत्? प्रत्येकदशायामपि चेतनात्वेन योग्यत्वं, चेतनात्वशून्या चेतना वा प्रसजेदिति महत्संकटम् ॥३४॥

शक्ति और चेतना के ऐक्यपक्ष में उक्त आपत्ति के भय से यदि दोनों में नानात्व माना जायगा तो यह भी ठीक न होगा, क्योंकि नानात्व भेदरूप है और भेद कभी अभेद=ऐक्य के साथ नहीं रहता अतः दोनों में पूर्णरूप से भेद मानना होगा, फिर उसका फल यह होगा कि चेतनाशक्ति भूतों का धर्म भले हो पर स्वयं चेतना भूतों का धर्म न होकर किसी अन्य का धर्म हो जायगी। कहने का आशय यह है कि भूतचैतनिक को अवयवावयविभाव–अवयवों से भिन्न अवयवी का अस्तित्व मान्य नहीं है, अतः प्रत्येक असंहतभूत से शरीरात्मक संहतभूतसमुदाय का भेद नहीं है, तो असंहत भूत में जब चेतना की शक्ति ही रहती है किन्तु स्वयं चेतना नहीं रहती, तब शरीरात्मक संहतभूतसमुदाय में भी चेतना की शक्ति ही रहेगी, स्वयं चेतना न रह सकेगी अतः चेतना को भूतों से भिन्न ही किसी पदार्थ में आश्रित मानना होगा।

यदि यह कहा जाय कि—"चेतना की जनकता ही चेतना शक्ति है, और वह जनकता भी स्वरूपयोग्यतारूप है जो अपने आश्रयभूत व्यक्ति से अभिन्न है, इस प्रकार चेतनाशक्ति अपने आश्रयस्वरूप प्रत्येकअसंहतभूत से अभिन्न होने के कारण अपने आश्रय के प्रत्यक्ष के समय अपने आश्रय के रूप में प्रत्यक्ष हो जाती है, किन्तु उसका यह प्रत्यक्ष उसके निजीरूप चेतनाजनकतात्व अथवा चेतनात्वरूप से उसका ग्राहक न होने से निर्विकल्पकरूप होता है, सविकल्पकरूप नहीं होता। अब चेतनाशक्ति के आश्रयरूप विभिन्न भूत जब एकत्र हो कर शरीर के रूप में संहत हो जाते हैं तब उनकी चेतनाशक्ति चेतना के रूप में परिणत हो जाती है, और उस दशा में चेतनात्वरूप से उसका सविकल्पक प्रत्यक्ष भी सुघट हो जाता है"–तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार असंहतभूत में अव्यक्तचेतना व्यक्तचेतना का जनक होने से चेतना जनकता के रूप में चेतनाशक्ति है, और भूतों की असंहतअवस्था में अपने निजरूप में सविकल्पक प्रत्यक्ष के अयोग्य है उसी प्रकार संहतभूत में व्यक्तचेतना भी अपने अनन्तर होने वाली व्यक्तचेतना का जनक होने से चेतनाजनकता के रूप में चेतनाशक्ति कही जायगी, और चेतनाशक्तिरूप होने से सविकल्पक प्रत्यक्ष के अयोग्य होगी और उसका परिणाम यह होगा कि भूतों के शरीरात्मक संघात में भी चेतना की सविकल्पकउपलब्धि न हो सकेगी।

यदि यह कहा जाय कि-"व्यक्त और अव्यक्तरूप में चेतना की कल्पना का आशय यह है कि चेतना में दो धर्म होते हैं एक चेतनात्व और दूसरा शक्तिरूप-शक्तित्व। इन दोनों धर्मों में चेतनात्व धर्म ऐसा है जिसके द्वारा चेतना प्रत्यक्षयोग्य होती है, और शक्तिरूप धर्म ऐसा धर्म है जिसके द्वारा चेतना प्रत्यक्ष के अयोग्य होती है। अतः शरी-

अनभिव्यक्तत्वान्नोपलभ्यत इत्याशयं दूषयति 'अनभिव्यक्तिरि'ति—

मूलम्—अनभिव्यक्तिरप्यस्या न्यायतो नोपपद्यते ।
आवृतिर्न यदन्येन तत्त्वसंख्याविरोधतः ॥३५॥

अनभिव्यक्तिरप्यस्याः—चेतनायाः, न्यायतः=परमार्थविचारात्, 'नोपपद्यते' नाऽबाधिता भवति । 'यद्'यस्माद्धेतोः, प्रतिबन्धकसमवधानरूपाऽऽवृतिरत्रानभिव्यक्तिरभिमता, नान्या, अनिर्वचनात् । प्रतिबन्धश्चात्र नान्येन भूतातिरिक्तेन, अतिरिक्तप्रतिबन्धकाभ्युपगमे 'पृथिव्यादिचतुष्टयमेव तत्त्वम्' इति स्वसिद्धान्तव्याकोपात् ॥३५॥

भूतानामेव केनचिद् रूपेणावारकत्वं भविष्यतीति, अत्राह 'न चासावि'ति—

मूलम्—न चासौ तत्स्वरूपेण तेषामन्यतरेण वा ।
व्यञ्जकत्वप्रतिज्ञानाद् नावृतिर्व्यञ्जकं यतः ।३६॥

त्मकभूतसंघात में विद्यमान व्यक्तचेतना अपने अनन्तर होने वाली व्यक्त चेतना का जनक होने से यद्यपि शक्तिरूप है तथापि चेतनात्वरूप से उसका प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्येक असंहतभूत में रहने वाली अव्यक्तचेतना भी चेतनात्वरूप से प्रत्यक्षयोग्य हो जायगी । अथवा उस चेतना को चेतनात्व से शून्य मानना पड़ेगा । इस प्रकार यह पक्ष इस महान संकट से ग्रस्त होने से त्याज्य प्रतीत होता है ॥३४॥

(अनभिव्यक्तरूप से चैतन्य भूतों में नहीं हो सकता)

३५वीं कारिका में इस बात का खण्डन किया गया है कि 'प्रत्येकअसंहतभूत में भी चेतना रहती है किन्तु अनभिव्यक्त होने से उस दशा में उसकी उपलब्धि नहीं होती'—

असंहतभूत में चेतना की अनभिव्यक्ति का उपपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'न्याय'-परमार्थविचार से उसका समर्थन नहीं हो पाता । उसका कारण यह है कि चेतना की जो अनभिव्यक्ति मानी जायगी उसे चेतना का आवरणरूप ही मानना होगा, अर्थात् असंहतभूत में चेतना अनभिव्यक्त होती है, इस कथन की व्याख्या यही करनी होगी कि असंहतभूत में चेतना आवृत होती है । चेतना की अनभिव्यक्ति का इससे भिन्न कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इससे भिन्न अर्थ का निर्वचन अशक्य है । इस प्रकार चेतना की अनभिव्यक्ति का अर्थ है चेतना का आवरण और चेतना के आवरण का अर्थ है चेतना में उसकी अभिव्यक्ति के प्रतिबन्धक का समवधान । अब प्रश्न यह उठता है कि वह प्रतिबन्धक क्या है जिसका समवधान होने से असंहतभूत में चेतना की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती ? विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वह प्रतिबन्धक भूतों से अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता क्योंकि भूतों से अतिरिक्त यदि किसी प्रतिबन्धक की मान्यता की जायगी तो तत्त्वसंख्या का विरोध होगा अर्थात् चार्वाकमतानुसार पृथिवी जल तेज और वायु ये चार ही तत्त्व हैं इस सिद्धांत का व्याघात होगा ॥३५॥

३६वीं कारिका में यह बात बतायी गयी है कि भूतों को भूतगतचेतना का आवरणकारी नहीं माना जा सकता । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

न चासौ आवृतिः, 'तत्स्वरूपेण' भूतत्वादिना भूतस्वरूपेण, न वा 'तेषामन्यतरेण' पृथिवीत्वादिना पृथिवीजलान्यतरत्वादिना वा। कुतः? इत्याह 'व्यञ्जकत्वप्रतिज्ञानात्' चैतन्यसाक्षात्कारजनकत्वस्वीकारात्। तत्त्वेऽप्यावृतिजनकत्वमस्तु, अत आह–यतो व्यञ्जकमावृतिः आवारकं न भवति, एकस्य चैतन्यसाक्षात्कारजनकत्वतज्जनकीभूताभावप्रतियोगित्वयोर्विरोधादिति भावः ॥३६॥

कायाकारपरिणामाऽभाव एवाऽत्राऽऽवृतिः स्याद्, अत्राह 'विशिष्टे'ति—

मूलम्–विशिष्टपरिणामाऽभावोऽपि ह्यत्राऽऽवृतिर्न वै।
भावताऽऽप्तेस्तथा नाम व्यञ्जकत्वप्रसक्तितः ॥३७॥

विशिष्टपरिणामाऽभावोऽपि, हिः पादपूरणे, वैं=निश्चितम्, अत्र भूतचेतनायाम्,

---

(भूतों में रहा हुआ चैतन्य का आवरण भूतपदार्थ नहीं हो सकते।)

भूतों को चेतना का वारक अर्थात् चेतना की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्धक नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर यह प्रश्न ऊठेगा कि भूत यदि चेतना के आवारक होंगे तो उन्हें भूत के सामान्यधर्म भूतत्वरूप से चेतना का आवारक माना जायगा, या भूत के विशेषधर्म पृथिवीत्व आदि अथवा पृथिवीजलान्यतरत्व आदि रूपों से चेतना का आवारक माना जायगा? विचार करने पर ये दोनों ही पक्ष उचित नहीं प्रतीत होते, क्यों कि शरीरात्मकभूतसंघात में चेतना की जो अभिव्यक्ति होती है उसके प्रति शरीरात्मक संघात अपने घटक पृथिवी आदि भूतों के सामान्यधर्म भूतत्व तथा भूत के विशेषधर्म पृथिवीत्व आदि एवं पृथिवीजलान्यतरत्व आदि रूपों से ही कारण होता है। तो फिर जिन रूपों से पृथिव्यादिभूत स्वगत चेतना के व्यञ्जक होते हैं, उन्हीं रूपों से इन्हें चेतना का आवारक यानी चेतना की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्धक कैसे माना जा सकता है?

यदि यह कहा जाय कि–"भूतत्वआदि रूपों से भूतों को शरीरात्मकसंघात में चेतना का व्यञ्जक और शरीरानात्मकभूतों में उक्तरूपों से भूतों को चेतना का आवारक मानने में कोई हानि नहीं है"–तो यह कथन ठीक न होगा; क्योंकि जो जिस रूप से जिसका व्यञ्जक होता है, उस रूप से वह आवारक नहीं हो सकता; कारण चेतना की व्यञ्जकता का अर्थ है चेतना के साक्षात्कार की जनकता; और चेतना की आवारकता का अर्थ है चेतना–साक्षात्कार के जनक अभाव की प्रतियोगिता। और ये दोनों एक दूसरे का विरोधी होने से एक व्यक्ति में नहीं रह सकते। कहने का आशय यह है कि भूतों को चेतना का आवारक तभी माना जा सकता है जब भूतत्व आदि रूपों से भूतों का अभाव चेतना के साक्षात्कार का जनक हो, और यह तभी सम्भव है जब भूत चेतना–साक्षात्कार के जनक न हो; क्योंकि भूत और भूत का अभाव ये दोनों एक साथ न रह सकने के कारण चेतना–साक्षात्कार के जनक नहीं हो सकते ॥३६॥

३७वीं कारिका में 'शरीर के आकार में भूतों के परिणाम का अभाव ही चेतना का आवारक है' इस मत का खण्डन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

आवृत्तिर्न, आवारकत्वस्य भावत्वव्याप्यत्वेन तथात्वे तस्य 'भावताऽऽपत्तेः भावत्वप्रसङ्गात् । न चावारकत्वं न भावत्वव्याप्यम्, अन्धकारे व्यभिचारादिति वाच्यम्, अन्धकारस्य द्रव्यत्वेन व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात् । तुच्छत्वादभावस्य नावारकत्वमिति, तथात्वे भावत्वापत्तिरित्यन्ये । दूषणान्तरमाह-'तथा'–विशिष्टपरिणामाभावस्य चेतनासाक्षात्कारप्रतिबन्धकत्वे तदभावत्वेन तद्धेतुत्वे गौरवाद् नामाऽस्य विशिष्टपरिणामस्यैव लाघवेन व्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् ॥३७॥

न चेष्टापत्तिः, इत्याह 'न चासावि'ति —

मूलम्—न चासौ भूतभिन्नो यत् ततो व्यक्तिः सदा भवेत् ।
भेदे त्वधिकभावेन तत्त्वसंख्या न युज्यते ॥३८॥

(कायाकार परिणाम का अभाव आवरण नहीं है ।)

'शरीर पृथिवी आदि चार भूतों का विशिष्टपरिणाम है। इस परिणाम का अभाव ही चेतना का आवारक है । असंहतभूतों में इस परिणाम के न होने से ही चेतना की अनुभूति नहीं होती' । इस कथन के विरोध में ग्रन्थकार का यह तर्क है कि आवारकत्व भावत्व का व्याप्य होता है अर्थात् भावात्मक पदार्थ ही आवारक होता है। अतः यदि कायाकार परिणाम के अभाव को आवारक माना जायगा, तो उसे अभाव न मान कर भावात्मक स्वीकार करना पड़ेगा ।

यदि कहा जाय कि–"आवारकत्व को भावत्व का व्याप्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि अन्धकार स्व और पर के प्रकाशक तेज का अभावरूप होने से भावात्मक न होने पर भी आवारक होता है, अतः उसमें उक्त व्याप्ति का व्यभिचार है"–तो यह कथन ठीक न होगा, क्योंकि जैनमत में अन्धकार द्रव्यरूप है यह आगे का० ७७ के विवरण में प्रतिष्ठापित किया जायगा । द्रव्यरूपता होने के कारण अभावात्मक न होकर एक भावात्मकपदार्थ है, अतः उसे आवारक मानने पर आवारकत्व में भावत्व की व्याप्ति का भङ्ग नहीं हो सकता। अन्य विद्वान यह कह कर अभाव की आवारकता का निषेध करते हैं कि 'अभाव तुच्छ होने से आवारक नहीं हो सकता। यदि उसे आवारक माना जायगा तो उसे भावात्मक भी मानना पड़ेगा, कायाकार परिणाम का अभाव यतः भावात्मक नहीं है अतः उसे चेतना का आवारक नहीं माना जा सकता ।

कायाकार परिणाम के अभाव को चेतना का आवारक मानने में दूसरा भी दोष है, और वह यह कि यदि विशिष्टपरिणामाभाव को चेतना का आवारक माना जायगा तो उसके अभाव को अर्थात् कायाकार परिणाम के अभाव को चेतनासाक्षात्कार का जनक मानना होगा, और यह मानना गौरवग्रस्त होने से उचित नहीं है । उसकी अपेक्षा तो यही उचित प्रतीत होता है कि कायाकार परिणाम ही चेतनासाक्षात्कार का जनक है क्योंकि कायाकारपरिणामाभाव के अभाव की अपेक्षा कायाकारपरिणाम लघु है ॥३७॥

३८ वीं कारिका में भूतों के कायाकारपरिणाम की चेतनाव्यञ्जकता का निरसन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

न चासौ=विशिष्टपरिणामः भूतभिन्नो=भूतातिरिक्तः, यद्=यस्माद्धेतोः, ततः सदा=सर्वकालं, व्यक्तिः=चेतनासाक्षात्कारो भवेत्, भूताऽभिन्नविशिष्टपरिणामस्य यावद्भूतकालभावित्वात्। भेदे तु भूतेभ्यो विशिष्टपरिणामस्याऽभ्युपगम्यमाने, अधिकभावेन=चतुष्टयबहिर्भावेन, तत्त्वसंख्या न युज्यते, 'चत्वार्येव तत्त्वानि' इति विभागव्याघातः स्यात् ॥३८॥

अत्र पराभिप्रायमाऽऽशङ्क्य परिहारमाह 'स्वकाले' इति—

मूलम्—स्वकालेऽभिन्न इत्येतत्कालाभावे न सङ्गतम्।
लोकसिद्धाश्रये त्वात्मा हन्त ! नाश्रीयते कथम् ? ॥३९॥

स्वकाले=परिणामकाले, अभिन्नः-पदार्थः, ततो न तत्त्वसंख्याव्याघातः। न

(कायाकारपरिणाम चेतना का व्यञ्जक नहीं है।)

भूतों के कायाकारविशिष्टपरिणाम अर्थात् शरीरात्मकसंघात को भी चेतना का व्यञ्जक नहीं माना जा सकता-क्योंकि भूतचैतनिक के मत में शरीरात्मकसंघात अपने घटक पृथिवी आदि भूतों से भिन्न नहीं माना जाता, अतः उसे यदि चेतना का व्यञ्जक माना जायगा तो उसके घटक पृथिवीआदि भूत ही चेतना के व्यञ्जक होंगे, और उस दशा में शरीरात्मकसंघात के पूर्व प्रत्येकभूतदशा में भी चेतना के साक्षात्कार की आपत्ति होगी। इस प्रकार जिस काल से लेकर जिस काल तक भूतों का अस्तित्व रहेगा उस पूरे काल में चेतना के साक्षात्कार की आपत्ति होगी, क्योंकि भूतों का कायात्मकपरिणाम भूतों से अभिन्न होने के कारण भूतों के सम्पूर्णअस्तित्वकाल में भूतात्मना विद्यमान रहेगा।

इस दोष के परिहारार्थ-यदि कायाकारपरिणाम को पृथिवी आदि भूतों से भिन्न माना जायगा, तो भूतों के कायात्मकपरिणाम को भूतों से अतिरिक्ततत्त्व के रूप में स्वीकार करने पर पृथिवी आदि तत्त्वचतुष्टयवाद के सिद्धान्त को धूलिसात् कर देना होगा, जो भूतचैतनिक को कथमपि मान्य नहीं हो सकता। अतः भूतों के कायात्मक परिणाम को चेतना का व्यञ्जक मानना सम्भव नहीं है ॥३८॥

३९ वीं कारिका में कायाकार भूतसंघात को चेतना का व्यञ्जक मानने पर पूर्वकारिका में बताये गये दोष के अन्यसम्मतपरिहार को असङ्गत बताया जा रहा है—

(कालभेद से भिन्नाभिन्नपरिणाम काल के अभाव में असंगत है)

कतिपय विद्वानों का इस विषय में यह कहना है कि-"भूतों के कायाकारपरिणाम को चेतना का व्यञ्जक मानने पर पूर्वकारिका में बताये गये दोष तभी सम्भव हैं, जब उक्तपरिणाम को भूतों से सर्वदाअभिन्न अथवा सर्वदाभिन्न माना जाय। किन्तु यदि उक्तपरिणाम और भूतों को उक्तपरिणाम के अस्तित्वकाल में परस्पर अभिन्न, और उक्तपरिणाम के अभावकाल में उन्हें परस्पर भिन्न माना जाय, तो उक्त दोष नहीं हो सकते, क्योंकि कायाकारपरिणाम को जब भूतों से भिन्न नहीं

चान्यदा चैतन्यव्यक्तिप्रसङ्गः, तत्काले भूतस्य विशिष्टपरिणामभिन्नत्वेन व्यञ्जकाभावात् । न चैकत्र भेदाभेदोभयविरोधः, कालभेदेनैकत्रोभयसमावेशात् । कथमन्यथा पक्वतादशायां घटादौ 'अयं न श्यामः' इत्यादिधीः ? न च तत्र विशेषणसंसर्गाभाव एव विषयः, अनुयोगिनि सप्तमीं विना तदनुपपत्तेरिति दिक् । इति=एतत्प्रकारम्, एतत्=प्रकृतवचनं, कालाभावे न संगतम्=अलीकम्, न हि कालो नाम तत्त्वान्तरमिष्यते परैः ।

माना जायगा तब उसे अतिरिक्ततत्त्व के रूप में मानने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। फलतया उक्त परिणाम को मान्यता प्रदान करने से तत्त्वचतुष्टयवाद की कोई हानि नहीं हो सकेगी । इसी प्रकार उक्तपरिणाम के अभावकाल में भूत जब उक्तपरिणाम से भिन्न होंगे तब उक्तपरिणाम को चेतना का व्यञ्जक मानने पर भी उक्तपरिणाम के अभाव काल में वे चेतना के व्यञ्जक नहीं होंगे, अतः उस काल में उन में चेतना के साक्षात्कार की आपत्ति न हो सकेगी ।

यदि यह शंका की जाय कि—"भेद और अभेद में परस्पर विरोध है, अतः उन दोनों का सहअवस्थान न हो सकने से यह कल्पना कि-'भूतों के कायाकारपरिणाम और भूतों में–उस परिणाम के अस्तित्वकाल में अभेद होता है, और परिणाम के अभावकाल में भेद होता है'–उचित नहीं है"–तो यह शंका ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि परस्पर विरोधी वस्तुओं का भी कालभेद से एकस्थान में समावेश सर्वसम्मत है ।

यह स्पष्ट है कि जो घट पाक से पूर्व श्याम होता है वही जब पक कर रक्त हो जाता है तब उसमें यह प्रतीति होती है कि–'अब घट श्याम नहीं है' । किन्तु यदि कालभेद से भेद और अभेद का एकत्र समावेश न माना जायगा तो एक घट में पाक से पूर्व श्याम का अभेद और पाक के बाद श्याम का भेद न हो सकने से उक्त प्रतीति न हो सकेगी ।

यदि यह कहा जाय कि–"अब घट श्याम नहीं है' यह प्रतीति पके घट में श्यामभेद को विषय नहीं करती किन्तु श्यामरूपात्मकविशेषण के संसर्गाभाव को विषय करती है, अतः इस प्रतीति के बल पर एक वस्तु में परस्परविरोधी भेद और अभेद के समावेश का समर्थन नहीं किया जा सकता"–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रतीति के बोधकवाक्य में अनुयोगिबोधक 'घट' शब्द के उत्तर सप्तमीविभक्ति न होने से उक्तवाक्य में आये 'न' शब्द से संसर्गाभाव का बोध नहीं हो सकता ।

कहने का आशय यह है कि 'अयं न श्यामः' अथवा 'इदानीं घटो न श्यामः' ये वाक्य ही उक्तप्रतीति के बोधकवाक्य हैं, इनमें 'श्याम'शब्द प्रतियोगी का और 'घट' शब्द अनुयोगी का बोधक है । प्रतियोगीबोधकशब्द के समान अनुयोगिबोधकशब्द के उत्तर भी प्रथमा ही विभक्ति है सप्तमीविभक्ति नहीं है । अतः उक्तवाक्य में आये 'न' शब्द से संसर्गाभाव का बोध नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'न' शब्द से संसर्गाभाव का बोध न होने में अनुयोगीबोधकशब्द के उत्तर सप्तमीविभक्ति की अपेक्षा होती है, जैसे कि 'भूतले न घटः (=भूतल में घट नहीं है)' इस वाक्य में अनुयोगिबोधक 'भूतल' शब्द के उत्तर सप्तमीविभक्ति होने से उक्तवाक्य में आये 'न' शब्द से भूतल में

[1]अथ शब्दतदुपजीविप्रमाणयोरेवाऽनादरश्चार्वाकाणां, तन्मूलभूताऽऽप्ताऽनाश्वासात्, अनुभवसिद्धस्त्वर्थो नाऽपह्नोतुं शक्यः। अत एव तान्त्रिकलक्षणलक्षितमेवानुमानं प्रतिक्षिप्यते, तादृशप्रत्यक्षवत्, न तु बालगोपालसाधारणमल्पादिप्रतिपत्तिरूपम्, अन्यथा व्यवहाराऽनिर्वाहात्। न हि धूमपरामर्शात् 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानं जायमानं संशयरूपं स्मृतिरूपं वा सम्भवति 'सन्देह्मि, स्मरामि' इत्यननुसन्धानात्। किंच परामर्शस्य निश्चयसामग्रीत्वाद् न संशयहेतुत्वं, 'पर्वतो वह्निमान्' इति पूर्वमननुभवाच्च न तादृशी स्मृतिः।

घट के संसर्गाभाव का बोध होता है। इसीलिये 'अयं न श्यामः' 'इदानीं घटो न श्यामः' इन वाक्यों में आये 'न' शब्द को संसर्गाभाव का बोधक न मान कर अन्योन्याभाव का ही बोधक मानना होगा, और यह तभी सम्भव है जब काल भेद से भेद और अभेद के एकत्र समावेश का स्वीकार किया जाय।"

विद्वानों के इस कथन के विरोध में ग्रन्थकार का कहना यह है कि-भूतचैतनिक के मत में पृथिवी आदि चार तत्त्वों से भिन्न किसी पदार्थ का स्वीकार न होने से उक्त मत में कालपदार्थ अलीक है, अतः उसके द्वारा उक्त प्रकार के समाधान की सम्भावना नहीं की जा सकती।

(लोकसिद्धअनुमानप्रामाण्यवादी नव्यचार्वाक का पूर्वपक्ष)

चार्वाक के नये अनुयायियों का कहना है कि शब्दप्रामाण्य के मूलभूत आप्तपुरुष के अस्तित्व में विश्वास करने का कोई आधार न होने से चार्वाक को शब्द और शब्दोपजीवी प्रमाण ही अमान्य है। लेकिन अनुभवसिद्ध अर्थ का अपलाप नहीं हो सकता है, इसलिये धूम को देखकर धूम के उत्पत्तिदेशपर्वत आदि में अग्नि के अस्तित्व का जो ज्ञान बालगोपाल सभी को होता है उसका प्रामाण्य चार्वाक को अमान्य नहीं है, क्यों कि उस ज्ञान को अप्रमाण मान लेने पर उसके द्वारा होने वाले लोकव्यवहार की उपपत्ति अन्य प्रकार से न हो सकेगी। इसीलिये चार्वाक न्यायादितन्त्रोक्तविधि से सम्पन्न होने वाले अनुमान का ही खण्डन करते हैं, लोकसिद्धअनुमान का खण्डन नहीं करते।

चार्वाक की यह दृष्टि अनुमान के सम्बन्ध में ही सीमित नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में भी उनकी यही दृष्टि है। वे शास्त्रोक्तविधि से सम्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष को भी प्रमाण नहीं मानते, किन्तु सर्वसाधारणमनुष्य को लोकसम्मत रीति से जो प्रत्यक्ष होता है उसे ही वे प्रमाण मानते हैं। इसीलिये न्याय-वैशेषिक शास्त्रों में वर्णित किसी भी प्रकार का अलौकिकप्रत्यक्ष उन्हें मान्य नहीं है। चार्वाक का कहना है कि पर्वत में धूम के परामर्श से 'इस पर्वत में अग्नि है' इसप्रकार पर्वत में अग्नि के अस्तित्व का जो ज्ञान होता है, उसे संशय या स्मृति नहीं माना जा सकता, क्योंकि संशय या स्मृतिरूप में उसका अनुभव नहीं होता। उनका यह भी कहना है कि परामर्श निश्चय का कारण है, अतः उससे संशय का जन्म नहीं हो सकता। इसलिये उससे

१-'अथ' इत्यस्य ११६ पृष्ठे 'चेत्!' इत्यनेन सह सम्बन्धः।

अथ 'यो धूमवान् सोऽग्निमान्' इति व्याप्तिज्ञानं धूमवत्त्वावच्छेदेन वह्नि-प्रकारकं तथैव स्मृतिमनुमितिस्थानीयां जनयति; पर्वतत्वांश उद्बुद्धसंस्कारसहकृताद् वा ततः 'पर्वतो वह्निमान्' इति स्मृतिः, यथा बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नशक्तादपि तत्पदाद् निरुक्तशक्तिग्रहाहितसंस्कारेण तत्तद्धर्मावच्छिन्नशक्त्यंश उद्बुद्धेन सहकृतात् पर्वतत्वादिविशिष्टोपस्थितिरिति चेत् ? न, विशिष्योद्बोधकहेतुत्वे गौरवाद् हेत्वाभासादि-वैकल्यप्रसङ्गाच्च ।

उत्पन्न होने वाले ज्ञान को संशय नहीं माना जा सकता।

एवं स्मृति भी समानाकारकअनुभव से उत्पन्न होती है। उक्तज्ञान से पूर्व सर्वत्र उस ढंग के अनुभव का होना प्रामाणिक नहीं है, अतः समानाकारकअनुभव से उत्पन्न न होने के कारण उक्तज्ञान को स्मृति भी नहीं कहा जा सकता।

(परामर्श से अनुमितिस्थानीय स्मृति के जन्म की मान्यता)

इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि-महानस चत्वर आदि कई स्थानों में धूम के साथ वह्नि को देख कर इस प्रकार के व्याप्तिज्ञान का होना प्रायः सभी को मान्य है कि 'जो जो धूमवान होता है वह सब अग्निमान् भी होता है'। यह व्याप्तिज्ञान धूमव-स्वरूप से भासित होने वाले पर्वत आदि सभी धूमाश्रय देशों में विशेषणविधया अग्नि को विषय करता है। इस ज्ञान से इसी प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है, जो मनुष्य के भीतर सुरक्षित रहता है। इस संस्कार से युक्त मनुष्य जब कभी दूर से पर्वत आदि में धूम को देखता है तब उसका यह संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है, और इसके फल स्वरूप उसे इस प्रकार की स्मृति उत्पन्न होती है। यह स्मृति ही अनुमिति का स्थान ग्रहण करती है, इसी से धूम के आश्रय पर्वतआदि पर धूमार्थी मनुष्य के गमन आदि व्यवहारों की उपपत्ति होती है। अतः धूम के परामर्श से अग्नि के अनुमित्यात्मक अनु-भव की उत्पत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ऐसा मानने पर यदि यह प्रश्न हो कि-"धूमार्थी को पर्वत पर जाने के लिये उसे 'पर्वतोऽग्निमान्' इस प्रकार का ज्ञान अपेक्षित है, और यह ज्ञान 'जो जो धूमवान् है वह सब अग्निमान् है' इस प्रकार के अनुभव और संस्कार से नहीं उत्पन्न हो सकता क्यों कि अनुभव और संस्कार अपने ही जैसी स्मृति उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं"-तो इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि 'जो जो धूमवान् है वह सब अग्निमान् है' इस संस्कार से भी 'पर्वतो धूमवान्' इस प्रकार के ज्ञानरूप उद्बोधक के सहयोग से 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार की स्मृति का जन्म हो सकता है। कहने का आशय यह है कि उक्त संस्कार धूमवत्स्वरूप से भासमान पर्वतआदि सभी धूमाश्रय देशो में अग्नि को विषय करता है। अतः सामान्यरूप से तो उस संस्कार से धूमवत्स्वरूप से ही पर्वत आदि में अग्नि की स्मृति उत्पन्न होती है, किन्तु जब 'पर्वतो धूमवान्' इस प्रकार के ज्ञान से उक्त संस्कार उद्बुद्ध होता है तब वह "यो धूमवान् सोऽग्निमान्" इस रूप में उद्बुद्ध न होकर 'पर्वतो वह्निमान्' इसी रूप में उद्बुद्ध होता है। अतः उससे 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार की स्मृति उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

ऐसा मानने पर यदि यह प्रश्न उठे कि–''यो धूमवान् सोऽग्निमान्' यह संस्कार तो धूमवत्स्वरूप से ही पर्वत आदि में अग्नि को विषय करता है, पर्वतत्वआदिरूपों से तो पर्वत आदि में अग्नि को विषय करता नहीं तो फिर वह 'पर्वतोऽग्निमान्' इस रूप में कैसे उद्बुद्ध हो सकेगा ?''–तो इसका उत्तर यह है कि 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्' का अर्थ है 'यद्यद्धर्मावच्छिन्नो धूमवान् तत्तद्धर्मावच्छिन्नोऽग्निमान्'। इस प्रकार यह ज्ञान और इससे उत्पन्न संस्कार धूमाश्रयता के अवच्छेदक पर्वतत्वआदिरूप से ही पर्वत आदि में अग्नि को विषय करता है। अतः इस संस्कार के 'पर्वतो धूमवान्' इस ज्ञान से 'पर्वतोऽग्निमान्' इस रूप में उद्बुद्ध होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि 'पर्वतो धूमवान्' यह ज्ञान धूमाश्रयता के अवच्छेदकरूप से पर्वतत्व को विषय न कर स्वरूपतः पर्वतत्व को विषय करने के कारण उक्तसंस्कार को धूमाश्रयतावच्छेदकत्वअंश में उद्बुद्ध न कर स्वरूपतः पर्वतत्वांश में ही उद्बुद्ध कर सकता है।

''किसी विशेष अंश में उद्बुद्ध न होकर अन्य अंशों में ही उद्बुद्ध होना और अनुद्बोधित अंश को छोड कर अन्यअंशों में ही विसदृशस्मृति को उत्पन्न करना'' संस्कार के विषय में चार्वाक की यह एकमात्र अपनी ही कल्पना नहीं है, अपितु यह तथ्य शब्द आदि को प्रमाण मानने वाले दार्शनिकों को भी मान्य है। इस सम्बन्ध में उदाहरण के रूप में 'तत्' पद को प्रस्तुत किया जा सकता है। यह सभी को मान्य है कि जो भी पदार्थ प्रथमतः बुद्धिस्थ रहता है, तत्पद से उस सभी का बोध होता है, इस लिये बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वरूप से भासमान घटत्व, पटत्व आदि समस्त धर्मों से विशिष्ट अर्थों में 'तत्' पद की शक्ति मानी जाती है।

उस शक्ति का ज्ञान 'बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नः तत्पदशक्यः'–अर्थात् बुद्धिविषयतावच्छेदक का आश्रय तत्पद का शक्य होता है' इस रूप में होता है। इस ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला संस्कार बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वरूप से घटत्व, पटत्व, आदि समस्तधर्मों से विशिष्ट अर्थ में तत्पद की शक्ति को विषय करता है। अब कभी कोई मनुष्य 'तत्' पद को सुनता है, तब उसे जिस प्रकार के धर्म से विशिष्ट अर्थ में बुद्धिविषयतावच्छेदकधर्म का ज्ञान होता है, अथवा जिस प्रकार के धर्म से विशिष्ट अर्थ उसे बुद्धिस्थ होता है, तत्पद की शक्ति को विषय करनेवाला उक्तसंस्कार उसी प्रकार के धर्म से विशिष्ट अर्थ में उद्बुद्ध होता है, और उसके द्वारा तत्पद से उसी प्रकार के धर्म से विशिष्ट अर्थ की स्मृति होती है;-जैसे 'गृहे घटः, तमानय' इस प्रकार के वाक्य को सुनने पर श्रोता को 'घट' शब्द से स्वरूपतः घटत्वविशिष्ट अर्थ बुद्धिस्थ होता है, अतः उक्त वाक्य में आये तत्पद से स्वरूपतः घटत्वविशिष्ट अर्थ की ही स्मृति होती है, क्योंकि स्वरूपतः घटत्वविशिष्ट को बुद्धिस्थ बनाने वाले तत्पद के ज्ञान से तत्पद की शक्ति को विषय करने वाला उक्त संस्कार बुद्धि विषयतावच्छेदकत्व अंशमें उद्बुद्ध न होकर स्वरूपतः घटत्वविशिष्ट में ही उद्बुद्ध होता है, और उससे 'बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नः तत्पदशक्यः' ऐसी स्मृति न होकर 'घटः तत्पदशक्य.' इस प्रकार की ही स्मृति उत्पन्न होती है। यदि इस प्रकार की स्मृति की उत्पत्ति न मानी जायगी तो तत्पदघटितवाक्य से स्वरूपतः घटत्व आदि से विशिष्ट अर्थ का बोध न हो सकेगा, और उसके फलस्वरूप तत्पदघटित वाक्य से लोकव्यवहार का उच्छेद हो जायगा।

अतः जिस प्रकार बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्न में तत्पद के शक्तिज्ञान से उत्पन्न संस्कारविशेष उद्बोधक द्वारा बुद्धिविषयतावच्छेदकत्व अंश में उद्बुद्ध न हो कर स्वरूपतः घटत्व आदि में ही उद्बुद्ध होकर स्वरूपतः घटत्वादिविशिष्ट अर्थों में तत्पदकी शक्ति को विषय करने वाली स्मृति को उत्पन्न कर तत्पद से स्वरूपतः घटत्वादिविशिष्ट की उपस्थिति उत्पन्न करने में सहायक होता है, उसी प्रकार धूमाश्रयतावच्छेदक पर्वतत्वादिविशिष्ट में अग्नि को विषय करने वाला संस्कार भी 'पर्वतो धूमवान्' इस प्रकार के ज्ञानरूप विशेष उद्बोधक द्वारा धूमाश्रयतावच्छेदकत्व अंश में उद्बुद्ध न होकर स्वरूपतः पर्वतत्वादि अंश में ही उद्बुद्ध होकर 'पर्वतोऽग्निमान्' इस प्रकार की स्मृति उत्पन्न कर सकता है। फिर इस स्मृति से ही आवश्यक व्यवहार की उपपत्ति हो जाने से 'पर्वतोऽग्निमान्' इस प्रकार के अनुमित्यात्मक अनुभव की उत्पत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(गौरवादिदोषप्रदर्शन)

धूमपरामर्श से वह्नि की स्मृति मान कर उसके द्वारा वह्नि की अनुमिति को गतार्थ करने वाले वादियों के उक्त कथन के प्रतिवाद में ग्रन्थकार का कहना यह है कि-स्मृति के प्रति उद्बोधक को विशेषरूप से कारण मानना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में गौरव होता है, अतः धूमदर्शन सामान्यरूप से ही 'यो धूमवान् सोऽग्निमान्' इस संस्कार का उद्बोध कर उस आकार की ही स्मृति को उत्पन्न करता है, न कि विशेष रूप से उक्तसंस्कार का उद्बोधन कर विशेषप्रकार की स्मृति को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार तत्पद का ज्ञान भी सामान्यरूप से ही तत्पद की शक्ति को विषय करने वाले 'बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नः तत्पदशक्यः' इसप्रकार के संस्कार को उद्बुद्ध कर उसी प्रकार की स्मृति उत्पन्न करता है। तत्पदघटित वाक्य से स्वरूपतः घटत्वादिविशिष्ट की स्मृति और स्वरूपतः घटत्वादिविशिष्ट की शब्दज अनुभूति तो इसलिये होती है कि बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छेदेन तत्पदशक्ति को विषय करने वाले ज्ञान से 'घटादिः बुद्धिविषयतावच्छेदकधर्मवान्' इस प्रकार के ज्ञान के सहयोग से 'घटादिः तत्पद शक्यः' इस प्रकार का स्वरूपतः घटत्वादिविशिष्ट में भी तत्पद की शक्ति का ज्ञान हो जाता है, और उस ज्ञान से उत्पन्न संस्कार कालान्तर में तत्पद के ज्ञान द्वारा उद्बुद्ध हो कर उस प्रकार की स्मृति उत्पन्न कर देता है। यह स्मृति ही तत्पद से स्वरूपतः घटत्व आदि से विशिष्ट अर्थ की स्मृति और शाब्द अनुभूति की उत्पत्ति के लिये उसकी सहायक होती है।

उक्तरीति से धूम परामर्श से वह्नि की स्मृति मानने में एक विशेष प्रकार की बाधा भी है। वह यह कि-यदि धूमपरामर्श से 'यो धूमवान् सोऽग्निमान्' इस प्रकार के ज्ञान द्वारा उत्पन्न संस्कार का विशेष रूप में उद्बोध मान कर उससे वह्नि की स्मृति का उदय माना जायगा तो हेत्वाभासों का विलय हो जायगा।

कहने का आशय यह है कि-हेत्वाभासों को दोष इस लिये माना जाता है कि उनसे अनुमिति, व्याप्तिज्ञान अथवा परामर्श का प्रतिबन्ध होता है, किन्तु हेतुदर्शन से प्रथमतः विद्यमान हेतुमत्तावच्छेदेन साध्यसम्बन्ध को विषय करने वाले संस्कार का

'तथाप्यनुमित्यभ्युपगमे प्रमाणान्तरप्रसङ्ग' इति चेत् ? न, अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वात् । 'वह्निं न साक्षात्करोमि' इति प्रतीतेर्गुरुत्वादाविव लौकिकविषयताऽभावादेवोपपत्तेः । युक्तं चैतत् , अनुमितित्वावच्छिन्नं प्रति चाक्षुषादिसामग्री-प्रतिबन्धकत्वाऽकल्पने लाघवादिति । तथा च 'इदानीं घटः' इत्यादिप्रतीतौ सम्बन्ध-घटकतया, परत्वादिलिङ्गेन वा कालसिद्धिरिति नव्यचार्वाकाशय" इति चेत् ?

उद्‌बोधन मानकर यदि पक्ष में साध्य की स्मृति मानी जायगी, तो उसका या उसके किसी कारण का प्रतिबन्धक न होने से हेत्वाभासों को दोष मानना सम्भव न हो सकेगा। अतः हेतु के परामर्श से पक्ष में साध्य की स्मृति मान कर उसके द्वारा अनुमिति को गतार्थ नहीं किया जा सकता।

(नव्यचार्वाक के मत में अनुमान–प्रमाणान्तरप्रसङ्ग नहीं है)

"हेतु दर्शन से साध्य की स्मृति न मान कर साध्य की अनुमिति मानने पर यह प्रश्न उठ सकता है कि 'यदि अनुमिति एक अतिरिक्तप्रमा है तो उसके अनुरोध से अनुमान नामक अतिरिक्त प्रमाण भी मानना पड़ेगा, और यदि उसे भी मान्यता प्रदान की जायगी तो उस दशा में 'एक मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य कोई प्रमाण नहीं है,' 'इस चार्वाक सिद्धान्त की रक्षा कैसे होगी ?"

इस प्रश्न के उत्तर में चार्वाक की ओर से यह कहा जा सकता है कि–अनुमिति कोई अतिरिक्त प्रमा नहीं है, किन्तु वह एक प्रकार का मानस–प्रत्यक्ष है। इस प्रकार अनुमितित्व मानसत्व का व्याप्य धर्म है, न कि मानसत्व का विरोधी धर्म है। ऐसा मानने पर यदि यह शंका की जाय कि–"यदि अनुमिति मानसप्रत्यक्ष रूप है तो धूम-परामर्श से वह्नि का मानसप्रत्यक्ष होने पर 'वह्निं साक्षात्करोमि-मैं वह्नि को प्रत्यक्ष कर रहा हूँ' इस रूप में उस मानसप्रत्यक्ष का संवेदन होना चाहिये, पर ऐसा न होकर उसके विपरीत यह संवेदन होता है कि–'वह्निं न साक्षात्करोमि-मैं वह्नि का प्रत्यक्ष नहीं कर रहा हूँ'-तो ऐसा क्यों होता है ?"-इस शङ्का का समाधान केवल इतना ही है कि 'पश्यामि, साक्षात्करोमि' इत्यादिरूप उसी वस्तु के प्रत्यक्ष का संवेदन होता है जिसमें उस प्रत्यक्ष की लौकिकविषयता होती है; जैसे,–घटं साक्षात्करोमि, पटं पश्यामि' इत्यादि, किन्तु जिस वस्तु में प्रत्यक्ष की लौकिकविषयता नहीं होती उस वस्तु के प्रत्यक्ष का प्रत्यक्षात्मक संवेदन नहीं होता, जैसे, न्यायादि मतों में गुरुत्व का मानसप्रत्यक्ष होने पर भी गुरुत्व में प्रत्यक्ष की लौकिकविषयता न होने से 'गुरुत्वं साक्षात्करोमि' ऐसा न होकर 'गुरुत्वं न साक्षात्करोमि' ऐसा ही संवेदन होता है' उसी प्रकार धूमपरामर्श से वह्नि का मानसप्रत्यक्ष होने पर भी 'वह्निं साक्षात्करोमि' इस प्रकार उसका संवेदन न हो कर 'वह्निं न साक्षात्करोमि' इसी प्रकार का संवेदन होता है।

विचार करने पर उक्त कल्पना ही युक्तिसंगत प्रतीत होती है, क्योंकि अनुमिति को यदि मानसप्रत्यक्ष न मान कर अतिरिक्तप्रमा माना जायगा तो जब जिस विषय की अनुमितिसामग्री के साथ उस विषय के चाक्षुषादिप्रत्यक्ष की भी सामग्री सन्निहित होगी तब उस विषय की अनुमिति के प्रति उस विषय के चाक्षुषादिप्रत्यक्ष

की सामग्री को प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, अन्यथा उस समय उस विषय की अनुमिति के भी उत्पन्न होने की आपत्ति होगी। किन्तु अनुमिति को यदि अतिरिक्त प्रमा न मान कर मानसप्रत्यक्षरूप माना जायगा तो उक्त रीति से प्रतिबन्धक की कल्पना आवश्यक न होगी, क्योंकि अन्य प्रत्यक्ष की सामग्री की अपेक्षा मानसप्रत्यक्ष की सामग्री के दुर्बल होने से मानसप्रत्यक्ष के प्रति चाक्षुषादिप्रत्यक्ष की सामग्री की प्रतिबन्धकता सर्वसम्मत है। तो इस प्रकार प्रतिबन्धक की कल्पना में लाघव के अनुरोध से भी हेतुदर्शन के अनन्तर होने वाली साध्यबुद्धि को मानसप्रत्यक्षरूप मानना ही उचित है।

(प्रतीति और लिङ्ग से कालपदार्थ की सिद्धि)

उक्त रीति से हेतुदर्शन से साध्य के मानसप्रत्यक्ष के उदय की मान्यता सिद्ध होने के फलस्वरूप यह असन्दिग्धरूप से कहा जा सकता है कि–कालसाधक हेतु के सुलभ होने से काल की सिद्धि भी निर्विवाद है। जैसे, "इदानीं घटः-अस्यां सूर्यक्रियायां घटः-सूर्य की अमुक क्रिया में घट है" इस प्रकार की बुद्धि का होना सर्वमान्य है। यह बुद्धि सूर्यक्रिया के साथ सम्बन्ध को विषय करती है। यह सुनिश्चित है कि सूर्य क्रिया के साथ दूरस्थ घट का कोई साक्षात्सम्बन्ध सम्भव न होने से कोई परम्परा सम्बन्ध ही मानना होगा, और वह तभी हो सकता है जब सूर्य और घट को जोड़ने वाला कोई पदार्थ हो, जिसके द्वारा सूर्यक्रिया के साथ घट का स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायरूप परम्परासम्बन्ध बन सके। काल एक ऐसा व्यापक पदार्थ है जो एक ही समय सूर्य और घट दोनों से संयुक्त होता है, फलतः घट से संयुक्त होता है काल और काल से संयुक्त होता है सूर्य, और सूर्य का समवायसम्बन्ध होता है उस की क्रिया के साथ। अतः सूर्यक्रिया के साथ घट का स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायरूप परम्परासम्बन्ध उत्पन्न होता है। "इदानीं घटः" यह प्रतीति सूर्यक्रिया के साथ घट के इस परम्परासम्बन्ध से ही सम्पन्न होती है, और इस सम्बन्ध के घटकरूप में ही काल की सिद्धि होती है।

परत्व=ज्येष्ठत्व और अपरत्व=कनिष्ठत्व। ये दोनों गुणात्मकधर्म पूर्व और पश्चात् उत्पन्न होने वाले द्रव्यों में प्रत्यक्षसिद्ध हैं। जिन द्रव्यों में इन गुणों का प्रत्यक्ष होता है, वे द्रव्य इनके समवायिकारण होते हैं, उन द्रव्यों में बहुतर सूर्यक्रिया तथा अल्पतर सूर्यक्रिया का सम्बन्धज्ञान क्रम से उनका निमित्तकारण होता है और उन द्रव्यों के साथ किसी अतिरिक्तद्रव्य का संयोग उनका असमवायिकारण होता है। उन द्रव्यों के साथ जिस द्रव्य का संयोग उन द्रव्यों में उत्पन्न होने वाले परत्व-अपरत्व का असमवायिकारण होता है उसे लाघवतर्क के आधार पर एक और विभु माना जाता है। यदि उसे एक न माना जायगा तो विभिन्नद्रव्यों में परत्व-अपरत्व की उत्पत्ति के लिये अनन्तद्रव्यों की गुरुतर कल्पना करनी होगी, एवं यदि उसे विभु न माना जायगा तो दूरस्थ-समीपस्थ अनेक द्रव्यों में उसका युगपत् (एककालीन) संयोग न हो सकने से उनमें परत्व-अपरत्व की युगपत् उत्पत्ति न हो सकेगी। तो इस प्रकार परत्व-अपरत्व के असमवायिकारण को उपपन्न करने के लिये जिस द्रव्य की सिद्धि होती है उसे ही काल कहा जाता है, परत्व-अपरत्व के द्वारा सिद्ध होने के कारण उसे परत्वादिलिङ्गक भी कहा जाता है।

अत्राह—लोकसिद्धस्य कालस्य आश्रये—अङ्गीकारे तु 'हन्त' इति खेदे, आत्मा कथं नाश्रीयते—श्रद्धीयते ? "लोकसिद्धत्वाविशेषेऽपि सकलप्रयोजनहेतोरनन्यसाधारणगुणस्यात्मनोऽनङ्गीकारः, [1]तत्तद्वस्तुपरिणामान्यथासिद्धस्य कालस्य चाङ्गीकारः, इति पुरःपरिस्फुरतोर्मणिपाषाणयोर्मध्ये मणिपरित्याग-पाषाणग्रहणवदतिशोचनीयं विलसितमिद देवानांप्रियस्य", इति 'हन्त' इत्यनेन सूच्यते ॥३९॥

इन सारे विचारों के निष्कर्षस्वरूप कायचेतना के विषय में चार्वाक के अनुयायियों का यही अभिमत है कि उक्तरीति से जब कालनामक अतिरिक्त पदार्थ की सिद्धि निर्बाध है तब कालभेद से भूतों और उनके कायाकार परिणामों में भेद एवं अभेद का समावेश मानने में भी कोई बाधा नहीं है । अतः भूतों के कायाकार परिणाम को चेतना का व्यञ्जक मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती ।

[काल की तरह लोकसिद्ध होने से आत्मा को भी स्वीकार करना चाहिए ।]

चार्वाक की ओरसे उनके नये अनुयायियों के द्वारा प्रस्तुत किये गये उक्तविचार के विरोध में ग्रन्थकार का यह कहना है कि लोकसिद्ध होने के नाते यदि काल का अस्तित्व स्वीकार करने में चार्वाक को कोई हिचकिचाहट नहीं है तो उसे लोकसिद्ध आत्मा के प्रति भी श्रद्धावान् होना चाहिये । उसका अस्तित्व स्वीकार करने में भी उसे कोई झिचक न होनी चाहिये । यह तो बडे खेद की बात होगी कि–आत्मा, जो समस्त प्रयोजनों का साधक एवं अनन्यसाधारण ज्ञान आदि गुणों का आधार है, उसे लोकसिद्ध होते हुये भी अङ्गीकार न किया जाय और अतिरिक्तकाल, जो वस्तु के विभिन्न परिणामों के द्वारा अन्यथासिद्ध हो सकता है, केवल लोकसिद्ध होने के नाते उसे स्वीकार किया जाय। चार्वाक का यह कार्य ठीक उस मूढमति मानव के कार्य के समान अत्यन्त शोचनीय है जो सामने रखे मणि और पाषाण में से मणि को त्याग देता है और पाषाण को उत्साहपूर्वक ग्रहण करता है। कारिका में 'हन्त' इस खेदसूचक शब्द को रख कर चार्वाक की इस शोचनीयमनोदशा की ओर संकेत किया किया गया है ॥३९॥

१ तत्तद्वस्तुपरिणामान्यथासिद्धस्य कालस्य—

'काल तत्तद्वस्तु के परिणामों से अन्यथासिद्ध है' इस कथन का आशय यह है कि अतिरिक्त कालवादी दार्शनिकों ने काल की सिद्धि में मुख्यतया दो हेतुओं का उल्लेख किया है–एक है 'इदानीं घटः' इत्यादि प्रतीति, और दूसरा परत्व-अपरत्व । 'इदानीं घटः' इस प्रतीति की उपपत्ति के लिए सूर्यक्रिया के साथ घट के सम्बन्ध की अपेक्षा है, यह सम्बन्ध स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायरूप है । इस सम्बन्ध को सम्पन्न करने के लिये सूर्य और घट के संयोजकरूप में विभु काल का अभ्युपगम आवश्यक माना गया है । इस विषय में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सूर्यक्रिया के साथ घट का साक्षात् सम्बन्ध ही मान लेना चाहिये, उक्त परम्परासम्बन्ध की कल्पना अनावश्यक है, सूर्यक्रिया के साथ घट के स्वीकार्य साक्षात्सम्बन्ध को 'कालिक-विशेषणता' शब्द से व्यवहारयोग्य किया जा सकता है, यह सम्बन्ध अतिरिक्तकालवादी को भी मानना पड़ता है । चालु

लोकसिद्धत्वमेवात्मनः स्पष्टयति नात्माऽपि इति ।

मूलम्-नात्मापि लोके नो सिद्धो जातिस्मरणसंश्रयात् ।
सर्वेषां तदभावश्च चित्रकर्मविपाकतः ॥४०॥

आत्मा लोकेऽपि=शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणानुसारिण्यपि, अपिर्भिन्नक्रमोऽत्र सम्बध्यते, नो सिद्ध इति न, किन्तु सिद्ध एव, नञ्द्वयादवधारणं प्रतीयते ।

(जातिस्मरण से आत्मसिद्धि)

४० वीं कारिका में आत्मा की लोकसिद्धता स्पष्ट की गयी है । कारिका में 'अपि' शब्द 'आत्मा' शब्द के अनन्तर प्रयुक्त है किन्तु उसका क्रम भिन्न है, उसे 'लोक' शब्द के अनन्तर पढना चाहिये । इसी प्रकार 'आत्मा' शब्द के पूर्व में प्रयुक्त 'न' शब्द को 'नो सिद्धः' के अनन्तर 'इति' शब्द के साथ पढना चाहिये, जिससे 'न' से 'नो सिद्धः' का निषेध हो कर आत्मा को लोकसिद्धता का अवधारण हो सके । उपर्युक्तरीति से 'अपि' और 'न' शब्द के स्थानपरिवर्तन से कारिका का यह अर्थ निष्पन्न होता है कि-

परत्व-अपरत्व के बारे में भी केवल इतना कहा जा सकता है कि-ये दोनों द्रव्य के गुणात्मक धर्म नहीं हैं, किन्तु जिस द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व होने वाली सूर्यक्रिया से जो द्रव्य सम्बद्ध होता है वह उससे पर तथा जिस द्रव्य की उत्पत्ति के बाद होने वाली सूर्यक्रिया से जो द्रव्य सम्बद्ध होता है वह उससे अपर होता है, अतः परत्व-अपरत्व जब गुणात्मक धर्म ही नहीं है तब उनके असमवायिकारण के सम्पादनार्थ काल की कल्पना असंगत है ।

निरीक्षककृत टिप्पणी :-

वर्तमान सूर्यक्रिया के साथ घट का सम्बन्ध कौन सी चीज है ? केवल यही कि सूर्यक्रिया सापेक्ष घट का वर्तनापर्याय-वर्तनापरिणाम, जैसे तर्जनीसापेक्ष मध्यमाअंगुलि में दीर्घत्व-पर्याय होता है । घट में इस वर्तनापर्याय से 'इदानीं घटः' यह प्रतीति होती है । जिस प्रकार 'मध्यमा (तर्जनी की अपेक्षा) दीर्घ है' इस प्रतीति के लिये मध्यमा में तर्जनी के सम्बन्धरूप अतिरिक्तपदार्थ को मानने की कोई आवश्यकता नहीं, इस प्रकार घट में 'इदानीं घटः' इस प्रतीतिहेतु सूर्यक्रिया का सम्बन्धरूप कोई अतिरिक्तपदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं, मात्र इतना आवश्यक है कि सूर्यक्रिया वर्तमान व घट भी वर्तमान होना चाहिये । 'धनवान् चैत्रः' इस प्रतीति में क्या है ? चैत्र में धनस्वामित्व नाम का पर्याय-परिणाम ही प्रतीति का विषय है, न कि चैत्र व धन के बीच कोई सम्बन्धरूप अतिरिक्तपदार्थ । तब जैसे धनस्वामित्व-परिणाम से ऐसा कोई अतिरिक्तपदार्थ अन्यथासिद्ध हो जाता है इस प्रकार 'इदानीं घटः' प्रतीति के विषय में घट में वैसा वर्तना-परिणाम ही अन्तर्भूत है, न कि सूर्यक्रिया व घट के बीच कोई अतिरिक्तसम्बन्धरूप पदार्थ । जिस प्रकार चैत्र में स्वामित्व धनसापेक्ष है, इस प्रकार घट में तादृशवर्तनापरिणाम सूर्यक्रिया सापेक्ष है इतना ही । अतः इस परिणाम से अतिरिक्त 'काल' पदार्थ अन्यथासिद्ध हो जाता है ।

घटादि द्रव्य में परत्व-अपरत्व भी घटादि द्रव्य के परिणामविशेष ही हैं, और परत्वपरिणाम अपरद्रव्योत्पत्ति के पूर्वसमय की सूर्यक्रिया को सापेक्ष होता है । परत्व-अपरत्व अतिरिक्तगुणस्वरूप न होने से इन को असमवायिकारण की अपेक्षा ही नहीं तब समवायिकारण के संपादनार्थ कालद्रव्य की कल्पना भी अनावश्यक है । वर्तनापरिणाम से काल अन्यथासिद्ध हो जाता है ।

कुतः ? इत्याह—जातिस्मरणस्य=भवान्तरानुभूतार्थविषयस्य मतिज्ञानविशेषस्य संश्रयात्=लोकेनाङ्गीकरणात् । न हि भवान्तरानुभूतार्थस्मरणमन्वय्यात्मद्रव्यं विनोपपद्यते, शरीरस्य भवान्तराऽननुयायित्वात् । 'भवान्तरादागमनाऽविशेषेऽपि केषांचिदेव जातिस्मरणं न सर्वेषामिति कथं विशेषः ?' इति तटस्थशङ्कायामाह—सर्वेषामविशेषेऽपि तदभावश्च—जातिस्मरणाऽभावश्च, चित्रस्य बहुविधशक्तिकस्य, कर्मणः तदावरणस्य, विपाकः फलप्रदानाभिमुख्यकालस्तस्मात् ।४०॥

अत्रैव दृष्टान्तमाह 'लोकेऽपि' इति—

मूलम्—लोकेऽपि नैकतः स्थानादागतानां तथेक्ष्यते ।
अविशेषेण सर्वेषामनुभूतार्थसंस्मृतिः ॥४१॥

लोकेऽपि=इहलोकेऽपि, एकतो=विवक्षितात् स्थानाद् आगतानां सर्वेषाम्, अनुभूतार्थसंस्मृतिरविशेषेण नेक्ष्यते । कस्यचिदनुभूतयावदर्थस्मृतिः, कस्यचित् कतिपयार्थस्मृतिः, कस्यचिच्चार्थमात्राऽस्मृतिरिति विशेषदर्शनात् । एवं चात्र दृष्टविशेषस्य चित्रकर्मविपाकप्रयोज्यत्वाद् जात्यस्मरणमपि तत्प्रयोज्यमिति सिद्धम् ।

जो लोग शब्द और शब्दोपजीवी प्रमाणों को न मान कर केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, उनके मत में भी 'आत्मा नहीं सिद्ध है' यह बात नहीं है, अपितु उन्हें भी आत्मा का अस्तित्व मान्य है । क्योंकि वे लोग भी जातिस्मरण अर्थात् पूर्वजन्म में अनुभूतअर्थ का स्मरण मानते हैं जो जैनदर्शन में मतिज्ञान का ही एक विशेष प्रकार है । यदि विभिन्नजन्मों में अन्वयी आत्मद्रव्य को स्वीकार न किया जायगा तो जातिस्मरण की उपपत्ति न हो सकेगी । शरीर से जातिस्मरण की उपपत्ति नहीं की जा सकती क्योंकि किसी एक शरीर का विभिन्नजन्मों से सम्बन्ध नहीं होता । "पूर्वजन्म से नये जन्म में आने वाले मनुष्यों में कुछ ही को जातिस्मरण क्यों होता है ? सभी को क्यों नहीं होता ?" इस तटस्थ शङ्का का समाधान यह है कि 'जिन मनुष्यों के मतिज्ञान विशेष रूप जातिस्मरण के आवरणभूत कर्म का विपाक=फलप्रदानकाल उपस्थित रहता है उन्हें उनके कर्मदोष से जातिस्मरण नहीं होता,' इस प्रकार की कल्पना करने में कोई बाधा नहीं हो सकती क्योंकि मनुष्य की आत्मा में अनेकजन्मों के अनेकविध कर्मों की राशि संचित रहती है, जो अपने विपाककाल में फलदायी होती है ॥४०॥

(जातिस्मरणाभाव भी विचित्रकर्मविपाक से प्रयोज्य है)

पूर्व कारिका में यह बात कही गयी है कि वर्तमान जन्म में जिन मनुष्यों को पूर्वजन्म में अनुभूतअर्थ का स्मरण नहीं होता, उनका यह स्मरणाभाव उनके जातिस्मरणावरणीयकर्म के विपाक के कारण ही होता है, ४१ वी कारिका में दृष्टान्तद्वारा इस बात की पुष्टी की जा रही है—

लोक में यह देखा जाता है कि जब अनेकलोग एकस्थान से किसी नये स्थान में जाते हैं, तब उन सभी लोगों को पूर्वस्थान में अनुभूत सभी अर्थों की समान-

अथ तत्र यदंशे संस्कारोद्‌बोधस्तदंशे स्मरणम्, नष्टचित्तस्य च संस्काराभावाद् न स्मरणम् इत्युद्‌बोधकसंस्काराभावेनास्मरणोपपत्तौ, किं तत्प्रतिबन्धकाऽदृष्टकल्पनेन ? इति चेत् ? सत्यम्, उद्‌बोधकानामपि स्मृत्यावरणक्षयोपशमाधायकतयैवोपयोगात्, तस्यैव स्मृत्यन्तरङ्गहेतुत्वात्, विनाप्युद्‌बोधकं क्षयोपशमपाटवात् झटितिस्मृतिदर्शनात् ।

रूप से स्मृति नहीं होती, किन्तु कुछ लोगों को अनुभूत सभी अर्थों की स्मृति होती है, कुछ लोगों को अनुभूत कुछ ही अर्थों की स्मृति होती है, और कुछ को किसी भी अर्थ की स्मृति नहीं होती। इस प्रकार—"एक ही स्थान से आने वाले मनुष्यों के स्मरण में जो यह विलक्षणता देखी जाती है, उसका कारण उनके कर्मवैचित्र्य को छोड़ और कुछ नहीं हो सकता। तो जिस प्रकार विभिन्न मनुष्यों को वर्तमानजन्म में अनुभूत अर्थों के स्मरण की विलक्षणता उनकी कर्मविलक्षणता से सम्पन्न होती है, उसी प्रकार पूर्वजन्म में अनुभूत अर्थों के स्मरण की विलक्षणता भी मनुष्यों के कर्मों की विलक्षणता से सम्पन्न हो सकती है"—ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है। इस लिये पूर्व-कारिका में जो यह बात कही गयी है कि "अनेक लोगों को जो पूर्वजन्म का स्मरण नहीं होता उसका मूल उनके चित्रकर्म का विपाक ही होता है," वह पूर्णतया युक्ति संगत है।

(स्मरणप्रतिबन्धक-अदृष्ट की कल्पना आवश्यक है)

प्रश्न हो सकता है कि-"पूर्वानुभूत अनेक अर्थों में जब जिस अर्थ का संस्कार जिसे उद्‌बुद्ध होता है तब उसे उस अर्थ का स्मरण होता है, किन्तु जिस व्यक्ति के अनुभूत अर्थों के संस्कार सम्पूर्ण नष्ट हो जाते हैं उसे संस्काररूप कारण के न होने से किसी भी अर्थ का स्मरण नहीं होता। इस प्रकार जब उद्‌बोधक और संस्कार के अभाव से पूर्वानुभूत अर्थ के स्मरण का अभाव उत्पन्न हो सकता है, तब स्मरण के प्रति अदृष्ट प्रतिबन्धक होता है, इस कल्पना की क्या आवश्यकता है ?" -

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि-पूर्वानुभूतअर्थविषयक संस्कार के रहते हुये भी सदैव उस अर्थ का स्मरण नहीं होता, अतः स्मरण के प्रति अदृष्ट को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है। इस प्रतिबन्धक के क्षयोपशम के लिये ही उद्‌बोधक की अपेक्षा होती है। यदि प्रतिबन्धक का अस्तित्व न हो तो उद्‌बोधक की कोई आवश्यकता ही न होगी। सच बात तो यह है कि-स्मरण के 'आवरणकर्म का क्षयोपशम' ही स्मरण का अन्तरङ्ग कारण है, उद्‌बोधक द्वारा उसके सम्पन्न होने पर ही स्मरण की उत्पत्ति होती है। किन्तु जब क्षयोपशम पटु होता है अर्थात् स्मृति का आवरण इतना दुर्बल होता है कि उद्‌बोधक के बिना ही उसका क्षयोपशम हो जाता है तब उद्‌बोधक के न रहने पर भी स्मरण की उत्पत्ति हो जाती है। क्षयोपशम की यह पटुता अर्थात् विशेषकारण के बिना ही क्षयोपशम की सम्पन्नता विषय के पुनः पुनः अनुभव और पुनः पुनः स्मरणरूप विषयाभ्यास पर निर्भर होती है। जो विषय अनेकशः अनुभूत और स्मृत होता रहता है, उसकी स्मृति में विलंब नहीं होता, क्यों कि उस विषय की स्मृति के आवरण का क्षयोपशम, उस विषय की ओर चित्त के

संस्कारश्चोत्कर्षेतः षट्षष्टिसागरोपमस्थितिकमतिज्ञानभेदान्तःपाती समतिक्रान्तसंख्यातभवावगमस्वरूपमतिज्ञानविशेषजातिस्मरणार्थं न प्राग्भवीय उपयुज्यते, किन्तु स्मृतिसामान्येऽनुभवव्यापाररक्षार्थं जातिस्मरणनियतेहादिचतुष्टयान्तर्भूत एव, तथाविधक्रमानुविद्धस्यैव छद्मस्थोपयोगस्य साधनात् । क्वचिदपायमात्रस्य क्वचन धारणामात्रस्य च स्फुटत्वेऽपि शेषाद्धन्यनुपलक्षणात् । यदाह भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः....

उप्पलदलसयवेहे व्व दुव्विहावत्तणेण पडिहाइ ।

समयं व सुक्कसक्कुलिदसणेवि सयाणमुवलद्धी ॥[वि. भा. गा. २९९] ॥इति॥

तत्त्वमत्रत्यं मत्कृतज्ञानार्णवादवसेयम् ।

अभिमुख होने मात्र से ही सम्पन्न हो जाता है । उसके लिये विशेष उद्बोधक की अपेक्षा नहीं होती ।

(स्मृति में प्राग्भवीय संस्कार अनुपयुक्त है)

संस्कार यह मतिज्ञान के अवग्रह–ईहा–अपाय–धारणा इन चार प्रकारों के अन्तर्गत एक प्रकार (संभवतः धारणास्वरूप) है–अतः मतिज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति, अनुत्तर विमान में ३३-३३ सागरोपमवर्ष की आयु वाले दो बार जन्म के हिसाब से, ६६ सागरोपम वर्ष काल तक की होने से संस्कार की भी उत्कृष्टकालस्थिति उतनी ही हो सकती है । जब कि जातिस्मरण अर्थात् अतीत पूर्वजन्मों का स्मरणात्मक मतिज्ञान संख्यात भवों का भी हो सकता है, जिनमें तो संभव है ६६ सागरोपमों से कहीं अधिक काल भी लगा हो । इनके स्मरण में प्राग्भवीय संस्कार तो ६६ सागरोपम के बाद नष्ट हो जाने से, प्राग्भवीय संस्कार कहां से उपयुक्त होगा ? इसलिये मानना होगा कि वैसे जाति स्मरण के लिये प्राग्भवीय संस्कार उपयोग में नहीं आता । ऐसा जातिस्मरण ज्ञान तो छद्मस्थ अर्थात् ज्ञानावरण वाले असर्वज्ञ जीव को उस समय होता है जब उसके आवारककर्म का क्षयोपशम होता है अर्थात् उसका विपाकोदय स्थगित हो जाता है । इस क्षयोपशम में वर्तमानभवीय संस्कार ही उपयोगी होता है, जो ईहा अपोह–अपाय-धारणा के क्रम से उत्पन्न होने वाले जातिस्मरणात्मक मतिज्ञान का ही एक प्रकार विशेष है । इस वर्तमानभवीय संस्कार को उसकी उत्पत्ति में अपेक्षणीय इस लिये माना जाता है जिससे स्मृति सामान्य के प्रति पूर्वानुभव के व्यापार के रूप में संस्कार की उपयोगिता अक्षुण्ण रह सके । स्मृति के प्रति संस्कार की कारणता का निर्वाह ऐसे जाति स्मरण में प्राग्भवीय संस्कार से नहीं किन्तु वर्तमानसंस्कार से इस प्रकार होता है,– कोई भी जातिस्मरण ज्ञान कुछ भी वैसा देख-सुन कर या याद कर ऊहापोह में चढ़ने से होता है । यह ऊहापोह ईहादिचतुष्टय अर्थात् ईहा–अपोह–अपाय-धारणा स्वरूप होता है । 'अहो ! मैंने पूर्व में ऐसा कुछ देखा-सुना है' ...यह ईहा हुई । "कहां कब देखा ? दो पाँच साल में नहीं"....यह अपोह हुआ । फिर 'उससे भी पूर्व में देखा लगता है'......यह ईहा हुई । 'बालपन में नहीं, इस जनम में नहीं'......यह हुआ 'अपोह' । 'हाँ,

---

१–उत्पलदलशतवेध इव दुर्विभावत्वेन प्रतिभाति । समकमिव शुष्कशष्कुलीदशने विषयाणामुपलब्धिः ॥

'बालकस्य स्तन्यपानप्रवृत्तिरिष्टसाधनताधीसाध्या। सा चानुमितिरूपा। सा च व्याप्त्यादिस्मृतिजन्या। व्याप्त्यादिस्मृतिश्च प्राग्भवीयानुभवसाध्या; इति "वीतराग-जन्मादर्शन०" न्यायाद् भवान्तरानुगाम्यात्मसिद्धिः' इत्यपरे वर्णयन्ति।

वस्तुतः स्मरणान्तरान्यथाऽनुपपत्त्यापि लोकसिद्ध एवात्मा, शरीरस्य चैतन्ये बाल्येऽनुभूतस्य तारुण्येऽस्मरणप्रसङ्गात्, चैत्रेणानुभूतस्येव मैत्रेण; बालयुवशरीरयोर्भेदात् परिणामभेदे द्रव्यभेदावश्यकत्वात्।

पूर्वजन्म में देखा—सुना था, यह हुआ 'अपाय' यानी निर्णय। उसको बराबर ख्याल में लिया जाए-यह हुई 'धारणा'। यही संस्कार है। इससे जातिस्मरण होता है, व इसमें संस्कार कारणभूत हो ही गया इतना ही कि वह पूर्वभवीय नहीं लेकिन वर्तमान-भवीय संस्कार।

यहां अगर कोई कहे कि-'जातिस्मरण ज्ञान वैसे क्रमिक ईहादिचतुष्टय किये बिना ही उत्पन्न होता है'-तो यह ठीक नहीं, क्योंकि छद्मस्थपुरुष का 'उपयोग' अर्थात् *मतिज्ञान का स्फुरण नियमेन अवग्रह-ईहा-अपाय*-धारणा के क्रमशः उत्पन्न होने से ही सम्पन्न होता है यह सिद्ध किया गया है। यदि कभी किसी को स्फुटरूप से सीधे अपाय और धारणा की उत्पत्ति होना प्रतीत होता हो तो वहाँ उसके पूर्व अवग्रह और ईहा की भी कल्पना कर लेनी चाहिये, उन ज्ञानों का उदय जो लक्षित नहीं होता वह अतिसत्वरउत्पत्तिरूपदोष के कारण ही नहीं होता, न कि उनकी अनुत्पत्ति के कारण होता है। महनीय आचार्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में इस बात को दो प्रकार के दृष्टांतो से स्पष्ट किया है। एक है-एक के उपर एक के क्रम से रखे हुये कमल के सौ पत्तों का सूची द्वारा वेध, और दूसरा है सूखी लम्बी शष्कुली का चर्वण। आशय यह है कि-जहां अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा का उत्पत्ति क्रम नहीं लक्षित होता, वहाँ एक तो यह कल्पना की जा सकता है कि वे सभी ज्ञान उत्पन्न तो क्रम से ही होते हैं, पर उनमें कालव्यवधान इतना सूक्ष्म रहता है कि वह क्रम ठीक उसी *प्रकार नहीं लक्षित हो पाता जैसे एक के* उपर एक के क्रम से रखे कमल के सौ पत्तों के सूची से होने वाले वेध का क्रम नहीं लक्षित हो पाता। अथवा दूसरी कल्पना यह की जा सकती है कि वे सभी ज्ञान मानो एक काल में ही उत्पन्न होते है वैसा प्रतीत होता है, वह भी ठीक उसी प्रकार जैसे सूखी-लम्बी शष्कुली के चबाते समय उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, और शब्द का ज्ञान साथ ही उत्पन्न न होता हो।

ग्रन्थकार ने इस विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये अपने ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थ को देखने का संकेत किया है।

अन्य दार्शनिक एक दूसरे प्रकार से जन्मान्तरगामी आत्मा की सिद्धि करते हैं। उनका कहना है कि—नवजात बालक को माता का दूध पीते देख कर दूध पीने में उसकी प्रवृत्ति का अनुमान किया जाता है, अनुमान द्वारा ज्ञात प्रवृत्ति से उसके कारण के रूप में इष्टसाधनताज्ञान का अनुमान किया जाता है। अनुमान द्वारा ज्ञात यह इष्टसाधन-ताज्ञान शब्दबोधात्मक या प्रत्यक्षात्मक नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय बालक को

न चोपादनेनानुभूतस्योपादेयेन स्मरणादुपपत्तिः, छिन्नकरादेरनुपादानत्वेन छिन्नकरादेः पूर्वानुभूतास्मरणप्रसङ्गात् । न च 'करेण यदनुभूतं तत् खण्डशरीरोपदानापरकिञ्चिदवयवेनाप्यनुभूतम्; इति तद्गतवासनासंक्रमाद् नानुपपत्ति'रिति वाच्यम्; प्रत्यवयवगतविज्ञानबहुत्वेऽनेकपरामर्शप्रसङ्गात्; यावदवयवेषु व्यासज्यवृत्तित्वे च चैतन्यस्य यत्किञ्चिदाश्रयविनाशे बहुत्वसंख्याया इव विनाशप्रसङ्गात्; पूर्वचैतन्यविरहे उत्तरचैतन्यानुत्पादात्, परमाणुगतत्वे तद्गतरूपादिवच्चैतन्यातीन्द्रियत्वप्रसङ्गाच्च ।

न तो शब्द का संकेतज्ञान होता है और न साधनता के प्रत्यक्षज्ञान के लिये अपेक्षित अन्वय-व्यतिरेक का ही ज्ञान होता है, अतः उक्त ज्ञान को अनुमितिरूप माना जाता है। दुग्धपान में इष्टसाधनता की इस अनुमिति से उसके कारणभूत इष्टसाधनता के व्याप्तिज्ञान का अनुमान किया जाता है। यह व्याप्तिज्ञान भी अनुभवात्मक नहीं माना जा सकता, क्योंकि बालक को इस व्याप्ति के अनुभव का कोई साधन सुलभ नहीं होता। अतः उसे स्मरणरूप ही मानना पड़ता है। इष्टसाधनता की व्याप्ति के इस स्मरण से उसके कारणभूत इष्टसाधनता की व्याप्ति के अनुभव का अनुमान होता है। यह अनुभव इस जन्म में बालक को सम्भव न होने से बालक के पूर्वजन्म का अनुमापक होता है। इस प्रकार बालक के पूर्वजन्म की अनुमापक इस प्रक्रिया से तथा वीतराग का जन्म उपलब्ध न होने से फलित होने वाले-'जो प्राणी जन्म ग्रहण करता हैं वह रागवान् ही होता है,'-इस न्याय से जन्मान्तरानुगामी आत्मा की सिद्धि होती है।

(वर्त्तमान जन्म में अनुभूतपदार्थ के स्मरण से आत्मसिद्धि)

वस्तुस्थिति तो यह है कि-आत्मा की सिद्धि मात्र जातिस्मरण अर्थात् पूर्वजन्मों का स्मरण, किंवा नवजात बालक को दुग्धपान में इष्टसाधनता की व्याप्ति का स्मरण-इन जन्मान्तरीय अनुभवमूलक स्मरणों के ही अनुरोध से नहीं होती, अपितु वर्तमानजन्म के अनुभवमूलक स्मरणों के अनुरोध से भी होती है। कहने का आशय यह है कि शरीर से भिन्न नित्य आत्मा का अस्तित्व न मान कर यदि शरीर को ही चेतन माना जायगा, तो वर्तमानजन्म में ही बाल्यावस्था में अनुभूत विषय का युवावस्था में स्मरण न हो सकेगा, क्योंकि शरीरचैतन्यवादी के मत में अनुभव और स्मरण का उदय शरीर में ही माना जाता है। तो जैसे चैत्र में परस्पर भेद होने से चैत्र द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण मैत्र को नहीं होता, वैसे ही बाल्यावस्था और युवावस्था के शरीरो में भेद होने के कारण बालशरीर द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण युवाशरीर को न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि बाल्य शरीर और युवाशरीर एक ही है, क्योंकि बालशरीर और युवाशरीर के परिणाम भिन्न होते हैं। बालशरीर छोटा एवं पतला होता है, युवाशरीर लम्बा एवं चौड़ा होता है, अतः इस परिणामभेद के कारण उसके आश्रयभूत शरीर में भी भेद मानना आवश्यक है, क्योंकि संसार के किसी भी एक द्रव्य में दो परिमाणों का होना प्रामाणिक न होने से द्रव्यरूप आश्रय में भेद माने बिना उसके परिमाणों में भेद मानना सम्भव नहीं है।

(उपादान से अनुभूत अर्थ का स्मरण उपादेय को नहीं हो सकता)

शरीर चैतन्यवादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि स्मरण के प्रति संस्कार -आश्रयता और स्वाश्रयोपादेयता, अन्यतरसम्बन्ध से कारण होता है। संस्कार आश्रयतासम्बन्ध से अनुभवकर्ता में, और स्वाश्रयोपादेयता सम्बन्ध से अनुभवकर्ता के उपादेयकार्य में रहता है. अतः जिस शरीर से किसी विषय का अनुभव होकर उस विषय का संस्कार उत्पन्न होगा, उस संस्कार से उस विषय का स्मरण उस शरीर को भी होगा और उस शरीर के उपादेय अन्य शरीर को भी होगा। स्मरण और संस्कार में इस प्रकार का कार्यकारणभाव मानने पर बालशरीर से अनुभूत विषय का युवाशरीर को स्मरण होने में कोई बाधा न होगी, क्योंकि बालशरीर और युवाशरीर में उपादान उपादेयभाव होने से बालशरीर के अनुभव से उत्पन्न संस्कार स्वाश्रयोपादेयता सम्बन्ध से युवाशरीर में पहुँच सकेगा।

ऐसा मानने पर यदि यह शंका हो कि–"बाल शरीर के नष्ट होने पर उसमें उत्पन्न संस्कार भी नष्ट हो जायगा, अतः युवाशरीर में उसका उक्त सम्बन्ध होने पर भी स्वरूपतः अथवा व्यापारतः किसी भी प्रकार उसके न रहने पर उसके स्मरणात्मक कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह नियम है कि किसी कारण का कार्य तभी उत्पन्न होता है जब वह कारण या तो स्वयं रहे अथवा उसका कोई व्यापार रहे। बालशरीर का नाश होने पर तद्गत संस्कार का नाश हो जाने से वह संस्कार न तो स्वयं रहता है, और न कोई उसका व्यापार ही रहता है, अतः युवाशरीर में उसके स्मरणात्मक कार्य की उत्पत्ति असंभव है"–तो इस शंका के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि–जब बालशरीर से युवाशरीर की उत्पत्ति होती है तब बालशरीरगत संस्कार से युवा शरीर में समानविषयक नये संस्कार की भी उत्पत्ति हो जाती है। यह संस्कार-जन्यसंस्कार भी पूर्वानुभवमूलक होने के कारण पहले संस्कार के समान ही पूर्वानुभव का व्यापार होता है,-इस मान्यता के अनुसार संस्कार सर्वत्र आश्रयतासम्बन्ध से ही स्मरण का कारण होता है। अब स्वाश्रयोपादेयतासम्बन्ध से उसे कारण मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि उत्पत्तिद्वारा पूर्वशरीरगत संस्कार उत्तरशरीर में संक्रान्त हो जाता है।"

विचार करने पर शरीरचैतन्यवादी का उपर्युक्तकथन समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि करयुक्तशरीर से किसी विषय का अनुभव होने पर करछेदन के बाद शरीर के करहीन हो जाने पर भी उक्त विषय का स्मरण होता है किन्तु शरीरचैतन्यपक्ष में यह स्मरण न हो सकेगा. क्योंकि छिन्नकर करहीनशरीर का उपादान नहीं होता, अतः छिन्न कर से अनुभूतविषय के संस्कार का करहीन शरीर में संक्रमण न हो सकने से करहीन शरीर को उस विषय का स्मरण नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि–"कर से जिस विषय का अनुभव होता है उस विषय का अनुभव शरीर के अन्य ऐसे अवयवों से भी होता है जो करहीन शरीर के भी उपादान होते हैं, अतः उन अवयवों द्वारा करहीन शरीर में करानुभूत विषय के संस्कार का सङ्क्रमण सम्भव न होने से करहीन शरीर में करयुक्तशरीर द्वारा अनुभूत

रूपस्कन्धवद् विज्ञानस्कन्धैक्योपगमाद् न दोष इति चेत्? न, तथापि 'योऽहमनुभवामि सोऽहं स्मरामि' इत्यभेदावमर्शानुपपत्तेः। सादृश्येन वैसदृश्यतिरस्कारात् तथाऽवमर्शः, एवं च क्षणभङ्गे स्मृतिकुर्वद्रूपपरमाणुपुञ्जानामेव स्मृतिनियामकत्वाद् न कोऽपि दोष इति चेत्? न, स्थैर्यप्रत्यभिज्ञाप्रामाण्ययोरुपपादयिष्यमाणत्वादिति दिक् ॥४१॥

विषय का स्मरण होने से कोई बाधा नहीं हो सकती"-तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर के अनेक अवयवों में एक विषय का अनेक ज्ञान मानने पर उन अनेक ज्ञानों के अनेक परामर्श अनुसन्धान की आपत्ति होगी; और इस भय से विभिन्न अवयवो में यदि एक ही व्यासज्यवृत्तिज्ञान तथा तन्मूलक एक ही व्यासज्यवृत्तिसंस्कार माना जायगा तो आश्रयभूत अवयवों में किसी एक अवयव का भी नाश होने पर उस ज्ञान और संस्कार का ठीक उसी प्रकार नाश हो जायगा जिस प्रकार एक आश्रय का नाश होने पर व्यासज्यवृत्तिबहुत्वसंख्या का नाश हो जाता है। फलतः करयुक्त शरीर द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण शरीर के करहीन होने पर न हो सकेगा, क्यों कि कर का नाश होने पर पूर्व शरीर के कर आदि अवयवों में आश्रित ज्ञान का नाश हो जाने से समानविषयकउत्तरज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी इस दोष के परिहारार्थ यदि यह कहा जाय कि-"जब किसी शरीर को कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह तथा उससे उत्पन्न होने वाला संस्कार उस शरीर में अथवा उसके स्थूल अवयवों में आश्रित न होकर उस शरीर के सभी परमाणुओं में आश्रित होता है, अतः जब उस शरीर का कर आदि कोई स्थूल अवयव नष्ट होता है तब उस स्थूल अवयव के परमाणु खण्डशरीर से केवल दूर हो जाते हैं, किन्तु उनका नाश नहीं होता। अतः खण्डशरीर के घटक परमाणुओं द्वारा विनष्ट अवयवों से अनुभूत विषय के संस्कार का खण्डशरीर में संक्रमण सम्भव होने से उक्तस्मरण की अनुपपत्ति नहीं हो सकती" -तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान को परमाणुगत मानने पर परमाणुगत रूप आदि के समान परमाणुगत ज्ञान भी अतीन्द्रिय हो जायगा।

(पूर्वविज्ञानस्कन्ध से उत्तरविज्ञानस्कन्ध को स्मरण नहीं हो सकता)

क्षणभङ्गवादी बौद्ध के मत से यदि यह कहा जाय कि-"शरीर ही आत्मा है, और शरीर यह रूपस्कन्ध, संज्ञास्कन्ध संस्कारस्कन्ध, वेदनास्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध इन पांच स्कन्धों की समष्टि रूप है। इनमें विज्ञानस्कन्ध ही अनुभव स्मरण आदि का उत्पत्ति स्थल है। करयुक्त शरीर के विज्ञानस्कन्ध से करहीन शरीर में ठीक उसीके जैसा नया विज्ञान-स्कन्ध उत्पन्न हो जाता है, अतः करयुक्त शरीर के विज्ञान-स्कन्ध से अनुभूत विषय का स्मरण करहीन शरीर के विज्ञानस्कन्ध को होने में कोई बाधा नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभवकार्य विज्ञानस्कन्ध और स्मरण कर्ता विज्ञानस्कन्ध में भेद होने पर अनुभवकर्ता और स्मरणकर्ता में अभेद

प्रकारान्तरेण लोकसिद्धत्वमाह 'दिव्ये'ति —

मूलम्—दिव्यदर्शनतश्चैव तच्छिष्टाऽव्यभिचारतः ।
पितृकर्मादिसिद्धेश्च हन्त ! नात्माऽप्यलौकिकः ॥४२॥

दिव्यदर्शनतश्चैव—पात्रावतारादौ विशिष्टरूपस्य पुंसः स्पष्टमवेक्षणाच्चैव, 'हन्त' इति खेदे, आत्माप्यलौकिको लोकाऽगम्यो न । न हि भूतविशेषस्य मन्त्रविशेषाऽऽकृष्टस्याऽऽगमनं सम्भवति, जडत्वात् । न वा तत्र विशिष्टशक्तिः सम्भवति । तथा, तेन दिव्यदर्शनविषयेण यच्छिष्टं कथितं तस्याऽव्यभिचारादविसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वादपि, तथा

बुद्धि न हो सकेगी, जब कि 'जिस मैंने जिस वस्तु का पहले अनुभव किया था वही मैं आज उस वस्तु का स्मरण करता हूँ', इस रूप में अनुभवकर्ता और स्मरणकर्ता में अभेदबुद्धि का होना सर्वमान्य है ।

उक्त दोष के निवारणार्थ यदि यह कहा जाय कि, 'अनुभवकर्ता और स्मरणकर्ता में में उक्तअभेदबुद्धिरूप ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा होती है, वह प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि अनुभवकर्ता और स्मरणकर्ता में भेद होने पर भी उनमें ऐक्य की जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह उनके निरतिशयसादृश्य के कारण होती है, उनकी असाधारणसमानता से उनकी साधारणअसमानता अभिभूत हो जाती है। इस लिये उनमें अनैक्य का ज्ञान न होने से उनमें ऐक्य का ज्ञान निर्बाध हो जाता है ।

बौद्धदर्शन में प्रत्येक भाव क्षणभङ्गुर होता है, अतः उस दर्शन में सामान्यरूप से कार्यकारणभाव न मान कर तत्तत्कार्य के प्रति तत्तत्कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षणवर्त्ती (कारण) को तत्तत्कार्यकुर्वद्रूपत्वेन कारणता मानी जाती है । जो कार्य जिस कारण के अनन्तर उत्पन्न होता है उस कारण में उस कार्य के उत्पादनानुकूलअतिशय-एक प्रकार का उत्कर्ष होता है, उस अतिशय को बौद्धदर्शनमें कुर्वद्रूपत्व कहा जाता है. जिस कार्य का कुर्वद्रूपत्व जिस कारण में रहता है उस कार्य की उत्पत्ति उसी कारण से होती है । उपलब्ध साधनसम्पन्न खेत में डाले गये बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है। किन्तु घर के कोठार में रखे बीज से अङ्कुर नहीं उत्पन्न होता, इस विषमता की उपपत्ति कुर्वद्रूपत्व से ही सम्पादित होती है, बौद्धदर्शन की इस मान्यता के अनुसार स्मरण के विषय में भी यह कल्पना की जा सकती है कि-"शरीर के जिस परमाणुपुञ्ज में जिस स्मरण का कुर्वद्रूपत्व रहता है उस उस परमाणु पुञ्ज में स्मरण की उत्पत्ति होती है, करयुक्त शरीर द्वारा अनुभूतविषय का स्मरण करहीन शरीर में भी होता है, अतः करयुक्त शरीर द्वारा अनुभूतविषय के स्मरण का कुर्वद्रूपत्व करहीन शरीर में भी मान्य है ।"

किन्तु विचार करने पर बौद्धदर्शन की ये बातें उचित नहीं प्रतीत होतीं, क्योंकि भाव की स्थिरता अक्षणिकता एवं अनुभवकर्ता और स्मरणकर्ता के ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा की प्रामाणिकता का युक्तिपूर्वक उपपादन आगे किया जायगा ॥४१॥

४२वीं कारिका में अन्यप्रकार से आत्मा की लोकसिद्धता का प्रतिपादन किया गया है।

तन्निर्वाहकातिशयितज्ञानहेत्वतिशयस्य विनाऽऽत्मानमसम्भवात् , पितृकर्म=वरप्रदानादि-फलकपरलोकगतपितृप्रीत्यनुकूलाचारविशेषः, आदिना विषहालनादिपरिग्रहः तत्सिद्धेः-तत्फलान्यथानुपपत्तेरपि, तथा तत्फलनिर्वाहकातिशयाऽऽश्रयतयाऽप्यात्मसिद्धेः ।

(दिव्यपुरुष के पात्रावतरण से आत्मसिद्धि)

जिस प्रकार पृथिवी, जल, आदि भूतपदार्थ लोक में 'अगम्य' दुर्ज्ञेय नहीं है, उसी तरह भूतपदार्थों से भिन्न आत्मा भी लोक में अगम्य नहीं है, किन्तु निर्विवाद रूपसे लोकगम्य है। उसे जानने के लिए अनेक साधन हैं। जैसे पात्रविशेष में मन्त्र द्वारा दिव्यपुरुष का अवतारण कर उसका अवलोकन किया जाता है, यह बात भूतभिन्न आत्मा को माने बिना सम्भव नहीं हो सकती क्योंकि मन्त्र द्वारा जड़भूत का आगमन सम्भव नहीं हो सकता। 'मन्त्र से पात्र में विशिष्टशक्ति का उदय हो जाता है'-यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जड़पात्र में चेतनशक्ति के प्राकट्य की कल्पना युक्तिसङ्गत नहीं हो सकती।

पात्र विशेष में मन्त्रद्वारा जिस दिव्यपुरुष का दर्शन सम्पादित होता है, वह पुरुष जो कुछ कहता है वह 'व्यभिचरित'=असत्य नहीं होता। उसके अनुसार होने वाली प्रवृत्ति विसंवादिनी-विफल नहीं होती, इस बात से भी भूतभिन्न आत्मा की सिद्धि होती है, अन्यथा जड़भूत द्वारा किसी बात का कथन और फिर उस कथन का अव्यभिचार युक्तियुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि किसी नयी अव्यभिचरितबात का कहना ज्ञानातिशय और उसके सम्पादक हेत्वतिशय के बिना संभव नहीं हो सकता और ये दोनों अतिशय आत्मा के अभाव में कथमपि उपपन्न नहीं हो सकते।

मृतपितरों के प्रीत्यर्थ जिन आचारों की अनुष्ठेयता शास्त्रों में वर्णित है तथा जिनके अनुष्ठान से प्रसन्न हुये पिता पुत्र-पौत्रादि को वरप्रदान करते हैं उन आचारों को 'पितृकर्म' कहा जाता है, लोक में इस पितृकर्म को करने की प्रथा प्रचलित है, यदि भूतभिन्न आत्मा का अस्तित्व न माना जायगा तो पितृकर्मों का अनुष्ठान न हो सकेगा-क्योंकि भूतात्मवाद में मृत पितरों का अस्तित्व, आचारविशेष से उनका प्रीतिसम्पादन और उनके द्वारा वरप्रदान, ये बातें कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती।

साँप के डँसने पर जब मनुष्य विष के प्रकोप से मूर्च्छित हो मृत्यु का ग्रास होने लगता है तब विषवैद्यद्वारा विष उतारने के मन्त्र का प्रयोग होने पर मनुष्य को डसने वाला साँप जहाँ कहीं भी होता है, वहीं से डँसे हुये मनुष्य के शरीर से अपना विष खींच लेता है, यह बात भी भूतभिन्न आत्मा के अभाव में नहीं बन सकती, क्योंकि साँप यदि शरीर मात्र ही होगा तो वह तो भूतात्मक होने से जड़ है, फिर मन्त्रप्रयोग से उसे यह ज्ञान कैसे होगा कि उसे अपना विष वापस खिंच लेना चाहिये। साथ ही यह भी विचारणीय है कि साँप का जडशरीर दूरस्थित मनुष्य के शरीर से विष को वापस भी कैसे खिंच सकेगा ?

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि विशिष्टअतिशय के बिना उक्त विशिष्टकार्य नहीं हो सकते अतः उन कार्यों के निर्वाहक अतिशय के आश्रय के रूप में भूतभिन्न आत्मा का अस्तित्व मानना अनिवार्य है।

अत्र यद्यपि हेतुत्रयेणाप्यदृष्टसाधनादेवात्मसिद्धिः, अदृष्टं चालौकिकम्, इति लोकसिद्धत्वं व्याहतम्, तथाप्यनायत्याऽदृष्टकल्पनात् तत्र शब्दस्यानपेक्षणाल्लोकप्रसिद्धकार्येण लोकप्रसिद्धत्वमित्यभिमानः ।

न चातिशयस्य भोग्यनिष्ठतयैवोपपत्तिः, भोगनिर्वाहार्थं भोगसमानाधिकरणस्यैव तस्य कल्पयितुं युक्तत्वात् । अभिहितं चेदं–"संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः" इत्यादिना कुसुमाञ्जलौ [स्त० १–का० ११] उदयनेनापि ।

(अदृष्टद्वारा लोकप्रसिद्धि का साधन दुष्कर नहीं)

आत्मा की लोकसिद्धता के समर्थन में कारिका में जिन तीन हेतुओं का उल्लेख किया गया है स्पष्ट है कि उनसे अदृष्ट का साधन करके ही उसके आश्रयरूप में आत्मा की सिद्धि की जाती है, इस स्थिति में यह प्रश्न ऊठना स्वाभाविक है कि–'जिस अदृष्ट के आश्रयरूप में आत्मा का अस्तित्व मानना है वह अदृष्ट ही जब अलौकिक है तब उसके द्वारा सिद्ध होने वाले आत्मा को लोकसिद्ध कैसे कहा जा सकता है' ?–इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उक्त हेतुओं से जो अदृष्ट की कल्पना की जाती है, वह अगत्या (अनिवार्य होने से) की जाती है, क्योंकि उसके विना उक्त हेतुओं की उपपत्ति ही नहीं हो सकती । अतः आत्मा उस अलौकिक अदृष्ट का आश्रय होने से यद्यपि अलौकिक ही है तथापि उसकी सिद्धि में शब्दप्रमाण की अपेक्षा न होने से तथा लोकप्रसिद्ध कार्यों द्वारा ही उसकी सिद्धि होने से उसे लोकसिद्ध कहा जा सकता है ।

(अदृष्ट का आश्रय भोग्य विषयादि नहीं है)

दृष्ट कारणमात्र से सम्पन्न न हो सकने वाले कार्यों की उत्पत्ति के लिये कल्पनीय अदृष्ट को आत्मा में आश्रित मानने पर यह शंका ऊठ सकती है कि–"अदृष्ट के आश्रय रूप में आत्मा की कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि उसको भोग्य विषयों में आश्रित मानने में लाघव है, यतः वे विषय प्रयोजनान्तर से सिद्ध हैं, उनकी नवीन कल्पना नहीं करनी है"–इस शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि भूत एवं भौतिक द्रव्य शरीर आदि जड होने से भोक्ता नहीं हो सकते, अतः भोक्ता के रूप में चेतन आत्मा को मान्यता प्रदान करना आवश्यक है। अदृष्ट की कल्पना भोग का नियमन करने के लिये ही की जाती है, वे ही विषय जिस आत्मा में भोगानुकुल अदृष्ट होता है, उसी के भोग्य बनते हैं, अन्य के नहीं, अतः अदृष्ट को भोक्ता आत्मा में ही आश्रित मानना युक्तिसंगत है, क्योंकि अदृष्ट यदि भोक्ता में आश्रित न होकर भोग्यविषय में आश्रित होगा तो भोग का व्यधिकरण होने से उसका नियामक न हो सकेगा । न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने भी कहा है कि यज्ञ के साधन व्रीहि-(धान्यविशेष) के प्रोक्षण (उपर की ओर से मन्त्र द्वारा जल का प्रक्षेप)–अभ्युक्षण (सभी पार्श्वभाग से मन्त्रद्वारा जल का प्रक्षेप) आदि कार्यों से व्रीहियों में नहीं अपि तु लाघवार्थ प्रोक्षणादिकर्ता में ही अदृष्ट की उत्पत्ति मान्य है ।

इदमभ्युपगम्योक्तम् , वस्तुतः प्रागुक्तरीत्या लोकसिद्धाश्रयणमपि चार्वाकस्य न युक्तम् । तथाहि—यत्तावदुक्तम् 'अनुभवसिद्धोऽर्थो नापह्नोतुं शक्यत' इति तदभ्युपगमबाधितम् , अनुभवसिद्धस्य जात्यादिवैशिष्ट्यास्यानभ्युपगमात् । परीक्ष्यमाणस्य तस्यानुपपत्तेस्तदनुभवबाध इति चेत् ? तर्ह्यननुगताकारविषयत्वेन विशिष्टज्ञानमात्र एव प्रामाण्याभावनिश्चयाद् दुरुद्धरो व्यवहारबाधः । तस्य तद्व्याप्यत्वानिश्चयदशायां सन्देहसाम्राज्यात्, कोटिद्वयस्मरणदशायां तस्याप्यभावाद् वा न तद्बाध इति चेत् ? तथापि विश्वदर्शिनस्तत्र प्रवृत्तिशून्यत्वापातः । धर्मिमात्रविषयकाद् निर्विकल्पकाद् धर्मिमात्रविषयिण्या एव प्रवृत्तेरभ्युपगमाद् न दोष इति चेत् ? तर्हि यदुक्तमग्रे 'तान्त्रिकलक्षणक्षितमेवानुमानं प्रतिक्षिप्यते, न तु स्वप्रतिपत्तिरूपं व्यवहारचतुरम्' इति, तत्किं विस्मृतम् ? कथं च सविकल्पकव्यवहितस्य निर्विकल्पकस्य प्रवृत्त्युपयोगित्वम् ?, इति सूक्ष्ममीक्ष्यताम् ।

(लोकसिद्ध का स्वीकार चार्वाक को अनुचित)

भूतचैतन्यवादी चार्वाक की ओर से जो यह बात कही गयी है कि "कालभेद से शरीर और भूतों में भेद-अभेद दोनों मान्य हो सकते हैं" यह 'लोक सिद्ध काल की सत्ता चार्वाक को मान्य है' इस बात को अभ्युपगम करके ही कही गयी है। वस्तुतः तो लोकसिद्ध का आश्रय लेना चार्वाक के लिये युक्तिसंगत नहीं हो सकता । चार्वाक के अनुयायियों ने जो यह बात कही थी कि लोकसिद्ध अर्थ का अपलाप अशक्य है वह चार्वाक की मान्यता के विरुद्ध है क्योंकि 'अयं गौः, अयं अश्वः' इत्यादि अनुभवों से सिद्ध होने पर भी गौ-अश्व आदि में गोत्व, अश्वत्व आदि जातियों के वैशिष्ट्य को चार्वाक ने स्वीकार नहीं किया है। यदि यह कहा जाय कि-"परीक्षा करने पर जाति आदि की उपपत्ति न होने से वे अनुभव बाधित हो जाते हैं, अतः जातिवैशिष्ट्य अनुभवसिद्ध ही नहीं है"-तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर विशिष्टज्ञानमात्र अप्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि वे सभी अनुगत आकार को विषय करते हैं और परीक्षा द्वारा वस्तु का कोई अनुगतआकार सिद्ध नहीं होता, फलतः विशिष्टज्ञान से होने वाले सम्पूर्ण व्यवहारों का लोप हो जायगा, क्योंकि चार्वाक के मतानुसार इस व्यवहार लोप के परिहार का कोई उपाय नहीं हो सकता ।

यदि यह कहा जाय कि-"जिस समय विशिष्टज्ञान में प्रामाण्याभाव की व्याप्ति का अर्थात् 'जो जो विशिष्टज्ञान है वह वह अप्रमाण है' इस व्याप्ति का निश्चय न होगा उस समय उसमें प्रामाण्याभाव का सन्देह ही हो सकेगा, निश्चय न हो सकेगा, और जिस समय प्रामाण्य-अप्रामाण्य इन दोनों कोटियों की उपस्थिति न होगी उस समय विशिष्टज्ञान में प्रामाण्याभाव का सन्देह भी न हो सकेगा । अतः उन समयों में विशिष्टज्ञान से व्यवहार सम्पन्न होने में कोई बाधा न होने से व्यवहार का लोप नहीं हो सकता"-तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त रीति से अन्य जनों के व्यवहार का लोप भले न हो, किन्तु चार्वाक के अपने व्यवहार का लोप तो अनिवार्य है, क्योंकि वह तो

अथ "विशिष्टज्ञानस्यापि धर्म्यंशे स्वप्रकाशत्वांशे च प्रामाण्यमेव, अतो धर्म्यंशेऽप्रामाण्यज्ञानाऽभावात् तदंशे ततः प्रवृत्त्युपपत्तिः शुक्त्यादौ 'इदं रजतमि'त्यादिज्ञानानां च विशिष्टवासनोपनीतरजताद्यलीकधर्म्यवगाहित्वाद् व्यवहारबाधः, 'सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तम्' इति प्रवादश्चानुपपन्न" इति चेत् ? न, विशिष्टवासनासामर्थ्याऽविशेषे विशिष्टज्ञानमात्रस्यैव विशिष्टालीकधर्मिविषयकत्वसम्भवात्, सम्यग्मिथ्याज्ञानविभागार्थमेतादृशकुसृष्ट्यादरे चैकत्र धर्मिणि प्रकारीभूतधर्मसत्त्वम्, अन्यत्र च तदसत्त्वमित्येतावन्मात्रस्यैव लाघवेनाश्रयणीयत्वात् । 'इदं रजतमि'त्यत्र पुरोवर्ति रजतमनुभूयते, अतस्तद्देशेऽलीकं रजतं कल्प्यते, सत्यस्थले तु नैवं, सत्यस्यैव पुरोवृत्तित्वात्, इति विशेषाद् नोक्तापत्तिरिति चेत् ? न, 'इदमि'तिविषयतायाः क्षयोपशमविशेषनियम्यतया तदनुरोधेनातिरिक्ताऽकल्पनात्, अन्यथाऽनन्तालीकरजताद्युत्पत्तिविनाशतद्ध्वंसादिकल्पने गौरवात्, अज्ञातधर्मिणि प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्चेति । अधिकं प्रमारहस्ये ।

विशेषदर्शी है, उसे तो यह सदैव निश्चय है कि अनुगत आकार का अभाव होने से उसे विषय करने के कारण सभी विशिष्टज्ञान अप्रमाण है ।

इस पर यदि यह कहा जाय कि-"धर्मी की सत्ता तो चार्वाक को भी स्वीकार्य है, केवल अनुगतधर्म ही उसके मतमें अप्रमाणिक हैं । अतः सविकल्पक ज्ञान के अप्रमाण होने पर भी धर्मीमात्र को विषय करने वाला निर्विकल्पक ज्ञान तो उसके मत में प्रमाण है अतः उस ज्ञान से धर्मी का व्यवहार व धर्मी में प्रवृत्ति आदि होने में कोई बाधा नहीं है"-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पकज्ञान से धर्मिमात्रविषयक व्यवहार मानने पर चार्वाक की ओर से यह कहना असङ्गत हो जायगा कि-'शास्त्रोक्त अनुमान ही चार्वाक को अमान्य है किन्तु लोकव्यवहार का प्रवर्तक लोकसिद्ध अनुमान उसे भी मान्य है', साथ ही यह बात भी असङ्गत है कि-'निर्विकल्पकज्ञान से व्यवहार की उपपत्ति हो जाने के कारण व्यवहार का लोप नहीं होगा'-क्योंकि निर्विकल्पक के सविकल्पक का होना सभी को मान्य है, भले वह प्रमाण न हो । तो जब सविकल्पक द्वारा निर्विकल्पक व्यवहित हो जाता है, तब व्यवहार के अव्यवहितपूर्व उसका अस्तित्व न होने से उसके द्वारा व्यवहार का निर्वाह कैसे हो सकता है !

(धर्मी और स्वप्रकाशत्व दो अंश में प्रामाणिकविशिष्टज्ञान से प्रवृत्ति उपपत्ति की शंका)

यदि यह कहा जाय कि-"विशिष्टज्ञान भी धर्मी अंश में और स्वप्रकाशत्वअंश में प्रमाण ही होता है, इसलिये धर्मी अंश में उसमें अप्रामाण्य का ज्ञान न होने से उसके द्वारा धर्मी में सफल प्रवृत्ति हो सकती है ।-धर्मी में प्रमाणभूत विशिष्टज्ञान से धर्मी में सफलप्रवृत्तिरूप व्यवहार मानने पर शुक्ति में होने वाले 'इदं रजतम्=यह रजत है' इस ज्ञान से भी धर्मी में रजतार्थी की सफलप्रवृत्तिरूपव्यवहार की आपत्ति होगी,-यह शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि शुक्ति में होने वाला रजतज्ञान धर्मीरूप में वास्तव रजत को विषय न कर विशिष्टवासना से उपस्थित असत्य रजत को विषय करता है, अतः उस

ज्ञान के धर्मी अंश में भी अप्रमाण होने से उससे रजतगोचरव्यवहार की सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि चार्वाक, बौद्ध आदि को 'सभी ज्ञान धर्मी अंश में अभ्रान्त होता है' यह नियम मान्य नहीं है"—तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्तिस्थल में अलीक रजत को उपस्थित करने वाली वासना तथा सत्यरजतस्थल में अलीकरजतत्व-धर्म को उपस्थित करने वाली वासना के सामर्थ्य में कोई अन्तर न होने से रजतत्व धर्म को उपस्थित करने वाली वासना रजतत्वविशिष्टरजतरूप अलीक धर्मी को भी उपस्थित कर सकती है, अतः सत्यरजतस्थलीय विशिष्टज्ञान भी धर्मी अंश में अप्रमाण हो जायगा। फलतः उससे भी धर्मी में सफलप्रवृत्तिरूपव्यवहार की उपपत्ति न हो सकेगी।

यदि यह कहा जाय कि—"वासनावशात् अलीक रजतादि का ज्ञान मानने वाले वादी के मतमें भी सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान के रूप में विशिष्टज्ञान का विभाग मान्य है, अतः उसकी उपपत्ति के लिये शुक्तिस्थलीय रजतज्ञान को अलीकरजतविषयक और रजत-स्थलीय रजतज्ञान को सत्यरजतविषयक मानना आवश्यक होने से अलीकरजत को उपस्थित करने वाली विशिष्ट वासना एवं अलीकरजतत्वआदि धर्म को उपस्थित करने वाली अवि-शिष्ट वासना के सामर्थ्य में भेद मानना उचित हो सकता है"—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग् ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान का विभाग तो इस प्रकार से भी किया जा सकता है कि जिस ज्ञान में भासमान धर्मी में उस ज्ञान में भासमान धर्म का सद्भाव होता है वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है और जिस ज्ञानमें भासमान धर्मी में उस ज्ञान में भास-मानधर्म का अभाव होता है वह ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। इस प्रकार स्वीकार करने में किसी अतिरिक्त सत्य अथवा असत्य पदार्थ की कल्पना न होने से लाघव है, अतः ज्ञान के उक्तविभाग की उपपत्ति के लिये धर्मिवासना और धर्मवासनाके रूपमें वासनाभेद की कल्पना की कुसृष्टि करना उचित नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि—"शुक्तिस्थल में भी 'इदं रजतम्' इस रूप में सन्मुखस्थित रजत का अनुभव होता है, किन्तु वहाँ सत्यरजत सन्मुखस्थित नहीं है अतः उस स्थल में सन्मुखस्थित अलीक रजत की कल्पना उचित है, किन्तु रजत स्थल में सत्यरजत सन्मुखस्थित है ही। अतः वहाँ अलीक रजतत्वधर्म की ही कल्पना उचित है, अलीक रजत की कल्पना अनावश्यक होने से उचित नहीं है, अतः रजतज्ञान का सम्यक् और मिथ्यारूप में भेद करने के लिये धर्मिवासना और धर्मवासना के रूप में वासना भेद की कल्पना उचित होने से उक्त आपत्ति नहीं हो सकती"—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इदमाकारज्ञान की विषयता इदमंश के ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशमविशेष से ही सम्पन्न होती है, और वह क्षयोपशमविशेष जैसे रजतस्थल में होता है उसी प्रकार शुक्तिस्थल में भी होता है अतः जैसे रजत स्थल में रजत का इदमाकारज्ञान होता है उसी प्रकार शुक्तिस्थलमें भी रजत का इदमाकारज्ञान हो सकता है, अन्तर केवल इतना ही है कि रजतस्थल में रजत सन्निहित होने से इन्द्रिय द्वारा उपनीत होता है और शुक्तिस्थलमें दूरस्थ होने से संस्कारद्वारा या स्मरणद्वारा उपनीत होता है। अतः शुक्तिस्थल में रजत के इदमाकारज्ञान के अनुरोध से अतिरिक्तअलीकरजत की कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि अतिरिक्तरजतकी कल्पना करने पर उस की उत्पत्ति, उसके

यच्चाप्युक्तम्–'अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वाभ्युपगमाद् न प्रमाणान्तरप्रसङ्ग इति', तदप्यसत्, तदानीं वह्निमानसस्वीकारे लिङ्गादीनामपि मानसापत्तेः । न चाचार्यमत इव तत्र तज्ज्ञानमात्र इष्टापत्तिः, एवमप्युच्छृङ्खलोपस्थितानां घटादीनां तत्र भानापत्तेः । न च परामर्शादिरूपविशेषसामग्रीविरहाद् न तदापत्तिरिति वाच्यम्, सामान्यसामग्रीवशात् तदापत्तेः । न च घटमानसत्वस्य परामर्शप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वाद् न तदापत्तिः, पटमानसत्वादीनामपि तथात्वेनानन्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पने गौरवात्, वह्निघटोभयानुमितिजनकपरामर्शस्थले व्यभिचारात्, तत्तत्परामर्शाभावविशिष्टतत्तत्परामर्शत्वेन प्रतिबन्धकत्वे च सुतरां तथात्वात्, सामान्यतो मानसत्वेनैव तव तत्प्रतिबध्यत्वावच्छेदकत्वौचित्यात् । न चैवमनुमितिसामग्र्यां सत्यां भोगोऽपि कथं भवेदिति वाच्यम्, भोगान्यज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकतया समानोतजातिविशेषवतां सुखदुःखानामुत्तेजकत्वादिति । अधिकं मत्कृतन्यायालोक–स्याद्वादरहस्ययोरवसेयम् ॥४२॥

विनाश तथा उसकी उत्पत्ति एवं उसके विनाश के कारण आदि की भी कल्पना करनी पड़ेगी । इस प्रकार उस पक्ष में महान कल्पना गौरव की आपत्ति होगी ।

इस विषयमें इससे अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये ग्रन्थकार ने 'प्रमारहस्य' नामक स्वरचित ग्रन्थ की ओर संकेत किया है ।

(मानसप्रत्यक्ष में अनुमिति का अन्तर्भाव अशक्य)

'लोकसिद्ध अनुमिति को प्रमाण मानने पर प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण के अङ्गीकार की आपत्ति होगी' इसके उत्तर में चार्वाक की ओर से जो यह बात कही गई कि–'अनुमितित्व को मानसत्व का व्याप्य मानने से प्रमाणान्तर की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि अनुमिति मानसप्रत्यक्ष में अन्तर्भूत है'–वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि धूमपरामर्श के बाद होने वाले वह्निज्ञान को यदि मानस माना जायगा तो हेतु आदि के मानसज्ञान की आपत्ति होगी । यदि यह कहा जाय कि–"अनुमिति के प्रमाणान्तरत्व पक्ष में जैसे उदयनाचार्य अनुमिति में लिङ्ग का भान मानते हैं उसी प्रकार अनुमिति को मानसप्रत्यक्षरूप मानने पर भी उसमें हेतु का भान मानने में कोई हानि नहीं है"–तो यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमिति के मानसत्वपक्ष में केवल हेतु के ही मानस की आपत्ती न होगी किन्तु साध्य, हेतु, पक्ष आदि का घटक न होकर स्वतन्त्ररूप से जो भी घटादि पदार्थ धूमपरामर्श के समय उपस्थित होंगे उन सभी के मानसप्रत्यक्ष की आपत्ति होगी ।

'वह्निबोधकपरामर्शकाल में घटादि के बोधक परामर्श का अभाव होने से उनके मानसबोध की आपत्ति नहीं हो सकती'—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परामर्श तो मानसविशेष का कारण है, सामान्यमानस का कारण तो पदार्थ की उपस्थितिमात्र ही है, अतः मानसविशेष के परामर्शात्मक कारण के अभाव में भी मानससामान्य के कारण से वह्नि के मानसविशेषात्मकअनुमिति के साथ घट आदि के सामान्यमानस की आपत्ति

उक्तः शक्तिपक्षः, अथ कार्यपक्षमधिकृत्याह 'काठिन्ये'ति—

मूलम्—काठिन्याऽबोधरूपाणि भूतान्यध्यक्षसिद्धितः ।
चेतना तु न तद्रूपा सा कथं तत्फलं भवेत् ? ॥४३॥

काठिन्यं=कठिनः स्पर्शः पृथिवीमात्रवृत्तिः, इदमुपलक्षणं रसादीनाम्, अबोधो=अचैतन्यं, तद्रूपाणि तद्धर्मनिरूपितधर्मिताश्रयाणि, भूतानि पृथिव्यादीनि । कुतः ? इत्याह—

अनिवार्य है, घटमानस के प्रति वह्निमानसात्मकअनुमिति के जनक परामर्श को प्रतिबन्धक मान कर भी इस आपत्ति का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस रीति से आपत्ति का परिहार करने पर घट, पट, मठ, खण्ड आदि अनन्तपदार्थों के मानस के प्रति वह्न्यनुमिति के जनक परामर्श को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक होने से अनन्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की गौरवपूर्ण कल्पना करनी होगी । दूसरी बात यह है कि वह्नि के अनुमापक परामर्श के समय यदि घट का भी अनुमापक परामर्श रहता है, तो वह्नि की अनुमिति के साथ घट की भी अनुमिति होती है, अतः घट के मानससामान्य के प्रति वह्नि के अनुमापक परामर्श को प्रतिबन्धक मानने में व्यभिचार भी होगा, यदि इस व्यभिचार का वारण करने के लिये घटादि के मानस के प्रति घटादिअनुमापक परामर्शाऽभाव से विशिष्ट वह्न्यनुमापकपरामर्श को प्रतिबन्धक माना जायगा तो प्रतिबध्य-प्रति-प्रतिबन्धकभाव का कलेवर और गौरवग्रस्त हो जायगा, अतः इससे अच्छा पक्ष यही होगा कि अनुमिति का अन्तर्भाव मानसज्ञान में न कर मानसमात्र के प्रति परामर्श को प्रतिबन्धक मान लिया जाय ।

यदि यह शंका हो कि—"मानसमात्र के प्रति परामर्श को प्रतिबन्धक मान लेने पर परामर्शरूप [1]अनुमितिसामग्री के समय सुखदुःख का मानसप्रत्यक्षरूप भोग भी न हो सकेगा"—तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सुखदुःख का उदय होने पर उसका भोग ही होता है, अन्य कोई ज्ञान नहीं होता, अतः भोगान्यज्ञान के प्रति सुख और दुःख को उभयानुगतजातिरूप से प्रतिबन्धक मानना अनिवार्य है, तो फिर उस उभयानुगतजातिरूप से सुख-दुःख को मानसमात्र के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता में उत्तेजक मान कर मानसमात्र के प्रति विजातीयसुखाद्यभावविशिष्टअनुमितिसामग्री को प्रतिबन्धक मानने से अनुमितिसामग्री के समय सुखदुःख के भोग की अनुपपत्ति नहीं होगी।

इस विषय में अधिक जानकारी के लिये ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ न्यायालोक और स्याद्वादरहस्य को देखने का संकेत किया है ॥४२॥

३३ से ४२ वीं कारिका पर्यन्त 'चेतना भूतों की शक्ति है' इस शक्तिपक्ष की समीक्षा की गई, अब ४३ वीं कारिका में 'चेतना भूतों का कार्य है' इस कार्यपक्ष की समीक्षा की गयी है ।

१—जब प्रथमक्षणभावी ज्ञान में अप्रमाण्य का ज्ञान, दूसरे क्षण में परामर्श और तीसरे क्षण में सुख या दुःख उत्पन्न होगा तब ऐसी स्थिति बन सकती है ।

अध्यक्षसिद्धितः 'कठिना पृथिवी, अचेतना पृथिवी'इत्यादिसत्यप्रत्यक्षविषयत्वात् । चैतन्यस्याऽचाक्षुषत्वात् तदभावो यद्यपि न चाक्षुषः, तथाप्युपनयजन्यं मानसं तदध्यक्षं ग्राह्यम् । चेतना तु तद्रूपा न-काठिन्याबोधसामानाधिकरण्येन प्रमीयमाणा न, अतः सा चेतना, तत्फलं=भूतोपादेया, कथं भवेत् ? न कथञ्चिदित्यर्थः ।

अथ जायत एव 'स्थूलोऽहम्, गौरोऽहम्' इतिवत् 'कठिनोऽहम्' इत्यपि प्रतीतिः, प्रतीयत एव च जाड्यमपि 'मामहं न जानामि' इत्यादिना, इति किमापादितम् ? इति चेत् ? न, 'कठिनोऽहम्' इत्यादि प्रतीतेर्भ्रमत्वात्, इदन्त्वसामानाधिकरण्येनाऽनुभूयमानस्य काठिन्यादेरहंत्वसामानाधिकरण्याऽयोगाच्च, इत्युपरिष्टाद्विवेचयिष्यते । 'मामहं न जानामि' इति प्रतीतिश्च विशेषज्ञानाभावविषया न तु ज्ञानासामान्याभावविषया, भावरूपाऽज्ञान विषया वा,ज्ञानाऽज्ञानयोर्विरोधात्, भावरूपाऽज्ञानस्यान्यत्र निरस्तत्वाच्चेतिदिक् ॥४३॥

[चेतना भूतों का कार्य भी नहीं हो सकती]

काठिन्य का अर्थ है कठिनस्पर्श, यह केवल पृथिवी में रहता है, यह रस आदि का भी उपलक्षण=बोधक है, अबोध का अर्थ है अचेतनता, ये धर्म पृथिवी आदि भूतों में आश्रित है, यह बात प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है, क्योंकि कठिनता, अचेतनता आदि धर्म 'पृथिवी कठिन होती है, पृथिवी अचेतन होती है' इन सत्य प्रत्यक्षों के विषय हैं। चेतनता आत्मा या बुद्धि का धर्म होने से चाक्षुष नहीं है, अतः उसका अभाव अचेतनता भी हालाँकि चाक्षुष नहीं हो सकती, क्योंकि 'जो भाव जिस इन्द्रिय से ग्राह्य होता है उसका अभाव भी उसी इन्द्रिय से ग्राह्य होता है' यह नियम है, तो भी उपनय अर्थात् ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से पृथिवी में उसका भी मानसप्रत्यक्ष हो सकता है। 'पृथिवी अचेतन होती है' इस ज्ञान को जो प्रत्यक्ष कहा गया है वह इस उपनयाधीन मानसप्रत्यक्ष की ही दृष्टि से कहा गया है।

चेतना काठिन्य और अचेतनता के समानाधिकरणधर्म के रूपमें प्रमाणद्वारा गृहीत नहीं होती, अतः वह भूतों का उपादेय कार्य नहीं हो सकती। यदि कठिनता, जडता और चेतना में सामानाधिकरण्य माना जायगा, तो चेतन प्राणी को 'मैं कठिन हुँ, मैं जड हुँ' इस प्रकार के अनुभव की आपत्ति होगी।

यदि यह शंका हो कि-"चेतन प्राणी को 'मैं स्थूल हुँ, मैं गोरा हुं' इस प्रकार जैसे अपनी स्थूलता और गोरता की प्रतीत होती है, वैसे ही 'मैं कठिन हुं' इस प्रकार उसे अपनी कठिनता की भी प्रतीति होती है, 'मैं अपने आपको नहीं जानता' इस प्रकार मनुष्य को अपनी जडता की भी प्रतीति होती ही है, अतः कठिनता, जडता और चेतना को समानाधिकरण मानने पर 'मैं जड हुँ' इस प्रकार की प्रतीति का जो आपादन किया गया-वह असंगत है, चूँकि वस्तुस्थिति में आपादन कैसा ?"-तो उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि-मनुष्य को यह जो प्रतीति होती है कि 'मैं कठिन हुं' वह भ्रम है और आपत्ति उस प्रकार की प्रमात्मक प्रतीति की दी गई है, अतः उक्त आपत्ति असंगत नहीं है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि 'इदन्त्व' जड पदार्थ का धर्म है, और अहन्त्व

भूतकार्यत्वे उत्पत्तेः प्राक् सत्त्वाऽसत्त्वपक्षयोर्दोषमाह–'प्रत्येकमि'ति–

मूलम्–प्रत्येकमसती तेषु न च स्याद् रेणुतैलवत्।
सती चेदुपलभ्येत भिन्नरूपेषु सर्वदा ॥४४॥

प्रत्येकमसंहतावस्थायां तेषु=भूतेषु, असती=अविद्यमाना चेतना, न च=नैव स्यात्। किंवत्? इत्याह–रेणुतैलवत्=रेणौ तैलवदित्यर्थः। यथा तिलेषु प्रागविद्यमानमेव तिलसंघातात् तैलमुपपद्यते, रेणुषु तु प्रागविद्यमानं तत्संघातादपि नोत्पद्यते तथा भूतेषु प्रागविद्यमाना चेतना तत्संघातादपि नोत्पद्येत, तत्संघातजन्यत्वस्य तत्रास्तित्वव्याप्यत्वादिति भावः। चेद्=यदि, भिन्नरूपेषु=असंहतेषु भूतेषु, सती=विद्यमाना चेतनाः तदा सर्वदोपलभ्येत, तदुपलम्भप्रतिबन्धकनिराकरणाद् आपादकसामग्र्यादिति भावः ॥४४॥

चेतन का धर्म है अतः इदन्त्व के समानाधिकरण धर्म के रूप में अनुभूत होने वाले काठिन्य आदि अहन्त्व के समानाधिकरण नहीं हो सकते, इस बातका विवेचन आगे किया जायगा।

'मैं अपने आपको नहीं जानता' इस रूप में जडता की प्रतीति होने की जो बात कही गयी, उससे ज्ञानसामान्याभाव रूप जडता की प्रतीति के आपादन को भी असंगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'मैं अपने आपको नहीं जानता' यह प्रतीति ज्ञानसामान्याभाव को विषय नहीं करती किन्तु विशेषज्ञान के अभाव को विषय करती है, अर्थात् यह प्रतीति ज्ञाता को अपने विषय में विशेषज्ञान का अभाव बताती है। अथवा यह कहा जा सकता है कि उक्त प्रतीति ज्ञाता को अपने विशेषस्वरूप के भावात्मक अज्ञान को बताती है, हाँ भावात्मकअज्ञान का अन्यत्र खण्डन होने से इस पक्ष को अमान्य कर दिया जायगा तो ज्ञान और ज्ञानसामान्याभाव में विरोध होने से 'उक्तप्रतीति ज्ञान सामान्याभाव को विषय करती है' इस पक्ष को भी अमान्य कर 'उक्तप्रतीति विशेषज्ञानाभाव को विषय करती है' यही मानना होगा, अतः ज्ञानसामान्याभाव की प्रतीति के आपादान में कोई असंगति नहीं हो सकती ॥४३॥

४४वीं कारिका में चेतना को भूत का कार्य मानने पर उत्पत्ति के पूर्व भूतों में चेतना के सत्त्व-असत्त्व दोनों पक्षो में दोष बताया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

प्रत्येक असंहतभूत में यदि चेतना असत् होगी तो उसकी दशा रेणु–तैल जैसी होगी,- कहनेका आशय यह है कि जैसे प्रत्येक तिल में पहले से विद्यमान होने के कारण तिलसंघात से तैल की उत्पत्ति होती है, किन्तु रेणु=धूलिकण में विद्यमान न होने से धूलिसंघात से भी तैल की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार प्रत्येक भूत में यदि चेतना अविद्यमान होगी तो भूतों के संघात से भी उसकी उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि यह नियम है कि जो जिसके संघात से उत्पन्न होता है वह असंघात की अवस्था में भी उसमें रहता है, अतः चेतना भूतों में यदि असंघातअवस्था में न रहेगी तो उनका संघात होने पर भी वह उत्पन्न न हो सकेगी। और यदि भूतों के संघात से चेतना की उत्पत्ति के उपपादनार्थ प्रत्येक भूत में चेतना को विद्यमान माना जायगा तो संघात के पूर्व प्रत्येकभूत में

उक्तनियमे व्यभिचारमाशङ्कते 'असदि'ति—

मूलम्—असत्स्थूलत्वमण्वादौ घटादौ दृश्यते यथा ।
तथाऽसत्येव भूतेषु चेतनाऽपीति चेन्मतिः ॥४५॥

असद्=अविद्यमानं, स्थूलत्वं=महत्त्वम्, अण्वादौ=परमाण्वादौ, आदिना द्व्यणुकग्रहः, घटादौ=घटस्य परम्परया कारणीभूते त्र्यणुके, यथा दृश्यते=चाक्षुषविषयीक्रियते; तथा भूतेषु=असंहतभूतेषु, असत्येव=अविद्यमानैव चेतनाऽपि भवति, सामग्र्येव हि कार्योत्पत्तिव्याप्या, न तु तत्र तदुत्पत्तौ तत्र तदस्तित्वमपि तन्त्रम्, देशनियमस्यापि प्रागभावेन विशिष्टपरिणामेन वाऽन्यथासिद्धेः, इति चेद् मतिः परिकल्पना तव ? ॥४५॥

तत्रोच्यते—'नाऽसदि'ति—

भी चेतना की अभिव्यक्ति की आपत्ति होगी, क्योंकि अभिव्यक्ति का कोई प्रतिबन्धक है नहीं और आपादक है ।

४५ वीं कारिका में 'जो जिसके संघात से उत्पन्न होता है, वह संघात के पूर्व भी उसमें रहता है' इस नियम में व्यभिचार की शङ्का व्यक्त की जा रही है—

[अविद्यमान चेतना भी उत्पन्न हो सकती है-पूर्वपक्ष]

जैसे स्थूलत्व-महत्त्व परमाणु और द्व्यणुक में नहीं रहता किन्तु परमाणुओं और द्व्यणुकों का जो त्र्यणुकरूप संघात घट का परम्परया कारण होता है उसमें देखा जाता है उसी प्रकार संघात के पूर्व भूतों में अविद्यमान भी चेतना भूतों के संघात से उत्पन्न हो सकती है । क्योंकि 'सामग्री'=कारणों की समग्रता ही कार्योत्पत्ति की नियामक होती है, उत्पत्तिदेश में उत्पत्ति के पूर्व कार्य की विद्यमानता उत्पत्ति को नियामक नहीं होती । यदि यह शङ्का हो कि—"कारणों को समग्रता होने पर भी सभी कारणों में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु कारणविशेष में ही कार्य की उत्पत्ति होती है, जैसे दण्ड, चक्र, चीवर, जल, कुलाल और कपाल सभी के एकत्र होने पर उत्पन्न होनेवाला घट-दण्ड, चक्र आदि में उत्पन्न न होकर कपाल में ही उत्पन्न होता है अतः कारणविशेष में कार्य की उत्पत्ति को नियन्त्रित करने के लिये यह नियम मानना आवश्यक है कि 'जो कार्य जिस कारण में उत्पत्ति के पूर्व रहता है, वह कार्य उसी कारण में उत्पन्न होता है"—तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि—उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता मानने पर तो उसके प्रत्यक्ष की आपत्ति होती है, अतः उक्त नियम को न मान कर यह नियम मानना उचित है कि 'जिस कारण में जिस कार्य का प्रागभाव होता है उसी कारण में उस कार्य की उत्पत्ति होती है और कार्य का प्रागभाव उसके उपादानकारण में ही रहता है ।' अथवा यह भी कल्पना की जा सकती है कि 'जिस कारण में कार्यात्मना परिणत होने की योग्यता होती है उसी में कार्य को उत्पत्ति होती है, अतः उक्त नियम निराधार है ॥४५॥

४६ वीं कारिका में 'परमाणुओं में महत्त्व न होने पर भी उनके संघातभूत त्र्यणुकों में महत्त्व की उत्पत्ति होती है' इस बात का खण्डन किया गया है जो इस प्रकार है—

मूलम्—नासत्स्थूलत्वमण्वादौ तेभ्य एव तदुद्भवात् ।
असतस्तत्समुत्पादो न युक्तोऽतिप्रसङ्गतः ॥४६॥

अण्वादौ=परमाणुद्व्यणुकयोः, स्थूलत्वं=महत्त्वम्, असद्=अविद्यमानं न। कुतः ? इत्याह तेभ्य एव=त्र्यणुककारणत्वेन प्रसिद्धेभ्य एवाणुभ्यः, तदुद्भवात्=स्थूलत्वोत्पादात्। विपक्षे बाधकमाह—असतः=अणुष्वविद्यमानस्य स्थूलत्वस्य, तत्समुत्पादः—तेभ्योऽणुभ्य उद्भवः अतिप्रसङ्गतो न युक्तः ॥४६॥

अतिप्रसङ्गमेव स्पष्टयति—'पञ्चमे'ति—

मूलम्—पञ्चमस्यापि भूतस्य तेभ्योऽसत्त्वाविशेषतः ।
भवेदुत्पत्तिरेवं न तत्त्वसंख्या न युज्यते ॥४७॥

यदि तत्रासदपि तत्रोत्पद्यते, तदाऽसत्त्वाऽविशेषतः पञ्चमस्यापि भूतस्योत्पत्तिः भवेत्। न चेष्टापत्तिरित्याह—एवं च—पञ्चमभूतोत्पत्त्यभ्युपगमे च, तत्त्वसंख्या='चत्वार्येव भूतानि' इति विभागवचनोक्ता न युज्यते। एवं च देशनियमार्थमुक्तनियमाऽकल्पनेऽप्यसदनुत्पत्तिनिर्वाहाय तन्नियमकल्पनमावश्यकमिति भावः।

कारणाभावादेव पञ्चमभूतानुत्पत्तिः न त्वसत्त्वादिति चेत् ? सोऽपि कुतः ? असत्त्वादिति चेत् ? तदपि कुतः ? कारणाभावादिति चेद् ? अन्योन्याश्रयः। अस्ती-

---

[असत् की उत्पत्ति में अतिप्रसङ्ग]

परमाणु और द्व्यणुक में महत्त्व को अविद्यमान नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन्हीं से त्र्यणुक में महत्त्व की उत्पत्ति होती है। यदि परमाणु और द्व्यणुक में महत्त्व के अविद्यमान होने पर भी उनसे महत्त्व की उत्पत्ति मानी जायगी, तो अतिप्रसङ्ग होगा ॥४६॥

४७ वीं कारिका में उक्त अतिप्रसंग को स्पष्ट किया गया है जो इस प्रकार है— यदि परमाणु अपने में अविद्यमान महत्त्व को उत्पन्न कर सकते हैं, तो उन्हें अविद्यमान पञ्चमभूत को भी उत्पन्न करना चाहिये। इस आपत्ति को शिरोधार्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मान लेने पर 'चार ही भूत होते हैं' इस प्रकार भूतों की जो संख्या निर्धारित है, वह असंगत हो जायगी। अतः देशविशेष में कार्य की उत्पत्ति के नियमनार्थ उक्त नियम की आवश्यकता भले न हो पर असत् की अनुत्पत्ति के नियमार्थ उक्त नियम मानना अनिवार्य है।

'पञ्चम भूत की अनुत्पत्ति पञ्चमभूत के असत्त्व से नहीं, किन्तु पञ्चमभूत के कारणाभाव से है,'—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'कारण का अभाव कारण के असत्त्व से, और कारण का असत्त्व कारण के अभाव से', ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय होगा। अतः कारणाभाव का उपपादन न हो सकने से 'कारणाभाव से पञ्चममहाभूत की अनुत्पत्ति है' यह कहना युक्ति संगत नहीं है। "'अस्ति=है' इस बुद्धि का विषय न होने से पञ्चममहाभूत की अनुत्पत्ति है"—यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'अस्ति'

तिधीविषयत्वाऽभावादिति चेत् ? न, प्रध्वंसादौ व्यभिचारात् । विधिनिषेधव्यवहारा-विषयत्वादिति चेत् ? न, 'पञ्चमं भूतं नास्ति' इति निषेधव्यवहारस्य जागरूकत्वात् । भूते पञ्चमत्वं नास्तीति चेत् ? न, विकल्पविषयस्याखण्डस्यैव पञ्चमभूतस्य प्रतियोगित्वोल्लेखाभ्युपगमात्, अन्यथा 'इह पञ्चमं भूतं नास्ति' इत्यस्यानुपपत्तेः, त्वदभ्युपगमविरोधाच्च ।

ननु "एवं सत्कार्यवादसाम्राज्यापत्तिः, तथा च कार्यात्प्रागपि तदुपलब्धिप्रसङ्गः । अनाविर्भावाद् न तत्प्रसङ्ग इति चेत् ? न, अनाविर्भावस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, उपलम्भाभावरूपत्वे तस्यात्माऽऽश्रयात्, व्यञ्जकाद्यभावरूपत्वे च व्यञ्जकादीनां प्राक्-

ऐसी बुद्धि का विषय न होने पर भी प्रध्वंस की उत्पत्ति होती है । 'विधि-निषेध अर्थात् अस्ति-नास्ति व्यवहार का विषय न होने से पञ्चमभूत की अनुत्पत्ति है,' यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि उसमें 'पञ्चमं भूतं नास्ति=पाँचवां भूत नहीं है', इस प्रकार के निषेध व्यवहार की विषयता विद्यमान है । " 'पञ्चमं भूतं नास्ति' यह व्यवहार पाँचवे भूत के निषेध को नहीं विषय करता किन्तु भूत में पञ्चमत्व के निषेध को विषय करता है"-यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उक्त व्यवहार में विकल्पात्मक ज्ञान से उपस्थापित अखण्ड पञ्चमभूत में अभावप्रतियोगित्व का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है । अर्थात् वस्तुगत्या सत् नहीं किन्तु वैकल्पिक पञ्चमभूत को उद्दिष्ट कर उसी के निषेध का यानी धर्मी के ही अभाव का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, न कि उस धर्मी में पञ्चमत्वरूप धर्म के अभाव का स्पष्ट उल्लेख । क्योंकि ऐसा न मानेंगे तो 'इह पञ्चमं भूतं नास्ति=इस स्थान में पांचवां भूत नहीं है' इस व्यवहार की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि 'इह' और 'भूतम्' में समानविभक्तिकत्व न होने से उक्त व्यवहार को 'इस भूत में पञ्चमत्व नहीं है' इस प्रकार भूत में पञ्चमत्व के निषेध का ग्राहक न माना जा सकने के कारण उक्त व्यवहार की अनुपपत्ति अपरिहार्य है। भूत में पञ्चमत्व के निषेध को उक्त व्यवहार का विषय मान कर पाँचवे भूत के निषेधव्यवहार को अङ्गीकार न करने में चार्वाक के अपने अभ्युपगम का भी विरोध है, क्योंकि उनके अभ्युपगम के अनुसार तो अलीक को भी अभावप्रतियोगिता होती है, अलीक का भी अभाव मान्य है।

[कथञ्चित् सदसत्कार्यवाद की सिद्धि]

"पञ्चमभूत की अनुत्पत्ति यदि उसके असत्त्व के नाते मानी जायगी तो सभी कार्य स्वोत्पत्ति के पूर्व सत् होने से असत्त्व के नाते उन सभी की अनुत्पत्ति की आपत्ति होगी। इस आपत्ति के निवारणार्थ कार्यों को उत्पत्ति के पूर्व भी सत् मानना पड़ेगा, फलतः उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य की उपलब्धि की आपत्ति होगी। 'कार्य के रहने पर भी उस का आविर्भाव न होने से उत्पत्ति के पूर्व उसकी उपलब्धि नहीं होती'-यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आविर्भाव के अभाव का निर्वचन अशक्य है। जैसे कि-आविर्भाव का अभाव यदि उपलम्भाभावरूप होगा तो उत्पत्ति के पूर्व कार्य की अनुपलब्धि को कार्य के अनुपलम्भ से प्रयुक्त मानने पर आत्माश्रय होगा । और यदि व्यञ्जकाभावरूप होगा तो

सत्त्वे तदभावायोगात्, असत्त्वे च तदनुत्पत्तेः । किं च एवमुत्पत्तिपदार्थ एव विलीयेत, कार्यस्य प्रागपि सत्त्वेनाद्यक्षणसम्बन्धरूपतदभावात्, इत्युभयतःपाशा रज्जुः" इति चेत् ? न, कथञ्चित् सदसत्कार्यवादे दोषाभावात्, द्रव्यरूपेण प्राक्सतः पर्यायस्य द्रव्यरूपेण प्रागप्युपलम्भात्, पर्यायरूपेणाद्यक्षणसम्बन्धरूपपर्यायोत्पत्तेः सुघटत्वाच्च । न चेदेवम्, उपादानकारणत्वमेव दुर्घटं स्यात्, समवायनिरासेन स्वसमवेतकार्यकारित्वलक्षणतदसिद्धेः, उपादाने कार्यप्रागभावोऽपि न सिध्येत्, प्रतियोगित्वविशेषणतयोः स्वरूपानतिरेकात्, इत्यन्यत्र विस्तरः ।

कार्योत्पत्ति के पूर्व कार्यसत्त्वपक्ष में कार्य के साथ चक्षुःसन्निकर्ष आदि व्यञ्जक के रहने से उत्पत्ति के पूर्व व्यञ्जकाभावरूप आविर्भावाभाव का उपपादन असम्भव होगा। और यदि व्यक्त कार्य के साथ ही लगे चक्षुःसन्निकर्षादि को व्यञ्जक मान कर एवं कार्योत्पत्ति के पूर्व ऐसे व्यञ्जक का असत्त्व मान कर इसके बल पर व्यञ्जक का समर्थन किया जायगा, तो सत्कार्यवादी के मत में असत् की उत्पत्ति न होने से व्यञ्जक की उत्पत्ति न हो सकने के कारण व्यञ्जक का अभाव सदा बना रहेगा; फलतः उत्पत्ति के वक्त भी कार्य की उपलब्धि न हो सकेगी। उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता मानने पर उत्पत्ति पदार्थ का ही विलय हो जायगा क्योंकि आद्यक्षण के साथ कार्य के सम्बन्ध को ही उत्पत्ति कहा जाता है; किन्तु यदि कार्य पहले से ही सत् अर्थात् विद्यमान रहेगा तो उसका कोई आद्यक्षण ही न होगा, क्योंकि किसी कार्य का आद्यक्षण वही हो सकता है जिसके पूर्व कार्य का अस्तित्व न हो, और उसी क्षण से कार्यसत्त्व का प्रारंभ होता हो। किन्तु यह सत्कार्यवाद में सम्भव नहीं है। फलतः दोनों ओर बन्धन की रस्सी झुल रही है, जिधर मुडे उधर ही बन्धन का भय है। कार्य की उत्पत्ति के पूर्व यदि उसका असत्त्व माने तो पञ्चमभूत के समान उसकी अनुत्पत्ति का बन्धन, और यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य का सत्त्व माने तो उत्पत्ति से पूर्व कार्य की उपलब्धि की आपत्ति का तथा उत्पत्तिपदार्थ के विलय का बन्धन। अतः उत्पत्ति के पूर्व कार्य के सत्त्व या असत्त्व किसी भी पक्ष के दोष मुक्त न हो सकने से कार्योत्पत्ति की समस्या दुःसमाधेय है।

उक्त संकट के परिहारार्थ जैनदर्शन की ओर से ग्रन्थकार का कहना है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य का पूर्णरूपेण सत्त्व अथवा पूर्णरूपेण असत्त्व मानने में उक्त दोष अवश्य हैं, अतः इन दोनों एकान्त पक्षों को छोड कर इस अनेकांत पक्ष को स्वीकार करना चाहिये कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कथंचित् सत् भी होता है और कथंचित् असत् भी होता है। कहने का आशय यह है कि कार्य में दो अंश होते हैं एक द्रव्य, दूसरा पर्याय। द्रव्यरूप में कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी सत् होता है, और उस द्रव्यरूप में उसका उपलम्भ भी होता है। पर्यायरूप में कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् होता है, और उस रूप में उस समय उसकी उपलब्धि नहीं होती। पर्याय का पूर्व में सद्भाव न होने से पर्यायरूप में कार्य का आद्यक्षण सम्भव होने से आद्यक्षणसम्बन्धरूप उत्पत्तिपदार्थ की उपपत्ति में भी कोई बाधा नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, घटरूपकार्य की चर्चा की

अत एव शाक्योलूकानां सत्कार्यवादे, सांख्यानां चाऽसत्कार्यवादे पर्यनुयोगा एकान्तपक्षनिरूर्ध्वंसे फलवन्त एव तान्त्रिकैरुक्ताः । तथा च सम्मतौ बभाण वादी सिद्धसेनः — "जे संतवायदोसे सक्कोलूआ भणन्ति संखाणं ।

संखा य असव्वाए, तेसिं सव्वे वि ते सच्चा" ॥इति ॥१४७॥

पराभिप्रायमाशङ्क्य निराकुरुते 'तज्जनने'ति —

मूलम्— तज्जननस्वभावा नेत्यत्र मानं न विद्यते ।

स्थूलत्वोत्पाद इष्टश्चेत्तत्सद्भावेऽप्यसौ समः ॥४८॥

अण्वादयः 'तज्जननस्वभावा न'=असदुत्पादस्वभावा न, ततो न तेभ्योऽसदुत्पत्तिः । न चैतादृशस्वाभाव्येऽपि पर्यनुयोगावकाशः, 'वह्निर्दहति, नाकाशम्' इत्यादिवत्

जा सकती है । घट में दो अंश हैं—एक मृत्तिका और दूसरा जलाहरणादि की क्षमता का सम्पादक उसका आकार । इनमें मृत्तिका द्रव्य है और घटका आकार पर्याय है । मृत्तिका के रूप में घट पहले से है पर आकार के रूप में पहले से नहीं है । जिस क्षण इस आकार का उदय होता है वह आकारात्मक घट का आद्यक्षण है । उसके साथ घटाकार का सम्बन्ध ही घट की उत्पत्ति है । इसी प्रकार अन्य कार्यों में भी द्रव्य-पर्याय का विचार कर समस्या का समाधान कर लेना चाहिये ।

उत्पत्ति के पूर्व कार्य के इस सदसत्त्ववाद को न माना जायगा तो कार्य की उपादानकारणता का उपपादन न हो सकेगा; क्योंकि न्यायादिमतों में दो ही प्रकार से कार्य की उपादानकारणता का निर्वचन होता, एक यह कि जो स्व में समवायसम्बन्ध से विद्यमान कार्यका कारण होता है, वह उपादानकारण होता है, और दूसरा यह कि जिस कारण में कार्यका प्रागभाव विशेषणता स्वरूपसम्बन्ध से रहता है वह उपादान कारण होता है । इनमें पहला निर्वचन समवायसम्बन्ध अप्रामाणिक होने से असंगत है । और दूसरा निर्वचन इस लिये असंगत है कि प्रतियोगिता और विशेषणता ये प्रतियोगी एवं विशेषण से भिन्न दुर्वच होने से न तो प्रागभाव के साथ कार्य का प्रतियोगितासम्बन्ध हो सकता है, और न अनुयोगी के साथ अभाव का विशेषणता सम्बन्ध बन सकता । अतः उपादान में कार्यप्रागभाव होने की बात का उपपादन शक्य नहीं है । इस लिये सत्कार्यवाद में बौद्ध और वैशेषिकों का दोषप्रदर्शन एवं असत्कार्यवाद में सांख्यों का दोषप्रदर्शन सर्वथा सार्थक हैं, क्योंकि उनमें एकान्तपक्ष की निवृत्ति होती है जो जैनसिद्धान्त को अभिमत है । सम्मतितर्कग्रन्थ में वादी सिद्धसेनसूरि ने भी कहा है कि सत्कार्यवाद में बौद्धों और वैशेषिकों से कहे दोष तथा असत्कार्यवाद में सांख्यों से कहे दोष पूर्णतया सत्य हैं ॥४७॥

४८ वीं कारिका में एकान्तसत्कार्यवादि के अभिप्राय की आशंका का निराकरण किया गया है, कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

"अणु आदि का यह स्वभाव है कि वे असत् को उत्पन्न नहीं करते । अतः कार्य को पर्यायरूप में यदि असत् माना जायगा तो अणु आदि कारणों से उसकी उत्पत्ति

स्वभावस्याऽपर्यनुयोज्यत्वादिति भावः । 'इति' उपदर्शितायाम्, 'अत्र'=प्रकृतोपपत्तौ च 'मानं'=प्रमाणं न विद्यते, निर्विकल्पकेन तदग्रहणात्, तद्विषयत्वस्य निश्चयैकोन्नेयत्वादिति भावः । स्थूलत्वोत्पाद इष्टः=अभिमतः, अतस्तदन्यथानुपपत्तिरेवाऽतिप्रसङ्गभङ्ग्यासदजननस्वभावत्वेनोपादानस्योपेयहेतुत्वे मानमिति चेद ? 'असौ'=स्थूलत्वोत्पादः, तत्सद्भावेऽपि तेष्वणुषु कथंचित्सत्त्वेऽपि 'समः'=तुल्यनिर्वाहः । तथा च लाघवात् सज्जननस्वभावत्वेनैवोपादानस्योपेयहेतुता, न स्वसदजननस्वभावत्वेन । इति सत्कार्यसिद्धिः ॥४८॥

अत्र कार्यस्य सत्त्वं पूर्वोत्तरकालयोः पर्यायार्थिकनयानुसारिणः पर्यायद्वारेणैवादिशन्ति, द्रव्यस्य निष्पन्नत्वेनाऽद्रलत्वात् । द्रव्यार्थिकनयानुसारिणस्तु तेन रूपेण द्रव्यस्यानुत्पन्नत्वाद् द्रव्य द्वारैवादिशन्ति । तदिदमुभयाभिप्रायेणोक्तं सम्मतौ–

न हो सकेगी । अणु आदि के इस स्वभाव के बारे में कारण की जिज्ञासा नहीं की जा सकती, क्योंकि 'अग्नि दाहक होता है, आकाश दाहक नहीं होता' अग्नि और आकाश के इस स्वभाव के बारे में जैसे कारण की जिज्ञासा नहीं होती उसी प्रकार किसी भी वस्तु के किसी भी स्वभाव के बारे में कारण की जिज्ञासा को उचित नहीं माना जाता।''-इस पर सिद्धान्ती का कहना यह है कि स्वभाव के बारे में कारण की जिज्ञासा को उचित भले न माना जाय, पर उसके प्रमाण के बारे में तो प्रश्न हो ही सकता है, और यदि वस्तु के किसी स्वभाव की प्रमाणसिद्धता का समर्थन न हो सके तो उसका त्याग करना ही होगा, अतः अणुओं के उक्त स्वभाव में कोई प्रमाण न होने से उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता । प्रतिवादी के मत में निर्विकल्पकप्रत्यक्ष ही प्रमाण है, और वह निश्चय सविकल्पकप्रत्यक्ष से अनुमित होता है । अणुओं का उक्त स्वभाव निश्चयगम्य न होने से निर्विकल्पकगम्य भी नहीं माना जा सकता, अतः वह स्वीकार्य नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि-''अणुओं से स्थूलत्व की उत्पत्ति इष्ट है, किन्तु स्थूलत्व को असत् मानने पर भी यदि उसकी उत्पत्ति मानी जायगी, तो अन्य सभी असत् पदार्थों के भी उत्पत्ति की आपत्ति होगी, अतः उपादानकारण का असत् को उत्पन्न न करने का स्वभाव मान कर उत्पत्ति से पूर्व सत् ही स्थूलत्व की उत्पत्ति माननी होगी'' तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अणुओं में स्थूलत्व का कथंचित् सत्त्व मान कर तथा उपादानकारण को सदुत्पादकस्वभावमान कर भी स्थूलत्व की उत्पत्ति का समर्थन किया जा सकता है । इसलिये उपादानकारण का असत् को उत्पन्न न करने का स्वभाव अप्रमाणिक है । इस प्रकार सत्कार्यवाद कथञ्चित्सत्कार्यवाद रूप में मान्य है ।

[दो दृष्टि से पूर्वोत्तरकाल में कार्य की सत्ता]

जगत् का प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेष उभयात्मक है । अर्थात् संसार के समस्त पदार्थों में परस्पर साम्य भी है और वैषम्य भी है । पदार्थों की परस्पर विषमता ही

'पच्चुप्पन्नं भावं विगयभविस्सेहिं जं समण्णेइ, एयं पडुच्चवयणं'।(का. ३-३) इति। अत्र चाद्याभिप्रायेण टीकाकृतोक्तम्, 'न चात्मादिद्रव्यं विज्ञानादिपर्यायोत्पत्तौ दलं, तस्य निष्पन्नत्वाद्' इति। अन्त्याभिप्रायेण चोपचयमाह ग्रन्थकारः प्रकृते—

मूलम्—न च मूर्ताणुसंघातभिन्नं स्थूलत्वमित्यदः।
तेषामेव तथाभावो न्याय्यं मानाऽविरोधतः ॥४९॥

न च मूर्तानां=रूपवतामणूनां=परमाणूनां, संघातात्=परिणामविशेषाद् भिन्नं स्थूलत्वं. मूर्तपदं चाक्षुषयोग्यत्वनिर्वाहाय, इतिहेतोः अदः=स्थूलत्वं तेषामेव=परमाणूनामेव, तथाभावः=कथञ्चिदेकत्वपरिणामः न्याय्यं घटमानकम्, मानाऽविरोधतः = प्रमाणाऽविरोधात्। तदन्यभेदेन तत्त्वसाधनान्न हेतुसाध्ययोरविशेषः। एवं च स्थूलत्वस्य प्रागपि द्रव्यरूपेण सत्त्वं सिद्धम् ॥

उनका प्रातिस्विकरूप है और समानता ही उनका सामान्यरूप है। जैनदर्शन में सामान्य को द्रव्य और विशेष को पर्याय शब्द से अभिहित किया गया है। इस संसार की प्रत्येक वस्तु द्रव्य-पर्याय उभयात्मक है। वस्तु के 'द्रव्य'-सामान्यअंश को ग्रहण करने वाली दृष्टि को द्रव्यार्थिकनय, और 'पर्याय'-विशेष अंश को ग्रहण करनेवाली दृष्टि को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है। नय का अर्थ है, दृष्टि-बुद्धि-विचार। उत्पत्ति के पूर्व और उत्पत्ति के बाद कार्य का जो सत्त्व माना जाता है, वह पर्यायार्थिक नयवादी के अनुसार पर्यायों पर आधारित होता है। अर्थात् कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कोई एक पर्याय रहता है, व उत्पत्ति के बाद पहला पर्याय निवृत्त हो जाता है और दूसरा पर्याय अस्तित्व में आ जाता है। इस दृष्टि के अनुसार द्रव्य तो प्रथमतः सिद्ध होने के कारण उत्पत्ति का भागी नहीं होता, सिद्ध को उत्पन्न क्या होना ? द्रव्यार्थिकनयवादी के अनुसार द्रव्य स्वरूपतः पूर्वसिद्ध होने पर भी पर्यायरूप में असिद्ध रहता है, अतः उत्पत्ति के पूर्व एवं उत्पत्ति बाद के कार्य का सत्त्व द्रव्य पर आधारित होता है। अर्थात् कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कार्य का आधारद्रव्य एकपर्याय से रहता है और दूसरे पर्याय से नहीं रहता। उत्पत्ति के बाद पूर्व के पर्याय से रहना बन्द कर दूसरे पर्याय से रहने लगता है। इस लिये इस नय के अनुसार द्रव्य भी पर्यायों की उत्पत्ति में भागीदार होता है। सम्मतितर्क ग्रन्थ में पर्यायार्थिक, द्रव्यार्थिक दोनों अभिप्रायों से यह कहा गया है कि—'वर्तमान भाव (पदार्थ) को अतीत—अनागत पर्यायों से समन्वित करता है, वह वचन प्रतीत्य(सम्यग् बोधजन्य) वचन है''। सम्मतितर्क के टीकाकार ने पर्यायार्थिकनय के अनुसार उक्तकथन की व्याख्या करते हुये यह कहा है कि 'आत्मा आदि द्रव्य विज्ञान आदि पर्यायों की उत्पत्ति का घटक नहीं होता, क्योंकि वह पहले से ही सिद्ध रहता है'। सिद्ध की उत्पत्ति क्या ? किन्तु प्रस्तुतग्रन्थ के रचयिता हरिभद्रसूरि ने अपनी इस कारिका में द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन कर पर्यायों के रूप में द्रव्य के उपचय आदि का वर्णन किया है।

अत्रेयं प्रक्रिया–अणूनामेवैकत्वसंख्यासंयोगमहत्त्वऽपरत्वादिपर्यायैरुत्पत्तिः, बहुत्वसंख्याविभागाणुपरिमाणपरत्वादिपर्यायैश्चानुत्पत्तिः, न च विशिष्टाऽणुव्यतिरिक्तमवयविद्रव्यमऽस्ति। न चैवं विभक्तस्येव संहतस्याप्यणोरचाक्षुषत्वं स्यादिति वाच्यम्, 'नानास्वभावत्वेन तस्य तदा चाक्षुषजननस्वभावत्वात्, विप्रकृष्टसन्निकृष्टेषु रेण्वादिषु तथास्वभावदर्शनात्, प्रतिप्रतिपत्तारं च प्रति नियमेनाऽनतिप्रसङ्गात्' इति बहवः। 'त्र्यणुकत्वादिघटकसंयोगानां पिशाचत्वादिघटकसंयोगभिन्नानां वैजात्येन द्रव्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वात्' इति अन्यतन्त्रानुसृताः।

[उत्पत्ति के पहले भी स्थूलत्व की विद्यमानता]

'स्थूलत्व' स्थूलपदार्थ 'मूर्त'–रूपयुक्तपरमाणुओं के संघात से भिन्न नहीं होता। संहन्यमान परमाणुओं के रूपयुक्त होने से उनके संघातरूप स्थूलत्व में चाक्षुषप्रत्यक्ष की योग्यता भी आ जाती है। स्थूलत्व यतः परमाणुओं के संघात से भिन्न नहीं होता अतः वह परमाणुओं का ही कथञ्चित् एकत्वपरिणाम होता है, अर्थात् स्थूलत्व एकत्व में परिणत परमाणुस्वरूप ही होता है। इस प्रकार स्थूलत्व में परमाणुसंघातभिन्नभेद से परमाणुरूपता का साधन करने से हेतु और साध्य में अवैलक्षण्य की भी आपत्ति नहीं होती, क्योंकि दोनों में स्वरूपतः ऐक्य होने पर भी हेतुतावच्छेदक परमाणुसंघातभिन्नभेदत्व और साध्यतावच्छेदक परमाणुरूपतात्व के भेद होने से वैलक्षण्य की उपपत्ति हो जाती है। "संहन्यमान परमाणु अनेक हैं, अनेक का एकत्वपरिणाम अयुक्त है"–यह शंका भी नहीं की जा सकती, क्योंकि अनेक की एकान्ततः एकात्मकता असंगत हो सकती है पर कथञ्चित्–सापेक्ष एकात्मकता असंगत नहीं हो सकती, अर्थात् परमाणु व्यक्तिरूप में अनेक होते हुये भी समूहरूप में एक कहे जा सकते हैं। इस प्रकार समूहरूप में एकीभूतपरमाणु ही स्थूलत्व-स्थूलपदार्थ है, और जब स्थूलत्व एकात्मनापरिणत परमाणुरूप ही है तब द्रव्य के रूप में उत्पत्ति के पूर्व भी स्थूलत्व का सत्त्व निर्विवाद है।

[परमाणुओं से स्थूलद्रव्योत्पत्ति की प्रक्रिया]

अणुओं से स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति की रीति इस प्रकार है—

विभिन्नस्थानों में बिखरे हुये परमाणु जब इकट्ठे होते हैं तब वे एकत्वसंख्या, परस्परसंयोग, महत्परिमाण, अपरत्व=सामीप्य आदि पर्यायों–आगन्तुकधर्मों के साथ उनकी नयी उत्पत्ति होती है। और जो पर्याय उनमें पहले थे, जैसे बहुत्व, विभाग, अणुपरिमाण, परत्व=दूरत्व आदि, उन पर्यायों से उनकी निवृत्ति होती है। इस लिये एकत्र होने की दशा में परमाणु अनेक, विभक्त, अणु और दूरस्थ न होकर एक, परस्परसंयुक्त, महान् और निकटस्थ हो जाते हैं, इसी से उस समय 'यह एक महान द्रव्य है' इस प्रकार का व्यवहार प्रवृत्त होता है। इस व्यवहार के लिये विशेषपर्यायों से विशिष्ट अणुओं से भिन्न किसी अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति मानने की आवश्यकता नहीं होती।–"विभक्त रहने पर जैसे अणु चक्षु से गृहीत नहीं होते, वैसे संहत होने पर भी उन्हें चक्षु से गृहीत नहीं होना चाहिये, क्योंकि विभक्त और संहत अणु में भेद नहीं

तथापि "तन्त्वादिपरिणतानामणूनां कथं पटादिपरिणामः ? द्रव्यस्थानीयस्य परिणामस्य द्रव्यान्तरस्थानीयपरिणामप्रतिबन्धकत्वात्; अन्यथाऽन्त्यावयविनि द्रव्यान्तरोत्पत्तिप्रसङ्गात् ?" इति चेत् ? न, अन्त्यावयविन्यपि पटादौ खण्डपट–महापटाद्युत्पत्तिदर्शनात्, पटत्वेन पटानाधारत्वाच्च 'पटे पटः' इत्यप्रत्ययात्।

होता"-यह शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि अणुओं में स्वभावभेद मान लेने से विभक्तदशा में अचाक्षुषत्व और संहतदशा में चाक्षुषत्व इन दोनों विरोधी धर्मों का उनमें सामञ्जस्य हो सकता है। यह कल्पना कोई अपूर्व कल्पना भी नहीं है क्योंकि दूरस्थ और समीपस्थ रेणुकणों में अचाक्षुषत्व एवं चाक्षुषत्वरूप स्वभावभेद प्रत्यक्षसिद्ध है।

इस सन्दर्भ में यह शङ्का हो सकती है कि—"विभक्तअवस्था में वस्तु अचाक्षुष और संहतअवस्था में चाक्षुष होती है' यह नियम नहीं माना जा सकता, क्योंकि निकटस्थ पुरुष को विभक्तरेणु का भी चाक्षुष तथा पिशाच के रूपमें संहतअणु का भी अचाक्षुष होता है यदि उक्त नियम माना जायगा तो विभक्तरेणु में निकटस्थपुरुष के अचाक्षुषत्व और पिशाचरूप में संहतअणुओं के चाक्षुषत्व का अतिप्रसङ्ग होगा।"— इस शङ्का के उत्तर में बहुत से विद्वानों का कहना है कि "जो पदार्थकण जिस ज्ञाता को जिस स्थल से विभक्तअवस्था में अचाक्षुष होते हैं वे ही पदार्थकण विशेषप्रकार से संहत होने पर उसी ज्ञाता को उसी स्थान में चाक्षुष होते हैं। इस प्रकार ज्ञाता के भेद से नियम की व्यवस्था करने पर उक्त दोष नहीं हो सकता।" पिशाचरूप में संहत अणुओं का चाक्षुष न होने के बारे में अन्यतान्त्रिकों का कहना है कि "जो घटादिस्वरूपअणुसंघात चाक्षुष होते हैं उनके स्वरूप में प्रविष्ट अणुसंयोग पिशाचात्मक अणुसंघात के स्वरूप में प्रविष्ट अणुसंयोग से विजातीय होता है। यह विजातीयसंयोग ही द्रव्यसाक्षात्कार का कारण होता है। पिशाचात्मक अणुसंघात में इस विजातीयसंयोग के न होने से उसका साक्षात्कार नहीं होता।"

[तन्तुपरिणामआपन्न अणुओं का पटरूपपरिणाम कैसे ?]

स्थूल द्रव्य को अणुओं का परिणाम मानने पर यह प्रश्न उठता है कि-'तन्तु आदि रूप में परिणत अणुओं का पटआदिरूप में परिणाम कैसे होगा ? क्योंकि अवयवों से अतिरिक्त अवयवी द्रव्य का अस्तित्व मानने वालों के मत में जैसे एकद्रव्य दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक होता है और इसी लिये एक द्रव्य में उपष्टब्ध अणुओं में द्रव्यान्तर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार अणुपरिणामवादी के मत में 'अणुओं का एक परिणाम उनके दूसरे परिणाम में प्रतिबन्धक होता है' यह नियम माने जाने के कारण तन्तुपरिणाम-पटपरिणाम का प्रतिबन्धक होगा, अतः तन्तुपरिणाम के रहते पटपरिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'एक द्रव्य के रूप में अणुओं का परिणाम, द्रव्यान्तर के रूप में उनके परिणाम का प्रतिबन्धक होता है'-यह नियम यदि न माना जायगा, तो अन्त्यअवयविस्थलीय अणुपरिणाम भी परिणामान्तर का प्रतिबन्धक न होगा और उसके फलस्वरूप अन्त्यावयवी से भी द्रव्यान्तर की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा।"—

अथ "द्रव्याऽसमवायिकारणीभूतसंयोगनाशेन पूर्वपटनाशोत्तरमेवोत्तरपटोत्पादः। न चैकैकतन्तुसंयोगे द्वितन्तुकादेर्नाशे त्रितन्तुकाद्युत्पत्तिः, पुनरेकैकतन्तुवियोगे त्रितन्तुकादिनाशे द्वितन्तुकाद्युत्पत्तिरिति कल्पनागौरवाद् द्वितन्तुकपटादेरेव तन्त्वन्तरसंयोगेन त्रितन्तुककादिपटोत्पादकत्वमिति वाच्यम्, द्वितन्तुकादिक्रमेणोत्पन्नचतुरादितन्तुकपटस्य द्वितन्तुकाऽसमवायिकारणसंयोगनाशाद् द्वितन्तुकादिनाशक्रमेण नाशः, अन्तरा पुनर्द्वितन्तुकादिक्रमेणोत्पत्तिरिति कल्पनागौरवसाम्यात् पटादिजनकविजातीयसंयोगं प्रति तन्तुत्वादिना हेतुत्वाच्च", इति चेत्!

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि-अणुपरिणामवादी को प्रतिबध्य- प्रतिबन्धकभाव मान्य नहीं है, अन्त्यावयवोपटादि से खण्डपट, महापट आदि की उत्पत्ति होने से 'अन्त्यावयवी से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति नहीं होती है' यह नियम अमान्य है। 'पट में पटान्तर की उत्पत्ति मानने पर 'पटे पटः' इस प्रतीति की आपत्ति होगी' यह शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि पटत्वरूप से पट की आधारता स्वीकार न करने के कारण उक्त प्रतीति की आपत्ति का अवसर ही दुष्प्राप्य है।

[पूर्वद्रव्य के नाश होने पर ही उत्तरद्रव्य की उत्पत्ति हो सकती है -पूर्वपक्ष]

इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि-"द्रव्य के असमवायिकारणभूतसंयोग के नाश से द्रव्य का नाश होता है। पट का असमवायिकारण होता है तन्तुओं का संयोग; अतः तन्तुसंयोग का नाश होने पर पूर्वपट का नाश होता है और उसके बाद अगले पट की उत्पत्ति होती है। पूर्वपट के रहते नये पट की उत्पत्ति नहीं होती, यह वस्तु स्थिति है। अब यदि अणुओं का ही तन्तु आदि के रूप में परिणाम माना जायगा तब तन्तुस्वरूप परिणाम के रहते पटात्मकपरिणाम की उत्पत्ति न हो सकेगी, अतः-'अणुओं का ही विभिन्न द्रव्यों के रूप में परिणमन होता है किसी नये अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है'-यह कहना उचित नहीं है।

इस पर यदि यह शंका की जाय कि-"पूर्वपट का नाश होने के बाद ही नये पट की उत्पत्ति होती है' यह मानना अयुक्त है; क्योंकि ऐसा मानने पर द्वितन्तुक-दो तन्तुओं से उत्पन्न-पट में एक नये तन्तु का संयोजन करने पर जो त्रितन्तुक पटकी उत्पत्ति होती है उसके पूर्व द्वितन्तुक पट का नाश मानना होगा, और उस नये तन्तु के अलग होने पर त्रितन्तुकपट का नाश होने के बाद पुनः द्वितन्तुक पट की उत्पत्ति माननी होगी, अतः इस कल्पना में गौरव है, इस लिये इसकी अपेक्षा यह कल्पना करने में लाघव है कि 'नये तन्तु का संयोग होने पर द्वितन्तुक पट से ही त्रितन्तुक पट की उत्पत्ति होती है', क्योंकि ऐसा मानने पर त्रितन्तुकपट की उत्पत्ति के पूर्व द्वितन्तुक पट का नाश तथा तीसरे तन्तु के अलग होने पर पुनः द्वितन्तुकपट की उत्पत्ति ये दोनों बातें मानने की आवश्यकता नहीं रहती"—

तो यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि इस कल्पना में भी पर्याप्त गौरव है, जैसे द्वितन्तुक, त्रितन्तुक आदि के क्रम से जब चतुस्तन्तुक आदि पट की उत्पत्ति होगी, तब द्वितन्तुक

न, विजातीयसंयोगस्य द्रव्यहेतुत्वाऽसिद्धेः तत्रापि हेत्वन्तरापेक्षायामवश्याश्रयणीयेन स्वभावापरनाम्ना परमाणुगतातिशयेनैव द्रव्योत्पत्तिसम्भवात्; स चातिशयः शक्तिः अन्यो वा इत्यन्यदेतत्। एवं च दशतन्तुकादेश्चरमतन्तुसंयोगवियोगक्रमेणेव प्रथमतन्तुसंयोगवियोगक्रमेणापि नवतन्तुकोपलब्धिर्निराबाधा, नवपर्यन्तैरिव द्वितीयादिभिरपि नवतन्तुभिरतिशयितैर्नवतन्तुकारम्भात्। न चैवं प्रतिलोमक्रमेणानन्तपटकल्पनाऽऽपत्तिः, द्वितीयमादाय नवतन्तुकस्येव तृतीयमादायाष्टतन्तुकस्यापि स्वीकर्तव्यत्वादिति वाच्यम्; इष्टत्वात्, एकानेकस्वभावाऽविरोधात्। एकतन्तुसंयोगविगमाऽभिव्यञ्जकाभावादेवाष्टतन्तुकाद्यनुपलब्धेः। अत एव महति पटे 'एकः पटः' इति प्रतीतिर्नाऽनुपपन्ना, अङ्गुलीभूतलसंयोगावच्छेदेन पाण्याद्यनन्तसंयोगानुपलब्ध्यादिवद्वा पटान्तरानुपलब्धेरिति दिक्।

पट के असमवायिकारणभूत तन्तुद्वयसंयोग का नाश होने पर द्वितन्तुकपट का नाश और उस नाश से त्रितन्तुकपट का नाश होकर चतुस्तन्तुक पट का नाश होगा, इसी प्रकार चतुस्तन्तुकपट की पुनः उत्पत्ति के लिये द्वितन्तुक त्रितन्तुकपटों की उत्पत्ति भी माननी होगी। पूर्वपट का नाश होने के बाद सीधे तन्तुओं से चतुस्तन्तुक पट की उत्पत्ति मानने पर चतुस्तन्तुक पट के समय द्वितन्तुक-त्रितन्तुक पट का अस्तित्व न होने से उनके नाश की कल्पना तथा अगले पट की उत्पत्ति में पूर्वपट की अपेक्षा न होने से चतुस्तन्तुकपट की उत्पत्ति के लिये द्वितन्तुक त्रितन्तुकपट की उत्पत्ति मानना अनावश्यक होगा। अतः पूर्वपट के रहते पटान्तर की उत्पत्ति का पक्ष ग्राह्य नहीं हो सकता।

पूर्व पट के साथ नये तन्तु के संयोग से पटान्तर की उत्पत्ति मानने में एक यह भी बाधा है कि जिस विजातीय संयोग से पट की उत्पत्ति होती है उस के प्रति तन्तु कारण होता है अतः पट में उस संयोग की उत्पत्ति न हो सकने से पूर्वपट में उत्तरपट की उत्पत्ति का मानना संगत नहीं हो सकता। फलतः यही बात न्यायोचित प्रतीत होती है कि अणुओं का विजातीयसंयोग से अतिरिक्त अवयवीद्रव्य की उत्पत्ति होती है, और उक्तसंयोग के नाश से द्रव्य का नाश होता है। अतः अणुओं का विभिन्न द्रव्यरूप परिणमन मानना असंगत है।"

[परमाणुगतअतिशय से ही द्रव्योत्पत्ति सम्भवित है—उत्तरपक्ष]

उक्त बात के विरुद्ध ग्रन्थकार का कहना यह है कि वह ठीक नहीं है क्योंकि 'विजातीयसंयोग द्रव्य का कारण होता है', यह कथन अप्रमाणिक है, क्योंकि यह मानने पर भी यह प्रश्न ऊठेगा कि जिस विजातीयसंयोग से द्रव्य की उत्पत्ति होती है उस विजातीयसंयोग का कारण क्या है? इसके उत्तर में यही कहना होगा कि परमाणुगत अतिशयरूप परमाणुओं का स्वभाव ही द्रव्योत्पादकसंयोग का कारण है। तो फिर परमाणुगतअतिशय से विजातीयसंयोग की उत्पत्ति मान कर उसके द्वारा द्रव्य की उत्पत्ति मानने की अपेक्षा उक्त अतिशय से सीधे द्रव्य की ही उत्पत्ति मानना अधिक युक्तिसंगत है। 'द्रव्यों का उत्पादक यह परमाणुगत अतिशय कारणनिष्ठ कार्यानुकूल

ननु तथापि पूर्वावस्थानाशेनैवोत्तरावस्थाभ्युपगमात् तन्त्वादिपरिणामनाशेनैव पटादि-

शक्ति है, या अन्य कुछ,' यह दूसरी बात है इस विषय में कोई आग्रह नहीं है। घटक अंशों से सीधे द्रव्य की उत्पत्ति मानने पर यह भी एक लाभ होगा कि जैसे दशतन्तुक पट के अन्तिमतन्तु के अलग होने पर भी नवतन्तुकपट की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार प्रथमतन्तु के अलग होने पर भी नवतन्तुकपट की उपलब्धि निर्बाध हो सकती है, क्योंकि जैसे प्रथम से नवपर्यन्त तन्तुओं से नवतन्तुकपट की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार दूसरे तन्तु से दशवें तक के नवतन्तुओं से भी पट की उत्पत्ति अपरिहार्य है।

[एक काल में अनेक पटों की आपत्ति]

"ऐसा मानने पर यह शंका हो सकती है कि— [illegible] की उत्पत्ति मानने पर पूर्वपट के नाश के बाद ही उत्तरपट की उत्पत्ति होने से, दशतन्तुकपट के काल में उन्हीं तन्तुओं में अन्यपट का अस्तित्व तो नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वपटों का नाश होकर ही दशतन्तुकपट उत्पन्न होता है, पर प्रतिलोमक्रम से दशतन्तुकपट के काल में अनेकपटों के अस्तित्व की आपत्ति अवश्य होगी, क्योंकि जैसे दूसरे तन्तु से दसवें तन्तु तक के नवतन्तुओं से नवतन्तुकपट की उत्पत्ति होगी उसी प्रकार तीसरे तन्तु से दसवें तन्तु तक आठ तन्तुओं से अष्टतन्तुकपट, एवं चौथे तन्तु से दसवें तक के सात तन्तुओं से सप्ततन्तुकपट आदि की भी उत्पत्ति हो सकती है।"—

[एकानेकस्वभाव अविरुद्ध होने से इष्टापत्ति]

इस शंका का उत्तर यह है कि—यह आपत्ति इष्ट है, क्योंकि एकस्वभाव और अनेकस्वभाव में कोई विरोध नहीं है। जो वस्तु किसी दृष्टि से एक है, दूसरी दृष्टि से वही अनेक भी हो सकती है, अतः यह स्वीकार करने में कोई संकट नहीं हो सकता कि दशतन्तुओं का संयोग होने पर दशतन्तुक एकपट भी उत्पन्न होता है, और साथ ही नवतन्तुक आदि अनेकपट भी उत्पन्न होते हैं। 'दशतन्तुक पट के समय यदि नव तन्तुक, अष्टतन्तुक आदि अन्य पट भी रहते हैं तो उस समय उनकी उपलब्धि क्यों नहीं होती'? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि एक, दो तीन आदि तन्तुओं के संयोग का विनाश नवतन्तुक, अष्टतन्तुक, सप्ततन्तुक आदि पटों का अभिव्यञ्जक है, दशतन्तुक पट के समय इन अभिव्यञ्जकों का अभाव होने से उस समय विद्यमान होते हुये भी उन पटों की उपलब्धि नहीं होती। यही कारण है जिससे महान पट में 'एकः पटः' इस प्रतीति की अनुपपत्ति नहीं होती। यदि महान पट के अस्तित्वकाल में उनकी उपलब्धि अनेक पट के रूप में होती तो एकपट के रूप में उसकी प्रतीति अनुपपन्न हो जाती।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जैसे भूतल के साथ अङ्गुलि का संयोग होने पर, हस्त, शरीर आदि के अनेक संयोग की उत्पत्ति होती है, पर उपलब्धि अङ्गुलिसंयोग की ही होती है, अन्य संयोगों की नहीं होती, इसी प्रकार एक महान पट के अस्तित्वकाल में अन्य अनेकलघुपटों के होने पर भी एक महान पट की उपलब्धि होने के कारण अन्य पटों की उपलब्धि नहीं होती।

[पटकाल में तन्तुओं की प्रतीति न होने की आपत्ति—और परिहार]

शंका हो सकती है कि "परमाणुगत अतिशय से द्रव्य की सीधी उत्पत्ति मानने के पक्ष में भी पूर्व अवस्था का नाश होने के बाद ही उत्तर अवस्था की उत्पत्ति

परिणामोत्पत्तेः पटकाले तन्तुप्रतीतिर्न स्यात्, नष्टस्यातीतवदग्रहणादिति चेत्? न, द्विविधो हि विनाशः,(१)प्रायोगिकः(२)वैस्रसिकश्च । आद्यः समुदयजनित एव, अन्त्यस्तु द्विविधः समुदयजनितः, ऐकत्विकश्च । अन्त्यो धर्मादीनां गत्याधारत्वादिपर्यायोत्पादस्य तदनाधारत्वध्वंसपूर्वकत्वेनान्ततः क्षणध्वंसे तद्विशिष्टध्वंसनियमाच्चोपेयः । समुदयजनितश्च द्विभेदः–समुदायविभागलक्षणः अर्थान्तरगमनलक्षणश्च । तत्राद्यस्य प्रतियोगिप्रतीतिविरोधित्वेऽपि अन्त्यस्याऽतथात्वादनुपपत्तिविरहादिति दिक् ॥५९॥

मानी जाती है, अतः तन्तुपरिणाम के नाश के बाद ही पट परिणाम की उत्पत्ति होने से पट के समय तन्तु की उपलब्धि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अतीत के समान नष्ट वस्तु का भी ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता''-इस शंका का समाधान यह है कि-पटपरिणाम की उत्पत्ति के लिये तन्तुपरिणाम का जो नाश अपेक्षित होता है, वह तन्तु के अस्तित्व का विरोधी नहीं होता । अतः पट के समय तन्तु का अस्तित्व सुरक्षित रहने से उसकी उपलब्धि में कोई बाधा नहीं होती ।

आशय यह है कि नाश के दो भेद हैं--एक 'प्रायोगिक' और दूसरा 'वैस्रसिक' । इन में 'प्रायोगिक' अर्थात् पुरुषप्रयत्नजन्य नाश समुदयजन्य ही होता है । समुदयजन्य का अर्थ है मूर्त द्रव्यावयवविभागजन्य । 'वैस्रसिक' दो प्रकार का होता है समुदयजन्य एवं ऐकत्विक । ऐकत्विक नाश का अर्थ है मूर्त-अमूर्त अवयवद्रव्य के परस्पर सम्बन्ध के परिवर्तन से होने वाला पूर्व स्थिति का नाश । यह धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय व आकाश के सम्बन्ध से वस्तु में निष्पन्न गति स्थिति अवगाहना पर्यायों से होने वाले पूर्व के विपरीतपर्याय के नाशस्वरूप होता है । उदाहरणार्थ, धर्मास्तिकाय वस्तु की गति में सहायक होने से गति का आधार-गति का सहकारी कारण कहा जाता है । जिस क्षण धर्मास्तिकाय का सहयोग होने पर भी किसी विशेष वस्तु में गति की उत्पत्ति ही नहीं हुई, उस क्षण में धर्मास्तिकाय में उस वस्तु की गति की अनाधारता रहती है, यही उस क्षण में उसका पर्याय है । किन्तु जब धर्मास्तिकाय के सहयोगाधीन उस वस्तु में गति की उत्पत्ति होती है तब धर्मास्तिकाय में उस वस्तु की गत्याधारतारूप पर्याय का उदय होता है । इस गत्याधारता पर्याय का उदय होने से गत्यनाधारतारूप पर्याय का नाश होता है । वस्तु में गति नहीं ही हुई तब भी अन्ततोगत्वा प्रथमक्षण का दूसरे क्षण में नाश–फलतः तत्क्षणसम्बन्ध का नाश होने से तत्क्षणसम्बन्धविशिष्ट धर्म का भी नाश होता है । धर्म का यह नाश उसका ऐकत्विक नाश है ।

समुदयजन्य के दो भेद हैं--समुदयविभागरूप और अर्थान्तरगमनरूप । (१) समुदयविभाग का अर्थ है वस्तु के उन अंशों का अलगाव जिनके संयोग से वस्तु उत्पन्न है, जैसे जिन अंशुओं के संयोग से तन्तु उत्पन्न है उन अंशुओं का अलगाव । यह तन्तुनाश समुदयविभागरूप नाश है । (२) अर्थान्तरगमन का अर्थ है पूर्वस्वरूप के रहते हुए किसी नये स्वरूप का ग्रहण, जैसे तन्तु जिस मूलद्रव्य की एक अवस्था है वह मूल द्रव्य आगे जा कर तन्तु के रहते हुए पट रूप को ग्रहण कर लेता है । तन्तु के मूल द्रव्य का यह पटरूपग्रहण तन्तु का अर्थान्तरगमनरूप नाश कहा जाता है । इनमें समु-

ननु—"न स्थूलत्वं परमाण्वभिन्नं गुणगुणिनोर्भेदात्, कारणबहुत्व—कारणमहत्त्व-प्रचयविशेषोत्पन्नस्य तस्याऽवयविनिष्ठत्वाच्च । न चावयविनि मानाभावः, विलक्षण-संस्थानावच्छेदेन सन्निकर्षाद् यद्द्रव्यगतघटत्वादिग्रहस्तद्व्यक्तेरुत्पादविनाशभेद-प्रत्ययस्यान्यथाऽनुपपत्त्या पृथगवयविसिद्धेः । न चाऽऽवृतत्वाऽनावृतत्वाभ्यां तद्भेदः,

पृथविभागरूप नाश तो प्रतियोगी की उपलब्धि का विरोधी होता है, जैसे तन्तु अंशुओं के संयोग से उत्पन्न है, यदि अंशुओं का विभाग कर दिया जाय तो तन्तु की उपलब्धि नहीं होगी। किन्तु अर्थान्तरगमनलक्षणनाश प्रतियोगी की उपलब्धि का विरोधी नहीं होता, अतः पटात्मकपरिणामरूप जो तन्तुनाश उसके होने पर भी तन्तु की उपलब्धि-निर्बाध रहती है ॥५५॥

[अवयविसिद्धि के द्वारा परमाणुगतस्थूलत्व मानने में शङ्का-पूर्वपक्ष]

यह शंका होती है कि—"स्थूलत्व-महत्त्व परमाणुओं से अभिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि गुण और गुणी में भेद होता है, स्थूलत्व गुण एवं परमाणु गुणी हैं, अतः उनमें अभिन्नता असम्भव है। दूसरी बात यह है कि स्थूलत्व कहीं कारणबहुत्व से, कहीं कारणमहत्त्व से और कहीं प्रचयनामकशिथिलसंयोग से उत्पन्न होता है। अतः वह अवयवी में ही रहता है, अवयवों में नहीं रहता। तो जब स्थूलत्व परमाणुओं में रहता ही नहीं, तब उसे परमाणुस्वरूप होने का अवसर कहाँ है? यदि यह कहें कि 'अवयवी में कोई प्रमाण नहीं है' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विलक्षण संस्थान के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर जिस द्रव्य में घटत्व आदि की प्रतीति होती है, उस द्रव्य की 'उत्पन्नो घटः, नष्टो घटः' इस प्रकार उत्पत्ति और नाश की प्रतीति होती है। यह प्रतीति घटादि द्रव्य को अतिरिक्त अवयवी मानने पर ही सम्भव है, क्योंकि जिस द्रव्य में घटत्व आदि की प्रतीति होती है उसे परमाणुरूप मानने पर परमाणुओं की उत्पत्ति न होने से घट कहे जाने वाले द्रव्य की भी उत्पत्ति आदि न होगी। फलतः घट के उत्पत्ति-विनाश की प्रतीति न हो सकेगी। अतः परमाणुओं से अतिरिक्त घट आदि अवयवी का अस्तित्व मानना आवश्यक है।

[आवृतत्व—अनावृतत्व के विरोध की शंका और समाधान]

यदि यह कहा जाय कि—"घट के एक भाग को किसी वस्तु से ढक देने पर घट आवृत भी कहा जाता है और अनावृत भी कहा जाता है, घटमें आवृतत्व और अनावृतत्व इन दो विरोधी धर्मों का अस्तित्व तभी हो सकता है जब घट एक व्यक्ति न होकर परमाणुओं का समूहरूप हो, क्योंकि घट के परमाणुसमूहरूप होने पर उस समूह के एक घटात्मक भाग पर आवरण और दूसरे घटात्मक भाग पर आवरणाभाव होने से घट में आवृतत्व और अनावृतत्व का समावेश हो सकता है। पर यदि घट एकव्यक्ति होगा तो वह एकसमय में या तो आवृत ही हो सकता है, या तो अनावृत ही हो सकता है, दोनों नहीं हो सकता। अतः परमाणुओं से भिन्न एक अतिरिक्त अवयवी की कल्पना उचित नहीं है।"—

अवच्छेदकभेदेनाऽविरोधात् । न चाऽर्धावृतेऽवयविनीन्द्रियसन्निकर्षसत्त्वे परिमाणादिग्रहप्रसङ्गः, इष्टत्वात्, तद्गतहस्तत्वादिजातिग्रहे तु यावदवयवाऽवच्छेदेन सन्निकर्षस्य हेतुत्वात् । न च 'पाणौ शरीरं सकम्पं निष्कम्पं च चरणे' इति प्रतीतेः सकम्पत्वनिष्कम्पत्वाभ्यां भेदः, तत्र पाणावेव कम्पस्वीकारात् । 'पाणौ शरीरं चलति' इति प्रत्ययस्य परम्परासम्बन्धेन पाणिवृत्तिकम्पावगाहित्वात् । न च कम्पाभावधीरेव परम्परासम्बन्धेन चरणनिष्ठकम्पाभावमवगाहतामिति–वाच्यं, पाणिकर्मणैव प्रत्ययाद्युपपत्तावतिरिक्तशरीरकर्मकल्पनायां गौरवात् । न चैवं कर्मणस्तद्विभागजनकत्वापत्तिः, सर्वावच्छेदेनोपलभ्यमानकर्मवति शरीरादौ कर्माभावोपलम्भप्रसङ्गात् । एतेन 'शरीर एवास्तु क्रिया, नानाश्रयत्वे तत्कल्पने गौरवाद्' इत्यपास्तम्, पाण्यादौ कर्माभावोपलम्भापत्तेः । न च परम्परासम्बन्धस्य दोषत्वं, चरणादावपि तद्भानापत्तेः, दोषत्वकल्पने गौरवाच्च ।" इत्याशङ्कायामाह भेदे 'तदङ्गम्' इति...

तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस मत में घट एकव्यक्तिरूप है उस मत में भी वह एकभाग में आवृत और अन्यभाग में अनावृत हो सकता है। अंशभेद से एकव्यक्ति में परस्परविरोधी धर्मों का सामञ्जस्य मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती। यदि यह आपत्ति की जाय कि 'यदि अवयवों से भिन्न अवयवी माना जायगा तो आधे भाग में ढके घटादिअवयवी के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर भी उसके परिमाण का प्रत्यक्ष होने लगेगा'–तो इस आपत्ति को शिरोधार्य किया जा सकता है; क्योंकि आधे ढँके घटादि अवयवी के परिमाण का 'यह एक महान घट है' इस रूप में प्रत्यक्ष होता ही है, हाँ अर्धावृत अवस्था में यह प्रत्यक्ष अवश्य नहीं होता कि 'घट एक हाथ लम्बा या दो हाथ लम्बा है' तो वह तो इस लिये नहीं होता है कि उस प्रकार के प्रत्यक्ष के लिये द्रव्य के सम्पूर्णभाग में इन्द्रियसन्निकर्ष अपेक्षित होता है जो द्रव्य की अर्धावृत अवस्था में सम्भव नहीं है।

[सकम्पत्व-निष्कम्पत्व के विरोध की शंका]

यदि यह कहा जाय कि–''हाथ में शरीर सकम्प है और पैर में निष्कम्प है' इस प्रतीति से शरीर में कम्प और कम्पाऽभाव सिद्ध है। शरीर को एकव्यक्तिरूप मानने पर उस में एक ही समय कम्प और कम्पाऽभाव इन विरोधी धर्मों का समावेश न हो सकेगा, अतः शरीर को करचरणादि अवयवों का समूहरूप मान कर करात्मक शरीर में कम्प और चरणात्मक शरीर में कम्पाभाव के द्वारा शरीर की सकम्पता और निष्कम्पता की उपपत्ति आवश्यक है'' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पाणि में कम्प होने के समय पाणि में ही कम्प होता है शरीर में कम्प होता ही नहीं, अतः शरीर में कम्प और कम्पाभाव का सामञ्जस्य स्थापित करने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। पाणि में कम्प के समय शरीर को निष्कम्प मानने पर 'हाथ में शरीर सकम्प है' इस प्रतीति की अनुपपत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि कम्प के आश्रय पाणि में शरीर समवेत होने से स्वाश्रयसमवेतत्वरूप परम्परासम्बन्ध से शरीर में पाणिगत कम्प की प्रतीति हो सकती है।

[कम्प और कम्पाभाव के विरोध की शंका और समाधान]

यदि यह कहा जाय कि–"'पाणौ शरीरं सकम्पम्' अथवा 'पाणौ शरीरं कम्पते' इस प्रतीति को शरीर में परम्परा-स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से पाणिगत कम्प का ग्राहक मान कर पाणि में कम्प दिखायी देने के समय केवल पाणि को ही कम्पयुक्त और शरीर को एकमात्र निष्कम्प ही नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर यह भी कह सकते हैं कि 'चरणे शरीरं निष्कम्पम्' अथवा 'चरणे शरीरं न कम्पते' यह प्रतीति शरीर में परम्परा-स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से चरणनिष्ठ कम्पाभाव को ही ग्रहण करती है, न कि शरीर में विद्यमान अतिरिक्त कम्पाभाव को ग्रहण करती है, अतः पाणि में कम्प और चरण में कम्पाभाव दिखायी देने के समय चरण ही निष्कम्प होता है, शरीर निष्कम्प नहीं होता, वह तो हस्तभाग में कम्पयुक्त भी होता है। अतः इन दोनों पक्षों में कोई विनिगमना न होने से शरीर को सकम्प और निष्कम्प दोनों ही मानना होगा। फलतः कम्प और कम्पाभाव इन दो विरुद्ध धर्मों के एकत्र समावेश के परिहारार्थ शरीर को एक व्यक्ति न मान कर पाणि, चरण, आदि अवयवों का समूह रूप मानना अनिवार्य हो जायगा। अतः अवयवों से भिन्न अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती"– तो यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि पाणि में कम्प और चरण में कम्पाभाव दिखायी देने के समय पाणिभागयुक्त शरीर में जो कम्प की प्रतीति अथवा कम्पमानता का व्यवहार होता है उसकी उपपत्ति जब परम्परासम्बन्ध द्वारा पाणि के ही कम्प से सम्भव है तब पाणिकम्प से अतिरिक्त शरीर में भी पृथक् कम्प की कल्पना का कोई प्रयोजन न होने से वह कल्पना गौरवग्रस्त होने के कारण त्याज्य है।

[कर्म के त्रसरेणुमात्रगतत्व–शरीरसकर्मता: आपत्ति और परिहार]

इस पर यदि यह कहा जाय कि "पाणि आदि के ही कर्म से शरीर में कर्म की प्रतीति और सकर्मता के व्यवहार की उपपत्ति कर यदि शरीर को कर्महीन ही माना जायगा, तब तो पाणि आदि को भी कर्महीन मानना ही उचित होगा, क्योंकि उनमें कर्म की प्रतीति और सकर्मता के व्यवहार की उपपत्ति परम्परासम्बन्ध द्वारा उनके अवयवों के कर्म से ही की जा सकती है, अन्ततः कर्म पाणि आदि में भी सिद्ध न होकर केवल त्रुटि=त्रसरेणुमात्र में ही सिद्ध होगा, और उसका फल यह होगा कि यतः त्रसरेणु शरीर का साक्षात् अवयव नहीं होता अतः उसके कर्म का शरीर के साथ स्वाश्रयसमवेतत्वरूप परम्परासम्बन्ध न बन सकने से शरीर में होने वाली कर्म की प्रतीति और सकर्मता के व्यवहार के अनुरोध से शरीर में कर्म उत्पत्ति मानना अनिवार्य हो जायगा"–तो यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म को केवल त्रसरेणु में मानने पर उस के द्वारा जैसे शरीर में कर्म की प्रतीति आदि की उपपत्ति न हो सकने से शरीर में कर्म की उत्पत्ति मानना आवश्यक होगा, उसी प्रकार त्रसरेणु के कर्म से पाणि आदि में भी कर्म की प्रतीति की उपपत्ति न हो सकने से पाणि आदि में भी कर्म की उत्पत्ति मानना आवश्यक होगा। फिर पाणि आदि अवयव और इन सभी में कर्म के उदय की कल्पना में गौरव होगा, अतः कर्म को केवल त्रसरेणुमात्र में न मान कर पाणि आदि में मानना और पाणि आदि के कर्म से ही शरीर में कर्म की प्रतीति का समर्थन कर शरीर को कर्महीन मानना ही युक्तिसंगत है।

[केवल शरीर में कम्प मानने से लाघव की आशंका]

इस सन्दर्भ में कुछ लोगों का यह कहना है कि-"जिस समय पाणि आदि अवयवों में अथवा उनसे युक्त शरीर में क्रिया दिखाई देती है उस समय केवल शरीर में ही क्रिया की उत्पत्ति मानना उचित है न कि पाणि आदि अवयवों में, क्योंकि शरीर एक है, अतः एक समय में उस में क्रिया भी एक ही होगी किन्तु पाणि आदि अवयव अनेक हैं अतः उन में क्रिया भी अनेक होगी, क्योंकि अनेक आश्रयों में एक क्रिया की उत्पत्ति नहीं होती, अतः शरीर में क्रिया मानने की अपेक्षा पाणि आदि अवयवों में क्रिया मानने में गौरव है। इस प्रसङ्ग में यह शङ्का करना कि—'केवल शरीर में क्रिया मानने पर पाणि आदि में क्रिया की प्रतीति और सक्रियता के व्यवहार की अनुपपत्ति होगी'-उचित नहीं है क्योंकि शरीरक्रिया का पाणि आदि अवयवों के साथ स्वाश्रयसमवायित्वरूप परम्परा सम्बन्ध होने से उक्तसम्बन्ध द्वारा शरीर की क्रिया से ही पाणि आदि में क्रिया की प्रतीति आदि होने में कोई बाधा नहीं हो सकती"।—

[केवल शरीर में कम्प मानने पर अवयव में निष्क्रियत्व की आपत्ति]

किन्तु इस रीति से केवल शरीर को ही सक्रिय कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि इस पक्ष में यद्यपि शरीर के केवल सक्रिय होने से उसमें सक्रियत्व और निष्क्रियत्व इन दो विरुद्ध धर्मों के समावेश की प्रसक्ति न होने से अवयवातिरिक्त अवयवी की सिद्धि में कोई बाधा नहीं होती,-फिर भी यह पक्ष युक्तिसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि शरीरमात्र को ही सक्रिय और पाणि आदि अवयवों को निष्क्रिय मानने पर पाणि आदि में सक्रियत्व का दर्शन न होकर निष्क्रियत्व के ही दर्शन की आपत्ति होगी, क्योंकि पाणि आदि में शरीरक्रिया का परम्परासम्बन्ध होगा और निष्क्रियत्व का साक्षात्सम्बन्ध होगा, अतः परम्परा से सम्बद्धवस्तु के दर्शन की अपेक्षा साक्षात्सम्बद्धवस्तु का ही दर्शन युक्तिसंगत हो सकता है।

यदि इस आपत्ति के परिहारार्थ-पाणि आदि के साथ शरीरक्रिया के परम्परासम्बन्ध को पाणि आदि में निष्क्रियत्व के दर्शन का प्रतिबन्धक माना जाय-तो यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर जिस समय केवल पाणि में क्रिया दिखायी देती है, चरण में नहीं दिखायी देती, उस समय चरण में जो निष्क्रियत्व का दर्शन होता है वह शरीरक्रिया के परम्परासम्बन्ध को निष्क्रियत्वदर्शन का प्रतिबन्धक मानने पर न हो सकेगा, क्योंकि चरण की निष्क्रियता के समय भी शरीरक्रिया का उक्त परम्परासम्बन्ध चरण में विद्यमान रहता है।

सच बात तो यह है कि केवल शरीर को ही सक्रिय और पाणि आदि अवयवों को निष्क्रिय मानने पर पाणि में सक्रियत्व के दर्शन के समय भी सक्रियत्व का दर्शन न होकर निष्क्रियत्व के ही दर्शन की आपत्ति का परिहार हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिस स्थान में किसी वस्तु का साक्षात्सम्बन्ध और उसके विरोधी वस्तु का परम्परा-सम्बन्ध होता है उस स्थान में साक्षात्सम्बन्ध से विद्यमान निष्क्रियत्व के दर्शन के प्रति शरीरक्रिया के परम्परासम्बन्ध को प्रतिबन्धक मानने की कल्पना गौरवग्रस्त होने से स्वीकार्य नहीं हो सकती।

मूलम्—भेदे तददलं यस्मात् कथं सद्भावमश्नुते ?
तदभावेऽपि तद्भावे सदा सर्वत्र वा भवेत् ॥५०॥

भेदे=स्थूलत्वस्याणुभ्यः सर्वथा पृथग्भावे, अदलं सत् तत्=स्थूलत्वं, यस्मात् कथं सद्भावमश्नुते=सत्त्वव्यवहारं कथं प्राप्नुयात् ? सर्वथा द्रव्यापृथग्भूतत्वे, शशशृङ्गवदसत्त्वप्रसङ्गात् । किञ्च, तदभावेऽपि=दलाभावेऽपि, तद्भावे=स्थूलत्वोत्पादे, 'अभ्युपगम्यमाने' इति शेषः, कालनियमहेत्वभावात् सदा, देशनियमहेत्वभावाच्च सर्वत्र वा भवेत्, 'तत्' इति योज्यते ।

अथ द्व्यणुकादेरेव महत्त्वोपादानत्वात् नाऽदलत्वम्, अन्यादृशमहत्त्वं चाऽप्रयोजकं, समवायेन अन्त्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य हेतुत्वाच्च नातिप्रसङ्ग इति चेत् ? न, समवायनिरासात्, ध्वंससाधारण्येनाऽपृथग्भावेन अन्यत्वावच्छिन्ने प्रत्येव द्रव्यहेतुत्वौचित्याच्च, इत्यलम् विस्तरः ।

निष्कर्ष यह है कि शरीर में सक्रियत्व की प्रतीति परम्परा सम्बन्ध द्वारा पाणि आदि अवयवों की क्रिया से ही उपपन्न हो सकती है अतः पाणि आदि अवयवों की सक्रियतादशा में भी शरीर निष्क्रिय ही रहता है, वह कभी भी सक्रिय नहीं होता, फलतः शरीर में सक्रियत्व और निष्क्रियत्व रूप विरुद्धधर्मों के समावेश की आपत्ति न होने से पाणि आदि अवयवों से भिन्न शरीर को पृथग् द्रव्य मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती ।"—[पूर्वपक्षसमाप्ति]

नैयायिकों की इस शङ्का का परिहार करने के लिये ही 'भेदे तददलं' इत्यादि ५० वीं कारिका की रचना की गयी है, कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

[स्थूलत्व को भिन्न मानने पर निष्कारणत्व की आपत्ति—उत्तरपक्ष]

स्थूलत्व-महत्त्व को यदि स्थूल माने जाने वाले द्रव्य के अणुओं से सर्वथा भिन्न माना जायगा तो उसका कोई दल उपादानकारण न बन सकेगा, क्योंकि अणुओं से भिन्न किसी द्रव्य का अस्तित्व विवादग्रस्त है, अतः अणुभिन्न द्रव्य को उस का उपादानकारण मानना सम्भव नहीं है, और अणुद्रव्य एवं स्थूलत्व में अत्यन्तभेद मानने पर अणुद्रव्यों को भी उस का उपादान नहीं माना जा सकता, क्योंकि अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में उपादान-उपादेयभाव प्रमाणसिद्ध नहीं है, इस प्रकार स्थूलत्व जब अदल-उपादानहीन होगा, तब वह सत् के रूप में कैसे व्यवहृत हो सकेगा ? फलतः द्रव्य से सर्वथा भिन्न होने पर शशशृंग के समान स्थूलत्व भी असत् हो जायगा ।

यदि यह कहा जाय कि–उपादान के अभाव में भी स्थूलत्व की उत्पत्ति मान लेने से उसके अस्तित्वलाभ में कोई बाधा नहीं हो सकती–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति मानने पर 'उत्पत्ति किस काल और किस आश्रय में हो' इस बात का कोई नियामक न होगा, अतः स्थूलत्व की उत्पत्ति किसी नियत समय और नियत आश्रय में न होकर सभी समय और सभी आश्रयों में होने लगेगी, जो अनुपलम्भ से बाधित होने के कारण सर्वथा अस्वीकार्य है ।

[स्थूलत्व में निष्कारणतापत्ति के परिहार का प्रयास]

यदि यह कहा जाय कि-'स्थूल दीखने वाले त्र्यणुकत्रसरेणु आदि द्रव्य अणुओं से भिन्न हैं और वे ही स्थूलत्व-महत्त्व के उपादान कारण हैं, अतः स्थूलत्व असत्-उपादान हीन नहीं है। इस पर यह कहना कि-'असत्त्व का अर्थ उपादानकारण से हीन होना नहीं है किन्तु द्रव्य-आश्रय से पृथक् भिन्न होना है और यही असत्त्व का नियामक है, अतः स्थूलत्व को द्रव्य से पृथक् मानने पर उसका असत् हो जाना अनिवार्य है'-उचित नहीं हो सकता, क्योंकि उपादानहीनता से भिन्न उक्त अद्रव्यत्व में असत्त्व की प्रयोजकता असिद्ध है।-'स्थूलत्व को द्रव्य से भिन्न मानने पर आश्रयविशेष में उसकी उत्पत्ति नियन्त्रित न हो सकेगी'-यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'समवाय सम्बन्ध से जन्यभावमात्र के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य कारण होता है' इस कार्यकारण भाव से द्रव्य में जन्यभाव की उत्पत्ति का नियन्त्रण होता है, स्थूलत्व भी जन्यभाव है अतः उसकी उत्पत्ति का नियन्त्रण भी इस कार्यकारणभाव के द्वारा हो सकता है। 'सभी द्रव्यों में स्थूलत्व की उत्पत्ति न होकर स्थूल दिखने वाले द्रव्यों में ही उसकी उत्पत्ति हो' इस प्रकार का नियन्त्रण भी समवायसम्बन्ध से स्थूलत्व के प्रति अणुभिन्न अविभुद्रव्य को तादात्म्यसम्बन्ध से कारण मान कर किया जा सकता है, अतः द्रव्य से पृथक् होने पर भी स्थूलत्व नियत समय एवं नियत आश्रय में ही उत्पन्न होकर अस्तित्वलाभ कर सकता है, सर्वत्र और सर्वदा उसकी उत्पत्ति का अतिप्रसङ्ग नहीं हो सकता।''

[समवाय अमान्य होने से यह प्रयास अनुचित है]

तो यह कहना ठीक नहीं है क्यों कि युक्ति और प्रमाण न होने से समवायसंबन्ध असिद्ध है अतः उसके आधार पर उक्त कार्यकारणभाव की कल्पना सम्भव न होने से उसके द्वारा स्थूलत्व की उत्पत्ति का नियन्त्रण और उसके अस्तित्वलाभ का समर्थन नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि उक्त कार्यकारणभाव मानने पर उसके द्वारा जन्यभाव की ही उत्पत्ति का नियन्त्रण होगा, ध्वंस की उत्पत्ति का नियन्त्रण न हो सकेगा, क्योंकि ध्वंस अभावात्मक होने से समवायसम्बन्ध से नहीं उत्पन्न हो सकता, अतः जन्यमात्र का आश्रय के साथ अपृथग्भाव अभेद जैसा सम्बन्ध मानकर अपृथग्भावसम्बन्ध से जन्यमात्र के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य को कारण मानना ही उचित है क्योंकि इस कार्यकारणभाव से जन्यभाव के समान ध्वंस की भी उत्पत्ति का नियन्त्रण हो सकता है और इस प्रकार का कार्यकारणभाव मानने पर स्थूलत्व अणुओं से भिन्न होने पर अवश्य द्रव्य से पृथग्भूत होने के कारण उपादानहीन होगा और इस नाते 'सत्' व्यवहार से अवश्य वंचित होगा, क्योंकि इस कार्यकारणभाव के रहते अणुभिन्न द्रव्य का अस्तित्व संभव न होने से स्थूलत्व को अणुभिन्न मानने पर उसका असत्त्व-उपादानहीनत्व निर्विवाद है।

इस विषय का और विस्तृत विचार अन्यत्र किया है अतः यहाँ इसे इतने में ही समाप्त किया जाता है।

पृथगवयविन्यपि च न मानमस्ति, अनन्तावयव्यादिकल्पने गौरवात्। किञ्च आवृता-ऽनावृतत्वाभ्यामपि भिन्न एवाऽवयवी, ज्ञानप्रतिबन्धकसंयोग-तदभावरूपयोरावृताऽनावृतत्वयोर्भिन्नावच्छेदेन संभवेऽपि चाक्षुषविषयता-तदभावरूपयोर्विनाभेदमसंभवात्, स्वरूपाऽनतिरिक्ताया विषयताया अव्याप्यवृत्तित्वाऽयोगात्। सकम्पत्वनिष्कम्पत्वाभ्यामपि तथा, शरीरस्य निष्कम्पत्वे 'पाणी न चलति' इत्यस्याऽपि प्रसङ्गात्। 'शरीरत्वादेरिव पाणेः कर्माऽभावानवच्छेदकत्वाद्यमदोष' इति चेत्? न, चरणे कम्पदशायामपि 'पाणी न चलति' इत्यनापत्तेः। न च दोषात् 'पाणी न चलति' इति न प्रतीयत इति वाच्यम्, तादृशदोषकल्पने गौरवात्।

[पृथक् अवयवी की सत्ता भी अप्रामाणिक है]

प्रस्तुत चर्चा के सन्दर्भ में यह बता देना अत्यन्त प्रासंगिक प्रतीत होता कि-अवयवों से अतिरिक्त अवयवी की सत्ता में कोई प्रमाण भी नहीं है, प्रत्युत अवयवों से अतिरिक्त अनन्त अवयवी और उन सभी के अनन्त प्रागभाव तथा ध्वंस आदि की कल्पना में होने वाला गौरव उसकी सिद्धि में स्पष्ट बाधक है।

इसके अतिरिक्त आवृतत्व और अनावृतत्व से भी अवयवी की अतिरिक्त एकद्रव्यरूपता की सिद्धि बाधित होती है। जैसे घट के किसी एक ही भाग पर जब कोई आवरण डाला जाता है तब घट आवृत भी होता है और अनावृत भी होता है। आवृतत्व और अनावृतत्व यह दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, अतः घट को एक व्यक्ति मानने पर उसमें दोनों का सह समावेश नहीं हो सकता, किन्तु समावेश देखा जाता है, इसलिये घट को अवयवों से भिन्न एक अवयवीद्रव्य न मान कर अवयवों का समूहरूप मानना ही उचित है क्योंकि ऐसा मानने पर घट के आवृत अनावृत उभयभागरूप होने से एक ही काल में उसका आवृत और अनावृत प्रतीत होना सम्भव हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि "आवृतत्व का अर्थ है उपलम्भ का बाधकसंयोग और अनावृतत्व का अर्थ है उक्तसंयोग का अभाव, अतः संयोग के अव्याप्यवृत्ति-अवच्छेदकभेद से एक ही समय एक आश्रय में अपने अभाव के साथ रहने के स्वभाव से युक्त होने के कारण एकघटव्यक्ति में आवृतत्व और अनावृतत्व के सहसमावेश में कोई बाधा न हो सकने से उसके द्वारा घट का समूहरूपता नहीं सिद्ध हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि घटआदि के समान घटआदि के रूपआदि गुणों में भी आवृतत्व और अनावृतत्व का व्यवहार होता है अतः आवृतत्व और अनावृतत्व को उक्तसंयोग और उक्त संयोगाभावरूप न मान कर आवृतत्व को चाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्वाभाव और अनावृतत्व को चाक्षुषप्रत्यक्षविषयतारूप मानना होगा और विषयता विषयस्वरूप से अतिरिक्त न होने के कारण विषय के समान व्याप्यवृत्ति ही होगी, अव्याप्यवृत्ति न होगी, अतः इस प्रकार के आवृतत्व और अनावृतत्व का एक व्यक्ति में समावेश संभव न होने से आवृत एवं अनावृत वस्तु को एक वस्तुरूप न मान कर अनेक व्यक्तियों का समूहरूप मानना ही उचित होगा।

किञ्च, एवमुक्तयुक्त्याऽग्रादिनिष्ठसंयोगादेरेव वृक्षादौ प्रतीत्युपपत्तौ संयोगादेरपि व्याप्यवृत्तित्वं स्यात् । अपि च, एवं शतमाषकेभ्यः शतमाषकाऽऽरब्धावयविनि गुरुत्वाधिक्यादवनतिविशेषः स्यात् । न चावयविन्यवयवगतापकृष्टगुरुत्वस्वीकाराद् गुरुतरद्रव्ययोः समयोस्तोलने एकत्र संलग्नतृणादिगुरुत्वाधिक्यादवनतिवदुपपत्तिः, तत्राऽन्त्यावयवि-

---

[अवयवी की सिद्धि में सकम्पत्व और निष्कम्पत्व का विरोध बाधक है]

इसी प्रकार सकम्पत्व और निष्कम्पत्व-कम्प और कम्पाभाव इन परस्परविरुद्ध धर्मों के समावेश से भी अवयवों से अतिरिक्त अवयवी की सिद्धि का बाधित होना निर्विवाद है । अतिरिक्त अवयवी के अस्तित्व का समर्थन करते हुये जो यह बात कही गयी है कि-"पाणि आदि में कम्प दिखने के समय पाणि आदि में ही कम्प होता है शरीर तो निष्कम्प ही रहता है, क्योंकि उस समय शरीर में होने वाली सकम्पता की प्रतीति परम्परा स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध द्वारा पाणि के कम्प से ही उपपन्न हो सकती है"-यह ठीक नहीं है, क्योंकि पाणि की सकम्पता के समय यदि शरीर को निष्कम्प ही माना जायगा तो उस समय 'पाणौ शरीरं न चलति-पाणि भाग में शरीर निश्चल है' इस प्रकार की प्रतीति की आपत्ति होगी ।

यदि यह कहा जाय कि "शरीर को केवल निष्क्रिय मानने के पक्ष में शरीर में कर्माभाव व्याप्यवृत्ति होता है अतः जैसे शरीरत्व आदि कर्माभाव का अवच्छेदक नहीं होता उसी प्रकार पाणि भी शरीर में रहने वाले व्याप्यवृत्ति कर्माभाव का अवच्छेदक नहीं हो सकता, अतः 'पाणौ शरीरं न चलति' इस प्रतीति की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह प्रतीति पाणि के कर्माभाव का अवच्छेदक होने पर ही संभव है और पाणि उक्त कारण से कर्माभाव का अवच्छेदक हो नहीं सकता" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार से 'पाणौ शरीरं न चलति' इस प्रतीति की आपत्ति का परिहार करने पर केवल चरण में कम्प होने के समय भी 'पाणौ शरीरं न चलति' इस प्रतीति की अनुपपत्ति हो जायगी ।

यदि यह कहें कि-"पाणि की सक्रियतादशा में शरीर के निष्क्रिय होने पर भी 'पाणौ शरीरं न चलति' इस प्रतीति की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि शरीर में पाणिक्रिया का परम्परासम्बन्ध उक्त प्रतीति का प्रतिबन्धक है" तो यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि साक्षात्सम्बन्ध वस्तु के दर्शन के प्रति उस वस्तु के विरोधी वस्तु के परम्परासम्बन्ध में सामान्यरूप से प्रतिबन्धकता सिद्ध न होने से इस प्रकार के प्रतिबन्धकत्व की कल्पना गौरवग्रस्त होने के कारण त्याज्य है ।

परम्परा-स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध द्वारा पाणि आदि के कर्म से शरीर में सकम्पता की प्रतीति का उपपादन कर शरीर को निष्क्रिय मानने में एक और बाधा है, वह यह कि जिस युक्ति से शरीर को निष्क्रिय मानने की बात की जाती है उस युक्ति से वृक्ष आदि भी सर्वथा संयोगहीन हो सकते हैं, क्योंकि उक्त परम्परासम्बन्ध द्वारा अग्र, पृष्ठ, मध्य आदि अवयवों में विद्यमान संयोग से ही वृक्ष में संयोग की प्रतीति संभव होने से वृक्ष आदि द्रव्यों में संयोग मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, फलतः संयोग आदि अव्याप्यवृत्ति गुणों में व्याप्यवृत्तित्व की आपत्ति हो सकती है ।

त्वेनाऽन्यस्याऽपकृष्टगुरुत्वहेतुत्वे उत्कृष्टगुरुत्वप्रतिबन्धकत्वे च गौरवाद्, इत्यन्यत्र विस्तरः। तस्मात् कथञ्चित् परमाण्वात्मकमेव स्थूलत्वं परमाणुषु सदेवोत्पद्यते, इत्युपपन्नेन सिद्धम् ॥५०॥

न चैवं द्रव्यरूपेणाणुषु स्थूलत्वस्येव प्रत्येकावस्थायां भूतेषु तथा चैतन्यस्य सत्त्वेऽप्यनुपपत्तिविरहात् सिद्धं नः समीहितम्, इत्यत्राह--

---

[अतिरिक्त अवयवी के गुरुत्व से उन्नमनाधिक्य की आपत्ति]

अवयवों से अतिरिक्त अवयवी की सत्ता मानने में एक और दोष है, वह यह कि सौ मासे तौल के द्रव्यकणों से यदि एक अतिरिक्तद्रव्य की उत्पत्ति होगी तो उसका एवं उस के अवयवभूत सौ द्रव्यकणों का मिलितगुरुत्व केवल अवयवों के गुरुत्व से अधिक होगा, फलतः सौ मासे के सौ द्रव्यकणों के गुरुत्व से अल्पगुरुत्व वाले किसी द्रव्य से केवल सौ द्रव्यकणों एवं उनसे उत्पन्न अतिरिक्त द्रव्यों को तोलने पर उनकी अवनतियों में साम्य न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि–"अवयवी का गुरुत्व अवयवों के गुरुत्व से अत्यन्त अपकृष्ट होता है अतः जैसे समानगुरुत्व वाले दो द्रव्यों के तोलने पर किसी एक ओर अत्यन्त अपकृष्टगुरुत्व वाले किसी क्षुद्र कण के संपर्क से गुरुत्व का आधिक्य होने पर भी उनकी अवनतियों में कोई अन्तर नहीं होता किन्तु दोनों की अवनति समान ही होती है उसी प्रकार अत्यन्त अपकृष्ट गुरुत्व के आश्रयभूत अवयवी के साहचर्य से अवयवी युक्त अवयवों की ओर गुरुत्व का आधिक्य होने पर भी केवल अवयवों तथा अवयवीयुक्त अवयवों को तोलने पर उनमें तुल्य अवनति की उपपत्ति हो सकती है"–तो यह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि यह बात तभी संभव हो सकती है जब अंतिमअवयवी को विशेषरूप से अत्यन्त अपकृष्टगुरुत्व का कारण और उत्कृष्टगुरुत्व का प्रतिबन्धक माना जाय जो गौरव दोष के कारण असंभव है। इस विषय का विस्तृत विचार अन्यत्र किया गया है।

संपूर्ण विचार का निष्कर्ष यह है कि स्थूलत्व कथंचित्–द्रव्यरूप से परमाणुस्वरूप ही होता है अतः द्रव्यरूप से पूर्वतः विद्यमान ही स्थूलत्व कालान्तर में कारणों का सन्निधान होने पर पर्यायरूप से परमाणुओं में उत्पन्न होता है यह उपपत्तिसिद्ध तथ्य ही मान्य है ॥५०॥

[स्थूलत्व की तरह चैतन्य को भी भूतसंघातजन्य नहीं कह सकते]

प्रस्तुत चर्चा के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि-"जैसे स्थूलत्व द्रव्यरूप से परमाणुओं में प्रथमतः विद्यमान रहता है और कालान्तर में परमाणुओं का विशिष्ट सन्निधान होने पर पर्यायरूप से उनमें उसका जन्म होता है उसी प्रकार यह मानने में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है कि शरीर घटक पृथ्वी, जल आदि भूतद्रव्यों के पृथक् अवस्थान काल में उनमें चैतन्य द्रव्यरूप से विद्यमान रहता है और बाद में उन भूतों का विशिष्ट सान्निध्य सम्पन्न होने पर उनमें पर्यायरूप से चैतन्य का उदय होता है। और यह

मूलम्—न चैवं भूतसङ्घातमात्रं चैतन्यमिष्यते ।
अविशेषेण सर्वत्र तद्वत् तद्भावसंगतेः ॥५१॥

न चैवं स्थूलत्वं यथाऽणुसंघातमात्रं तथा भूतसंघातमात्रं चैतन्यमिष्यते चार्वाकैः। 'तथेष्टौ को दोषः ?' इति तटस्थाशङ्कायामाह अविशेषेण संघातातिरिक्तविशेषानभ्युपगमेन सर्वत्र जीवच्छरीरवदन्यत्राऽपि, तद्वत्=भूतसंघातवत् तद्भावसंगतेर्व्यक्तचैतन्यसद्भाव-प्रसङ्गात् ॥५१॥

ततः किम् ? इत्याह —

मूलम्—एवं सति घटादीनां व्यक्तचैतन्यभावतः ।
पुरुषान्न विशेषः स्यात्, स च प्रत्यक्षबाधितः ॥५२॥

एवमुपदर्शितप्रकारेण, 'व्यक्तचैतन्यभावतः' तसः सप्तम्यर्थत्वात् । व्यक्तचैतन्यभावे 'सति' इति योजनीयम् । 'एवं सति' इत्यनेनोक्तार्थपरामर्शे तुसर्वपदस्य घटादिरेवाऽर्थ इति पौनरुक्त्यं स्यात् । घटादीनां पुरुषात्=जीवच्छरीरात् , न विशेषः स्यात् । न चायमपीष्टः, इत्याह—स च=घटादीनां पुरुषाऽविशेषश्च, 'प्रत्यक्षबाधितः' घटादीनाम-चेतनत्वेन प्रतीतेः ॥५२॥

स्वीकार करने पर विरोधी चार्वाक का इष्टपक्ष भूतचैतन्यवाद अनायास सिद्ध हो जाता है"-इस कथन को निरस्त करने के उद्देश्य से ही इस ५१ वीं कारिका की रचना की गयी है—

जिस प्रकार स्थूलत्व अणुओं का संघातमात्र है, उसी प्रकार चैतन्य भी भूतों का संघातमात्र ही है, चार्वाकों की यही मान्यता है। तटस्थ द्वारा इस मान्यता को मान लेने की शङ्का का निरास कारिका के उत्तरार्ध द्वारा यह कह कर किया गया है कि चैतन्य यदि भूतसंघात से अतिरिक्त न होगा तो भूतों के संघात के समान चैतन्य का सद्भाव भी सर्वत्र प्रसक्त होगा, फलतः जीवित शरीर के समान घट आदि संघातों में भी व्यक्त चैतन्य के अस्तित्व की आपत्ति होगी ॥५१॥

[घटादि में पुरुषवैलक्षण्याभाव प्रत्यक्षबाधित है]

सर्वत्र व्यक्तचैतन्य के सद्भाव की आपत्ति होने से क्या हानि होगी ? इस प्रश्न का उत्तर ५२वीं कारिका द्वारा उपन्यस्त किया गया है। कारिका के व्याख्याकार कहते हैं कि 'व्यक्तचैतन्यभावतः' शब्द में 'तसिल्' प्रत्यय सप्तमीविभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है, अतः उसका तात्पर्य 'व्यक्तचैतन्यभावे' में है, 'सति' शब्द का अन्वय उसी के साथ है न कि 'एवं' शब्द के साथ, क्योंकि 'सति' शब्द को 'एवं' शब्द से अन्वित कर 'एवं सति' का 'सर्वत्र व्यक्तचैतन्यसद्भावे' अर्थ करने पर 'घटादीनां व्यक्तचैतन्यभावतः' से उसकी पुनरुक्ति होगी, क्योंकि घट आदि ही सर्वत्र का भी अर्थ होता है। फलतः कारिका का यह अर्थ निष्पन्न होता है कि—उक्त रीति से भूतों में व्यक्त चैतन्य की सत्ता मानने पर घट आदि में पुरुष के वैलक्षण्य का अभाव

ननु स्थूलत्वमपि नाणुसङ्घातमात्रं द्व्यणुकादावभावात्, किन्तु संङ्घातविशेष एव; एवं च चैतन्यमपि घटादिव्यावृत्तभूतसंघातविशेष एवेति नानुपपत्तिः, इति शङ्कते—

मूलम्—अथ भिन्नस्वभावानि भूतान्येव यतस्ततः ।
तत्सङ्घातेषु चैतन्यं न सर्वेष्वेतदप्यसत् ॥५३॥

अथ यतो भूतान्येव'=शरीरारम्भकाण्येव, भिन्नस्वभावानि=घटाद्यारम्भकस्वभावविलक्षण-स्वभावानि । ततस्तत्संङ्घातेषु शरीरेषु चैतन्यं; न सर्वेषु; एवं च संहन्यमानविशेषकृतः संघातविशेष इति भावः । अत्राह— एतदप्यसत् ॥५३॥

मूलम्—स्वभावो भूतमात्रत्वे सति न्यायाद न भिद्यते ।
विशेषणं विना यस्माद् न तुल्यानां विशिष्टता ॥५४॥

होगा, क्योंकि पुरुष के समान ही घट आदि वस्तुएँ भी व्यक्त चेतना से युक्त होंगी । 'घट आदि में पुरुष के वैलक्षण्य का अभाव भी इष्ट ही है'—यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि घट आदि की प्रतीति अचेतनरूप में होती है अतः उन में चेतनरूप में प्रतीत होने वाले पुरुष के वैलक्षण्य का अभाव प्रत्यक्षबाधित है ॥५२॥

[शरीर और घट में चैतन्य और जड़ता भूतवैलक्षण्यप्रयुक्त नहीं है]

"स्थूलत्व अणुओं का सामान्यसङ्घात मात्र नहीं है क्योंकि द्व्यणुक आदि में अणुओं का सङ्घात होने पर भी स्थूलत्व नहीं होता अतः स्थूलत्व जैसे अणुओं का विशिष्टसङ्घात रूप है वैसे ही चैतन्य भी भूतों का सामान्य संघातमात्र न होकर भूतों का वह विशिष्ट संघात है जो घट आदि में न होकर शरीर में ही होता है । और ऐसा मानने पर भूतचैतन्यवाद को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती ।"—५३वीं कारिका में इस बातको प्रस्तुत कर इसे असत् कहा गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

शरीर की रचना जिन भूतों से होती है वे घट आदि की रचना करने वाले भूतों से स्वभावतः अत्यन्तभिन्न होते हैं, इस लिये शरीरात्मकभूतसंघात में चैतन्य और घटाद्यात्मकभूतसंघात में अचैतन्य का होना सर्वथा सुसंगत है । आशय यह है कि संहत होने वाले भूतों के वैलक्षण्य से ही उनके संघातों में वैलक्षण्य होता है और उस वैलक्षण्य के कारण ही शरीरात्मकभूतसंघात चेतन और घटाद्यात्मकभूतसंघात अचेतन होता है ।

इस सम्बन्ध में मूलग्रन्थकार का कथन है कि भूतचैतन्यवादी की यह बात भी असत् है ॥५३॥

[भेदकविशेषण के बिना भूतों का स्वभावभेद असम्भवित है]

शरीर के आरम्भक भूत और घटादि के आरम्भक भूत शुद्धभूतमात्र हैं, उनमें कोई अतिरिक्त भेदक नहीं है, अतः उनमें स्वभावभेद की कल्पना युक्तिसंगत नहीं है,

यतो 'भूतमात्रत्वे सति'=भूतातिरिक्तभेदकाभावे सति, 'न्यायात्'-युक्तितः, स्वभावो न भिद्यते । कुतः ? इत्याह-यस्मात्-कारणात्, तुल्यानां-भूतत्वेन समानानां घट-शरीराद्यारम्भकाणां, विशेषणं विना विशिष्टता न भवति। भूतस्य भूतान्तरभेदो हि न वास्तवः, किन्तु विभिन्नधर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वलक्षणो भाक्त एव, विशेषणाव-च्छिन्नविशेष्यभेदात्मको वा । न च विभिन्नधर्मं विना तद्घटितसम्भव इति भावः। अत एव भूतान्तरनिष्ठकार्यजनकताविषयान्यातिशयशालित्वलक्षणवैधर्म्यरूपो भेदोऽपि निरस्तः, तादृशातिशयस्य भूतातिरिक्तत्वे तत्त्वान्तरप्रसङ्गात्, तदनतिरिक्तत्वे च स्वभा-वाभेदादिति दिग् ॥५४॥

स्वरूपत एव भेदो भविष्यति, इत्यत्राह—

मूलम्—स्वरूपमात्रभेदे च भेदो भूतेतरात्मकः ।
अन्यभेदकभावे तु स एवात्मा प्रसज्यते ॥५५॥

क्योंकि जो पदार्थ तुल्य-समानधर्मा होते हैं उनमें किसी अतिरिक्त विशेषण-अर्थात् भेदक धर्म के बिना विशिष्टता=भिन्नता नहीं होती । कहने का आशय यह है कि एक भूत में—अन्यभूत का जो भेद होता है, वह वास्तविक न होकर गौण होता है, उसे विभिन्नधर्मप्रकारकबुद्धिविषयस्वरूप या विशेषणावच्छिन्नविशेष्यभेदरूप माना जा सकता है। पहले का अर्थ है विभिन्न धर्मों द्वारा ज्ञात होना, जैसे श्वेत गौ और रक्त गौ श्वेतत्व-रक्तत्व रूप विभिन्न धर्मों से ज्ञात होने के कारण एक दूसरे से भिन्न समझे जाते हैं। दूसरे का अर्थ है विशेषणहीन विशेष्य का विशेषणविशिष्ट विशेष्य से भिन्न होना, जैसे दण्डहीनपुरुष का दण्डविशिष्टपुरुष से भिन्न होना । ये दोनों ही प्रकार के भेद विभिन्न धर्म एवं विशेषण से घटित हैं; अतः भिन्न धर्म या विशेषण के माने बिना इन भेदों का मानना सम्भव नहीं है ।

चार्वाक के मत में पृथिवी आदि चार भूतों से भिन्न कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं होता, अतः भेदक तत्त्व के बिना उनमें भेद का समर्थन शक्य नहीं है ।

यदि यह कहें कि—"सभी भूत भूतस्वरूप से समान होने पर भी भिन्न भिन्न कार्य उत्पन्न करते हैं, अतः उनमें भिन्न भिन्न कार्यों का जनक अतिशय मानना आवश्यक है, अतः उन अतिशयों द्वारा भूतों में भेद का समर्थन किया जा सकता है"—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अतिशय को भूत से भिन्न मानने पर तत्त्वान्तर का प्रसङ्ग होगा, और अभिन्न मानने पर उनसे स्वभावभेद उपपादन शक्य न होगा । अतः यह स्पष्ट है कि शरीर के आरम्भक भूतों में तथा घट आदि के आरम्भक भूतों में स्वभावभेद की कल्पना में कोई युक्ति नहीं है ॥५४॥

[स्वस्वरूपमात्र भूतों का भेदक नहीं हो सकता]

शरीर, घट आदि भूतसंघातों में स्वरूपमात्र से भेद नहीं माना जा सकता, क्यों कि स्वरूपमात्र से भेद का अर्थ है अविशिष्टस्वरूप से भेद, और सभी भूतों का अवि-

स्वरूपमात्रभेदे च=अविशिष्टस्वभावावच्छिन्नभेदे चाभ्युपगम्यमाने, 'भूतेतरात्मकः' भूतमितरदपि यत्तादृश आत्मा-स्वरूपं यस्यैतादृशो भेदः स्याद्—भूतान्यत्वं स्यात्, 'नेदं भूतम्' इति प्रतीतिसाक्षिकत्वाद् भूतस्वरूपभेदस्येत्यर्थः। एवं च भूतान्यत्वेन परिशेषादात्मसिद्धिरिति भावः। 'अस्तु तर्हि अनायत्या भेदकान्तरम्' इत्यत आह—अन्यभेदकभावे तु=भूतातिरिक्तभेदकसत्त्वे तु, स एव=भेदकत्वेनाभिमत एव, आत्मा प्रसज्यते, समानशुक्लपटेषु रागादिरिव घटादितुल्येषु शरीरादिषु सात्मकत्वेनैव विशेषात्। न च सात्मकत्वसमनियतधर्माणामेव भेदकत्वम्, प्रत्येकं विनिगमनाविरहप्रसङ्गात्। न च सात्मकत्वेनाऽपि समं तत्प्रसङ्गः, अक्लृप्तेन समं तदभावात्।

भिन्नस्वरूप है शुद्धभूतत्व, अतः स्वरूपभेद का अर्थ होगा भूतभेद, जो 'इदं भूतं न—यह भूत से भिन्न है' इस प्रतीति से सिद्ध होने के कारण अपने आश्रय को भूतमात्र से भिन्न कर देगा, तो शरीर आदि तो भूतमात्र से भिन्न होते नहीं, अतः उनके स्वरूप भेद से उनमें परस्परभेद की सिद्धि न होकर भूतसामान्य से भिन्न एक अतिरिक्त ही तत्त्व की सिद्धि हो जायगी, जो परिशेषात् आत्मा कहा जायगा। यदि यह कहें कि "शरीर, घट आदि में स्वरूपमात्र से भेद मानने में यदि यह दोष है तो उनके प्रत्यक्षसिद्धभेद की उपपत्ति के लिये अगत्या किसी भूतभिन्न ही भेदक की कल्पना कर लेनी चाहिये"—तो यह कथन चार्वाक के अनुकूल नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर में घटादि भेद के उपपादनार्थ जो भूत भिन्न भेदक माना जायगा, वही आत्मा हो जायगा।

इस बात को पट के दृष्टान्त से समझा जा सकता है, किसी स्थान में बहुत से पट रखे हैं, वे सभी शुक्ल होने से समान हैं। उनमें से जब किसी पट को अन्य पटों से पृथक् करना होता है तो उसे रंग दिया जाता है, वह रंगा हुआ पट अपने रंग से अन्य पटों से पृथक् हो जाता है। उसी प्रकार शरीर घट आदि सभी संघात भूत-रूप में समान हैं, उनमें शरीर को अन्यभूतसंघातों से पृथक् करना है, अतः उसे सात्मक=आत्मा से युक्त मान लेना चाहिये, इस सात्मकता से ही वह घट आदि निरात्मक-भूतों से पृथक् हो जायगा।

[शरीरगत धर्म से घटादिभूतों का भेद नहीं हो सकता]

यदि कहें कि—"शरीर में सात्मकत्व के समनियत अन्य भी धर्म हैं जैसे सेन्द्रियत्व, सप्राणत्व आदि, फिर उन्हीं धर्मों द्वारा घट आदि से शरीर का पार्थक्य हो जायगा, अतः शरीर में सात्मकत्व की कल्पना अनावश्यक है"—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सात्मकत्व के समनियत धर्म अनेक हैं, उनमें से किसे भेदक माना जाय और किसे न माना जाय, इसमें कोई विनिगमना=किसी एक के ही अनुकूल कोई युक्ति न होने से सभी धर्मों को भेदक मानना पड़ेगा। अतः इस गुरुकल्पना की अपेक्षा यह लघु कल्पना ही अच्छी है कि शरीर सात्मक होता है, और वह सात्मकत्व ही शरीर को घटादि से भिन्न करता है। यदि यह कहें कि—"यह प्रश्न तो सात्मकत्व के सम्बन्ध में भी उठ सकता है कि क्या सात्मकत्व को घटादि से शरीर का भेदक माना जाय, या उसके

न च तादृशविशिष्टशरीरस्यैव चैतन्योपादानत्वं, धर्मिग्राहकमानेन विशेषणस्यैव चैतन्योपादानतया सिद्धेः, तस्यैव परं[1] चैतन्यनिमित्तत्वादिति निष्कर्षः; तथा च न विशेषकृतोऽपि संघातविशेष इति भावः।

वस्तुतः शरीरपरिणामिनामेव भूतानां नात्मोपग्रहं विना वैचित्र्यं, तदुपग्रहश्च तत्सहकारित्वं, तच्चादृष्टद्वारा; तथा च शरीरं भोगसमानाधिकरणगुणसाध्यं, भोगसाधनत्वात् स्रगादिवद् इत्यत्र तात्पर्यम् ॥५५॥

समर्थित अन्य किसी धर्म को भेदक माना जाय? अतः विनिगमना का विरह होने से सामञ्जस्य के समान उसके उपस्थित अन्य अनेक धर्मों को भी भेदक मानना पड़ेगा"-तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विनिगमनाविरह का दोष तो पूर्वसिद्धवस्तुओं में ही होता है और जो धर्म प्रथमतः सिद्ध नहीं है किन्तु किसी विशेषप्रयोजन के लिये ही उसकी कल्पना की जाती है, उस प्रयोजक के सम्बन्ध में पूर्वसिद्धवस्तुओं में और उस मूलसिद्ध वस्तु में विनिगमनाविरह का दोष नहीं होता, अन्यथा उस नयी वस्तु की कल्पना ही निराधार हो जायगी।

[चैतन्य का उपादानकारण शरीर नहीं है]

यदि कहें कि-"जीवित शरीर में चेतना की स्पष्ट प्रतीति होती है, अतः आत्मविशिष्ट शरीर को ही चैतन्य का उपादान मानना चाहिये, न कि आत्मा को"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रमाण से आत्मविशिष्टशरीररूप धर्मी की सिद्धि होती है उससे विशेषणभूत आत्मा ही चैतन्य के उपादान रूपमें सिद्ध होता है। आत्मा के चेतन होने से ही आत्मविशिष्ट शरीर में चेतनता की उपलब्धि होती है। इस लिये शरीरात्मक भूतसंघात और घटादिरूप भूतसंघात में चैतन्यात्मकविशेषणमूलक भी वैलक्षण्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि चेतनआत्मा का अस्तित्व माने बिना शरीर में चैतन्यरूप विशेषण के अस्तित्व का ही असम्भव है।

सच बात तो यह है कि-आत्मा के सहयोग के बिना शरीररूप में परिणत होने वाले भूतों में घटादिरूप में परिणत होने वाले भूतों की अपेक्षा वैलक्षण्य ही नहीं हो सकता। अतः शरीरात्मक भूतों को आत्मा का सहयोग आवश्यक है। यह सहयोग सहकारितारूप होगा और सहकारिता अदृष्टद्वारा होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर की उत्पत्ति में भूतों के समान आत्मा भी अदृष्टद्वारा कारण है, इसकी सिद्धि अनुमान द्वारा की जा सकती है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा,-"शरीर की उत्पत्ति भोक्ता पुरुष के गुण से होती है, क्योंकि वह पुरुष के भोग का साधन होता है, 'जो वस्तु जिसके भोग का साधन होती है, वह उसके गुण से उत्पन्न होती है, जैसे माला आदि वस्तुयें-माली के भोग का साधन होने से उसके गुण=माला आदि बनाने की विधि का ज्ञान, माला आदि तैयार करने की इच्छा, माला आदि तैयार करने के

१-'परं चैतन्य०' इति पाठान्तरं, तदनुसारेण च तस्यैव=तादृशविशिष्टशरीरस्यैव, परं=केवलं शरीरस्य चैतन्यनिमित्तत्वमेव न तूपादानत्वमित्यर्थः।

कार्यभेदादेव स्वभावभेदो भविष्यति, इत्याशङ्कते—

मूलम्—हविर्गुडकणिकादिद्रव्यसंघातजान्यपि ।
यथा भिन्नस्वभावानि खाद्यकानि तथेति चेत् ? ॥५६॥

हविर्घृतम्, आदिपदाच्छतुर्भागकादिपरिग्रहः, तत्संघातजान्यपि खाद्यकानि, यथा रसवीर्यविपाककार्यभेदात् हविरादिभिन्नस्वभावानि, तथा भूतसंघातजान्यपि शरीराणि चैतन्यकार्यभेदाद् घटादिभ्यो भिन्नस्वभावान्युपपत्स्यन्ते । अथ 'कार्यभेदे स्वभावभेदः, स्वभावभेदे च कार्यभेद' इत्यन्योन्याश्रय, इति दोषे सत्येव कार्यभेदासिद्धिं दोषान्तरमाह—इति चेत् ? 'नैतदेवम्' इति शेषः ॥५६॥

मूलम्—व्यक्तिमात्रत एवैषां ननु भिन्नस्वभावता ।
रसवीर्यविपाकादिकार्यभेदो न विद्यते ॥५७॥

एषां= खाद्यकानां, ननु इत्याक्षेपे, भिन्नस्वभावता व्यक्तिमात्रत एव=व्यक्तिभेदमात्राधीनैव । मात्रपदप्रयोजनमाह 'रसवीर्यविपाकादिकार्यभेदो' हविर्गुडादिकार्यरसवीर्यविपाकादिविलक्षणहेतुत्वं न विद्यते । अयं भावः—कारणोत्कर्षात् कार्योत्कर्षेऽपि कार्यवैजात्यस्य कारणवैजात्याधीनत्वात् खाद्यकस्थलेऽसंहतभूतकार्यात् संहतभूतकार्योत्कर्षेऽपि चैतन्यलक्षणं विलक्षणं कार्यं विलक्षणमात्मानमेव हेतुमाक्षिपतीति ॥५७॥

प्रयत्न रूप गुण से उत्पन्न होती है, शरीर भोक्ता के उक्तप्रकार के ज्ञानादिगुणों से नहीं उत्पन्न होता, अतः उसे उसके अदृष्टगुण से उत्पन्न मानना आवश्यक है ॥५५॥

[कार्यभेद से स्वभावभेद की आशंका]

५६वीं कारिका में कार्यभेद से स्वभावभेद की आशंका की गयी है, जो इस प्रकार है— "जिस प्रकार हवि-घृत, गुड, कणिक-शतुर्भागक आदि के संघात से उत्पन्न होने वाले लड्डू आदि पदार्थ रस, वीर्यविपाकरूप कार्य के भेद से प्रत्येक घृत आदि से भिन्न स्वभाव के होते हैं, उसी प्रकार भूतों के संघात से उत्पन्न होने वाले शरीर भी घटादि से भिन्नस्वभाव के होंगे; क्योंकि शरीर का चैतन्यरूप कार्य घटादि के कार्य से भिन्न है।"-यद्यपि इस मान्यता में कार्यभेद से स्वभावभेद और स्वभावभेद से कार्यभेद मानने में अन्योन्याश्रयरूप दोष स्पष्ट है, तथापि अग्रिम कारिका द्वारा बताये जाने वाले कार्यभेद की असिद्धिरूप अन्य दोष का संकेत इस कारिका के 'इति चेत्' पदों द्वारा किया गया है, जिससे उक्त मान्यता का निषेध विदित होता है ॥५६॥

[स्वभावभेदप्रयोजक कार्यभेद ही असिद्ध]

लड्डू आदि खाद्यपदार्थों में उसके उत्पादक हवि, गुड आदि प्रत्येक से जो भिन्न स्वभावता होती है, वह व्यक्तिभेदमात्र के कारण है न कि कार्यभेद के कारण; क्योंकि लड्डू आदि में घृत आदि प्रत्येक के रस, वीर्यविपाकरूप कार्य से विलक्षण रस वीर्य विपाकरूप कार्य की उत्पादकता अप्रामाणिक है । कहने का आशय यह है कि कारण के उत्कर्ष

आशङ्कते—

मूलम्—तदात्मकत्वभावत्वे संस्थानादिविलक्षणा ।
यथेयमस्ति भूतानां तथा साऽपि कथं न चेत् ? ॥५८॥

तदात्मकत्वभावत्वे=दधिगुडकणिक्कादिद्रव्यसंघातात्मकभावत्वे सति, संस्थानादिना 'आदि'शब्दात् परिमाणादिग्रहः, विलक्षणा=विभिन्नसंवित्तिसंवेद्या, यथेयं खाद्यकानां भिन्नस्वभावताऽस्ति; तथा भूतानां=भूतकार्याणां देहघटादिव्यक्तीनां, 'साऽपि' चैतन्योपादानत्व–तदनुपादानत्वलक्षणा विभिन्नस्वभावताऽपि कथं न ? अत्रोत्तरम्–इति चेत् ! नैतदुपाद्यम्, व्यक्तिमात्रत इत्यस्य हि स्वरूपभेदाऽप्रयोज्यत्वमर्थः, तत्स्वभावा कान्य-व्यक्तिस्तु कर्तृव्यापारादिकारणविशेषसमुत्पाद्यैव, अतो नाकस्मिकत्वम् अविशेषो वा; तत्र स्वभिमतव्यक्तिविशेषस्यानुत्पत्तिरेव ॥५८॥

से कार्य में उत्कर्ष हो सकता है, पर विजातीयकारण के बिना विजातीयकार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दधिगुडादिद्रव्यों का संघात होने पर कारण उत्कृष्ट हो जाता है, अतः लड्डू में दधि आदि प्रत्येक के रसवीर्य आदि से उत्कृष्ट रसवीर्य आदि कार्य की उत्पत्ति हो जाती है; पर शरीर की बात इससे भिन्न है, शरीर में तो एक विलक्षण कार्य चैतन्य दीख पड़ता है, जो शरीर के उपादानक प्रत्येकभूत का कार्य नहीं है। अतः इस विलक्षणकार्य के अनुरोध से आत्मारूप विलक्षणकारण की कल्पना आवश्यक है ॥५७॥

[संस्थान आदि के भेद से भी भिन्नस्वभावता का असम्भव]

कारिका ५८ में यह शंका की गयी है कि–"दधि गुड आदि के मिश्रण से बनने वाले लड्डू आदि विभिन्नप्रकार के खाद्यपदार्थ यद्यपि दधि, गुड आदिरूप ही हैं, फिर भी उनके संस्थान, नाप, तौल आदि भिन्न होते हैं, जिनके कारण उनमें विभिन्नप्रकार की प्रतीतियों से भिन्नस्वभावता सिद्ध होती है। तो जैसे मूल भूतों के समान होने पर भी विभिन्न खाद्यकों में भिन्नस्वभावता होती है, उसी प्रकार शरीर, घट आदि भूतकार्यों में चैतन्योपादानत्व और चैतन्यानुपादानत्वरूप भिन्नस्वभावता क्यों नहीं हो सकती ! अर्थात् शरीर और घट के मूल भूत भले समान हों, पर उनके आकार में भिन्नता तो है, तो जैसे आकार में भेद है उसी प्रकार उनके स्वभाव में भी यह भेद क्यों नहीं हो सकता कि देहात्मकसंघात चैतन्य का उपादान हो, उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति हो, और घटादिरूपसंघात चैतन्य का उपादान न हो, उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति न हो !"–

कारिका में इस शंका के उत्तर का भी 'चेत्' संकेत कर दिया है, जो इस प्रकार है–पूर्व कारिका (५७) में विभिन्नखाद्यकों की भिन्नस्वभावता को 'व्यक्तिमात्रतः' इस पद से व्यक्तिभेदमात्रप्रयुक्त बताया गया है, जिससे आपाततः यह अर्थ प्रतीत होता है कि खाद्यकों की भिन्न स्वभावता उनके उपादानक दधि, गुड आदि के केवल व्यक्तिगत भेद के कारण है, अन्य किसी हेतु के कारण नहीं है। पर बात यह नहीं है, क्योंकि 'व्यक्तिमात्रतः' का 'मूलकारणों के व्यक्तिगतभेद से प्रयोज्य' ऐसा अर्थ नहीं है, अपितु 'स्वरूपभेद से अप्रयोज्य' अर्थ है, जिसका तात्पर्य यह है कि खाद्यकों की भिन्नस्वभावता

कुतः ? इति चेत् ?

मूलम्- कर्त्रभावात्तथा देशकालभेदाद्ययोगतः ।
न चाऽसिद्धमदो भूतमात्रत्वे तदसम्भवात् ॥५९॥

कर्त्रभावात्=वायकानामिव शरीरस्यातिरिक्तकर्त्रभावात्, तथा, देशकालभेदादीनाम्, आदिनाऽदृष्टादिपरिग्रहः, 'अयोगतः'=अभावात् । न चाऽसिद्धमदः=उक्तमेतत्, भूतमात्रत्वे=विश्वस्य भूतैकस्वभावत्वे, तदसम्भवात्=कर्त्राद्यसम्भवात् ॥५९॥

फलितमाह—

मूलम्- तथा च भूतमात्रत्वे न तत्संघातभेदयोः ।
भेदकाभावतो भेदो युक्तः, सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥६०॥

'तथा च'=कर्त्राद्यभावे च, 'भूतमात्रत्वे'=विश्वस्य भूतैकस्वभावत्वे, तेषां भूतानां संघातभेदयोः=शरीरघटादिभेदयोः, भेदकाभावतो भेदो न युक्तः । इति सम्यग्=उक्तनीत्या परमार्थविचारेण, विचिन्त्यताम्=परामृश्यताम् ॥६०॥

उनके मूलभूतों के स्वरूपभेद के कारण नहीं है, क्योंकि सभी वायकों के मूल कुवि, गुड आदि में स्वरूपभेद है ही नहीं, इविगु, गुडत्व आदि रूप से सब का स्वरूप एक ही है, फिर भी उनके मिश्रण से भिन्नस्वभावों से युक्त वायकों की उत्पत्ति इस लिये होती है कि उनके निर्माता, निर्माणविधि आदि भिन्न हैं । अतः उनकी भिन्नस्वभावता न अकारणक ही है और न उसमें अविलक्षणता ही है किन्तु चार्वाक के मतानुसार देह, घट आदि के रूप में भिन्नस्वभावोपेत व्यक्ति की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती ॥५८॥

[आत्मा के अभाव में शरीरादि का भेद अघटित है]

पूर्व कारिका में चार्वाक के मत में देह, घट आदि विभिन्न व्यक्तियों की उत्पत्ति को दुर्घट बताया गया है । प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों ? क्यों चार्वाक के मत में देह घट आदि भिन्न व्यक्तियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती ? प्रस्तुत (५९) कारिका में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है, जो इस प्रकार है,—

वायकों के समान शरीर का कोई अतिरिक्त निर्माता नहीं है । शरीर घट आदि के देश और काल में तथा अदृष्ट आदि में भी भेद नहीं है । एक ही घर में एक ही समय देह, घट आदि की उत्पत्ति होती है, एवं चार्वाक के प्रत्यक्षप्रमाणैकवादी होने से उसके मतमें अदृष्टभेद की सम्भावना हो नहीं है । शरीर के अतिरिक्त निर्माता आदि के अभाव की जो बात कही गयी, वह असिद्ध नहीं है, क्योंकि चार्वाकमत में जब पूरा विश्व केवल भूतात्मक ही है जो सब कुछ समानरूप से जड है, उसमें कोई किसीका कर्ता कैसे हो सकता है ? अतः चार्वाकमत में शरीर के कर्ता आदि से शून्य होने की बात सर्वथा युक्तिसंगत है ॥५९॥

ऊपर की कारिका में जो बात कही गयी, प्रस्तुत(६०) कारिका में उसका फलितार्थ बताया गया है, जो इस प्रकार है,—

मूलम्—एकस्तथाऽपरो नेति तन्मात्रत्वे तथाविधः ।
यतस्तदपि नो भिन्नं ततस्तुल्यं च तत्तयोः ॥६१॥

यतः=यस्मादापाततः प्रतीयमानाद् निमित्ताद्, एको=भूतसंघातो देहादिरूपः तथा=देहादिरूपत्वेन, अपरो घटादिरूपः, तन्मात्रत्वे=भूतसंघातमात्रत्वे, अविशिष्यते, तन्मात्रत्वेऽपीत्यर्थः, तथाविधो=देहादिरूपो न, इति=एतादृशो विभागः 'उपपद्यते' इति शेषः । तदपि निमित्तं नो भिन्नं भूतातिरिक्तं, तत्त्वान्तरप्रसङ्गात्, ततः तस्माद्धेतोः, तयोः देहघटादिरूपयोर्भूतसंघातयोः, तत्=भूतमात्रत्वं च, तुल्यम् । अतः शरीरस्य नात्मत्वमिति भावः ॥६१॥

अत्राभिज्ञः सन् पुनः शङ्कते—

मूलम्—स्यादेतद्–भूतजत्वेऽपि ग्रावादीनां विचित्रता ।
लोकसिद्धेति सिद्धैव न सा तन्मात्रजा न तु ॥६२॥

स्यादेतद्-भूतजत्वेऽपि ग्रावादीनां=पाषाणादीनां विचित्रता=घटादिभ्यो विलक्षणवर्णस्पर्शादिरूपा लोकसिद्धेति, न हि 'सा नास्ती'ति वक्तुं शक्यते, प्रत्यक्षसिद्धस्यार्थस्य प्रतिक्षेपाऽयोगात्, तथा शरीरविचित्रताऽप्युपपत्स्यत इत्याशयः । अत्राह सिद्धैव सा न सा प्रतिक्षिप्यते, 'तु' पुनः तन्मात्रजा न=भूतमात्रजा न ॥६२॥

पूरा विश्व केवल भूतात्मक है, भूत से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है, अतः भेदक का सर्वथा अभाव होने से भूतों के शरीर एवं घटादिरूपसंघातों में भेद मानना उचित नहीं हो सकता । यह तथ्य उपलब्धियों से शान्ति से विचार करके निर्धारित करने योग्य है ॥६०॥

[देह और घटादि तुल्य होने से घटादि की तरह शरीर भी आत्मा नहीं]

भूतों का केवल संघातरूप होने पर भी एक संघात देहरूप होता है और दूसरा घटादिरूप संघात देहरूप नहीं होता, इस विभिन्नता का जो निमित्त आपाततः प्रतीत होता है, वह भी भूतों से भिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे भूतों से भिन्न मानने पर तत्त्वान्तर अर्थात् अभूत आत्मतत्त्व का प्रसङ्ग हो जायगा । अतः दोनों प्रकार के संघातों में भूतरूपता समान होने के कारण घटादिरूप संघात को अनात्मा और देहरूप संघात को आत्मा कहना उचित नहीं है ।।६१॥

६२वीं कारिका में भगवान को ऐसे पुरुष की ओर से पुनः एक शङ्का उठायी गयी है, वह यह कि-"जिस पाषाण आदि एवं घट आदि पदार्थ समानरूप से भूतमात्र से जन्य हैं तथापि पाषाण आदि में घट आदि की अपेक्षा विलक्षणता लोक में देखी जाती है । यह नहीं कहा जा सकता कि-'घट आदि के वर्ण, स्पर्श आदि से पाषाण आदि के वर्ण, स्पर्श आदि विलक्षण नहीं हैं' । तो जिस प्रकार भूतमात्रात्मक होने पर भी पाषाण घट में विलक्षणता होती है, उसी प्रकार शरीर और घटादि में भी भूतात्मकता समान होने पर भी चेतन-अचेतनरूप विलक्षणता क्यों नहीं मानी जा सकती ?"-इस शंका का कारिका में यह उत्तर दिया गया है कि पाषाण और घट की परस्पर विलक्षणता जो

कुतः इत्याह—

मूलम्—अदृष्टाकाशकालादिसामग्रीतः समुद्भवात् ।
तथैव लोकसंवित्तेरन्यथा तदभावतः ॥६३॥

अदृष्टाऽऽकाशकालादिसामग्रीतः, 'समुद्भवात्' तदुत्पादाभ्युपगमात्, 'तथा लोकेन न प्रतीयते' इत्यत्राह—तथैव उक्तवदेव, लोकसंवित्तेः=व्युत्पन्नलोकप्रतीतेः । अन्यथा एवमनभ्युपगमे तदभावतो=विचित्रताऽभावप्रसङ्गात् ॥६३॥

सर्वलौकिकैस्तथा न प्रतीयते इति चेत् ? अत्राह

मूलम्—न चेह लौकिको मार्गः स्थितोऽस्माभिर्विचार्यते ।
किन्त्वयं युज्यते कथेति तत्त्वनीतौ चोक्तवन्न सः ॥६४॥

न चेह तत्त्वपरीक्षायां, लौकिकः=अव्युत्पन्नलोकमात्राश्रितः, 'स्थितो मार्गः' 'किमयमित्थं स्थितः' ? इति संशयोपारूढोऽर्थः अस्माभिर्विचार्यते=गतानुगतिकतया तद्वदेव सन्दिह्यते किन्तु 'अयमित्थम्भूतोऽर्थः कथं युज्यते' ? इत्यादिजिज्ञासाक्रमेण परीक्ष्यते, परीक्ष्यमाणश्चोक्तवद्=उक्तरीत्या तत्त्वनीतौ त्वदभ्युपगमे स यथास्थितोऽर्थो न घटते ॥६४॥

लोकसिद्ध है, उसमें कोई विवाद नहीं है, क्योंकि जो अर्थ प्रत्यक्षसिद्ध है उसका अस्वीकार अशक्य है, किन्तु कहना केवल इतना ही है कि पाषाण और घट की परस्पर विलक्षणता भी भूतमात्रजन्य नहीं है, उस विलक्षणता का भी मूल कुछ और ही है॥६२॥

[घट और पाषाण की विलक्षणता का निमित्त]

६३ वीं कारिका में पाषाण और घट की विलक्षणता के उन कारणों को बताया गया है जो उनके घटक भूतों से भिन्न हैं ।

'पाषाण, घट आदि की परस्पर विलक्षणता अदृष्ट, आकाश, काल आदि कारणसमुदाय से सम्पादित होती है' । विद्वानों को मान्य होने के कारण इस तथ्य का अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसका अस्वीकार कर देने पर अन्य प्रकार से उक्त विलक्षणता की उपपत्ति नहीं की जा सकती ॥६३॥

६४ वीं कारिका में यह बात बतायी गयी है कि किसी तथ्य के प्रतिपादन में अत्यन्त पामर जनों की प्रतीति का आश्रय लेना आवश्यक नहीं होता । कारिका०....

तत्त्वपरीक्षा करते समय पामर जनों की प्रतीति के आधार पर विचार नहीं किया जाता, क्योंकि सामान्यजन को तो अर्थ के विषय में ऐसा संदेह हो सकता है कि 'क्या अमुक पदार्थ ऐसा ही है ? या अन्य प्रकार का है ?' अतः यदि सामान्यजन की प्रतीति का आधार लिया जायगा तो तत्त्वपरीक्षक को भी गतानुगतिक होकर उसी संदेह का अनुवर्तन करना होगा, पर इससे तत्त्व का निर्धारण तो नहीं हो सकता, इसलिये तत्त्वपरीक्षक को किसी वस्तु की वास्तविकता का विचार करते समय उस वस्तु के बारे में विद्वानों का जो अवधारण है उसे आधार मान कर यह परीक्षा करनी होती है कि विद्वानों द्वारा स्वीकृत यह वस्तुस्थिति कैसे उपपन्न हो सकती है ? और इस दृष्टि से जब देह-घट

अत्र नव्यनास्तिकाः "अवच्छेदकतया ज्ञानादिकं प्रति तादात्म्येन कल्प्यकारणताकस्य शरीरस्यैव समवायेन ज्ञानादिकं प्रति हेतुत्वकल्पनमुचितम् । न चैवमात्मत्वं जातिर्न स्यात्, पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यादिति वाच्यम्, उपाधिसाङ्कर्यस्येव जातिसाङ्कर्यस्याप्यदोषत्वात् । न च तथापि भूतचतुष्कप्रकृतित्वेन शरीरमतिरिच्येत स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन गन्धाद्यभावस्य गन्धादिकं प्रति प्रतिबन्धकत्वेन तस्य भूतचतुष्कप्रकृतित्वाऽयोगात्, पार्थिवादिशरीरे जलादिधर्मस्यौपाधिकत्वात् । न चैवं घटात्मरूपस्पर्शादीनामिव तत्समवेतज्ञानादीनामपि चाक्षुषस्पार्शनप्रसङ्गः, रूपादिषु जातिविशेषमभ्युपगम्य रूपान्यतद्गुणत्वेन चाक्षुषं प्रति स्पर्शान्यतद्गुणत्वेन च स्पार्शनं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्, इत्थमेव रसादीनां चाक्षुषस्पार्शनत्वनिर्वाहात् ।

आदि की परस्पर विलक्षणता के सम्बन्ध में विचार किया जाता है तब चार्वाक के मत में उस की उपपत्ति नहीं हो पाती, क्योंकि चार्वाक को भूत से भिन्न कोई तत्त्व मान्य नहीं है, और केवल भूतों से उक्त विलक्षणता की उपपत्ति हो नहीं सकती ॥५५॥

[समवाय से ज्ञानोत्पत्ति का कारण शरीर ही है—नूतननास्तिक]

नवीन नास्तिकों का इस सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि ''जब शरीरावच्छेदेन आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति हो और घटादि-अवच्छेदेन न हो, इस बात की उपपत्ति के लिये 'अवच्छेदकतासम्बन्ध से ज्ञानादि के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से शरीर कारण है', यह कार्यकारणभाव मानना आवश्यक है, तब समवायसम्बन्ध से भी ज्ञानादि के प्रति शरीर को ही कारण मान लेना उचित है, इस से भिन्न आत्मा की कल्पना अनावश्यक है । 'आत्मत्व को शरीर का धर्म मानने पर उसके जातित्व का भङ्ग हो जायगा, क्योंकि सूर्य के तैजस शरीर में पृथिवीत्वाभाव के साथ आत्मत्व रहता है और घट आदि में आत्मत्वाभाव के साथ पृथिवीत्व रहता है, और मनुष्य के पार्थिव शरीर में आत्मत्व और पृथिवीत्व दोनों साथ में रहते हैं, अतः आत्मत्व में पृथिवीत्व का सांकर्य हो जाता है, और सांकर्य जातित्व का बाधक होता है'-यह शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि इस शंका के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जैसे उपाधियों का सांकर्य दोष नहीं होता, वैसे ही जातियों का भी सांकर्य दोष नहीं होगा । अगर यह शंका हो कि-'पृथिवी आदि चारों भूत शरीर के उपादान कारण हैं, उनमें किसी एक भूत में उसका अन्तर्भाव मानने में विनिगमना नहीं है, और एक वस्तु का परस्पर भिन्न चार वस्तुओं से अभेद युक्तिविरुद्ध होने से चारो में अन्तर्भाव हो नहीं सकता, अतः शरीर पृथिवी आदि भूतों से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व हो जायगा'-तो यह शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से गन्धादि (के [illegible]) का अभाव गन्धादि (की उत्पत्ति) का प्रतिबन्धक होता है, अतः यदि पृथिवी आदि चारो भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानी जायगी तो उसमें जलादिगत गन्धाभाव स्वाश्रयजलसमवेतत्वसम्बन्ध से शरीर में रहने के कारण उसमें गन्ध की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध कर देगी । फलतः शरीर निर्गन्ध हो जायगा । इसलिये पृथिवी आदि चारो भूतों को शरीर का उपादान कारण नहीं माना

न चोक्तस्मरणानुपपत्तिः, पूर्वघटनाशानन्तरं खण्डघटे कारणगुणप्रक्रमेण तद्गुणसंक्रमवद् पूर्वशरीरनाशोत्तरमुत्तरशरीरे पूर्वशरीरगुणसंक्रमात् । न चैवमवयवविज्ञानादावयविज्ञानादिहेतुताकल्पने गौरवं, फलमुखत्वात् । मास्तु वाऽवयवी, विजातीयसंयोगेनैव तदन्यथासिद्धेः । तथा च शरीरान्तरोत्पादेऽपि शरीरस्थचरकविजातीयसंयोगविशिष्टाणुवृत्तिसंस्कारात् तादृशस्मरणोपपत्तिः ।

जा सकता । 'मनुष्य आदि के शरीर को जलादिप्रकृतिक न मानने पर उसमें जलादि के धर्म क्लेद (गीलापन) आदि की प्रतीति न हो सकेगी'–यह शंका भी उचित नहीं है, प्रतीति हो सकती है, क्योंकि मनुष्यादि के शरीर में जलादि का उपष्टम्भक-धारक संयोग सदैव रहने से जलादि रूप उपाधि के कारण उसमें जलादि के धर्म की औपाधिक प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं हो सकती ।

ज्ञान आदि को शरीरगत मानने पर यह प्रश्न हो सकता है कि–''जैसे एक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति के शरीर में रहने वाले रूप आदि का चाक्षुषादि प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार उसमें रहने वाले ज्ञान आदि का भी चाक्षुषादिप्रत्यक्ष होना चाहिये, क्यों कि ज्ञानादि शरीर का धर्म होने पर रूपादि के समान ज्ञानादि के साथ भी चक्षुरादि संयुक्तसमवायसन्निकर्ष सम्भव है''–किन्तु इस प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि इसका सीधा ही उत्तर यह दिया जा सकता है कि रूप आदि के चाक्षुषादिप्रत्यक्ष को रोकने के लिये जो उपाय किया जायगा–उसी से ज्ञान आदि के भी चाक्षुषादिप्रत्यक्ष का परिहार हो जायगा और वह उपाय यही है कि रूप तथा रूप के साथ रहने वाले अन्य गुणों में एक जाति मानकर विषयतासम्बन्ध से चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति रूपान्यतज्जातिमत् को तादात्म्यसम्बन्ध से प्रतिबन्धक मान लिया जाय, इसी प्रकार विषयतासम्बन्ध से स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति भी स्पर्शान्यतज्जातिमत् को तादात्म्य सम्बन्ध से प्रतिबन्धक मान लिया जाय । ऐसा प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मान लेने पर ज्ञान आदि के चाक्षुषादिप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं होगी, क्यों कि उक्त जाति के ज्ञानादि में भी रहने के कारण ज्ञानादि भी रूपान्यतज्जातिमत् हो जायगा । अतः उक्तप्रतिबन्धक वश उसके चाक्षुषादिप्रत्यक्ष की आपत्ति न हो सकेगी ।

अगर यह शंका की जाय कि–''शरीर को ज्ञानादि का आश्रय मानने पर बाल्यावस्था के शरीर का युवावस्था में अभाव हो जाने से बाल्यावस्था में अनुभूत विषय का युवावस्था में, एवं युवावस्था के शरीर का वृद्धावस्था में अभाव हो जाने से युवावस्था के अनुभूत विषय का वृद्धावस्था में स्मरण न हो सकेगा''–तो यह शंका भी उचित नहीं है, क्यों कि जैसे पूर्व घट का नाश होने के पश्चात् उत्पन्न होने वाले खण्ड घट में पूर्व घट के गुण कारणगुणप्रक्रम से संक्रान्त होते हैं, उसी प्रकार पूर्व शरीर के भी गुण पूर्वशरीर के नाश के बाद उसके अवयवों से उत्पन्न होने वाले नये शरीर में संक्रान्त हो सकते हैं, अतः पूर्वशरीरगत संस्कार के उत्तरशरीर में आ जाने से पूर्व शरीर से अनुभूतविषय का उत्तरशरीर द्वारा स्मरण होने में कोई बाधा नहीं हो सकती । इस कल्पना में अवयवगतज्ञानादि को अवयविगतज्ञानादि के प्रति

[illegible] परात्मनोऽपि योग्यत्वात् स्वात्मन इव प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, तत्तदात्मप्रत्यक्षे तत्तदात्मत्वेन हेतुत्वात् । परेषां तु तत्तदात्मप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वे विनिगमनाविरहः । किञ्च, एवं संयोगस्य पृथग् प्रत्यासत्तित्वाऽकल्पने लाघवम् । न च त्र्यणुकपरमाणुरूपाद्यप्रत्यक्षत्वाय चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायत्वादिना प्रत्यासत्तित्वे गुरुत्वभयार्थं संयोगस्य पृथक् प्रत्यासत्तित्वकल्पनमावश्यकमिति वाच्यम्; द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षे उद्भूतरूपमहत्त्वयोः समवायसामानाधिकरण्याभ्यां स्वातन्त्र्येण हेतुत्वे दोषाऽभावात् । अपि च, एवमुद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकं द्रव्यप्रत्यक्षत्वमेव, तदात्मत्वमपि तत्र निविशत इति लाघवमि"त्याहुः ॥ तन्मन्दं [illegible]

कारण मानने से यद्यपि गौरव है, तथापि फलमुख अर्थात् फलोत्तरउपस्थित होने से गौरव दोषरूप नहीं है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अवयवी का अवयवों से पृथक् अस्तित्व ही नहीं है। क्योंकि अवयवों के विजातीयसंयोग से अवयवी का कार्य [illegible] अवयवी स्वरूपान्वित हो जाता है। इस पक्ष में अवयवों के पूर्ववर्ती विजातीयसंयोग का नाश हो जाने पर अवयवों का नया विजातीयसंयोग उत्पन्न होता है, और इस संयोग से विशिष्टअणुसमुदाय ही नया शरीर कहलाता है। इस शरीर में वे अणु भी होते हैं जो पूर्व शरीर में थे, अतः पूर्व शरीरस्थ अणुओं में उत्पन्न संस्कार को नये शरीर में भी विद्यमान रहने से पूर्वशरीर से अनुभूत विषय का नये शरीर से स्मरण होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

[शरीरात्मवादी को आत्ममानसप्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार]

शङ्का हो सकती है कि-"यदि शरीर ही आत्मा है तब तो एकव्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के शरीर का जैसे चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार उसे उसका मानसप्रत्यक्ष भी होना चाहिये। इस आपत्ति को इष्टापत्ति मान कर निरोधार्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा का मानसप्रत्यक्ष उसके ज्ञानादि गुणों के साथ ही होता है, अतः एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के शरीर का आत्मा के रूप में यदि मानसप्रत्यक्ष होगा तो उस दूसरे शरीर के ज्ञानादिगुणों का भी मानसप्रत्यक्ष साथ साथ मानना पड़ेगा जो इष्ट नहीं है"-इस शङ्का उत्तर यह है कि-तत्तत् आत्मा के मानसप्रत्यक्ष में तत्तद् आत्मा तादात्म्यसम्बन्ध से कारण है, अतः एक व्यक्ति को अन्य आत्मा के मानसप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती। जो लोग आत्मा को शरीर से भिन्न मानते हैं उनके मत में एक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति के आत्मा के प्रत्यक्षापत्ति को रोकने के लिये तत्तदात्मविषयकप्रत्यक्ष के प्रति तत्तदात्मा को कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने में विनिगमना विरह होगा। जैसे उस मत में उक्त आपत्ति का परिहार अन्य प्रकार के कार्यकारणभाव द्वारा भी हो सकता है,-उदाहरणार्थ- अवच्छेदकतासम्बन्ध से तत्तदात्मविषयकप्रत्यक्ष के प्रति तत्तत् शरीर तादात्म्यसम्बन्ध से कारण है, एवं समवायसम्बन्ध से तत्तदात्मविषयकप्रत्यक्ष के प्रति विजातीयतन्मनःसंयोग समवायसम्बन्ध से कारण है, ऐसे अनेक में से एक ही कार्यकारणभाव मानने में कोई प्रबल युक्ति नहीं है, अतः

मूलम्--मृतदेहे च चैतन्यमुपलभ्येत सर्वथा ।
देहधर्मादिभावेन, तच्च न धर्मादि नान्यथा ॥६५॥

मृतदेहे च सर्वथा=जीवच्छरीरकालीनप्रकारेण, देहधर्मादिभावेन=देहधर्मत्वदेहकार्यत्वाभ्यां चैतन्यमुपलभ्येत, देहत्वदेहरूपादिवदिति भावः, अन्यथा योग्यानुपलम्भेन तदभाव एव स्यात् । तथा च तत् चैतन्यं, धर्मादि न=तद्धर्मभूतं तत्कार्यभूतं च न, तद्भावेऽपि तदभावात्, घटत्वघटरूपादिवदिति भावः ॥६५॥

विनिगमनाविरह होने से इन सभी कार्यकारणभावों को स्वीकार करना पड़ेगा, जिस में गौरव का होना अनिवार्य है ।

[शरीरात्मवादी को प्रत्यासत्ति में लाघव]

शरीर को आत्मा मानने में एक यह भी गुण है कि संयोग को प्रत्यासत्ति प्रत्यक्षजनकसन्निकर्ष मानने की आवश्यकता न होने से लाघव होता है, क्योंकि संयुक्तसमवायसन्निकर्ष से ही शरीररूप आत्मा का प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु यदि शरीर से भिन्न नित्य आत्मा माना जायगा तो उसमें संयुक्तसमवायसन्निकर्ष न हो सकने से संयोग को सन्निकर्ष मान कर मनःसंयोग से उसके प्रत्यक्ष की उपपत्ति करनी होगी ।

यदि यह कहें कि-"द्व्यणुक परमाणु एवं चक्षु आदि के रूप के चाक्षुषप्रत्यक्ष के परिहारार्थ चक्षुःसंयुक्तसमवाय को चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायत्वेनैव चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति हेतु मानना होगा, ताकि द्व्यणुक और परमाणु में महत्त्व एवं चक्षु आदि में उद्भूत रूप न होने से उनके रूप के साथ चक्षु का वाञ्छित सन्निकर्ष न हो सके, तो फिर इस स्थिति में त्रसरेणु का प्रत्यक्ष तो इस सन्निकर्ष से न हो सकेगा, क्यों कि द्व्यणुक के महत्त्वहीन होने से त्रसरेणु चक्षुःसंयुक्तमहत्समवेत नहीं है, अतः त्रसरेणु के प्रत्यक्ष की उपपत्ति के लिये संयोग को स्वतन्त्र सन्निकर्ष मानना अनिवार्य है"-तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य के प्रत्यक्ष में महत्त्व और उद्भूतरूप को समवायसम्बन्ध से स्वतन्त्ररूप से कारण मान लेने पर चक्षुःसंयुक्तसमवाय को चक्षुःसंयुक्तसमवायत्वेन भी कारण मानने में परमाणु, चक्षु आदि के रूप के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती । अतः त्रसरेणु का चक्षुःसंयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से ही प्रत्यक्ष सम्भव होने से संयोग को सन्निकर्ष मानना आवश्यक नहीं है ।

शरीर को आत्मा मानने में एक और भी गुण यह है कि इस मत में उद्भूतरूपकार्यतावच्छेदक केवल द्रव्यप्रत्यक्षत्व भी हो सकता है, द्रव्य में आत्मेतरत्व विशेषण लगा कर आत्मेतरद्रव्यप्रत्यक्षत्व को कार्यतावच्छेदक मानने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस मत में आत्मा शरीररूप होने से उद्भूतरूप का आश्रय है ही, अतः द्रव्यविषयकप्रत्यक्षमात्र के प्रति उद्भूतरूप को कारण मानने में कोई दोष नहीं है, इस प्रकार उद्भूतरूप के कार्यतावच्छेदक में लाघव है ॥ [नव्यनास्तिकमत संपूर्ण]

[नव्यनास्तिक के मत का परिहार]

प्रस्तुत (६५ वीं) कारिका में देहात्मवाद के समर्थन में नवीन नास्तिकों द्वारा प्रकट किये गये विचार का खण्डन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

'यद् यद्धर्मादिकं, न तत् तदभावे न भवति' इत्यत्र व्यभिचारमाशङ्क्य समाधत्ते-

मूलम्-न च लावण्यकार्कश्यश्यामत्वैर्व्यभिचारिता ।
मृतदेहेऽपि सद्भावादध्यक्षेणैव संगतेः ॥६६॥

न च लावण्यकार्कश्यश्यामत्वैः शरीरधर्मैः मृतदेहेऽस्थितैरपि तद्भावात् व्यभिचारितेति वाच्यम्, अध्यक्षेणैव संगतेः परिच्छेदात्, मृतदेहेऽपि सद्भावात् तेषां, विना विषयं प्रत्यक्षाऽयोगात् ॥६६॥

ननु रूपमात्रं तत्रोपलभ्यते, न तु चक्षुरध्यानुग्रहजन्यं लावण्यादि । किञ्च, उक्तनियमोऽप्यसिद्धः, पाकजरूपादिना व्यभिचारात् । तद्देशत्व-तत्संख्या-तत्परिमाणोपपर्यवस्थापितकपालादिपातप्रत्यक्षोपलम्भप्रत्यक्षा(घना)पत्तिभिया तत्र परमाणुपर्यन्तनाशानभ्युपगमात् । अत आह--

---

चैतन्य को यदि देह का धर्म और देह का कार्य माना जायगा तो जैसे जीवित देह में चैतन्य रहता है, और उपलब्ध होता है, उसी प्रकार मृतदेह में भी उसे रहना चाहिये और उपलब्ध होना चाहिये, किन्तु प्रत्यक्ष योग्य होते हुये भी वह मृतदेह में उपलब्ध नहीं होता। अतः योग्यानुपलब्धि से मृतदेह में उसका अभाव निर्विवादरूप से सिद्ध है। यदि कहें कि-"चैतन्य जीवित देह में ही रहता है, मृतदेह में नहीं रहता, अतः उसकी उपलब्धि नहीं होती" तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि देह के रहते जब चैतन्य का अभाव हो जाता है तो उसे देह का धर्म एवं देह का कार्य नहीं माना जा सकता। यदि वह जीवित देह का ही धर्म अथवा कार्य होता तो उसे देहत्व और देहगत रूप के समान मृतदेह में भी रहना चाहिये था, किन्तु मृतदेह में वह नहीं रहता। अतः घटत्व और घटरूप के समान वह जीवित देह का भी धर्म या कार्य नहीं हो सकता ॥६५॥

[व्यभिचार की आशङ्का और परिहार]

कारिका ६६ में 'जो जिसका धर्म या कार्य होता है, उसके रहते उसका अभाव नहीं होता' इस नियम में व्यभिचारशङ्का प्रस्तुत कर उसका समाधान किया गया है

"लावण्य, कार्कश्य, और श्यामता ये जीवितशरीर के धर्म एवं कार्य हैं, पर मृतदेह में इनका अभाव हो जाता है,-देह के रहते देह के इन धर्मों का अभाव हो जाने से यह नियम व्यभिचरित हो जाता है कि 'जो जिसका धर्म या कार्य होता है, उसके रहते उसका अभाव नहीं होता'। अतः मृतदेह में चैतन्य का अभाव होने पर भी उसे जीवित देह का धर्म और कार्य मानने में कोई दोष नहीं है"-इस शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि उक्त नियम में बताया गया व्यभिचार असंगत है, क्योंकि मृतदेह में उनका अभाव होता तो मृतदेह में उनका प्रत्यक्ष न होता, पर ये धर्म मृतदेह में भी प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, अतः मृतदेह में उनका अस्तित्व होने से उक्त व्यभिचार ठीक नहीं है ॥६६॥

मूलम्—न चेल्लावण्यसद्भावो न स तन्मात्रहेतुकः ।
अत एवान्यसद्भावादस्यास्तीति व्यवस्थितम् ॥६७॥

चेद्=यदि, मृतदेहे लावण्यसद्भावो न, तदा सः=लावण्यसद्भावः, तन्मात्रहेतुको न=देहमात्रप्रयोज्यो न, तन्मात्रहेतुकत्वे तद्रूपादीनामिव तत्सत्त्वेऽनाशप्रसङ्गात् । तस्मात्–

[लावण्यादि के अनुपलम्भ और उक्तनियमासिद्धि की आशंका]

यह शङ्का हो कि–"मृतदेह में केवल रूप ही उपलब्ध होता है, लावण्य आदि का उपलम्भ नहीं होता, क्योंकि वे बलवान धातुओं के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, मृतदेह में बलवान धातुओं का अस्तित्व न होने से उसमें लावण्य आदि का होना असम्भव है, अतः मृतदेह में लावण्य आदि को प्रत्यक्षसिद्ध बताना ठीक नहीं है । इसलिये लावण्य आदि धर्मों द्वारा प्रदर्शित व्यभिचार ठीक है । पाकजरूप आदि के साथ व्यभिचार होने से भी उक्त नियम असिद्ध है, जैसे कच्चे घट को पाक के लिये जब अग्नि में डाला किया जाता है तब तीव्र अग्निसंयोग से उसके पूर्वरूप आदि धर्मों का अभाव और पाक के पूर्व पाकोत्तर होने वाले रूप आदि धर्मों का अभाव होने से 'जो जिसका धर्म या कार्य होता है, उसके रहते उसका अभाव नहीं होता' यह नियम असिद्ध है ।—

[पाक से परमाणुपर्यन्त नाश मानने में बाधायें]

यदि कहें कि—"पाक के समय तो घट आदि का परमाणुपर्यन्त नाश हो जाता है अन्यथा घट यदि ज्यों का त्यों बना रहे, तो उसके भीतरी परमाणु आदि अपक्व ही रह जायेंगे, अतः पाक से पूर्व घट का नाश और नये घट की उत्पत्ति होने से घट के रहते घट के रूप आदि का अभाव सिद्ध न होने से उक्त नियम में कोई क्षति नहीं है"– तो यह कहना ठीक नहीं है, क्यों कि पाक के लिये घट जहाँ रखा जाता है, जितनी संख्या में रखा जाता है, और जिस परिमाण का रखा जाता है पाक के बाद भी वह उसी स्थान में, उतनी ही संख्या में व उसी परिमाण के साथ उपलब्ध होता है । एवं पाक के पूर्व यदि घट पर कप्पर आदि कोई अन्य पात्र रखा रहता है तो पाक के बाद वह पात्र घट पर पहले ही के समान हो सुरक्षित उपलब्ध होता है यह सब बातें घट का परमाणुपर्यन्त नाश मानने पर नहीं बन सकती, क्योंकि उस दशा में नये घट का स्थान बदल जा सकता है, उसकी संख्या घट बढ़ सकती है, उसका परिमाण छोटा बड़ा हो सकता है, उसके ऊपर रखे कप्पर आदि पात्र आधारभूत उस घट का नाश होने पर नीचे गिर सकते हैं । अतः इन बातों को देखते यही मानना होगा कि पाक के समय घट का परमाणुपर्यन्त नाश नहीं होता, वह ज्यों का त्यों बना रहता है, उसके सूक्ष्म छिद्रों द्वारा सूक्ष्म अग्निकण का भीतरी भाग के साथ सम्पर्क होने से उसके भीतरी भाग का भी पाक हो सकता है और उसकी देश, संख्या आदि के विषय में पूर्ववत् स्थिति भी सुरक्षित रह सकती है । इस प्रकार घट के रहते पाक के बाद उसके पूर्व रूपादिक एवं पाक के पूर्व उसके पाकोत्तर रूपादि का अभाव होने से 'जो जिसका धर्म या कार्य होता है, उसके रहते उसका अभाव नहीं होता'–यह नियम असिद्ध है ।"—

इस शङ्का का समाधान ६८वीं कारिका में दिया जाता है

हेतुकत्वमत्र तत्सामग्रीसमनियतसामग्रीकत्वम्, असौ न तदुपादानेऽपि हेत्वन्तरसत्त्वादनुपपत्तिः । 'अस्तु तर्हि तत्र तदा मरणे हेत्वन्तरम्' अत्राह अत एव=तदा लावण्याभाववच्चैतन्याभावस्याप्यन्यप्रयोज्यत्वादेव, तादृशान्यपदार्थसद्भावात् अस्त्यात्मा शरीरातिरिक्तं चैतन्योपादानम्, इति व्यवस्थितम्=सिद्धम् ॥६७॥

मूलम्—न प्राणादिरसौ, मानं किं, तद्भावेऽपि तुल्यता ।
तदभावादभावश्चेदात्माऽभावे न का प्रमा ? ॥६८॥

पर आह–असौ चैतन्याभावप्रयोजकाभावप्रतियोगी प्राणादिर्न किन्तु आत्मा, अत्र किं मानम् ? उत्तरमाह प्रतिबन्द्या–'प्राणाद्यभावस्यैव' इति शेषः, तद्भावेऽपि=चैतन्याभावप्रयोजकाभावप्रतियोगित्वेऽपि, तुल्यता किं मानमित्यर्थः । तदभावात् प्राणाद्यभावात् अभावः 'चैतन्यस्य' इति शेषः, तथा चाऽन्यथानुपपत्तिरेव मानमिति चेत् ! तर्हि आत्माभावे न चैतन्याभावः, 'इत्यत्र च' इति शेषः, का प्रमा=किं प्रमाणं ? न किञ्चिद्, अन्यथानुपपत्तेरेकत्र पक्षपाताऽयोगादिति भावः ॥६८॥

[लावण्यादि में आत्मकशरीरप्रयोज्यता की सिद्धि]

मृतदेह में यदि लावण्य नहीं है तो स्पष्ट है कि वह देहमात्रहेतुक नहीं है, क्योंकि यदि वह देहमात्रहेतुक होता तो जैसे देहमात्रहेतुक होने से देहगत रूप देह के रहते नहीं नष्ट होता उसी प्रकार देह के रहते देह के लावण्य का भी नाश न होता । 'देहरूप के प्रति देहावयव का रूप भी कारण होता है, अतः उसे देहमात्रहेतुक कहना असंगत है'–यह शङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि देहमात्रहेतुक का अर्थ है देहसामग्री की समनियतसामग्री से जन्य । आशय यह है कि जब देहजनकसामग्री का सन्निधान होता है तब नियमेन देहरूपजनकसामग्री का भी सन्निधान होता है अतः देह के साथ या देह के अव्यवहितउत्तर उत्पन्न होने के नाते देहरूप को देहमात्रहेतुक कह दिया जाता है । अतः देहरूप का देह से अन्य हेतु होने पर भी उक्त दृष्टि से उसे देहमात्रहेतुक कहने में कोई अनौचित्यप्रसङ्ग नहीं है ।

यदि यह कहें कि–'मृतदेह में लावण्य का अभाव होने से उसे देहमात्रजन्य न मान कर किसी ऐसे कारण से जन्य मानना चाहिये, जो मृतदेह में नहीं रहता'–तो उसी प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि चैतन्य भी देहमात्रजन्य नहीं है अपि तु उसका भी कोई ऐसा अन्य हेतु है जो मृतदेह में नहीं रहता । उसके न रहने से ही मृतदेह में चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती । तो इस प्रकार जिस कारण के अभाव से मृतदेह में चैतन्य का अभाव होता है वह कारण आत्मा ही है, इस रीति से देह से भिन्न आत्मा की सिद्धि निर्विवाद है ॥६७॥

[अचैतन्य का प्रयोजक प्राणाभाव है या आत्माभाव ?]

६८ वीं कारिका में 'मृतदेह में चैतन्य का अभाव प्राणाभाव के कारण है' इस कथन के प्रतिवन्दी रूप में 'मृतदेह में आत्मा के अभाव से चैतन्याभाव होने का प्रतिपादन कर रहे हैं ।

मूलम्—तेन तदभावभावित्वं न भूयो नलिकादिना।
सम्पादितेऽप्यतत्सिद्धेः सोऽन्य एवेति चेन्न तत् ॥६९॥

पर आह—तेन सह=प्राणादिना सह, यौ भावौ अन्वयव्यतिरेकौ, तद्भावित्वं=तत्प्रतियोगित्वं, 'तत्र मानम्' इति शेषः। हेतुत्वेन क्लृप्तस्य तस्यैव कार्याभावप्रयोजकाभावप्रतियोगित्वकल्पनौचित्यादिति भावः। अत्रोत्तरम्—'न' अन्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वमेव प्राणादेरसिद्धमित्यर्थः। कुतः? इत्याह—भूयो मरणोत्तरं, नलिकादिना, आदिपदाद् भस्त्र्यादिग्रहः, सम्पादितेऽपि—अन्तःसंचारितेऽपि 'वायौ' इति शेषः। अतत्सिद्धेः=चैतन्यानुत्पत्तेरन्वयव्यभिचारादिति भावः। पर आह—'स' नलिकादिना सम्पादितो वायुः, अन्य एव न प्राणः, इति न व्यभिचारः। उत्तरमाह—इति चेत्? न तत्—यदुक्तमेतत् ॥६९॥

मृतदेह में जिसके अभाव से चैतन्य का अभाव होता है, वह प्राण आदि नहीं, किन्तु आत्मा है—इसमें क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का प्रतिबन्दी रूप में यह उत्तर है कि 'मृतदेह में जिसके अभाव से चैतन्य का अभाव होता है, वह आत्मा नहीं किन्तु प्राण आदि है, इसमें क्या प्रमाण है। कहने का आशय यह है कि जो प्रश्न दोनों पक्षों में समानरूप से उठ सकता है उसे किसी एक पक्ष की ओर से दूसरे पक्ष के विरोध में उठाना अनुचित है। यदि यह कहें कि 'मृतदेह में चैतन्य का अभाव चैतन्य के किसी कारण के अभाव के बिना नहीं उपपन्न हो सकता, अतः इस अन्यथानुपपत्ति से जो यह बात सिद्ध होगी कि 'प्राणादि चैतन्य का कारण है, मृतदेह में उसका अभाव होने से चैतन्य का अभाव होता है' तो इसका भी यह प्रतिबन्दी उत्तर है 'कि आत्मा चैतन्य का कारण है, मृतदेह में उसका अभाव होने से चैतन्य का अभाव होता है' इस बात न मानने में क्या प्रमाण है! कहने का आशय यह है कि अन्यथानुपपत्ति दोनों पक्षों के लिये समान है। अतः 'मृतदेह में चैतन्याभाव प्राणाभाव के कारण है' केवल इसी पक्ष के समर्थन में उसका विनियोग नहीं किया जा सकता ॥६८॥

[नलिका वायुसंचार से प्राण में चैतन्यान्वयव्यतिरेकाभाव की सिद्धि]

यदि यह कहें कि—"प्राणादि के रहने पर चैतन्य की उत्पत्ति होती है और प्राणादि के न रहने पर चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती, इस प्रकार प्राणादि के साथ चैतन्य का अन्वयव्यतिरेक है, अतः प्राणादि में चैतन्य के अन्वयव्यतिरेक के व्यापक अन्वयव्यतिरेक की जो प्रतियोगिता है, वही चैतन्य के प्रति प्राणादि के कारण होने में प्रमाण है; और जब प्राणादि चैतन्य का कारण है तो कारणाभाव के ही कार्याभाव का प्रयोजक होने से इसी को चैतन्याभाव के प्रयोजक अभाव का प्रतियोगी मानना अर्थात् प्राणाभाव ही से मृतदेह में चैतन्य की अनुत्पत्ति मानना उचित है, अतः इस के प्रतिबन्दी रूप में आत्मा के अभाव से मृतदेह में चैतन्य की अनुत्पत्ति का प्रतिपादन ठीक नहीं है"—तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मृतदेह में नली, भस्त्री आदि से वायु का

मूलम्—वायुसामान्यसंसिद्धेस्तत्स्वभावः स नेति चेत् ?
अत्रापि न प्रमाणं वश्चैतन्योत्पत्तिरेव चेत् ॥७०॥

कुतः ? इत्याह—वायुसामान्यसंसिद्धेः=कोष्ठान्तरसंचारिवायुत्वं हि प्राणत्वं, ततः कोष्ठान्तःसंचारवायुत्वयोस्तत्र सिद्धेः कथं न प्राणत्वम् ? इति भावः। पर आह—'स' चैतन्यजननस्वभावो न, अतो न प्राणः। अत्राह—इति चेत् ? 'अत्रापि=चैतन्यजननस्वभावत्वेऽपि 'वो'-युष्माकं, न प्रमाणम्, अप्रत्यक्षत्वात्तस्य। चैतन्योत्पत्तिरेवान्यथानुपपद्यमाना प्रमाणमिति चेत् ? ॥७०॥

अन्तःसंचार करने पर मृतदेह में प्राण का सम्बन्ध होने पर भी चैतन्य की उत्पत्ति न होने से अन्वयव्यभिचार होने के कारण प्राणादि के साथ चैतन्य के अन्वयव्यतिरेक का नियम ही असिद्ध है, अतः प्राणादि में चैतन्यजनकता अप्रामाणिक है। यदि यह कहें कि-'नली आदि द्वारा मृतदेह में अन्तःसंचारित वायु प्राण ही नहीं है, अतः उक्त अन्वयव्यभिचार नहीं है'-तो यह कथन ठीक नहीं है। यह कथन क्यों ठीक नहीं है यह बात अगली कारिका (७०) में दिखलायेंगे ॥६९॥

[नलिकासंचारित वायु प्राण से भिन्न नहीं है]

७० वीं कारिका में मृतदेह में नली द्वारा अन्तःसंचारित वायु को प्राणात्मक सिद्ध कर प्राण में चैतन्य के अन्वयव्यभिचार का समर्थन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

'मृतदेह में नलीद्वारा अन्तःसंचारित वायु प्राणरूप नहीं है, यह बात जो पूर्व कारिका में कही गयी है वह ठीक नहीं है, क्योंकि कोष्ठ के भीतर संचरण करने वाले वायु को ही प्राण कहा जाता है, तो फिर नली द्वारा मृतदेह के भीतर भरा गया वायु भी जब कोष्ठ के भीतर संचरण करता है और वायु भी है, तब उसे प्राण मानने में क्या बाधा है, हाँ यदि कोष्ठ के भीतर संचरण न करता अथवा वायु न होता, तब प्राण के उक्तलक्षण से संगृहीत न होने के कारण उसे प्राण कहना उचित न होता; किन्तु जब वह प्राण है तब उसके रहते भी मृतदेह में चैतन्य की उत्पत्ति न होने से उसमें चैतन्य का अन्वयव्यभिचार निर्विवाद है। यदि यह कहें कि 'कोष्ठ के भीतर संचरण करने वाला वायु प्राण है' प्राण का इतना ही लक्षण नहीं है, किन्तु 'कोष्ठ के भीतर संचरण करने वाला चैतन्यजननस्वभाव से उपेत वायु प्राण है' प्राण का यह लक्षण है, जो वायु नली द्वारा मृतदेह के भीतर भर दिया जाता है, वह कोष्ठ के भीतर संचारी होने पर भी चैतन्यजनन के स्वभाव से युक्त न होने के कारण प्राणरूप नहीं हो सकता, अतः उसके द्वारा प्राण में चैतन्य के अन्वयव्यभिचार का समर्थन अनुचित है'-तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि नली द्वारा मृतदेह के भीतर भरे गये वायु में चैतन्यजननस्वभाव नहीं है और जीवित देह के भीतर भ्रमण करने वाले वायु में चैतन्यजननस्वभाव है' इस बात में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि चैतन्यजननस्वभाव स्वयं अप्रत्यक्ष है। यदि यह कहें कि-"मृतदेह में नली द्वारा वायु

मूलम्— न, तस्यामेव सन्देहात्, तत्रापि केन नेति चेत् ?
तत्तत्स्वरूपभावेन तदभावः कथं नु चेत् ॥७१॥

न, 'तस्यामेव'-चैतन्योत्पत्तावेव, 'किमियं प्राणप्रयोज्या उतात्मप्रयोज्या' इति सन्देहात्; तथा चान्यथासिद्धत्वशङ्कया न तत्र कारणत्वनिश्चय इति भावः। आत्मन्यप्यत्र सन्देहः, केन मानेन न, येन कारणत्वनिश्चयः स्यात् इति चेत् ? तस्य चैतन्यस्य तत्स्वरूपभावेन—आत्मधर्मानुविधायित्वेन, तथा चात्मनि चैतन्यधर्मानुविधायकत्वेन विशेषदर्शनादन्यथासिद्धत्वशङ्कानिरास इति भावः।

भरने पर भी चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती और जीवित देह में चैतन्य की उत्पत्ति होती है यह वस्तुस्थिति है, इसके अनुरोध से यह मानना आवश्यक है कि जीवित देह के अन्तःस्थित वायु में चैतन्यजनकस्वभाव है। अन्यथा यदि उसमें भी यह स्वभाव न माना जायगा तो जीवित देह में भी चैतन्य की उत्पत्ति न होगी, अतः चैतन्योत्पत्ति की अन्यथाअनुपपत्ति ही जीवितदेहान्तःस्थित वायु के चैतन्यजनकस्वभावता में प्रमाण है''—तो इस कथन में भी सत्यांश नहीं है। इस कथन में क्यों सत्यांश नहीं है, यह बात अग्रिम कारिका से समझायेंगे ॥७०॥

[आत्मधर्मानुविधान से चैतन्योत्पत्ति का प्रयोजक आत्मा है]

७१ वीं कारिका में प्राण में चैतन्यजनकता का खण्डन कर उसके द्वारा उसमें चैतन्यजनकस्वभावता के साधनार्थ पूर्व कारिकोक्त प्रयास को निष्फल किया गया है—

'जीवित देह में अन्तःसंचारी वायु को प्राणजनकस्वभाव से युक्त मानना आवश्यक है, अन्यथा उसमें प्राणजनकता की उपपत्ति न होगी'-पूर्व कारिका की यह बात ठीक नहीं है. 'जीवित देह में चैतन्य की उत्पत्ति प्राणप्रयुक्त है अथवा आत्मप्रयुक्त है'—ऐसा सन्देह होने से चैतन्य के प्रति प्राण में अन्यथासिद्धत्व की शङ्का हो जाने के कारण प्राण में चैतन्यजनकता ही असिद्ध है, अतः उसकी अन्यथाऽनुपपत्ति से प्राण में चैतन्य जनकस्वभाव का साधन अशक्य है। यदि कहें कि—"इस प्रकार तो आत्मा में भी ज्ञान-कारणत्व का निश्चय न हो सकेगा, क्योंकि 'आत्मा में उक्त प्रकार का संदेह नहीं हो सकता' ऐसी घोषणा करने का आधारभूत कोई प्रमाण न होने से आत्मा के विषय में भी इस प्रकार का सन्देह हो ही सकता है कि 'जीवितदेह में चैतन्य की उत्पत्ति आत्मप्रयुक्त है अथवा प्राणप्रयुक्त है' ? प्राणप्रयुक्त होने पर आत्मा की अन्यथासिद्धि निर्विवाद है''-तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चैतन्य आत्मा के धर्म का अनुविधान करता है, अर्थात् जिसमें आत्मा के अन्य धर्म रहते हैं, चैतन्य भी उसी में रहता है, जैसे लोक में ऐसा व्यवहार होता है कि 'मुझे यह ज्ञान है कि "यह कार्य अनुचित है फिर भी मुझे यह कार्य करने की इच्छा है, मैं ऐसे कार्यों को अनुचित जानते हुये भी करता हूँ" इत्यादि। अतः आत्मा में चैतन्यात्मक धर्म के अनुविधायकत्वरूप विशेषधर्म का निश्चय होने के कारण आत्मा में उक्त प्रकार का सन्देह न हो सकने से उसमें ज्ञान-कारणत्व का निश्चय होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

नन्वेवं प्राणस्य चैतन्योपादानत्वं मास्तु, निमित्तत्वं त्वविरुद्धमेव, तन्नाशादेव च चैतन्यनाशः, आत्माऽभ्युपगमेऽपि नित्यत्वेन तस्य नाशाऽयोगात् । न च तच्छरीरे आत्मसंयोगनाशाच्चैतन्याभावः, विभुत्वेन तत्संयोगस्यापि सार्वदिकत्वात्, चैतन्योपादानं च प्रागुक्तरीत्या शरीरमेव इति नव्यनास्तिकस्य न दूषणं, इति चेत् ? न, प्राणनाशं विनापि सुषुप्त्यादौ ज्ञानादिनाशात् तन्नाशस्य तन्नाशाऽहेतुत्वात् ।

एतेन 'विजातीयमनःसंयोगस्य नाशस्यैव स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन प्रतियोगितया ज्ञानादिनाशे हेतुत्वमस्तु' इत्यपास्तम्, सुषुप्तौ श्वासप्रश्वासादिसन्तानानुरोधेन विजातीयमनःसंयोगसत्त्वस्याप्यावश्यकत्वात् ।

[प्राण-निमित्तकारण, शरीरोपादानकारण—नव्यनास्तिकपूर्वपक्ष]

इस पर नव्यनास्तिकों का कहना यह है कि—"चैतन्य प्राणधर्म का अनुविधान नहीं करता, अतः प्राण को चैतन्य का उपादानकारण न माना जाय, पर उसे चैतन्य का निमित्तकारण मानने में, तथा उसके अभाव से चैतन्य की अनुत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है, अन्यथा यदि उसे चैतन्य का निमित्तकारण भी न माना जायगा तो कारणाभाव ही कार्यानुत्पत्ति का प्रयोजक होता है, अतः प्राणाभाव के चैतन्यानुत्पाद का प्रयोजक न हो सकने से चैतन्योत्पत्ति का कभी विराम हो न होगा, क्योंकि उसके उपादानकारण आत्मा के नित्य होने से चैतन्योत्पत्ति की सतत सम्भावना बनी रहेगी ।

यदि यह कहें कि 'तत्तत्शरीरावच्छेदेन ज्ञान की उत्पत्ति में तत्तत्शरीर के साथ आत्मा का संयोग निमित्तकारण है, अतः इस निमित्तकारण के अभाव से चैतन्य की अनुत्पत्ति मानी जा सकती है',—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा के व्यापक होने से उसका संयोग सभी मूर्तद्रव्यों में तब तक रहता है जब तक वे मूर्तद्रव्य विद्यमान रहते हैं। अतः मृतदेह में भी आत्मा का संयोग बने रहने के कारण शरीरात्मसंयोग के अभाव से चैतन्य की अनुत्पत्ति मानना उचित नहीं हो सकता । इस लिये विवश होकर यह मानना आवश्यक है कि 'पूर्वोक्तरीति से शरीर ही चैतन्य का उपादान है और प्राण उसका निमित्त कारण है । मृतदेह में प्राणरूप निमित्तकारण का अभाव होने से चैतन्य की अनुत्पत्ति रहती है' । इस प्रकार नव्यनास्तिकों के मत में दोष नहीं है ।"

किन्तु विचार करने से नव्यनास्तिक का उपर्युक्त कथन असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि सुषुप्ति के समय प्राण का सद्भाव होने पर भी चैतन्य की अनुत्पत्ति रहती है अतः प्राणाभाव को चैतन्यानुत्पत्ति का प्रयोजक नहीं माना जा सकता ।

[विजातीयमनःसंयोगाभाव चैतन्याभावप्रयोजक नहीं है]

'प्रतियोगितासम्बन्ध से ज्ञानादि की अनुत्पत्ति के प्रति विजातीयमनःसंयोग का अभाव स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्ध से प्रयोजक है',—ऐसा प्रयोज्य-प्रयोजकभाव मान कर ज्ञान के कारण विजातीयमनःसंयोग के अभाव को भी चैतन्य की अनुत्पत्ति का प्रयोजक नहीं माना जा सकता, क्योंकि श्वास-प्रश्वास के प्रवाह की अविच्छिन्नता की उपपत्ति के लिये सुषुप्ति के समय भी विजातीयमनःसंयोग का रहना आवश्यक होता

अथ जीवनयत्नस्यादृष्टादेव तदा श्वासप्रश्वासादिसन्तानः, तन्नाशश्च प्रारब्धाऽदृष्टनाशादेव, इति तदन्यनाशे विजातीयमनःसंयोगनाशो हेतुरिति चेत् ? न, एवं सत्यावश्यकत्वात् सर्वत्राऽदृष्टनाशादेव ज्ञानादिनाशाभ्युपगमौचित्यात्। अत एव विजातीयमनःसंयोगेऽपि न मानमस्ति, अदृष्टविशेषपरिपाकवशादेव सुषुप्त्यादिकाले ज्ञानानुत्पादात्, परेणापि मनसो निरिन्द्रियप्रदेशगमने तस्य शरणीकरणीयत्वात्। अदृष्टं च धर्मिग्राहकमानेन प्रत्यगात्मनिष्ठमेव सिद्धमिति हतो नास्तिकः।

है, फिर भी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती अतः विजातीयमनःसंयोगाभाव से भिन्न ही किसी को चैतन्यानुत्पत्ति का प्रयोजक मानना आवश्यक है।

[सुषुप्तिभिन्नदशा में विजातीयमनःसंयोगहेतुता की अनुपपत्ति]

यह कहा जा सकता है कि–"सुषुप्ति के समय श्वास-प्रश्वास का प्रवाह जीवनयोनि-यत्न से सम्पादित होता है; उसके लिये उस समय विजातीयमनःसंयोग की सत्ता मानना आवश्यक नहीं है, जीवनयोनियत्न प्रारब्ध–अदृष्ट से उत्पन्न होता है, अतः उस अदृष्ट का नाश होने पर जीवनयोनियत्न की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार प्रारब्ध–अदृष्ट का अभाव तो जीवनयोनियत्न की अनुत्पत्ति का प्रयोजक है, और विजातीयमनः-संयोग का अभाव जीवनयोनियत्न से भिन्न आत्मा के विशेषगुणों की अनुत्पत्ति का प्रयोजक है। इस लिये उपादानकारण आत्मा के नित्य होने पर भी विजातीयमनःसंयोग के अभाव से चैतन्य की अनुत्पत्ति का निर्वाह सम्भव होने से चैतन्योत्पत्ति के अविराम की आपत्ति नहीं हो सकती" किन्तु इसका उत्तर यह हो सकता है कि जब जीवनयोनियत्न की अनुत्पत्ति का प्रयोजक प्रारब्ध अदृष्ट के अभाव को मानना ही है, तब आत्मा के अन्य विशेष गुणों की अनुत्पत्ति के प्रति भी अदृष्टविशेष के अभाव को ही प्रयोजक मान लेना उचित है, जीवनयोनियत्न की अनुत्पत्ति और अन्य आत्मविशेषगुणों की अनुत्पत्ति के लिये प्रयोजकभेद की कल्पना उचित नहीं है। ज्ञानादि की अनुत्पत्ति में विजातीयमनः-संयोगाभाव को प्रयोजक मानने में सब से बड़ी बाधा यह है कि विजातीयमनःसंयोग में तो कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति आदि के समय ज्ञानादि की अनुत्पत्ति के निर्वाहार्थ ही ज्ञानादि के कारणरूप में विजातीयमनःसंयोग की कल्पना की जाती है, किन्तु उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जिस अदृष्ट के परिपाक से सुषुप्ति आदि अवस्थायें सम्पन्न होती हैं, उस अदृष्ट का परिपाक ही ज्ञानादि की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक हो जायगा, इस लिये ज्ञानादि के कारणरूप में सुषुप्ति आदि के समय असन्निधानात्मक विजातीयमनःसंयोग की कल्पना निराधार होने से विजातीयमनः-संयोग के अभाव से ज्ञानादि की अनुत्पत्ति का उपपादन असंगत है। जो लोग विजातीय-मनःसंयोग ज्ञानादि का कारण मान कर उस के अभाव से ज्ञानादि की अनुत्पत्ति का समर्थन करना चाहते हैं उन्हें भी निरिन्द्रिय प्रदेश में मनोगमन के सम्पादनार्थ अदृष्ट की शरण लेनी पड़ती है, अन्यथा मन यदि निरिन्द्रिय प्रदेश में न जायगा तो सुषुप्ति आदि के समय विजातीयमनःसंयोग का अभाव ही क्यों होगा, और यदि अदृष्टविशेष के परिपाक की अपेक्षा किये बिना ही निरिन्द्रिय प्रदेश में मनोगमन माना जायगा, तो

न च विशिष्टाणुवृत्तित्वमेव तस्य स्यात्, अनेकाश्रयकल्पनात् एकाश्रयकल्पने लाघवात्, शरीरत्वघटकसंयोगस्यैवात्मत्वघटकत्वेनात्मत्वशरीरत्वयोस्तुल्यवित्तिवेद्यत्वप्रसङ्गाच्च । आत्मत्वघटकसंयोगस्य भिन्नत्वे स्वात्मन एव भिन्नत्वं किमिति नेष्यते ? इति किमतिविस्तरेण ?

पर: शङ्कते- ननु चैतन्ये तदभाव:=प्राणधर्मानुविधायित्वाभाव:, कथम् ? 'नु' इति वितर्के । 'अहमशनीयावान् अहं पिपासावान्' इत्यशनीयापिपासयो: प्राणधर्मयोरात्म-

---

जागरकाल में भी उसके सम्भव होने से जाग्रत्काल में भी ज्ञानादि की अनुत्पत्ति की आपत्ति होगी, तो इस प्रकार जब अदृष्टपरिपाक का उपगमन आवश्यक ही है, तब उसी से सुषुप्ति आदि के समय ज्ञानानुत्पत्ति का निर्वाह हो जाने से विजातीयमन:-संयोग की कल्पना निरर्थक है । जिस प्रमाण से अदृष्टरूप धर्मी की सिद्धि होती है उसी प्रमाण से उसका जीवात्मवृत्तित्वरूप धर्म भी सिद्ध होता है, अत: अदृष्ट के आश्रय के विषय में कोई विवाद नहीं खड़ा हो सकता । और आत्मनिष्ठ अदृष्ट का आश्रय लेने पर तो नास्तिकमत का आमूलचूल उन्मूलन हो जाता है ।

[अदृष्ट को शरीराश्रित मानने में गौरव]

अदृष्ट के सम्बन्ध में नास्तिक के उक्त मत के विरोध में आस्तिक का यह कहना है कि अदृष्ट को शरीरनिष्ठ मानना उचित नहीं है, क्योंकि विजातीयसंयोगविशिष्ट अणुओं का समुदाय ही शरीर है, अत: अदृष्ट को शरीरनिष्ठ मानने पर उसके अणुरूप अनेक आश्रय मानने होंगे । अत: उसकी अपेक्षा अतिरिक्त आत्मारूप एक आश्रय की कल्पना ही लाघव से उचित है । शरीर को आत्मा मानने में दूसरा दोष यह है कि विजातीयसंयोगविशिष्ट अणुसमूहस्वरूप शरीरत्व की कुक्षि में प्रविष्ट संयोग ही आत्मत्व का भी घटक है, क्योंकि ज्ञानादि का आश्रयभूत विजातीयसंयोगविशिष्ट अणुसमूहत्व ही देहात्मवाद में आत्मत्व है, अत: शरीरत्व और आत्मत्व दोनों तुल्यवित्तिवेद्य= एक ही ज्ञानसामग्री से ग्राह्य होंगे, फलत: एक व्यक्ति के शरीर का प्रत्यक्ष जैसे शरीर के रूप में होता है, उसी प्रकार आत्मा के रूप में भी उसका प्रत्यक्ष होने से उसके ज्ञानादि गुणों के भी प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । यदि यह कहें कि-''आत्मत्वघटक संयोग शरीरत्वघटकसंयोग से भिन्न है, अत: शरीरत्व और आत्मत्व में तुल्यवित्तिवेद्यता की आपत्ति नहीं हो सकती,''-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मत्वघटकसंयोग को भिन्न मान कर शरीरत्व और आत्मत्व में भेद करना है तो फिर आत्मा को ही शरीर भिन्न क्यों न मान लिया जाय । ऐसा मानने में देहात्मवादी की अरुचि का कोई उचितकारण नहीं प्रतीत होता, अत: इस विषय का और विस्तार करना अनावश्यक है ।

[प्राण ही आत्मा है-पूर्वपक्ष]

नास्तिक की ओर से पुन: यह शङ्का होती है कि''-चैतन्य प्राणधर्म का अनुविधान नहीं करता, यह बात जो कही गयी, उसका क्या आधार है ? विचार करने पर उसका कोई आधार नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत उसके विपरीत बातें सामने खड़ी होती हैं, जैसे-'अहम् अशनीयावान्-मुझे भूख है' 'अहम् पिपासावान्-मुझे प्यास है' इस प्रकार भूख-प्यासरूप प्राणधर्मों का अहंपदार्थ आत्मा में अनुभव होता है, जिससे प्राण की ही

सामानाधिकरण्येनानुभवात्, "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः" [तैत्ति० २-२-३] इति श्रुतेश्च प्राणस्य चैतन्यानभ्युपगमे महान् वितर्कावसर इति भावः । अत्रोच्यते–इति 'चेत्' ? ॥७१॥

मूलम्– तद्वैलक्षण्यसंवित्तेर्मातृचैतन्यजे सुते ।
स्फुटे तस्मिन्न दोषः स्यान्न च भूतेऽस्य भावतः ॥७२॥

तद्वैलक्षण्यसंवित्तेः-प्राणधर्मसामानाधिकरण्येनाऽप्रतीयमानत्वात् नैवमित्युपस्कारः । न हि प्राणधर्माः स्पर्शविशेषादयः अहन्त्वसामानाधिकरण्येनानुभूयन्ते, तथाऽनुभूयमाने पुनरशनायापिपासे इच्छात्मकत्वादात्मधर्मावेव, न तु प्राणधर्मौ, इति न प्राण एवात्मा । "अस्तु तर्हि 'कायाकारपरिणतं भूतमात्मा' इति लौकिकमेव मतम्, 'अहं स्थूलः' इत्यादितद्धर्मसामानाधिकरण्येनानुभवात्"; इति विस्मृतप्रागुक्तदोषः शङ्कते–अयम्=उक्तो दोषः, स्फुटे=निश्चितं, मातृचैतन्यजे सुते=पुत्रशरीरे, तस्मिन्, चैतन्येऽभ्युपगम्यमाने न स्यात्; न हि भूतचैतन्यहेतोश्चैतन्यस्याभावोऽस्ति, येन तद्गतहेतुताऽऽक्षेपसिद्धिः स्यात्, मातृचैतन्यस्यैव तद्धेतुत्वात्, व्यवधानेनापि सुषुप्तिप्राक्कालीनविकल्पस्य जागरविकल्पहेतुत्वदर्शनात् । न च मातृचैतन्यसुतचैतन्ययोर्वैलक्षण्याद् न हेतुहेतुमद्भाव इति साम्प्रतम्, वृश्चिकादिव गोमयादपि वृश्चिकप्रादुर्भावदर्शनात् चैतन्येऽपि मातापितृशुक्रशोणिताभ्यासरसायनादिनानाहेतुकत्वाविरोधादिति ।

आत्मरूपता का समर्थन होता है । इसी प्रकार 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'–अन्तरात्मा देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न प्राणस्वरूप है' इस श्रुति से भी प्राण के आत्मत्व का समर्थन होता है, अतः प्राण में चैतन्य न मानने पर इस सम्बन्ध में वितर्क का पूरा अवसर है कि चैतन्य को प्राण का धर्म न मानने का क्या कारण है ?"–

कारिका के 'चेत्' इस शब्द से इस शंका के समाधान का संकेत किया गया है, जिसको अग्रिम कारिका में स्फुट करते हैं ॥ ७१ ॥

[प्राण–आत्मरूपत्ववाद का खंडन]

७२वीं कारिका में अहमर्थ आत्मा में प्राण धर्मों के अनुभव का तथा माता के चैतन्य से सन्तान में चैतन्योत्पत्ति का खण्डन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

आत्मधर्म अहन्त्व में प्राणधर्म के सामानाधिकरण्य की प्रमा न होने से प्राण को आत्मा नहीं माना जा सकता । कहने का आशय यह है कि प्राण शरीर के भीतर संचरण करने वाला एक विशेषप्रकार का वायु है, वायुरूप होने से स्पर्श, क्रिया आदि उसके धर्म हैं, इन धर्मों का अहमर्थ–आत्मा में अनुभव नहीं होता । अहमर्थ आत्मा में अनुभव होता है अशनाया और पिपासा का, किन्तु ये प्राण के धर्म नहीं हैं, क्योंकि अशनाया का अर्थ है भोजन की इच्छा और पिपासा का अर्थ है पीने की इच्छा, स्पष्ट है कि इच्छा आत्मधर्म है प्राणधर्म नहीं है, अतः इन धर्मों में अहन्त्व के सामानाधिकरण्य का

अनुभव होने पर भी उसके बल से प्राण-आत्मत्व का साधन नहीं हो सकता ।

[कायाकारपरिणत भूत ही आत्मा है-पुनः आशंका]

देहात्मवाद में पूर्वोक्त दोषों को भूल कर नास्तिक द्वारा पुनः यह शङ्का प्रस्तुत की जाती है कि "यदि उक्त दोषवश प्राण को आत्मा नहीं माना जा सकता तो मत मानो किन्तु यही माना जाय कि 'शरीररूप में परिणत भूत ही आत्मा है, क्योंकि आत्मधर्म अहंत्व में भूत के स्थूलत्व आदि धर्मों के सामानाधिकरण्य का अनुभव 'अहं स्थूलः, अहं कृशः, अहं लघुः, अहं दीर्घः' इत्यादि रूपों में सर्वमान्य है । प्राणात्मवाद में बताये गये दोष देहात्मवाद में नहीं हो सकते; क्योंकि पुत्रदेह की उत्पत्ति मातृदेह से होती है, अतः मातृचैतन्य से पुत्रचैतन्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है । यदि पुत्रदेह में चैतन्य की उत्पत्ति मातृदेहगतचैतन्य से सम्भव न होती तो चैतन्य के अनुगतकारणरूप में आत्मा की सिद्धि होती; किन्तु जब मातृचैतन्य से पुत्र चैतन्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है, तब चैतन्य के कारणरूप में अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती ।

[अव्यवहित कारण से कार्योत्पत्ति नियम का अस्वीकार]

यदि यह शङ्का की जाय-"चैतन्य की उत्पत्ति सदृश ही चैतन्य से होने का नियम है, अतः उत्पन्न बालक को जो इस प्रकार का चैतन्य उत्पन्न होता है कि उसे माता के स्तन का दूध पीना चाहिये क्योंकि उसमें भूख की निवृत्ति और शरीर की पुष्टि होती है, उसकी उत्पत्ति माता के इसी प्रकार के चैतन्य से मानी होगी, और माता को यह चैतन्य माता के शैशवकाल में ही होता है, जो उसके पुत्र के जन्म के समय उसे नहीं है तो फिर माता के इस चिरव्यवहित चैतन्य से पुत्र में उक्त चैतन्य की उत्पत्ति कैसे होगी ?"-तो इस शङ्का का यह उत्तर दिया जा सकता है कि कारण और कार्य में अव्यवहित पूर्वापरभाव का नियम नहीं है । अर्थात् यह नियम नहीं है कि 'कार्य के अव्यवहितपूर्व में कारण के रहने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि सुषुप्ति के पूर्व उत्पन्न हुये ज्ञान से सुषुप्ति के बाद जागरकाल के ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यदि उक्त नियम माना जायगा तो यह उत्पत्ति भी न हो सकेगी, क्योंकि सुषुप्ति के पूर्वकाल में उत्पन्न ज्ञान उसी समय समाप्त हो जाने से सुषुप्ति के बाद उत्पन्न होने वाले ज्ञान के अव्यवहितपूर्व में नहीं रहता ।

[विलक्षण भावों में कार्यकारणभाव नहीं होने की शंका का परिहार]

'पुत्र का चैतन्य माता के चैतन्य से विलक्षण होता है, यह उनके अनेक विलक्षण व्यवहार से सिद्ध है, अतः उन चैतन्यों में कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, क्योंकि विलक्षण पदार्थों में कार्यकारणभाव असमान्य है ।'-यह शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि वृश्चिक से वृश्चिक की उत्पत्ति के समान वर्षा के समय सड़े गोमय से भी वृश्चिक की उत्पत्ति होती है । कार्य के प्रति विलक्षणपदार्थ का कारण होना चैतन्यभिन्नकार्यो तक ही सीमित नहीं है अपितु चैतन्यरूप कार्य के प्रति भी माता के शोणित, पिता के शुक्र, विषयविशेष का अभ्यास, रसायन आदि के सेवन जैसे विलक्षण पदार्थों को कारण मानने में कोई विरोध नहीं देखा जाता, अतः विलक्षण पदार्थों में कार्यकारण-

अत्राह–अस्य–चैतन्यहेतुचैतन्यस्य, मातरि=मातृशरीरेऽभ्युपगम्यमाने, 'दोषो न' इति न, किन्तु दोष एव, मातृनिष्ठस्य चैतन्यस्य सुतनिष्ठचैतन्यहेतुत्वे गर्भस्थेन सुतेन मात्रनुभूतस्मरणप्रसङ्गात् ।

किं च, गोमयवृश्चिकयोर्वैजात्यस्यानुभवसिद्धत्वेन तदवच्छिन्नयोः गोमयवृश्चिकयोर्हेतुत्वेऽपि चैतन्ये विशेषाऽदर्शनात् तत्र चैतन्यमेव हेतुः, न तु मातृशरीरादिकम् । प्रज्ञामेधादिविशेषेऽप्यन्तरङ्गतया समानजातीयपूर्वाभ्यासस्यैव हेतुत्वम्, अन्यथा समानेऽपि रसायनाद्युपयोगे यमजयोः कस्यचित् क्वचिदेव प्रज्ञामेधादिकमिति प्रतिनियमो न स्यात्, रसायनाद्युपयोगस्य साधारणत्वात्, इति न मातृचैतन्यात् सुतचैतन्यम् । न चेन्द्रियसन्निकर्षादिनैव ज्ञानोत्पत्तौ सामान्यतो ज्ञानं प्रति ज्ञानहेतुत्वे मानाभावः सुषुप्तौ ज्ञानानुत्पत्तिनिर्वाहायोपयोगस्य ज्ञानहेतुत्वाऽसिद्धेः इत्यन्यत्र विस्तरः ॥७२॥

भाव के मान्य होने से विलक्षण मातृचैतन्य से विलक्षण पुत्रचैतन्य की उत्पत्ति मानी जा सकती है ।"—

इसका उत्तर यह है कि मातृचैतन्य को पुत्रचैतन्य का कारण मानना उचित नहीं है क्योंकि पुत्रचैतन्य के कारणभूत मातृचैतन्य को मातृदेह में मानने में दोष नहीं ऐसा नहीं है, किन्तु दोष है ही, जैसे मातृगतचैतन्य को यदि पुत्र के चैतन्य का कारण माना जायगा तो गर्भस्थ बालक को माता से अनुभूत विषय के स्मरण की आपत्ति होगी । कहने का आशय यह है कि यदि माता के चैतन्य से बालक में चैतन्य का उदय होता है, यह बात सत्य हो, तो क्या कारण है कि गर्भावस्था में ही बालक को माता के अनुभूत विषयों का स्मरण न हो ? क्योंकि उस समय भी माता का अनुभवात्मक चैतन्य संस्काररूप में बालक के लिये सुलभ है ही । यदि प्रश्न किया जाय कि–'गर्भस्थ बालक को माता के अनुभूत विषय का स्मरण नहीं होता, यह कैसे जान लिया' ? तो इस के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि यतः माता को गर्भस्थ बालक की किसी ऐसी क्रिया का अनुभव नहीं होता जिससे बालक में उस समय शापादित स्मरण की सत्ता मानी जा सके । अतः गर्भस्थ बालक को माता के अनुभूतविषय के स्मरण का न होना सुवेद्य है ।

[वैजात्य न होने से चैतन्य का कारण चैतन्य ही होगा]

साथ ही यह बात ध्यान देने योग्य है कि गोमय से उत्पन्न वृश्चिक और वृश्चिक से उत्पन्न वृश्चिक में वैजात्य प्रत्यक्षसिद्ध है, क्योंकि दोनों के रूप-रंग में पर्याप्त अन्तर होता है । अतः गोमयजन्यवृश्चिक से विजातीयवृश्चिक के प्रति वृश्चिक को, एवं वृश्चिकजन्यवृश्चिक से विजातीयवृश्चिक के प्रति गोमय को तो कारण माना जा सकता है परंतु चैतन्य के प्रति विलक्षण पदार्थों को कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि चैतन्य में वैजात्य का होना प्रामाणिक नहीं है । अतः एकजातीयचैतन्य के प्रति ही विलक्षण पदार्थों को परस्परनिरपेक्षरूप कारण मानना होगा और ऐसा मानने में व्यतिरेकव्यभिचार स्पष्ट है, क्योंकि ऐसे कारणों में एक का अभाव होने पर भी दूसरे से

दोषान्तरमप्याह-

मूलम्—न च संस्वेदजाद्येषु मातृभावेन तद् भवेत् ।
अदीपज्ञानमप्येवं निमित्तत्वस्य बाधकम् ॥७३॥

न च संस्वेदजाद्येषु- यूकादिषु, मातृभावेन-स्वजनकस्त्रीशरीरभावेन, तत् चैतन्यमनुभवसिद्धमपि भवेत्, एवं च व्यभिचारात् निमित्तकारणत्वमपि मातृशरीरस्य नास्ती-

---

चैतन्यकी उत्पत्ति हो जाती है । इसलिये चैतन्य के प्रति चैतन्य ही कारण हो सकता है, मातृशरीर आदि कारण नहीं हो सकता । प्रज्ञा मेधा आदि विशिष्ट चैतन्य के प्रति भी अभ्यस्यमान पूर्वकालिक तज्जातीयचैतन्य ही कारण होता है क्योंकि वही चैतन्यविशेषात्मक कार्य के प्रति अन्तरङ्ग है । रसायन आदि का सेवन तो बहिरङ्ग होने से अन्तरङ्ग कारण का सहकारीमात्र है, न कि वही चैतन्यविशेष का जनक है, क्योंकि यदि वही चैतन्यविशेष का जनक हो तो एक साथ उत्पन्न होने वाले दो व्यक्तियों द्वारा समान रूप से रसायन आदि का सेवन करने पर भी उनमें से किसी एक ही को किसी विशेषविषय का ही जो विशिष्टज्ञान होता है, उसे वह नहीं होना चाहिये, किन्तु होता ऐसा ही है, अतः उस की उत्पत्ति के लिये यही मानना होगा कि चैतन्य का उत्पादक चैतन्य ही है । जो व्यक्ति रसायन आदि का सेवन करते हुये जिस विशेष विषय के चैतन्य का अनुवर्तन करता है, उसे रसायनसेवन के सहयोग से विशेष विषय के चैतन्यानुवर्तन से उस विषय का विशिष्ट ज्ञान हो जाता है, और जो रसायन का केवल सेवन ही करता है किसी विशेष विषय के ज्ञान का अनुवर्तन नहीं करता उसे विशेष विषय का विशिष्ट ज्ञान न होकर उसके ज्ञानार्जन की क्षमता का उत्कर्ष मात्र होता है, अतः चैतन्य के प्रति चैतन्य से विलक्षण पदार्थ की कारणता सिद्ध न होने से मातृचैतन्य से पुत्रचैतन्य की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है ।

यदि यह शङ्का की जाय कि-"इन्द्रिय संनिकर्ष आदि बहिरङ्ग कारणों से ही ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है, अतः सामान्यरूप से ज्ञान के प्रति ज्ञान को कारण मानना आवश्यक नहीं है"-तो यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में कोमल कठोर बिस्तर तकीये आदि के साथ त्वगिन्द्रिय का संनिकर्ष होने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती अतः अर्थबोध के प्रति उपयोग को-ज्ञानात्मक बोधव्यापार को कारण मानना आवश्यक है, इस विषय का विस्तृत विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है ॥७२॥

[पुत्रचैतन्य के प्रति मातृचैतन्य निमित्तकारण भी नहीं]

कारिका ७३ में पुत्रचैतन्य के प्रति मातृचैतन्य को कारण मानने में एक अन्य दोष भी बताया गया है, जो इस प्रकार है

जैसे कीट, मत्कुण आदि की उत्पत्ति किसी स्त्री शरीर से नहीं होती । इनका शरीर अयोनिज होता है और स्वेद, अंगरस, शरीरमल या बहिर्गतमल आदि से उत्पन्न होता है अतः इन प्राणियों की माताएँ नहीं होती । अब यदि चैतन्य की उत्पत्ति मातृशरीर के चैतन्य से ही मानी जायगी, तो इन प्राणियों में चैतन्य की उत्पत्ति न हो सकेगी, जब कि इनमें चैतन्य अनुभव सिद्ध है । तो इस प्रकार उक्त प्राणियों में मातृचैतन्य के बिना भी चैतन्य की उत्पत्ति होने से पुत्र के चैतन्य के प्रति मातृशरीरगत चैतन्य को कारण

त्याशयः । अत्र यदाह—प्रदीपज्ञातमपि=यथा दीपाद् दीपान्तरमुत्पद्यते तथा मातृचैतन्यात् सुतचैतन्यमिति निदर्शनमपि प्रदीपस्य निमित्तकारणत्वात् प्रकृते च तत्त्वस्याप्यभावाद् न बाधकं=न भूतातिरिक्तात्मसिद्धिप्रतिबन्धकम् । वस्तुतः शरीरविशेष इव चैतन्यविशेषे मातृशरीरस्य निमित्तकारणत्वसम्भवेऽप्युपादानत्वस्य सामान्यत एव कल्पनाद् मातृशरीरस्य सुतचैतन्योपादानत्वं नास्तीति ॥७३॥

फलितमाह—

मूलम्–इत्थं न तदुपादानं युज्यते तत् कथञ्चन ।
अन्योपादानभावे च तदेवात्मा प्रसज्यते ॥७४॥

इत्थम्=उक्तन्यायेन तत्=मातृशरीरं, कथञ्चन=केनापि प्रकारेण तदुपादानं=सुतचैतन्योपादानं न युज्यते । अन्योपादानभावे च=मातृशरीरातिरिक्तसुतचैतन्योपादानसद्भावे च, स एव भूतातिरिक्त आत्मा तव प्रसज्यते । शरीरवृद्धिविकारयोश्चैतन्यवृद्धिविकारोपलम्भस्तु न तदुपादानत्वसाधकः, अजगर-सात्त्विकादौ व्यभिचारात्, शरीरस्य सहकारित्वेऽपीन्द्रियपाटवाऽपाटवाभ्यां शरीरवृद्धिविकारयोश्चैतन्यवृद्धिविकारसम्भवाच्च ।

मानने में व्यतिरेक व्यभिचार होने से पुत्रचैतन्य के प्रति मातृचैतन्य को निमित्त कारण भी नहीं माना जा सकता । इसी लिये 'दीप से दीपान्तर की उत्पत्ति होती है इस दृष्टांत से उसी प्रकार मातृचैतन्य से पुत्रचैतन्य की भी उत्पत्ति हो सकती है'—यह कह दिखाने से भी अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि में बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि दीप के प्रति दीप के निमित्तकारण होने से दृष्टांत तो बन सकता है, पर उससे दार्ष्टान्तिक जिसके लिये दृष्टान्त प्रयुक्त है, उसकी अर्थात् मातृचैतन्य से पुत्रचैतन्य की उत्पत्ति का समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वेदजप्राणियों के चैतन्य में मातृचैतन्य का व्यभिचार होने से पुत्रचैतन्य और मातृचैतन्य में कार्यकारणभाव ही नहीं बन सकता ।

सच बात तो यह है कि जैसे मातृशरीर के बिना भी स्वेदजशरीर की उत्पत्ति होने से शरीरसामान्य के प्रति मातृशरीर तो निमित्तकारण नहीं हो सकता, पर मनुष्य आदि के शरीरविशेष के प्रति तो मातृशरीर निमित्त होता ही है, क्योंकि उसके बिना मनुष्यादि के शरीर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार चैतन्यसामान्य में मातृचैतन्य कारण भले न हो, पर मनुष्यादि के चैतन्य विशेष में मातृचैतन्य तो निमित्तकारण हो ही सकता है, किन्तु प्रस्तुत है सामान्यरूप से चैतन्य के प्रति उपादानकारण का विचार, और उस विचार का निष्कर्ष यह है कि चैतन्य के प्रति मातृचैतन्य को उपादान मानने में स्वेदज प्राणियों के चैतन्य में व्यभिचार होता है, अतः पुत्र चैतन्य के प्रति मातृचैतन्य उपादानकारण नहीं हो सकता, इस लिये चैतन्य के उपादानकारण के रूप में अतिरिक्त आत्मा की कल्पना अनिवार्य है ॥७३॥

कारिका ७४ में चैतन्य के उपादान कारण के सम्बन्ध में ऊपर किये गये सारे विचारों का फलितार्थ बतला गया है, जो इस प्रकार है—

'इन्द्रियाण्येवात्माऽस्तु' इति चेत् ? न मिलितानां तेषां ज्ञानाद्याश्रयत्वे चक्षुरादिशून्यस्यापि त्वाचाद्यप्रसङ्गात् । 'चक्षुश्चाक्षुषस्येव त्वगादि च त्वाचादेराश्रयः' इति चेत् ? तर्हि 'योऽहं स्पृशामि सोऽहं पश्यामि' इति प्रतीत्यनुपपत्तिः चक्षुषा दृष्टस्य वस्तुनश्चक्षुर्नाशेऽन्येन स्मरणानुपपत्तिश्च । 'चक्षुरादिजन्यनानाज्ञानाधिष्ठानमेकमेव नित्यमिन्द्रियम्' इत्यभ्युपगमे तु संज्ञामात्र एव विवाद इति दिग् ॥७४॥

नन्वनुपादानं चैतन्यमस्तु, किमात्मना ? इत्यत आह—

[निष्कर्ष—चैतन्य का उपादानकारण आत्मा भूत से भिन्न है]

उक्त रीति से मातृचैतन्य पुत्रचैतन्य का उपादानकारण किसी भी प्रकार नहीं हो सकता अतः मातृचैतन्य से अतिरिक्त ही किसी को चैतन्य का उपादान मानना होगा, चैतन्य का जो ऐसा उपादान होगा उसी को भूतों से भिन्न आत्मा के रूप में स्वीकार करना होगा। यदि कहें कि–'शरीर की वृद्धि से चैतन्य में वृद्धि और शरीर के ह्रास से चैतन्य में ह्रास होता है अतः शरीर को चैतन्य का उपादान मानना आवश्यक है'– तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अजगर सर्प का शरीर विशाल होने पर भी उसमें चैतन्य की अल्पता होती है, और सात्त्विक पुरुष का शरीर तप आदि से कृश होता है, तो भी उसमें ज्ञान की अधिकता होती है, अतः ज्ञान के वृद्धिह्रास के व्यभिचार होने से शरीर में ज्ञान की उपादानता नहीं सिद्ध हो सकती। शरीर ज्ञान की उत्पत्ति में सहकारी अवश्य है, पर ज्ञान का वृद्धि-ह्रास उसके वृद्धि-ह्रास पर निर्भर नहीं है, वह तो इन्द्रिय की पटुता और अपटुता पर अवलम्बित है।

[आत्मा इन्द्रियों से भी भिन्न है]

यदि यह शङ्का करें कि–"जब ज्ञान का वृद्धिह्रास इन्द्रिय की पटुता एवं अपटुता पर अवलम्बित है तब उसी को ज्ञान का उपादानभूत आत्मा मान लिया जाय, अतिरिक्त आत्मा की कल्पना व्यर्थ है"–तो यह उचित नहीं है, क्योंकि सभी इन्द्रियों को मिलित रूप में ज्ञानादि का आश्रय मानने पर चक्षुहीन को स्पार्शन आदि ज्ञान के भी अभाव की आपत्ति होगी, और यदि तत्तत् इन्द्रिय को तत्तत् इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का आश्रय माना जायगा तो किसी एक ही आश्रय में चाक्षुष और स्पार्शन की उत्पत्ति न होने से 'मैं ही स्पर्श करता हूं और मैं ही देखता हूं' इस प्रकार एक व्यक्ति में चाक्षुष और स्पार्शन का अनुभव न हो सकेगा। साथ ही चक्षु से दृष्ट विषय का चक्षु के अभाव में स्मरण भी न हो सकेगा। यदि यह कल्पना करें कि चक्षु आदि इन्द्रियों से भिन्न कोई एक नित्य इन्द्रिय है जो उन सभी इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का आश्रय होता है तो इस कल्पना के अनुसार एक अतिरिक्त नित्य ज्ञाता की तो सिद्धि हो ही गई, अब विवाद केवल उसके नाम में रह जाता है कि उसे इन्द्रिय कहा जाय या आत्मा कहा जाय, सो इस नाम के विवाद का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि किसी भी नाम से भूतातिरिक्त ज्ञाता की सिद्धि होने से आस्तिक का लक्ष्य पूरा हो जाता है ॥७४॥

प्रश्न होता है कि यदि कार्याकारभूत, माता, चैतन्य तथा इन्द्रियवर्ग चैतन्य का उपादान नहीं होता तो बिना उपादान के ही चैतन्य की उत्पत्ति मानी जाय, अतिरिक्त

मूलम् —न तथाभाविनं हेतुमन्तरेणोपजायते ।
किञ्चिन्नश्यति चैकान्ताद् यथाह न्यायमहर्षिः ॥७५॥

तथाभाविनं =कार्यरूपतया भवनशीलं, हेतुं विना कमपि न जायते, तत्परिणामकृतद्रव्यावस्थाविशेषरूपत्वात् तत्परिणामोत्पादस्य। न चैकान्तात्-द्रव्यपृथग्भावेन किञ्चिद् नश्यति, तत्परिणामोत्तरद्रव्यावस्थारूपत्वात् तद्विनाशस्य। न चैवं द्रव्यमेव स्यात् न तूत्पादविनाशौ, कथञ्चिद् भिन्नत्वस्याप्यीष्टत्वात्। तदिदमुक्तं सम्मतौ—

तिण्णि वि उप्पायाई अभिन्नकाला य भिन्नकाला य।
अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा ॥ [सू० १३२]

आत्मारूप उपादान की कल्पना की क्या आवश्यकता ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये ही प्रस्तुत कारिका का प्रणयन हुआ है। सुनिये :

[किसी भी कार्य की उत्पत्ति अहेतुक होती नहीं है]

तथाभावी हेतु के बिना अर्थात् कार्य के रूप में परिणमनशील कारण के बिना किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति का अर्थ ही यह है कि कारण के परिणाम से द्रव्य की एक विशेष अवस्था सम्पन्न हो। उदाहरण के रूप में घट की उत्पत्ति को समझा जा सकता है, मृद् एक द्रव्य है पहले वह एक पिण्ड की अवस्था में रहता है, बाद में कपाल की अवस्था में आता है, और तत्पश्चात् वह घट की अवस्था में प्रवेश करता है, इस प्रकार कपालरूप कारण के परिणमन से पिण्ड की अवस्था से ही अनुवर्तमान मृद् द्रव्य को एक नयी घटात्मक अवस्था सम्पन्न होती है, फलतः मृद् द्रव्य को घटात्मक अवस्था की प्राप्ति ही घट की उत्पत्ति है। यह अवस्था कपाल के परिणमन से होती है अतः कपाल घट का उपादान कारण है, क्योंकि जिस कारण के परिणमन से द्रव्य को नयी अवस्था प्राप्त होती है वही उस नयी अवस्थारूप कार्य का उपादान कारण कहा जाता है, सभी कार्यों की उत्पत्ति इसी प्रकार सम्पन्न होती है, अतः उपादानकारण के बिना किसी भी कार्य का प्रादुर्भाव असम्भव है।

[उत्पत्ति और विनाश द्रव्य से सर्वथा पृथक् नहीं हैं]

जैसे द्रव्य से पृथक् किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार द्रव्य से सर्वथा पृथक् किसी कार्य का नाश भी नहीं होता, क्योंकि कार्य का नाश का भी यही अर्थ है कि कार्य के उपलभ्यमान स्वरूप के बाद उसके स्थान में द्रव्य को एक नयी अवस्था प्राप्त हो। अतः घटाकार के बाद मृद् द्रव्य को प्राप्त होने वाली घटावस्था के स्थान में चूर्णादि अवस्था ही घट का नाश है। इस प्रकार नाशदशा में भी घट मृद् द्रव्य से कोई पृथक् ही नष्ट होता है ऐसा नहीं है। घटनाश उपादानमृद्द्रव्य में ही होता है। नाश के इस निर्वचन के अनुसार नाशरूप कार्य भी उपादानकारण के बिना नहीं होता।

उत्पत्ति और विनाश के उक्त निर्वचन को सुन कर यह शंका की जा सकती है कि—"घट की उत्पत्ति और विनाश जब मृद् द्रव्य की विशेष अवस्थायें हैं तब तो घट की उत्पादक एवं घट की विनाशकसामग्री से घटात्मक एवं चूर्णात्मक द्रव्य की निष्पत्ति होगी, उत्पत्ति और विनाश की निष्पत्ति न होगी, क्योंकि द्रव्य से भिन्न उनका कोई

अथैकप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन वोत्पादस्थितिविगमानां भिन्नकालता, यथा घटोत्पादसमये घटविशिष्टमृदुत्पादसमये वा न तद्विनाशः, अनुत्पत्तिप्रसक्तेः । नापि तद्विनाशसमये तदुत्पत्तिः, अविनाशप्रसक्तेः । न च तत्प्रादुर्भावसमय एव तत्स्थितिः, तद्रूपेणावस्थितस्यानवस्थाप्रसक्त्या प्रादुर्भावाऽयोगात् । अतो द्रव्यादर्थान्तरभूतास्ते, अनेकरूपाणामेकद्रव्यरूपत्वायोगात् । भिन्नप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन चाऽभिन्नकालता, यथा कुशूलतद्विशिष्टमृन्नाश-घटतद्विशिष्टमृदुत्पाद-मृत्स्थितीनाम् । अत एकरूपेण द्रव्यादनर्थान्तरभूतास्ते इति सम्प्रदायः ।

अस्तित्व ही नहीं है, तो फिर 'घट उत्पद्यते', 'घटः नश्यति' ये व्यवहार कैसे हो सकेंगे" ? इसका उत्तर यह है कि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार उत्पत्ति और विनाश यद्यपि द्रव्य से अपृथग्भूत-अभिन्न है, तथापि उक्त व्यवहार के अनुरोध से उन्हें द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न भी माना जाता है, जैसा कि सम्मति ग्रन्थ में कहा गया है कि—

"त्रयोऽप्युत्पादाद्योऽभिन्नकालाश्च भिन्नकालाश्च ।
अर्थान्तरमनर्थान्तरं च द्रव्येभ्यो ज्ञातव्याः —" ॥ [संस्कृतरूपान्तर]

अर्थ-उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य=सद्भावस्थ ये तीनों ही एककालिक भी हैं, भिन्नकालिक भी हैं, द्रव्य से भिन्न भी हैं, अभिन्न भी हैं । [पद्य-१३२]

[उत्पत्ति-स्थिति-नाश की समानाऽसमानकालीनता]

उत्पत्ति, स्थिति और विनाश किसी एक प्रतियोगी से अथवा उससे विशिष्टद्रव्य से निरूपित होने पर भिन्नकालिक होते हैं । जैसे उत्पत्ति स्थिति और विनाश का एक प्रतियोगी है घट, इस घट से या घटविशिष्टद्रव्य से जब वे घटोत्पत्ति या घटविशिष्ट-मृद् की उत्पत्ति, घट स्थिति या घटविशिष्ट मृद् की स्थिति, घटनाश या घटविशिष्ट मृद् का नाश, इस रूप में निरूपित होंगे तो उनके काल भिन्न होंगे, सब का एक ही काल न होगा, क्योंकि घट की या घटविशिष्टमृद् की उत्पत्ति के समय घट या घट-विशिष्टमृद् का यदि विनाश माना जायगा । तो घट या घट विशिष्टमृद् की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि घट की उत्पत्ति मृद् की घटावस्थारूप है और घट का विनाश मृद् की चूर्णावस्था रूप है, तो मृद् की ये दो विरोधी अवस्थायें एक साथ कैसे हो सकती हैं । इसी प्रकार घट के या घट विशिष्ट मृद् के नाश के समय घट की या घट विशिष्ट मृद् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि उस स्थिति में घट का विनाश न हो सकेगा, घटावस्था को वहन करता हुआ मृद्द्रव्य उसी समय चूर्णावस्था का भी वहन कैसे कर सकेगा ? इसी प्रकार घट की उत्पत्ति के अथवा घट के विनाश के समय घट की स्थिति भी नहीं हो सकती क्योंकि घटरूप से प्रथमतः स्थित की घटरूप से यदि उत्पत्ति होगी तो घटोत्पत्ति में आनन्त्यरूप अनवस्था की आपत्ति होगी, क्योंकि घट-नाश न होने तक बराबर घट की उत्पत्ति होती रहेगी । घटनाश के समय घट की स्थिति मानने पर घटनाश कभी सम्पन्न ही न हो सकेगा, इस लिये तीनों अनेकरूप होने से एक द्रव्यरूप नहीं हो सकते, अतः वे द्रव्य से भिन्न होते हैं । यह तो हुई उत्पत्ति आदि तीनों के एक प्रतियोगी से निरूपित होने पर की बात ।

अथैवं विविच्यते—उत्पादादय आधारत्वादिवदतिरिक्ता अपि, न स्वाद्यक्षणसम्बन्धादिरूपा एव, क्षण एवाव्याप्तेः। तेषां च तत्तदवच्छिन्नप्रतियोगित्वम्, मृदादिद्रव्यचानुयोगित्वम्, इति 'मृदि घट उत्पन्न' इत्यादिधीः। द्रव्ये तु पर्यायोपहितरूपेण प्रतियोगित्वं, तत्र चानुयोगितायाः प्रतियोगिन्येव समावेशाद् द्रव्यस्य नाऽनुयोगित्वम्, यथा 'घटविशिष्टं मृद्द्रव्यमुत्पन्नम्' इति। न चात्र विशेषणस्यैवोत्पादो विषयः, विशिष्टस्यैव प्रतियोगित्वानुभवात्, इतरथाऽन्वितस्य घटस्योत्पादेऽन्वयायोगाच्च। न च विशिष्टहेतुकल्पने गौरवं, घटहेतूनामेव घटविशिष्टहेतुत्वात्। अत एव क्षणहेतूनामेव क्षणविशिष्टहेतुत्वात् सर्वत्राऽविशिष्टैवसिकोत्पादसिद्धिः।

उत्पत्ति, स्थिति और विनाश जब भिन्न प्रतियोगी से निरूपित होंगे तब वे एककालिक होंगे, सब का एक ही काल होगा, जैसे कुशूल-पिण्ड, घट और मृद् ये तीन भिन्न प्रतियोगी हैं, इनसे निरूपित उत्पत्ति स्थिति और विनाश एक काल में होते हैं यथा कुशूलविनाश-कुशूलविशिष्ट मिट्टी का विनाश, घटोत्पत्ति-घटविशिष्टमिट्टी की उत्पत्ति मृद् की स्थिति ये तीनों कार्य एक ही काल में होते हैं, जिस समय मिट्टी का पिण्ड नष्ट होता है, उसी समय घट उत्पन्न होता है और उस समय मिट्टी की स्थिति भी रहती है। इस प्रकार उत्पत्ति स्थिति और विनाश तीनों मिट्टीरूप होने से द्रव्य से अभिन्न हैं।

[उत्पादादि अतिरिक्त भी है आद्यक्षणसम्बन्धादिरूप नहीं]

इस सन्दर्भ में यह विवेचन करना जरूरी है कि उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—ये यद्यपि आधारत्व, आधेयत्व आदि के समान अतिरिक्त हैं, अर्थात् आधारत्व, आधेयत्व आदि जैसे आधार आधेय आदि से भिन्न हैं, उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और विनाश उत्पन्न, स्थित और विनष्ट होने वाले पदार्थ से भिन्न हैं, तथापि वे आद्यक्षणसम्बन्ध आदि रूप नहीं हैं, क्योंकि उत्पत्ति को आद्यक्षणसम्बन्धरूप, स्थिति को मध्यक्षणसम्बन्धरूप और विनाश को अन्तिमक्षण के उत्तरक्षण के साथ असम्बन्धरूप मानने पर क्षण की उत्पत्ति क्षण की स्थिति और क्षण के नाश में उत्पत्ति, स्थिति और विनाशरूपता का भङ्ग हो जायगा, क्योंकि सम्बन्ध के लिये भिन्न दो पदार्थ आवश्यक होने से क्षण में क्षण-सम्बन्ध, क्षण क्षणैकमात्रभावी होने से, क्षण में मध्यक्षणसम्बन्ध न होने से और क्षण का कोई क्षण न होने से अन्तिमक्षणोत्तरक्षण के दुर्बोध होने से, अन्तिमक्षण के उत्तर क्षण के साथ असम्बन्ध की उपपत्ति नहीं हो सकती। इस लिये उत्पद्यमान और उत्पत्ति में केवल इतना ही भेद है कि उत्पद्यमान उत्पत्ति का प्रतियोगी यानी निरूपक होता है, और उत्पत्ति उत्पद्यमान से निरूप्य होती है, जैसे घट घटस्वरूप से उत्पत्ति का प्रतियोगी है, और घटोत्पत्ति घट उत्पत्तिस्वरूप से घटनिरूप्य है, घटप्रतियोगिक है। इसी प्रकार स्थिति और विनाश के सम्बन्ध में भी ज्ञातव्य है, उत्पद्यमान और उत्पत्ति आदि के उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि क्षण की उत्पत्ति भी ठीक उसी प्रकार द्रव्य की एकक्षणात्मक अवस्था है जैसे घट की उत्पत्ति मृद्द्रव्य की एक क्षणात्मक अवस्था है।

इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि उत्पत्ति का निरूपण केवल प्रतियोगी से ही नहीं सम्पन्न हो जाता, उसके लिये अनुयोगी की भी अपेक्षा होती है, क्योंकि उत्पत्ति किसी वस्तु की होती है और किसी आधार में होती है, जैसे घट की उत्पत्ति मृद्‌द्रव्य में होती है, उत्पत्ति का यह आधार ही उसका अनुयोगी होता है। इस प्रकार उत्पत्ति की चर्चा में उत्पत्ति, उत्पद्यमान घट, उत्पत्ति का आधार मृद्‌द्रव्य ये तीन वस्तुयें उपस्थित होती हैं, ये तीनों द्रव्यरूप में तो परस्पर में अभिन्न हैं, किन्तु उत्पत्तित्व, घटत्व, और मृत्त्वरूप से ये परस्पर में भिन्न भी हैं, अतः घट घटत्वरूप से अपनी उत्पत्ति का प्रतियोगी, मृद् मृत्त्वरूप से अपने में सम्पन्न होने वाली उत्पत्ति का अनुयोगी और उत्पत्ति उत्पत्तित्वरूप से घट और मृद्‌रूप प्रतियोगी एवं अनुयोगी से निरूप्य होती है। उत्पत्ति के साथ घट और मृद् का यह सम्बन्ध 'मृदि घट उत्पन्नः' इस प्रतीति से सिद्ध होता है। 'मृदि घट उत्पन्नः' इस वाक्य में मृद् शब्द के उत्तर श्रूयमाण सप्तमी का अर्थ है अनुयोगित्व, उसका अन्वय होता है उत्पत्ति के साथ और उत्पन्न शब्द में 'क्त' प्रत्यय का अर्थ है प्रतियोगित्व या प्रतियोगी, उसका अन्वय होता है घट के साथ, अतः 'मृदि घट उत्पन्नः' का अर्थ होता है, 'मृदनुयोगिक-उत्पत्ति प्रतियोगी घटः', जिस का स्पष्ट चित्र है-'मृन्निष्ठ-अनुयोगितानिरूपित-प्रतियोगिताधर्मिभिन्नो घटः'। इस प्रकार यह बात विशदरूप से ज्ञात हो सकती है कि 'मृदि घट उत्पन्नः' यह प्रतीति मिट्टी घट और उत्पत्ति के बीच उक्तप्रकार का सम्बन्ध मानने पर ही उपपन्न हो सकती है।

इस प्रसङ्ग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि घट की उत्पत्ति को घटविशिष्ट मृद्‌द्रव्य की भी उत्पत्ति कहा जाता है, पर वह पर्याय से मुक्त होकर नहीं, किन्तु पर्याय से विशिष्ट होकर, क्योंकि कुलाल के व्यापार से शुद्धमृद्‌द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु घटविशिष्टमृद्‌द्रव्य की उत्पत्ति होती है। कहा जाता है 'कुलाल के व्यापार से मिट्टी ही घडा रूप बन गई। सामान्य मृद् घटाकार मृद् बन गई'। इस प्रकार जब घटविशिष्टमिट्टिद्रव्य उत्पत्ति का प्रतियोगी होता है तब उत्पत्ति केवल प्रतियोगी से ही निरूपित होती है, अनुयोगी से निरूपित नहीं होती, क्योंकि अनुयोगी प्रतियोगी के ही गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है, अतः घटोत्पत्ति जब घटविशिष्टमृद्‌द्रव्य की उत्पत्ति के रूप में प्रतीत होती है तब प्रतीति का उल्लेख 'घटविशिष्टमृद्‌द्रव्यं उत्पन्नम्' इस वाक्य से होता है, इसमें अनुयोगी का पृथक् उल्लेख नहीं होता। इस प्रतीति के बारे में यदि यह शङ्का हो कि "मृद्‌द्रव्य तो पहले से रहता है, अतः उसकी उत्पत्ति संभव न होने से यह प्रतीति मृद्‌द्रव्य की उत्पत्ति को विषय न कर घट की ही उत्पत्ति को विषय करती है"-तो इसका यह समाधि है कि 'मृद्‌द्रव्यं घटविशिष्टं जातम्' इस प्रतीति में घटविशिष्ट मृद्‌द्रव्य में ही प्रतियोगिता का स्फुरण होता है। दूसरी बात यह है कि घटोत्पत्ति को उक्त प्रतीति का विषय तभी माना जा सकता है, जब उत्पत्ति के साथ विशेषणरूप में घट का अन्वय हो किन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि घट मिट्टी द्रव्य में विशेषणरूप में अन्वित है और यह नियम है कि 'जो किसी एक में विशेषणरूप से अन्वित हो कर जिस प्रतीति में भासित होता हो वह उसी प्रतीति में किसी अन्य में भी विशेषण होकर भासित नहीं होता।'

न चैवं 'ज्ञानमुत्पन्नम्' इतिवद् 'आत्मोत्पन्नः' इति व्यवहारः स्यात् आत्मत्वे-नोत्पादाऽप्रतियोगित्वे तु 'कम्बुग्रीवादिमानुत्पन्नः' इत्यपि न स्याद् इति वाच्यम्, गुरुरूपस्यापि प्रकारताद्यवच्छेदकत्ववदुत्पादादिप्रतियोगितावच्छेदकत्वात् । अत एव नित्यानित्यत्वयोरप्यसांकर्येण ।

नन्वेवं 'परमाणुर्नित्यः' इति व्यवहारोऽपि भ्रान्तः स्यात्, परमाणोः परमाणुभावेन नाशस्याप्यभ्युपगमात्, अत एवावयव-विभागोत्तरं तथोत्पादप्रतिपादनात्, तदुक्तम्--

"घटविशिष्टभिन्नद्रव्य को उत्पत्ति का प्रतियोगी मानने पर घटविशिष्टभिन्नद्रव्य के अतिरिक्त कारणों की कल्पना में गौरव होगा"-ऐसा कुतर्क ठीक नहीं है, क्योंकि घटकारणों से ही घटविशिष्टभिन्नद्रव्य की उत्पत्ति हो जाने से अतिरिक्तकारण की कल्पना अनावश्यक है। इसीलिये क्षणहेतुओं से ही क्षणविशिष्ट की भी उत्पत्ति हो जाने से ऐसे सभी कार्यों की समानरूप से विस्रसा-उत्पाद-अर्थात् पुरुषप्रयत्न के बिना ही स्वाभाविक उत्पाद सिद्ध होता है।

['जीव उत्पन्न हुआ' इस व्यवहार की आपत्ति का निराकरण]

ऐसा मत समझीए कि-"विशेषण की उत्पत्ति के समय यदि विशिष्ट की भी उत्पत्ति होगी तो ज्ञान के साथ ज्ञानाश्रय आत्मा की भी उत्पत्ति होगी अतः जैसे 'ज्ञानं उत्पन्नम्' यह व्यवहार होता है, उसी प्रकार 'आत्मा उत्पन्नः' यह भी व्यवहार होना चाहिये"-चूँकि ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ज्ञानविशिष्ट आत्मा की उत्पत्ति होने पर भी आत्मा आत्मस्वरूप से उत्पत्ति का प्रतियोगी नहीं होता। अतः आत्मा को आत्मस्वरूप से उत्पत्ति प्रतियोगी के रूप में विषय करने वाले 'आत्मा उत्पन्नः' इस व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती। यह भी दोष नहीं है कि-"तब तो 'कम्बुग्रीवादिमान् उत्पन्नः' यह भी व्यवहार न हो सकेगा, क्योंकि यह व्यवहार कम्बुग्रीवादिमान् में उत्पत्ति की प्रतियोगिता को कम्बुग्रीवादिमत्स्वरूप से विषय करता है और कम्बुग्रीवादिमत्त्व घटत्व की अपेक्षा गुरुधर्म होने से उत्पत्ति की प्रतियोगिता का अवच्छेदक हो नहीं सकता।"—

[गुरुधर्म को भी अवच्छेदक मान सकते हैं]

चूँकि 'कम्बुग्रीवादिमान् देशः', 'अत्र देशे कम्बुग्रीवादिमान्' इत्यादि व्यवहार के अनुरोध से जैसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व को प्रकारता, विशेष्यता आदि का अवच्छेदक माना जाता है उसी प्रकार उसे 'कम्बुग्रीवादिमान् उत्पन्नः' इस व्यवहार के अनुरोध से उत्पत्ति की प्रतियोगिता का भी अवच्छेदक माना जा सकता है। इसीलिये ज्ञानात्मकपर्याय और आत्मद्रव्य में अभेद होने पर भी 'ज्ञानं नित्यम्' 'आत्मा अनित्यः' इस प्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व के सांकर्य की भी आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि दोनों में द्रव्य मुख्य दृष्टि से अभेद होने पर भी ज्ञानत्व और आत्मत्व रूप से भेद मान कर तथा ज्ञानस्वरूप से केवल अनित्यता और आत्मस्वरूप से केवल नित्यता मान कर उक्त सांकर्यापत्ति का परिहार हो सकता है। ज्ञानस्वरूप से नित्यता न मानने का कारण यही है कि ज्ञान ज्ञानस्वरूप से उत्पन्न एवं नष्ट होता है और यह नियम है कि 'जो जिस रूप से उत्पन्न या नष्ट होता है वह उस रूप से नित्य नहीं होता'।

दव्वंतरसंजोगाहि केई दवियस्स बेंति उप्पायं ।
उप्पायत्थाऽकुसला विभागजायं ण इच्छंति ॥
अणु–दुअणुएहिं दव्वे आरद्धे तिअणुयं ति ववएसो ।
तत्तो य पुण विभत्तो अणु त्ति जाओ अणू होइ ॥ इति (सम्मतिगाथा १३५–१३६)

मुक्तं चैतत्, नाऽऽद्यपरमाणुनाशे स्थूलकार्याभावप्रसङ्गात् इति चेत्? न, व्यावहारिकानित्यत्वलक्षणे समुदायविभागरूपस्यैव नाशस्य प्रवेशयत्वादिति । अधिकं [illegible]-आलोके । उक्ताऽर्थे व्याससंमतिमाह 'यथाऽऽह व्यास महर्षिः ।' छन्दःप्रतिलोमता त्वार्षत्वान्न दोषाय ॥७५॥

[परमाणुनित्यताव्यवहारभ्रान्तता की आपत्ति और परिहार]

"जिस रूप से जो उत्पन्न या नष्ट होता है, उस रूप से वह नित्य नहीं होता"– इस नियम को तोड़ने के लिये कोई संशय करते हैं कि–"तब तो 'परमाणुः नित्यः' इस प्रकार परमाणुस्वरूप से परमाणु में जो नित्यता का व्यवहार होता है, वह अप्रमाणिक हो जायगा, क्योंकि परमाणुओं से स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति के समय परमाणुस्वरूप से परमाणु का नाश होता है और स्थूलद्रव्य के अवयवों का विभाग होकर स्थूल द्रव्य का नाश होने के समय परमाणुस्वरूप से परमाणु की उत्पत्ति होती है, जैसे कि 'सम्मति' नामक ग्रन्थ में कहा गया है–

द्रव्यान्तरसंयोगेभ्यः केचिद् द्रव्यस्य ब्रुवन्त्युत्पादम् ।
उत्पादार्थाऽकुशला विभागजातं नेच्छन्ति ॥
अणुद्व्यणुकैर्द्रव्ये आरब्धे त्र्यणुकमिति व्यपदेशः ।
ततश्च पुनर्विभक्तोऽणुरिति जातोऽणुर्भवति ॥ (संस्कृतरूपान्तर)

अर्थ–'कुछ लोग एक द्रव्य में द्रव्यान्तर के संयोग से नये द्रव्य की उत्पत्ति मानते हैं, वे लोग उत्पत्ति के अर्थ को पूर्ण रूप में समझने में अकुशल होने के कारण विभाग से उत्पन्न होने वाले द्रव्य को नहीं स्वीकार करते । किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जैसे अणु और द्व्यणुकों के संयोग से एक स्थूलद्रव्य की उत्पत्ति होती है और उस उत्पन्नद्रव्य को त्र्यणुक कहा जाता है, उसी प्रकार अणु और द्व्यणुकों का विभाग होने पर अणु द्रव्य की भी उत्पत्ति होती है, और उस उत्पन्न द्रव्य को अणु परमाणु कहा जाता है ।'

स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति के समय परमाणु के परमाणुभाव का नाश मानना युक्तिसंगत भी है, अन्यथा विभिन्न परमाणुओं का संयोग होने पर भी परमाणुओं का परमाणुभाव यदि पहले ही जैसा बना रहेगा तो स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति भी न हो सकेगी। इस प्रकार जब परमाणुस्वरूप से परमाणु का नाश और उत्पाद होता है, तब वह परमाणुरूप रूप से नित्य नहीं हो सकता, अतः 'परमाणुर्नित्यः' इस व्यवहार की भ्रान्तरूपता अनिवार्य है ।"– इस संशय का उत्तर यह है कि व्यावहारिकानित्यता के लक्षण में समुदायविभागरूप नाश का ही प्रवेश है, अतः परमाणु की व्यावहारिकनित्यता में कोई बाधा न होने से उक्तव्यवहार में अप्रमाणिकता की आपत्ति नहीं हो सकती । कहने का आशय यह है कि नाश का अप्रतियोगित्व ही व्यावहारिकनित्यत्व का लक्षण है, इस लक्षण में प्रविष्ट नाश 'समुदायविभाग' रूप है, अतः जिसका समुदायविभागरूप नाश

मूलम्–"नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः" ॥७९॥

नासतः=खरविषाणादेः, विद्यते भावः=उत्पादः, असत्त्वव्याघातप्रसङ्गात् । सतश्च पृथिव्यादेः, अभावोऽपि नास्ति, शशशृङ्गवदसत्त्वप्रसङ्गात् । उभयोरप्यनयोरर्थयोः, तत्त्वदर्शिभिः=परमार्थग्राहिभिः, अन्तो=नियमः, दृष्टः=प्रमितः,–'यद् यत्रोत्पद्यते–तत्र तत् सत्, यच्च यत्र सत्–तत् तन्निष्ठाभावाऽप्रतियोगी'ति ॥७९॥

इदमेवापरेऽपि वदन्ति–

मूलम्– नाभावो भावमाप्नोति, शशशृङ्गे तथाऽगतेः ।
भावो नाभावमेतीह, दीपध्वंसे न सर्वथा ॥८०॥

न हो अर्थात् उत्पादक अवयवों के विभाग से जिसका नाश न हो वही व्यावहारिक-नित्य होता है । परमाणु की उत्पत्ति अणुओं के संयोग से नहीं किन्तु द्व्यणुक के अणुओं के विभाग से होती है अतः उसका समुदायविभागरूप नाश सम्भवित ही नहीं है । इस लिये परमाणुस्वरूप से समुदायविभागरूप नाश न होने से 'परमाणुः नित्यः' इस व्यवहार की प्रामाणिकता की हानि नहीं हो सकती, और वह नियम भी अक्षुण्ण बना रहता है ।

इस विषय में अधिक जिज्ञासुओं के लिये उपाध्यायजी स्वरचित मितङ्ग्यालोक नामक ग्रन्थावलोकन की ओर संकेत करते हैं ।

'किसी वस्तु की न तो ऐकान्तिक उत्पत्ति होती है और न किसी वस्तु का ऐकान्तिक नाश होता है,' इस विषय में महर्षि व्यास की भी सम्मति है । जो अग्रिम कारिका में उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करेंगे ।

यहाँ प्रस्तुत कारिका में 'यथाह व्यासमहर्षिः' इस अंश में अनुष्टुप् छन्द खण्डित है, पर यह दोष नहीं है, क्योंकि कारिकाकार एक ऋषि हैं, उनका वचन आर्ष है, और ऋषि को लौकिक नियमों का बन्धन होता नहीं है ॥७८॥

कारिका ७९ का अर्थ इस प्रकार है–

[उत्पत्ति और नाश के विषय में व्यास की सम्मति]

खरविषाण आदि असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उत्पत्ति होने पर उसके असत्त्व का व्याघात हो जायगा । पृथिवी आदि सत् पदार्थों का अभाव नहीं होता, क्योंकि उनका अभाव होने पर शशशृङ्ग के समान उनका भी असत्त्व हो जायगा । परमार्थदर्शी विद्वानों ने असत् और सत् के विषय में यह नियम निर्धारित किया है कि 'जो वस्तु जहाँ उत्पन्न होती है वहाँ वह पहले भी किसी न किसी रूप में सत् होती है, और जो वस्तु जहाँ सत् होती है वहाँ वह किसी रूप में सदैव सत् ही रहती है, वहाँ एकान्ततः उसका नाश यानी अभाव नहीं होता' ॥७९॥

[उत्पत्ति और नाश के विषय में दूसरे लोगों की सम्मति]

८०वीं कारिका में उक्त विषय में अन्य लोगों की भी सम्मति प्रदर्शित की गयी है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

न अभावः=तुच्छः, भावमाप्नोति=पारमार्थिकत्वं प्रतिपद्यते, शशशृङ्गे तथाऽदृष्टेः= भावत्वेनापरिच्छेदात् । भावोऽपि पारमार्थिक इह=जगति अभावं=तुच्छस्वभावं, नैति । ननु दीपो भावरूपः, स चालोकाभावात्मकान्धकारस्वरूपतां प्रतिपद्यत इति चेत् ? न= दीपस्यान्धकारपरिणामः, सर्वथाऽभावरूपो न, भास्वरपरिणामपरित्यागेऽपि द्रव्यत्वाऽपरित्यागात् ।

तेजसोऽतिविनिवृत्तिरूपता स्वीकृता तमसि या कणाशिना ।
द्रव्यतां वयममी समीक्षिणस्तत्र प्रमाणमवलम्ब्य चक्ष्महे ॥१॥

तमो द्रव्यं, रूपवत्त्वात्, घटवत् । न च हेत्वसिद्धिः, 'तमो नीलम्' इति प्रतीतेः सार्वजनीनत्वात् । न चासौ भ्रमः बाधकाभावात् ।

न चोद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शव्याप्यम्, इत्युद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शापत्तिर्बाधिका, इन्द्रनीलप्रभासदृशरितनीलभागस्तु स्मर्यमाणारोपेणैव तत्प्रभायां नीलधीनिर्वाहाद् गौरवादेव न कल्प्यते, इति तत्र न व्यभिचारः, कुङ्कुमादिपूरितस्फटिकभाण्डे

अभावात्मक पदार्थ तुच्छ होता है, वह कभी भी परमार्थरूप नहीं होता जैसे शशशृङ्ग कभी भी सत् नहीं होता. उसमें कभी भी भावत्व-परमार्थरूपता का परिच्छेद (बोध) नहीं होता । इसी प्रकार भावात्मकपदार्थ परमार्थरूप होता है, वह तुच्छ के असत्स्वभाव को कभी नहीं प्राप्त करता, अर्थात् सद्वस्तु कभी भी असत् नहीं होती । शंका करें कि-"दीप भावात्मक पदार्थ होने हुये भी तेल या बत्ती के समाप्त हो जाने पर अथवा तीव्र वायु का झोंका लग जाने पर आलोकाभावात्मक अन्धकार रूप हो जाता है । अतः 'भावात्मक पदार्थ कभी अभावात्मक नहीं होता,' यह नियम व्यभिचरित है,"-तो यह व्यर्थ है, क्योंकि दीप का अन्धकाररूपपरिणाम सर्वथा अभावरूप नहीं होता । उस में केवल भास्वरपरिणाम का अभाव होता है, द्रव्यत्व का अभाव नहीं होता । कहने का आशय यह है कि अन्धकार आलोकाभावरूप नहीं, किन्तु भास्वररूप से शून्य एक द्रव्य है ।

[अन्धकार अभावरूप नहीं है]

व्याख्याकार का कहना है कि कणाद ने जिस अन्धकार को तेज का अत्यन्ताभाव माना है, समीक्षक गण उसे ही प्रमाण के बल से द्रव्यरूप मानते हैं । वह प्रमाण अनुमान है, जैसे 'अन्धकार द्रव्यस्वरूप है' क्योंकि वह नीलरूप का आश्रय है; जो रूप का आश्रय होता है वह द्रव्यस्वरूप होता है, जैसे 'घट' । अन्धकार में रूपात्मक हेतु की असिद्धि नहीं है, क्योंकि 'तमो नीलम्'- अन्धकार नील होता है,' इस सार्वजनिक प्रतीति से अन्धकार में रूप सिद्ध है, अन्धकार में नीलरूप की प्रतीति भ्रमरूप नहीं है क्योंकि अन्यविध प्रतीति से उस का बाध नहीं होता ।

[उद्भूतरूपव्याप्य उद्भूतस्पर्श की अन्धकार में आपत्ति]

यह शङ्का की जा सकती है कि-"उद्भूतरूप उद्भूतस्पर्श का व्याप्य है, अतः अन्धकार में उद्भूतरूप मानने पर उस में उद्भूतस्पर्श की भी आपत्ति होगी इसलिये यह आपत्ति ही अन्धकार के रूपवान् होने में बाधक है

बहिरारोप्यमाणपीताश्रयेऽपि न व्यभिचारः, तत्रापि स्मर्यमाणारोपेणैव पीतधीनिर्वाहात् बहिष्पीतद्रव्याऽकल्पनात्, बहिर्गन्धोपलब्धेस्तु घ्राणाकृष्टानुद्भूतरूपभागान्तरेणैवोपपत्तेरिति वाच्यम्, मानाभावात्, प्रभायां व्यभिचाराच्च । न चोद्भूतनीलरूपवत्त्वमेवोद्भूतस्पर्शव्याप्यम् , न च धूमे व्यभिचारः, तत्राप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वात्, अत एव तत्सम्बन्धाच्चक्षुषो जलनिपात इति वाच्यम्, चक्षुर्धूमसंयोगत्वेनैवाश्रुपातजनकत्वाद् धूमे उद्भूतस्पर्शाऽसिद्धेः, नीलिमभ्रमेणापि व्यभिचाराच्च ।

यदि यह कहें कि 'इन्द्रनीलमणि की प्रभा तैजसद्रव्य होने से स्वभावतः शुभ्र है, किन्तु उसमें नीलिमा की प्रतीति होती है, उसके अनुरोध से उस प्रभा में उद्भूतस्पर्श से शून्य किसी नील द्रव्य की अनुवृत्ति मानना आवश्यक है, इस नीलद्रव्य में उद्भूतरूप उद्भूतस्पर्श का व्यभिचारी है अतः उद्भूतरूप उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नहीं हो सकता'—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि दूरस्थ उद्भूतस्पर्शवान् नीलद्रव्य के नीलरूप का स्मरण मान कर उसके आरोप से भी इन्द्रनील की प्रभा में नीलिमा की प्रतीति का निर्वाह किया जा सकता है, अतः प्रभा में उद्भूत स्पर्शशून्य नीलद्रव्य की अनुवृत्ति की कल्पना गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है ।

यदि यह कहें कि—'स्फटिकमणि के शुभ्र भाण्ड में कुङ्कुम भर देने पर भाण्ड के बाहिर पीतवर्ण की प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति के लिये भाण्ड के ऊपरी भाग पर किसी ऐसे पीतद्रव्य का अस्तित्व मानना आवश्यक है, जिस में उद्भूतस्पर्श न हो और जिस के सन्निधान से भाण्ड के बाहर पीतिमा की प्रतीति हो सके । उस पीतद्रव्य में उद्भूतरूप उद्भूतस्पर्श का व्यभिचारी है'-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्फटिकभाण्ड कुङ्कुम से पूरित होने की दशा में भाण्ड के बाहर जो पीतिमा प्रतीत होती है उसका निर्वाह भी किसी दूरस्थ उद्भूतस्पर्शयुक्तपीतद्रव्य के पीतरूप का स्मरण मान कर उसके आरोप द्वारा सम्पन्न हो सकता है । अतः स्फटिकभाण्ड के ऊपरी भाग में किसी पीतद्रव्य सन्निधान की कल्पना अनावश्यक है । यदि यह कहें कि–'स्फटिक भाण्ड के बाहर पीतिमा के साथ गन्ध की भी उपलब्धि होती है, तो पीतिमा की प्रतीति का निर्वाह तो दूरस्थ द्रव्य के स्मर्यमाण पीतरूप के आरोप से किया जा सकता है, पर गन्ध की उपलब्धि तो गन्धवानद्रव्य के सन्निधान के बिना नहीं हो सकती, तो इस प्रकार जो गन्धवान् द्रव्य सन्निहित माना जायगा, प्रतीयमान पीतरूप भी लाघव से उसीका रूप माना जायगा अतः उस में उद्भूतरूप में उद्भूतस्पर्श का व्यभिचार अपरिहार्य है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि गन्ध की उपलब्धि वायु द्वारा उपनीत अनुद्भूत रूपवान् द्रव्य के गन्ध से भी सम्भव होने से उक्त रीति से व्यभिचार की शङ्का अयुक्त है । फलतः उद्भूतरूप में उद्भूतस्पर्श की व्याप्ति के निर्बाध होने से अन्धकार में उद्भूतस्पर्श की आपत्ति उसके उद्भूतरूपवान् होने में बाधक हो सकती है"—

[उद्भूतरूप की उद्भूतस्पर्श में व्याप्ति नहीं है ।]

विचार करने पर यह कथित आपत्ति निराधार हो जाती है, क्योंकि उद्भूतरूप में उद्भूतस्पर्श की व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत उक्त व्याप्ति के

न च पाटितपटसूक्ष्मावयव इव तथाप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वानुमानम्, अनुद्भूतरूपस्यो-द्भूतरूपजनकताया इवानुद्भूतस्पर्शस्यापि निमित्तभेदसंसर्गेणोद्भूतस्पर्शजनकतासम्भा-वात् दृष्टान्तासम्प्रतिपत्तेः। अपि च त्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पार्शनप्रसङ्गः। महत्त्वविशेषाभावान्न, इति चेत्? न, एकत्वविशेषाभावेन विनिगमनाविरहात् प्रत्यासत्त्वाच्च। 'आश्रयबाधाभावस्य प्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वान्न' इति चेत्? न, उद्भूतस्पर्शाभावस्यैव तत्प्रतिबन्धकत्वेन तथानुद्भूतत्वकल्पनौचित्यात्। वस्तुतः प्रभा-घटसंयोगादौ पराभिमतजातित्वानीयत्वमग्राह्यतास्वभावादेव न स्पार्शनम्, इति नैता-वताऽनुद्भूतत्वकल्पनमपि।

विघटनार्थ प्रभा में-उद्भूतरूप में उद्भूतस्पर्श का व्यभिचार विद्यमान है। यदि यह कहें कि-"प्रभा में व्यभिचार होने से यदि उद्भूतरूप में उद्भूतस्पर्श की व्याप्ति नहीं है, तो मत हो, पर उद्भूतनीलरूप में उद्भूतस्पर्श की व्याप्ति तो निर्बाध है। इस व्याप्ति में शङ्का की जाय कि-'धूम में उद्भूतनीलरूप में उद्भूतस्पर्श का व्यभिचार होने से उक्त व्याप्ति में बाध है'-तो यह व्यर्थ है, क्योंकि चक्षु के साथ धूम का सम्बन्ध होने पर चक्षु से अश्रुपात होने के कारण धूम में उद्भूतस्पर्श का होना अनिवार्य होने से उद्भूतनीलरूप में उद्भूतस्पर्श का व्यभिचार असिद्ध है। इस प्रकार जब उद्भूतनीलरूप में उद्भूतस्पर्श की व्याप्ति निर्बाध है, तब अन्धकार में यदि उद्भूत-नीलरूप माना जायगा तो उसमें उद्भूतस्पर्श की भी आपत्ति होगी, अतः उस में उद्भूतनीलरूप नहीं माना जा सकता, नीलेतररूप भी उस में प्रमाण के अभाव में मान्य नहीं हो सकता, फलतः अन्धकार में रूप की सिद्धि न होने से रूप से अन्धकार द्रव्यत्व का अनुमान दुर्घट है"-तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि चक्षु-धूमसंयोग को अश्रुपात का जनक मान लेने से धूम में उद्भूतस्पर्श मानना आवश्यक नहीं है अतः धूम में उद्भूतनीलरूप में उद्भूतस्पर्श का व्यभिचार अनिवार्य है। इसी प्रकार नीली-द्रव्य के त्रसरेणु में भी उद्भूतनीलरूप में उद्भूतस्पर्श का व्यभिचार अपरिहार्य है। इस लिये उद्भूतनीलरूप में उद्भूतस्पर्श की व्याप्ति न होने से उद्भूतनीलरूप से उद्भूतस्पर्श की आपत्ति का कोई भय नहीं है, अतः कोई बाधक न होने से अन्धकार में उद्भूत नीलरूप सिद्ध है और इसलिये रूप से अन्धकार में द्रव्यत्व का अनुमान करने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

[नीलित्रसरेणु में व्यभिचारापत्ति के उद्धार का प्रयत्न]

शङ्का हो सकती है कि-"किसी पट को फाड़ने पर जो उसके सूक्ष्म अवयव निक-लते हैं उनका स्पर्श उद्भूत होता है, क्योंकि यदि वह उद्भूत न होगा तो उससे पट में उद्भूतस्पर्श की उत्पत्ति न होगी और न उसके सम्बन्ध से चक्षु से अश्रुपात होगा। तो पट के उस सूक्ष्म अवयव दृष्टान्त से नीलि द्रव्य के त्रसरेणु में भी उद्भूतस्पर्श का अनुमान हो जायगा, अतः नीलिद्रव्य के त्रसरेणु में भी उद्भूतरूप में उद्भूतस्पर्श का व्यभिचार नहीं हो सकता।"—किन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि फाड़े हुए पट के सूक्ष्म अवयव में भी उद्भूतस्पर्श के होने में प्रमाण न होने से दृष्टान्त की असम्प्रतिपत्ति

स्वीकृत नहीं है। यदि यह कहें कि-"पट के सूक्ष्म अवयवों में उद्भूतस्पर्श न मानने पर पट में उद्भूतस्पर्श की आपत्ति न हो सकेगी"—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे अनुद्भूतरूप से उद्भूतरूप की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अनुद्भूतस्पर्श से अदृष्ट आदि विशेषनिमित्त के सहयोग से उद्भूतस्पर्श की भी उत्पत्ति हो सकती है। पट के सूक्ष्मावयव के सम्बन्ध से चक्षु से अश्रुपात की उत्पत्ति भी अश्रुपात के प्रति चक्षु और पाटित पट के सूक्ष्मावयव के संयोग को कारण मान लेने से सम्पन्न हो सकती है, अतः पट के सूक्ष्मावयवों में उद्भूतस्पर्श अप्रामाणिक ही है, इस प्रकार उद्भूतरूप पट के सूक्ष्म अवयवों में भी उद्भूतस्पर्श का व्यभिचारी है।

अथवा 'न च पाटितपट'....से 'दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्तेः', ग्रन्थसन्दर्भ की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि-पट के सूक्ष्मावयवों का दृष्टान्त नीलिद्रव्य के त्रसरेणु में उद्भूतस्पर्श की अनुमिति के अनुकूल दृष्टान्त के रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि अनुद्भूतरूप में उद्भूतरूप की जनकता के समान निमित्तविशेष के सहयोग से अनुद्भूतस्पर्श में उद्भूतस्पर्श की जनकता का सम्भव होने से यह अनुमान कि "नीलिद्रव्य का त्रसरेणु उद्भूतस्पर्शवान् है, क्योंकि उद्भूतस्पर्शवान् चतुरणुक आदि का जनक है, जैसे पाटित पट का सूक्ष्मावयव' अथवा 'नीलिद्रव्य के त्रसरेणु का स्पर्श उद्भूत है, क्योंकि चतुरणुक में उद्भूतस्पर्श का जनक है, जैसे पाटितपट के सूक्ष्मावयव का स्पर्श"-निराधार है।

[अनुद्भूतरूप में उद्भूतरूपजनकता पर प्रश्न]

अनुद्भूतस्पर्श में उद्भूतस्पर्श की जनकता के समर्थन में अनुद्भूतरूप में उद्भूतरूप की जनकता को दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत किया गया है इस पर प्रश्न हो सकता है कि-"यह जनकता सिद्ध कहां है? क्योंकि सर्वत्र परमाणु द्व्यणुक आदि में उद्भूतरूप ही माना जाता है, उसी से त्र्यणुक आदि में उद्भूतरूप की उत्पत्ति होती है। परमाणु और द्व्यणुक में उद्भूतरूप होने पर भी उन का चाक्षुषप्रत्यक्ष इसलिये नहीं होता कि उनमें चाक्षुषप्रत्यक्ष का कारण महत्त्व नहीं रहता। अतः इस दृष्टान्त के सिद्ध न होने से उस के सहारे अनुद्भूतस्पर्श में उद्भूतस्पर्शजनकता के औचित्य का समर्थन शक्य नहीं है।"—इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि चक्षु के प्राप्यकारित्व-सन्निकृष्टवस्तुग्राहकत्व पक्ष में चक्षु से पर्वत सूर्य चन्द्र आदि के प्रत्यक्ष की उपपत्ति के लिये प्राभाकर आदि विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि चक्षु की रश्मि जब बाहर निकलती है तब बाह्य आलोक से मिलकर एक बृहत् चक्षुरश्मि को उत्पन्न कर देती है। इस बृहत् चक्षुरश्मि द्वारा दूरस्थ द्रव्यों के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने से चक्षु द्वारा उन का प्रत्यक्ष सम्पन्न होता है। तो यह जो बृहच्चक्षुरश्मि उत्पन्न होती है, उसे दृश्यमान बाह्यआलोक से अतिरिक्त मानने में गौरव होने के कारण दृश्यमान बाह्यआलोकस्वरूप मानना ही उचित है और उसका उद्भूतरूप चक्षुरश्मि के अनुद्भूतरूप एवं बाह्यआलोक के उद्भूतरूप से उत्पन्न होता है, इस प्रकार चक्षुरश्मि के अनुद्भूतरूप में बाह्यआलोक-चक्षुरश्मि के संयोग से उत्पन्न बाह्यआलोकात्मक

बृहच्चक्षुरश्मि के उद्भूतरूप की जनकता सिद्ध है' ।

त्रसरेणु में उद्भूतस्पर्श मानने में यह बाधा और है कि यदि त्रसरेणु का स्पर्श यदि उद्भूत होगा तो उसके स्पार्शनप्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । 'स्पार्शनप्रत्यक्ष में विजातीय महत्परिमाण कारण है, त्रसरेणु में उसका अभाव होने से उस के स्पर्श का स्पार्शनप्रत्यक्ष नहीं हो सकता'—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विनिगमना के अभाव में यह भी कहा जा सकता है कि स्पार्शनप्रत्यक्ष में विजातीयएकत्व, विजातीय एक पृथक्त्व आदि कारण हैं, उनका अभाव होने से त्रसरेणु के स्पर्श का स्पार्शनप्रत्यक्ष नहीं होता, अतः इन कल्पनाओं की अपेक्षा यही मानना उचित है कि त्रसरेणु का स्पर्श अनुद्भूत होता है और उस अनुद्भूतस्पर्श से भी निमित्तविशेष के योग से चतुरणुक आदि में उद्भूतस्पर्श की उत्पत्ति होती है ।

महत्त्वविशेष के अभाव से त्रसरेणु के स्पर्श का स्पार्शनप्रत्यक्ष नहीं होता, यह कहना इसलिये भी ठीक नहीं है कि–स्पर्श तो द्रव्य से अन्य है अतः उसके प्रत्यक्ष में महत्त्व कारण ही कैसे हो सकता है, क्योंकि वह महत्त्व तो द्रव्य का धर्म होने से द्रव्य ही के प्रत्यक्ष का कारण हो सकता है, अतः त्रसरेणु में यदि महत्त्वविशेष का अभाव है तो उससे त्रसरेणु के ही स्पार्शनाभाव की उपपत्ति होगी न कि उसके स्पर्श के स्पार्शनाभाव की उपपत्ति होगी ।

---

(१) 'चक्षु-रश्मि और बाह्यालोक के संयोग से जो बृहद् चक्षु-रश्मि उत्पन्न होती है, उसमें अनुद्भूत ही रूप माना जाय, तो चक्षु के अनुद्भूतरूप में उद्भूतरूपजनकता नहीं हो सकती'— यह शङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि दृश्यमान बाह्यालोक से भिन्न बृहद् चक्षु-रश्मि की उत्पत्ति मानने पर उस समय द्रष्टा और दृश्य के मध्य उक्त बृहद् चक्षु-रश्मि और बाह्यालोक–इन अतिरिक्त दो द्रव्यों की कल्पना में गौरव है । "उक्त आलोकात्मक बृहद् चक्षु-रश्मि में उद्भूतरूप की उत्पत्ति बाह्यालोक के उद्भूतरूप से ही होती है, उसमें चक्षु का अनुद्भूतरूप कारण नहीं होता"–यह कल्पना भी ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि अवयवी के रूप में सभी अवयवों के रूप कारण होते हैं । दूसरी बात यह है कि यदि उक्त बृहद् चक्षु-रश्मि में केवल बाह्यालोक का ही रूप कारण होगा, तो चक्षु-रश्मिभाग में रूप की उत्पत्ति न होने से बृहद् चक्षुरश्मि में रूप अव्याप्यवृत्ति हो जायगा और रूप की दैशिक अव्याप्यवृत्तिता न्यायसिद्धान्त से विरुद्ध है ।

"चक्षु-रश्मि और बाह्यालोक से दृश्यमान आलोकात्मक बृहद् चक्षु-रश्मि की उत्पत्ति मानने पर उसमें चक्षुष्ट्व और आलोकत्व का सांकर्य होने से दोनों के जातित्व का भङ्ग होगा"–यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसे सामान्य आलोक अर्थात् चक्षु-रश्मि से अनारब्ध आलोक से विजातीयआलोक स्वरूप मानने से सांकर्य का परिहार हो जायगा ।–"उक्त बृहत् चक्षु-रश्मि में चक्षुष्ट्व न मानने पर उसके द्वारा दूरस्थ द्रव्य के साथ चक्षु का सन्निकर्ष न हो सकेगा और चक्षुष्ट्व मानने पर उसमें चक्षुष्ट्व के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, क्योंकि 'जिस इन्द्रिय से जो भासित होता है उस में रहने वाली समस्त जातियाँ भी उसी इन्द्रिय से ग्राह्य होती हैं' यह नियम है"–यह शङ्का भी अनुचित है, क्योंकि आलोकत्व से चक्षुष्ट्व का अभिभव होने से उसकी अग्राह्यता की उपपत्ति हो सकती है । बृहद् चक्षु-रश्मिगत आलोकत्व मूल चक्षु में नहीं रहता अतः वह चक्षुष्ट्व का व्यापक नहीं है, इस लिए उससे चक्षुष्ट्व का अभिभव मानने में कोई असंगति नहीं है, प्रत्युत उक्त आलोकत्व चक्षुष्ट्व का व्याप्य है अतः उससे चक्षुष्ट्व का अभिभव यौक्तिक है, क्योंकि घट आदि के घटत्वादिव्याप्यधर्मों से चाक्षुषप्रत्यक्ष की दशा में पृथिवीत्व, द्रव्यत्व आदि व्यापक धर्मों से घट आदि के चाक्षुषप्रत्यक्ष का अनुभव न होने से व्याप्यधर्म से व्यापकधर्म का अभिभव

[त्रसरेणु के स्पार्शनप्रत्यक्ष की आपत्ति]

यदि यह कहें कि-"आश्रय के स्पार्शनप्रत्यक्ष का अभाव आश्रित के स्पार्शनप्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक होता है, अतः त्रसरेणुरूप आश्रय का स्पार्शन न होने से उसके स्पर्श का भी स्पार्शन नहीं हो सकता, इसलिये त्रसरेणु के स्पर्श को उद्भूत मानने पर भी उसके स्पार्शनप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती"-तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'त्रस-रेणुरूप आश्रय का स्पार्शनप्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?' इसके उत्तर में यही कहना होगा कि उद्भूतस्पर्श का अभाव उसके प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक है, अतः त्रसरेणु में उद्भूत-स्पर्शाभावरूप प्रतिबन्धक की सत्ता उपपन्न करने के लिये उसके स्पर्श को अनुद्भूत मानना ही उचित है। क्योंकि यदि उसके स्पर्श को उद्भूत माना जायगा तो उसके

मान्य है। अथवा यह भी कल्पना की जा सकती है कि बृहद्चक्षु-रश्मि में चक्षुष्ट्व नहीं रहता, 'उस में चक्षुष्ट्व न होने पर उसके द्वारा चक्षुःसन्निकर्ष न हो सकने से दूरस्थ द्रव्य के चाक्षुष की अनुपपत्ति' की शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि स्वसंयोगिसंयोगि-स्वसंयोगिसंयुक्तसंयोगित्वान्यतरसम्बन्धसे चक्षुरिन्द्रियसन्निकर्ष को कारण मान लेने से दूरस्थ के चाक्षुष की उपपत्ति की जा सकती है।

एवं-'चक्षु-रश्मि और बाह्य दृश्यमान आलोक के संयोग से बृहद्चक्षु-रश्मि की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु बाहर फैले हुये अन्य अनुद्भूतरूपवान् आलोककणों के साथ चक्षु-रश्मि के संयोग से बृहद् चक्षु-रश्मि की उत्पत्ति होती है'-यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि बाहर अनन्त अनुद्भूतरूपवान् आलोक कणों का प्रसार मानने में गौरव है।

एवं-'उक्तप्रकार से बृहद् चक्षु-रश्मि की उत्पत्ति मानने पर उसका दृश्यद्रव्य के पृष्ठ भाग में, एवं द्रष्टा के पृष्ठभाग में स्थित द्रव्य में भी संयोग का सम्भव होने से सम्मुखस्थद्रव्य के पृष्ठभाग तथा द्रष्टा के पृष्ठभागस्थद्रव्य के भी चाक्षुष की आपत्ति होगी'-यह शङ्का भी उचित नहीं है, क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्ष में चक्षुःसन्निकर्ष और द्रष्टा की सम्मुखता दोनों कारण हैं, सम्मुखस्थ द्रव्य के पृष्ठभाग में तथा द्रष्टा के पृष्ठभागस्थ पदार्थ में द्रष्टा की सम्मुखता न होने से उनके चाक्षुष की आपत्ति नहीं हो सकती, जो द्रव्य जिस द्रष्टा के सम्मुख होता है उसका अग्रभाग ही द्रष्टा के सम्मुख माना जाता है, उसका पृष्ठभाग सम्मुख नहीं माना जाता, क्योंकि पृष्ठभाग में सम्मुखीनत्व का व्यवहार नहीं होता। 'द्रष्टा की सम्मुखता को चाक्षुष के प्रति कारण मानने पर चक्षुःसन्निकर्ष को कारण मानना व्यर्थ है'-यह भी शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि द्रष्टा के सम्मुख पर्याप्त [अर्थात्] दूर देश में स्थित द्रव्य के चाक्षुषापत्ति के परिहारार्थ चक्षुःसन्निकर्ष को कारण मानना आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि सम्मुखीन होने का अर्थ मुख की दिशा में अवस्थित होना मात्र नहीं है क्योंकि यह अर्थ मानने पर सम्मुखस्थ द्रव्य के पृष्ठभाग की भी सम्मुखीनता अनिवार्य हो जायगी, अतः सम्मुखीनता का अर्थ है 'इदमस्य सम्मुखीनम्, इदं न' इस व्यवहार का नियामक स्वरूप-सम्बन्धविशेष; जो मुख की दिशा में अवस्थित उसी द्रव्य में होता है जिसमें उक्त व्यवहार आनुभविक है। अथवा यह भी कल्पना की जा सकती है कि द्रष्टा और द्रष्टा के सम्मुखस्थ द्रव्य के अग्रभाग के मध्य जो आलोक होता है उसके साथ चक्षुः-रश्मि के संयोग से उतने ही भाग में बृहद् चक्षु-रश्मि की उत्पत्ति होती है, अतः द्रष्टा के पृष्ठस्थ द्रव्य के साथ एवं द्रष्टा के सम्मुखस्थ द्रव्य के पृष्ठभाग के साथ चक्षु का सन्निकर्ष न होने से उनके चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति सम्भावित ही नहीं हो सकती। इस कल्पना को मान्य करने पर द्रष्टा के सम्मुखत्व को चाक्षुष के प्रति कारण मानने की आवश्यकता नहीं होती।

'तमसि पवनाभिव्यज्यमानः शीतस्पर्शोऽप्यनुभूयत एव, अत उद्भूतस्पर्शवत्त्वमपि तत्र' इति साम्प्रदायिकाः।

अथ नीलरूपवत्त्वे तमसः पृथिवीत्वापत्तिः, नीलरूपोत्पत्तिं प्रति पृथिवीत्वेन हेतुत्वादिति चेत्? न, तमः स्वभावविशेषस्यैव नीलनियामकत्वात्।

स्पार्शन में उद्भूतस्पर्शाभाव के प्रतिबन्धक न हो सकने से महत्त्वविशेषाभाव, पाकजविशेषाभाव आदि अनेकों में विनिगमनाविरहवश उसके स्पार्शन की प्रतिबन्धकता मानना होगा-जो एक गौरवग्रस्त कल्पना होगी।

वास्तविक बात तो यह है कि कई पदार्थ ऐसे हैं जो त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य होते ही नहीं। जैसे घट के साथ प्रभा का संयोग। इस संयोग के आश्रय घट का स्पार्शनप्रत्यक्ष होता है, अतः उसमें महत्त्वविशेष और उद्भूतस्पर्श दोनों मान्य हैं, फिर भी उसमें आश्रित प्रभासंयोग का स्पार्शनप्रत्यक्ष नहीं होता। स्पष्ट है कि उसमें त्वगिन्द्रिय से गृहीत होने की योग्यता ही नहीं है। यह अन्य बात है कि-जातिवादी उसमें एक विशेष जाति मान कर विषयतासम्बन्ध से स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति मध्यानिमत् को तादात्म्यसम्बन्ध से प्रतिबन्धक मानकर उसे जात्या त्वगिन्द्रिय से अग्राह्य कहे-और सिद्धान्ती जैन जाति के स्थान में स्वभाव मान कर स्वभावतः उसे त्वगिन्द्रिय से अग्राह्य कहें। तो जैसे प्रभाघटसंयोग जात्या अथवा स्वभावतः त्वगिन्द्रिय से अग्राह्य है अतः उसके आश्रय में महत्त्वविशेष और उद्भूतस्पर्श के होते हुये भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार नीलद्रव्य का त्रसरेणु भी जात्या अथवा स्वभावतः त्वगिन्द्रिय से अग्राह्य होने के कारण स्पार्शनप्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, इस लिये उसके स्पार्शन के प्रति उद्भूतस्पर्शाभाव में प्रतिबन्धकत्व की कल्पना अनावश्यक है। यहाँ इतना विशेष है कि एकान्तेन अतिरिक्त जाति व उसका समवाय सम्मतितर्क आदि ग्रन्थ में निरस्त किये गये हैं जब कि स्वभाव भेदाभेदसम्बन्ध से अनेकान्तमत में प्रमाण से अबाध्य है।

जैन साम्प्रदायिकों का कहना है कि पवन से अन्धकार में शीतस्पर्श की अभिव्यक्ति होती है, यह अनुभव सिद्ध है, इस लिये लोग गर्मी के दिनों में खिड़कियाँ और दरवाजे बन्द कर तथा गर्मी की रातों में दीप बुझा कर कमरों में अन्धेरा करते हैं। 'गर्मी के डर से ऐसा किया जाता है, न कि शीतस्पर्श के लाभ की आशा से ऐसा किया जाता है,' यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्धेरा हो जाने पर पंखा चलाने पर शीतस्पर्श का अनुभव भी होता है, अतः 'अन्धकार में उद्भूत स्पर्श की सत्ता निर्विवाद होने से अन्धकार में उद्भूतरूप का आस्तित्व स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

[अन्धकार में पृथ्वीत्व की आपत्ति की शङ्का]

यदि यह शङ्का की जाय कि-"अन्धकार में नीलरूप मानने पर उसमें पृथिवीत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि समवायसम्बन्ध से नीलरूप के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से पृथिवी कारण होती है, अतः यदि अन्धकार में पृथिवीत्व न होगा तो उसमें नीलरूप की उत्पत्ति ही न हो सकेगी-"तो इसका उत्तर यह है कि सिद्धान्ती जैन के मत में स्वभावविशेष ही नीलोत्पत्ति का नियामक होता है। वह स्वभावविशेष जैसे पृथिवी में होता है वैसे अन्धकार में भी होता है। अतः अन्धकार को पृथिवी माने बिना भी स्वभावविशेष से

एवाऽवयवगतनीलादिनैवाऽवयविनि नीलाद्युपपत्तौ पृथिवीत्वेन तत्समवायिकारणता-ऽभावात् । [illegible]भूतद्रव्यत्वाभावादेव नीलादौ नीलाद्यनुपपत्तिनिर्वाहात् ।

अथ नीलजनकविजातीयतेजःसंयोगस्य जलादावपि सम्भवात् तत्र नीला-द्युत्पत्तये नीलत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वेन हेतुत्वं कल्प्यम् इति चेत् ! न, तथाप्युप-स्थितविजातीयनीलत्वावच्छिन्नं प्रत्येव तद्धेतुत्वौचित्यात्; व्यापकधर्मस्य व्याप्य-धर्मेणान्यथासिद्धेः ।

उसमें नीलरूप की उत्पत्ति हो सकती है। वैशेषिकमत में भी नीलरूप के प्रति पृथिवी को समवायिकारण मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अवयविगत नीलरूप के प्रति अवयवगत नीलरूप को कारण मानने से ही जल तेज आदि में नीलरूप की उत्पत्ति का परिहार हो सकता है।

यदि यह शङ्का हो कि "अवयविगतनील में अवयवगतनील सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध से कारण होता है तो अवयवगतनील का सामानाधिकरण्य जैसे अवयवनिष्ठ अवयवी में है उसी प्रकार अवयवगत नील आदि गुणों में भी है, फलतः अवयवगत नील से जैसे अवयवगत अवयवी में-वैसे अवयवगत नीलादि गुणों में भी-नीलरूप की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा; अतः उसके निवारणार्थ नीलरूप के प्रति पृथिवी को समवायिकारण मानना आवश्यक है"। तो इसका उत्तर यह है कि द्रव्यभिन्न में अन्यभाव की उत्पत्ति के परिहारार्थ समवायसम्बन्ध से अन्यभाव के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य को कारण माना जाता है। नीलरूप भी अन्यभाव है अतः उसकी उत्पत्ति भी द्रव्य में ही हो सकती है, गुणादि में नहीं हो सकती। इसलिये नीलरूप के प्रति पृथिवी को अलग से समवायिकारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः वैशेषिकमत में भी अन्धकार को नीलरूपवान् मानने पर उसमें पृथिवीत्व की आपत्ति नहीं हो सकती।

नीलरूप की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है, अवयवी में अवयवगत नीलरूप से तथा परमाणुओं में विजातीय तेजःसंयोगरूप पाक से, कुछ मिट्टी ऐसी होती है जिसका रूप पहले से नील नहीं होता, उस मिट्टी से बने बर्तन जब आग में पकाये जाते हैं तो नील वर्ण हो जाते हैं, इस से विदित होता है कि उन बर्तनों का आग के तीव्र ताप से परमाणुपर्यन्त नाश हो जाता है और उनके परमाणुओं में पाक से नील रूप की उत्पत्ति होकर कारणगुण से कार्यगुण की उत्पत्ति की प्रक्रिया के अनुसार नील परमाणुओं से द्वयणुक त्र्यणुक आदि क्रम से नील वर्ण के बर्तनों की उत्पत्ति होती है। यह है पीलु=परमाणुपाकवादी वैशेषिकों का मत। अथवा पिठर=अवयवी में भी पाक मानने वाले नैयायिकों के मतानुसार बर्तनों में ही पाक से नील रूप की उत्पत्ति होती है। इस स्थिति में यह शङ्का हो सकती है कि "जैसे विजातीयतेजः-संयोग से पृथिवी के परमाणुओं या स्थूलपदार्थों में नील रूप की उत्पत्ति होती है, वैसे ही उक्त संयोग का जल आदि में भी सम्भव होने से जल आदि में भी नीलरूप की उत्पत्ति की आपत्ति होगी। अतः इस आपत्ति के परिहारार्थ नीलरूप के प्रति पृथिवी

अथ तमसो जन्यत्वे स्पर्शवदवयवारभ्यत्वं स्यादिति चेत् ? न, तमसः स्पर्शवदवयवा(रभ्यत्व)स्येष्टत्वात्, अन्त्यावयवस्यानियतस्यैव द्रव्यजनकत्वाच्च । तथाऽपि च न स्पर्शवत्त्वेन जनकत्वं कल्पयितुं शक्यम्, अन्त्यावयविनि व्यभिचारात् । न चानन्त्यावयवित्वमपि निवेशनीयं, तस्य द्रव्यसमवायिकारणत्वपर्यवसितत्वात् । न च जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति (द्रव्यानारम्भक)द्रव्यत्वेन प्रतिबन्धकत्वादन्त्यावयविनि द्रव्यानुत्पत्तेर्न दोष इति वाच्यम्, तथापि नव्यैस्त्रसरेण्वादावनुद्भूतस्पर्शानभ्युपगमात् तथाऽहेतुत्वात् । न च द्रव्यारम्भकत्वान्यथानुपपत्त्यैव तत्रानुद्भूतस्पर्शाङ्गीकार इति वाच्यम्; अनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनामपेक्ष्य लघुभूतैकजातिकल्पनाया एवोचितत्वात् ।

को समवायिकारण मानना आवश्यक है।"—किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि विजातीयतेजःसंयोगात्मकपाक विजातीयनीलरूप का ही कारण होता है, नील-सामान्य का कारण नहीं होता, अतः उससे जल आदि में विजातीय नील के ही उत्पत्ति की आपत्ति हो सकती है तो उसका परिहार तो विजातीयनील के प्रति पृथिवी को कारण मान लेने से ही हो सकता है, इस लिये उसके अनुरोध से नीलसामान्य के प्रति पृथिवी की कारणता नहीं सिद्ध हो सकती । अतः अन्धकार में पृथिवीत्व न होने से उस में पृथिवीजन्य विजातीयनील का ही अभाव हो सकता है, नीलसामान्य का अभाव नहीं हो सकता; और न नीलसामान्य से उसमें पृथिवीत्व की आपत्ति ही हो सकती, क्योंकि नीलसामान्य के प्रति पृथिवी कारण ही नहीं है । यदि कहें कि—"जल आदि में पाक से विजातीय नीलरूप की उत्पत्ति का परिहार जैसे विजातीय नील के प्रति पृथिवी को कारण मानने से भी हो सकता है, वैसे नीलसामान्य के प्रति पृथिवी को कारण मानने से भी हो सकता है, अतः विनिगमनाविरह से नीलसामान्य के प्रति भी पृथिवी की कारणता सिद्ध होगी"—तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विजातीयनीलत्व व्याप्यधर्म है और नीलत्व व्यापकधर्म है । अतः जब व्याप्यधर्मावच्छिन्न के प्रति पृथिवी को कारण मानने से भी इष्ट सिद्धि हो सकती है, तब व्यापक-धर्मावच्छिन्न के प्रति वह अन्यथासिद्ध हो जायगा । कहने का आशय यह है कि जैसे व्याप्यधर्म से कारणता सम्भव होने पर व्यापकधर्म से कारणता नहीं मानी जाती, वैसे व्याप्यधर्म से कार्यता सम्भव होने पर व्यापकधर्म से कार्यता भी नहीं मानी जा सकती; क्योंकि व्यापकधर्म से कारणता मानने पर जैसे कार्यानुत्पाद में स्वरूप-योग्यतारूप कारणता की आपत्ति होती है वैसे व्यापकधर्म से कार्यता मानने पर अनुत्पाद में स्वरूपयोग्यतारूप कार्यता की भी आपत्ति हो सकती है ।

[स्पर्शयुक्त अवयव में अन्धकारोत्पत्ति की आपत्ति]

यदि यह आपत्ति की जाय कि 'अन्धकार को जन्य द्रव्य मानने पर स्पर्शवान् अवयवों से उसकी उत्पत्ति माननी होगी'- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्धकार को जन्य द्रव्य मानने पर स्पर्शवान् अवयवों से जन्यद्रव्य अन्धकार की उत्पत्ति तो इष्ट ही है । किन्तु अन्धकार को जन्यद्रव्य मानने पर भी उक्त आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जैनसिद्धान्त में द्रव्य के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध या समवायसम्बन्ध से स्पर्शवान्

न च मूर्तत्वेन तथात्वं, मनसि व्यभिचारात् । न च तत्र विजातीयसंयोगरूपहेत्वन्तराभावादेव द्रव्यानुत्पत्तिरिति वाच्यम्, यत्क्रियया घटे आरम्भको मनसि चाऽनारम्भकः संयोगो जनितस्तत्क्रियाऽन्यतावच्छेदाय तत्संयोगवैजात्यावश्यकत्वात् । न च मनोऽन्यमूर्तत्वेन तथात्वं, गौरवात् । एवं च तादृशजातिकल्पने, विजातीयसंयोगकल्पने, नोदनत्वादीनां तद्वैजात्यव्याप्यत्वकल्पने, तदवच्छिन्नकारणकल्पने च गौरवात् वरमतिशय एवानतिप्रसक्तो द्रव्यजनकः कल्प्यते, इति सूक्ष्मं विभावनीयम् ।

कारण ही नहीं है, किन्तु द्रव्य के प्रति द्रव्यानुकूल शक्तिरूप अतिशय कारण है, अतः अन्धकार के अवयवों में उक्त अतिशय मानने से भी तम की उत्पत्ति हो सकने से उसके अवयवों में स्पर्श की कल्पना अनावश्यक है।

अतिशयविशेष को द्रव्य का जनक न मानने वाले वैशेषिक के मत में भी द्रव्य के प्रति स्पर्शवत्त्वेन कारणता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अन्त्यावयवी के स्पर्शवान् होने पर भी उस में द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः स्पर्शवत्त्वेन द्रव्यकारणता में व्यभिचार है। यदि इस व्यभिचार के वारणार्थ अन्त्यावयविभिन्नस्पर्शवत्त्वेन द्रव्यकारणता मानी जाय, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्त्यावयविभिन्नत्व अवयवत्वरूप है और अवयवत्व द्रव्यसमवायिकारणत्वरूप है; अतः द्रव्य के प्रति स्पर्शयुक्तद्रव्यसमवायिकारणत्वेन कारणता कहना होगा, फलतः द्रव्य के समवायिकारणता के अवच्छेदक कोटि में उसका प्रवेश करने से आत्माश्रय दोष हो जायगा।

यदि कहें कि-'समवायसम्बन्ध से जन्यद्रव्य के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्यानारम्भक द्रव्य को प्रतिबन्धक मानने से अन्त्यावयवी में द्रव्य की उत्पत्ति न होने पर भी स्पर्शवत्त्वेन द्रव्यकारणता में व्यभिचार नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि नवीनों के मत में चक्षु आदि में अनुद्भूतस्पर्श भी नहीं होता, अतः स्पर्शवत्त्वेन द्रव्यकारणता में चक्षु आदि में व्यतिरेकव्यभिचार हो जायगा, क्योंकि चक्षु के स्पर्शवान् न होने पर भी चक्षुद्रव्य के संयोग से चक्षु में महाचक्षु की तथा चक्षु-बाह्य आलोकात्मक महाचक्षु की उत्पत्ति होती है। अतः स्पर्शवत्त्वेन द्रव्यकारणता नहीं मानी जा सकती। यदि यह कहें कि-'चक्षु आदि भी द्रव्य का आरम्भक होता है, पर उसमें स्पर्श न मानने पर द्रव्यारम्भकता की अनुपपत्ति होगी। अतः द्रव्यारम्भकत्व की उपपत्ति के लिये चक्षु आदि में अनुद्भूतस्पर्श मानना आवश्यक है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्त चक्षु आदि में अनन्त अनुद्भूतस्पर्श की कल्पना की अपेक्षा सभी द्रव्यारम्भक द्रव्यों में एक वैजात्य की कल्पना कर जन्यद्रव्य के प्रति विजातीयद्रव्यत्वेन कारणता की कल्पना ही लाघव से उचित है।

मूर्तत्वरूप से भी द्रव्यकारणता की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि मन में मूर्तत्व होने पर भी द्रव्यकारणता नहीं होती। 'मन में विजातीयसंयोगरूप द्रव्य के कारणान्तर का अभाव होने से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः मूर्तत्वेन द्रव्यकारणता मानने में कोई दोष नहीं है'-यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस क्रिया से घट में आरम्भक और मन में अनारम्भकसंयोग की उत्पत्ति होती है उस क्रिया की अन्यता

अथ "तमसो द्रव्यत्वे आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वं न स्यात्, द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगत्वेन हेतुत्वात्। न चालोकचाक्षुषे व्यभिचारः, तत्राप्यालोकगगनसंयोगस्य सत्त्वात्। न चैवं अन्धकारे तमसि सुवर्णसाक्षात्कारापत्तिः, अनुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वेन तद्धेतुत्वात्। न चैकावच्छेदेनालोकसंयोगवदवयवावच्छेदेन चक्षुःसंयोगाच्चाक्षुषापत्तिः, चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगत्वेन तद्धेतुत्वात्। न च चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगत्वेन आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगत्वेन वा हेतुत्वमिति विनिगमनाविरहः, उद्योतकरप्रभृतीनामन्धकारस्य चाक्षुषसाक्षात्कारानुदयस्य विनिगमकत्वात्।

का अवच्छेदक ऐसे वैजात्य को मानना ही होगा जो द्रव्योत्पादकसंयोग में रहता है, अन्यथा गगनसंयोग में भी उस वैजात्य का अभाव होने से उस संयोग से भी द्रव्योत्पत्ति न हो सकेगी। तो जब उक्त क्रिया की जन्यता का अवच्छेदक वही वैजात्य है जो द्रव्योत्पादकसंयोग में रहता है तब उसे मनोनिष्ठसंयोग में भी मानना होगा, अन्यथा उस क्रिया की जन्यता से न्यूनवृत्ति हो जाने के कारण वह उस क्रिया की जन्यता का अवच्छेदक न हो सकेगा। और जब यह वैजात्य मनोगतसंयोग में भी रहेगा तो मन में मूर्तत्व और द्रव्योत्पादक विजातीयसंयोग दोनों रहने से उसमें द्रव्य की उत्पत्ति होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं है, अतः मूर्तत्वेन द्रव्यकारणता में व्यभिचार अनिवार्य है। इस व्यभिचार के वारणार्थ यदि मनोऽन्यमूर्तत्वेन द्रव्यकारणता मानी जाय तो विजातीयद्रव्यत्वेन कारणता की अपेक्षा गौरव है; तो उक्त रीति से द्रव्यारम्भक द्रव्यों में जातिविशेष की कल्पना, द्रव्य जनकसंयोग में जातिविशेष की कल्पना, नोदनत्व आदि जातियों में उस जातिविशेष के व्याप्यत्व की कल्पना और तत्तद्जातिमत् में द्रव्यकारणत्व की कल्पना में गौरव होने से उचित यही है कि द्रव्यारम्भक द्रव्यों में द्रव्यजनक एक ऐसे अतिशय की कल्पना कर ली जाय, जो द्रव्य के अनारम्भक द्रव्यों में अतिप्रसक्त न हो। सूक्ष्मता से विचार करने पर इस कल्पना का ही औचित्य सिद्ध होता है।

[पूर्वपक्षः अन्धकार को द्रव्य मानने पर उसके चाक्षुष की अनुपपत्ति]

यह शङ्का हो सकती है कि "अन्धकार को द्रव्य मानने पर आलोकनिरपेक्ष चक्षु से उसका प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि द्रव्यविषयकचाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति आलोकसंयोग कारण होता है। यदि यह कहें कि 'आलोक में आलोकसंयोग बिना भी आलोक का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने से उक्त कारणता में व्यभिचार है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आलोक-गगनसंयोगरूप आलोकसंयोग आलोक में भी विद्यमान रहता है। अतः आलोकसंयोग के अभाव में आलोक का चाक्षुषप्रत्यक्ष असिद्ध है। यदि यह कहें कि- 'इस प्रकार के आलोकसंयोग से यदि चाक्षुषप्रत्यक्ष की उत्पत्ति की जायगी तो गहरे अन्धकार में भी सुवर्ण के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी क्योंकि सुवर्ण के तेजःस्वरूप होने से सुवर्ण-गगनसंयोग भी आलोकसंयोग है और वह सुवर्ण में विद्यमान है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यचाक्षुष में आलोकमात्र के संयोग को कारण न मान कर

आलोकसंयोगानवच्छेदकानवच्छिन्नचक्षुःसंयोगत्वेनापि न हेतुत्वं, गौरवात्, अन्धकारस्थस्योद्योतस्थघटस्यग्रहणप्रसङ्गाच्च । अत एव समवायेनालोकाभावान्यलौकिकचाक्षुषं प्रति स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोग-

---

महत् एवं उद्भूत तथा अनभिभूतरूपवान् आलोक के संयोग को कारण माना जाता है; सुवर्ण का रूप सुवर्णगतपीतपृथिवीभाग के पीतरूप से अभिभूत होता है अतः सुवर्णगतसंयोग उक्त प्रकार के आलोकसंयोग स्वरूप नहीं है, इसलिये उससे गहरे अन्धकार में सुवर्ण के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती।

यदि कहें कि-'आलोकसंयोग को फिर भी द्रव्यचाक्षुष का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि किसी द्रव्य के एक भाग में आलोकसंयोग और अन्यभाग में चक्षुःसंयोग होने की दशा में आलोकसंयोग होते हुये भी उस द्रव्य का चाक्षुष न होने से अन्वयव्यभिचार होता है'- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आलोकसंयोग को केवल आलोकसंयोगस्वरूप से कारण न मान कर चक्षुःसंयोग के अवच्छेदकभाग से अवच्छिन्न आलोकसंयोगस्वरूप से कारण मान लेने पर उक्त व्यभिचार का परिहार हो जाता है, क्योंकि जब किसी द्रव्य में भिन्न भिन्न भागों द्वारा चक्षुःसंयोग और आलोकसंयोग होता है तब वह आलोकसंयोग चक्षुःसंयोग के अवच्छेदकभाग से अवच्छिन्न नहीं होता।

[आलोकसंयोगहेतुता का समर्थन]

यदि कहें कि-'उक्त रूप से आलोकसंयोग को कारण मानने पर विनिगमनाविरह होगा, क्योंकि चक्षुःसंयोग के अवच्छेदकभाग से अवच्छिन्न आलोकसंयोग को कारण मानने से जैसे एक द्रव्य में भिन्न भिन्न भागों द्वारा चक्षुःसंयोग और आलोकसंयोग की दशा में द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार होता है उसी प्रकार आलोकसंयोग के अवच्छेदकभाग से अवच्छिन्न चक्षुःसंयोग को कारण मानने से भी होता है, अतः इन दोनों में किसी एक मात्र में कारणता की साधक युक्तिरूप विनिगमना न होने से दोनों को ही कारण मानने की अनिवार्यता से कार्यकारणभाव में गौरव होता है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आलोकसंयोग के अवच्छेदक भाग से अवच्छिन्न चक्षुःसंयोग को कारण मानने पर आलोकस्थ पुरुष को अन्धकारस्थ द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति होने से उसे कारण मानना सम्भव न होने के कारण चक्षुःसंयोग के अवच्छेदक भाग से अवच्छिन्न आलोकसंयोग को कारण मानने के पक्ष में विनिगमना सुलभ है। कहने का आशय यह है कि अवयविगतसंयोग अवयव से अवच्छिन्न होता है—क्योंकि अवयवी में जो संयोग होता है वह उसके किसी अवयव द्वारा ही होता है, अतः चक्षुः के साथ जो आलोक का संयोग होगा वह और चक्षु के साथ जो द्रव्य का संयोग होगा वह दोनों चक्षु के अवयव से अवच्छिन्न होंगे, इसलिये आलोकस्थ पुरुष के चक्षु में जो आलोकसंयोग है वह चक्षु के जिस भाग से अवच्छिन्न है उसी भाग से उसके चक्षु-और अन्धकारस्थ द्रव्य का संयोग भी है, अतः आलोकसंयोग के अवच्छेदक भाग से अवच्छिन्न चक्षुःसंयोग अन्धकारस्थ द्रव्य में सुलभ होने से आलोकस्थ पुरुष को अन्धकारस्थ द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति अपरिहार्य है।

सम्बन्धेनालोकसंयोगस्य हेतुत्वमपि न निरवद्यम्, सम्बन्धगौरवात्, किञ्चिदवयवावच्छेदेनालोकसंयुक्तेनैव चक्षुषाऽन्धकारवृत्तिभित्तिसंयोगेऽन्धकारेऽपि वस्तुग्रहणप्रसङ्गाच्च"-इति चेत् ? न,

यदि यह कहें कि-'आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोग को आलोकसंयोगानवच्छेदकानवच्छिन्नचक्षुःसंयोगत्वरूप से कारण मानने पर आलोकस्थपुरुष को अन्धकारस्थ द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि चक्षु और अन्धकारस्थ द्रव्य का संयोग अन्धकारस्थ द्रव्य के अवयव से ही अवच्छिन्न है और वह अवयव आलोकसंयोग का अनवच्छेदक है, अतः उक्त चक्षुःसंयोग आलोकसंयोगानवच्छेदकानवच्छिन्न नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नआलोकसंयोग की अपेक्षा आलोकसंयोगानवच्छेदकानवच्छिन्नचक्षुःसंयोग गुरु है, अतः लाघवरूप विनिगमक से उक्त आलोकसंयोग की कारणता सिद्ध हो जायगी। उक्त चक्षुःसंयोग को कारण मानने में गौरव से अतिरिक्त भी एक दोष है, वह यह कि अन्धकारस्थ पुरुष को प्रकाशस्थ द्रव्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष न हो सकेगा क्योंकि अन्धकारस्थ पुरुष के चक्षु में विद्यमान प्रकाशस्थद्रव्य का संयोग आलोकसंयोग के अनवच्छेदक अन्धकारस्थचक्षुर्भाग से अवच्छिन्न होने के कारण आलोकसंयोगानवच्छेदकानवच्छिन्न नहीं होता।

[मनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्ध से हेतुता में गौरव]

भिन्न भिन्न भागों में चक्षु और आलोक से संयुक्त द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्षापत्ति का परिहार इस प्रकार के कार्यकारणभाव से भी हो सकता है कि समवायसम्बन्ध से आलोकाभावान्य के लौकिकचाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति आलोकसंयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्ध से कारण है, जब किसी द्रव्य में चक्षु का संयोग अन्य भाग में होगा और आलोकसंयोग भागान्तर में होगा तब आलोकसंयोग का उक्तसम्बन्ध न बन सकेगा, क्योंकि द्रव्य के भिन्न भिन्न भाग के चक्षुसंयोग और आलोकसंयोग का अवच्छेदक होने से सम्बन्ध के शरीर में प्रविष्ट 'स्व' से आलोकसंयोग को लेने पर चक्षु स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवत् न हो सकेगा, अतः उक्त सम्बन्ध से आलोकसंयोगरूप कारण का अभाव होने से उस स्थिति में द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति न हो सकेगी किन्तु फिर भी यह कार्यकारणभाव स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि विषयतासम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष के प्रति चक्षुर्संयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोग को समवायसम्बन्ध से कारण मानने की अपेक्षा उक्त गुरुतर सम्बन्ध से आलोकसंयोग को कारण मानने में गौरव है। गौरव के अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि आलोकस्थ पुरुष का चक्षु जब कभी अपने जिस भाग से आलोकसंयुक्त हुआ है उस समय यदि वह उसी भाग से अन्धकारस्थ भित्ति आदि से भी संयुक्त हो तो उस समय स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्ध से आलोकसंयोग आलोकस्थ पुरुष में विद्यमान होने से आलोकस्थ पुरुष को अन्धकारस्थ भित्ति आदि के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति होगी।

उपर्युक्त सारे कथन का निष्कर्ष यह है कि अन्धकार में द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति के परिहारार्थ द्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोकसंयोग को कारण मानना अनिवार्य

आलोकं विनाऽपि घूकादीनां द्रव्यचाक्षुषोदयाद् व्यभिचारात्। न च चैत्रादिचाक्षुष एव तद्धेतुत्वाद् न व्यभिचारः इति–वाच्यम्; तथाप्यञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां चाक्षुषे व्यभिचारात्। न च अञ्जनाद्यसंस्कृतचैत्रादिचक्षुर्जन्यचाक्षुषे तद्धेतुत्वम्, अञ्जनादीनामपि च स्वातन्त्र्येण चाक्षुषहेतुत्वमिति वाच्यम्; अननुगमात्, आलोकाद्युद्बोध्यक्षयोपशमरूपयोग्यताया एवानुगतत्वेन हेतुत्वौचित्यात्।

है, अतः अन्धकार को द्रव्य मानने पर आलोकनिरपेक्ष चक्षु से उस के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति दुर्वार है''—

[उत्तरपक्षः—अन्धकार के चाक्षुषप्रत्यक्ष की उपपत्ति]

इस शङ्का के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उल्लू, बिल्ली आदि अनेक प्राणियों को अन्धकार में भी द्रव्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है, अतः व्यभिचार होने के कारण द्रव्यविषयकचाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति आलोकसंयोग की कारणता सिद्ध न होने से अन्धकार को द्रव्य रूप मानने पर भी आलोकनिरपेक्ष चक्षु से उसके प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति नहीं हो सकती।

[आलोकसंयोग के व्यभिचार का वारण करने का निष्फल प्रयास]

यदि यह कहें कि—''चैत्र मैत्र आदि जीवों को अन्धकार में द्रव्य का चाक्षुष न होने से उन्हीं जैसे जीवों के ही द्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोकसंयोग को कारण मानने पर व्यभिचार न होगा''–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु को विशेषप्रकार के अञ्जन आदि से संस्कार करने पर चोर आदि को अन्धकार में भी द्रव्य का चाक्षुष होने से आलोकसंयोग की चाक्षुषकारणता में व्यभिचार अनिवार्य है। यदि यह कहें कि–''चैत्रादि के अञ्जनादि–असंस्कृतचक्षु से होने वाले द्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोकसंयोग को तथा अञ्जनादिसंस्कृत चक्षु से होने वाले द्रव्यचाक्षुष के प्रति अञ्जनादिसंस्कार को कारण मानने से व्यभिचार नहीं होगा''–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर द्रव्यचाक्षुषसामान्य के प्रति उन दोनों में कोई कारण न हो सकेगा, क्योंकि उन दोनों का कोई ऐसा अनुगत धर्म नहीं है जिस धर्म के द्वारा दोनों का अनुगम कर दोनों को द्रव्यचाक्षुषसामान्यकारण माना जा सके, और यदि आलोकसंयोगत्व एवं अञ्जनादिसंस्कारत्व रूप से दोनों को स्वतन्त्ररूप से कारण माना जायगा तो अञ्जनादिसंस्कार के अभाव में आलोकसंयोग से और आलोकसंयोग के अभाव में अञ्जनादिसंस्कार से द्रव्यचाक्षुष की उत्पत्ति होने से द्रव्यचाक्षुष में दोनों का व्यतिरेकव्यभिचार हो जायगा। यदि इस भय से दोनों को द्रव्यचाक्षुषसामान्य का कारण न मान कर द्रव्यचाक्षुषविशेष का ही कारण माना जायगा, तो द्रव्यचाक्षुषसामान्य के प्रति चक्षुःसंयोगमात्र ही कारण होगा, और उस दशा में आलोकसंयोग एवं अञ्जनादिसंस्कार के न रहने पर भी अन्धकार में द्रव्यचाक्षुषसामान्य के उत्पाद की आपत्ति होगी। अतः इन सभी प्रकल्पों को छोड़ कर यह कल्पना करना ही उचित लगता है कि आलोक आदि से उद्बोधित चक्षुरावरणीय कर्म के क्षयोपशमरूपा चाक्षुषयोग्यता ही द्रव्यचाक्षुष का कारण है।

किं च, एवं चक्षुषोऽवच्छेदकत्वेनाऽहेतुत्वापत्तिः । अपि च, चक्षुःसंयोगावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेनैवाऽऽलोकत्वेन हेतुता वाच्या, लाघवात् । न च तेन सम्बन्धेन आलोकस्यालोकवृत्तित्वम्, इत्यालोक एव व्यभिचारः, इति सुवर्णभिन्ने यत्तेजः तद्भिन्नद्रव्यचाक्षुषे तथा हेतुता वाच्या, तथा च लाघवात् तमोऽन्यद्रव्यचाक्षुषं प्रति तमसः प्रतिबन्धकत्वमेव न्याय्यम्, महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकत्वापेक्षया तमोऽभावत्वेन हेतुत्वे लाघवाच्च ।

[क्षयोपशमरूपा चाक्षुषयोग्यता द्रव्यचाक्षुष के प्रति कारण]

आशय यह है कि जैन मत में चाक्षुषविज्ञान आत्मा का सहज गुण है । उस पर ज्ञानावरक कर्मों के आवरण रहने से ज्ञान प्रगट नहीं होता है, आवरण कर्मों का क्षयोपशम होने से ज्ञान प्रगट होता है। क्षयोपशम के आधार हैं उद्भूतरूपवत्ता । जिन द्रव्यों में महत्त्व और उद्भूतरूप रहता है, जैन सिद्धान्तानुसार वे उन द्रव्यों के चाक्षुषप्रत्यक्ष की सामग्रीरूप है । इस सामग्री के होते हुये भी द्रव्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष इसलिये प्रगट नहीं होता कि वह द्रव्यचाक्षुष के विरोधी आवरणीयकर्म से आवृत रहता है । जब चक्षु का आभिमुख्य आलोकसंयोग आदि से चाक्षुषावरणीयकर्म का अभिभव होता है, तब द्रव्य में चाक्षुषयोग्यतासंपन्न होने से ही द्रव्य का चाक्षुष प्रादुर्भूत होता है। चाक्षुषावरणीयकर्म के अभिभव को जैनशास्त्रों में क्षयोपशम कहा जाता है । द्रव्यचाक्षुष के उत्पादन में यह क्षयोपशम मुख्यरूप से सापेक्ष होने से द्रव्यगतचाक्षुषयोग्यता को भी क्षयोपशमशब्द से व्यवहृत किया जाता है । यह क्षयोपशम आलोकसंयोग आदि परस्परनिरपेक्ष कारणों से सम्पादित होने से विभिन्न प्रकार का होता है। उन सभी प्रकार के क्षयोपशमों का द्रव्यचाक्षुषावरणीयकर्मक्षयोपशमत्वेन अनुगम कर क्षयोपशम में ही द्रव्यचाक्षुषसामान्य के प्रति अनुगतरूप से कारणता मानी जाती है। व्याख्याकार ने द्रव्यगत योग्यता को आलोकाद्युद्बोध्यक्षयोपशमरूप कह कर इन बातों का संकेत किया है ।

[आलोकसंयोग को कारण मानने में चक्षुकारणताभङ्ग की आपत्ति]

आलोक संयोग को चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नआलोकसंयोगत्वरूप से कारण मानने पर चक्षु की चाक्षुषकारणता का भङ्ग भी हो जायगा, क्योंकि आलोकसंयोगनिष्ठचाक्षुष-कारणता के अवच्छेदक कोटि में चक्षु का प्रवेश हो जाने से घट के प्रति दण्डत्व के समान चाक्षुष के प्रति चक्षु अन्यथासिद्ध हो जायगा ।

[आलोकसंयोग की कारणता मानने में गौरव]

दूसरी बात यह है कि आलोकसंयोग को चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न अथवा चक्षुःसंयोगावच्छिन्न आलोकसंयोगत्वेन कारण मानने पर गौरव होगा, अतः लाघव से चक्षुःसंयोगावच्छिन्नसंयोगसंबन्ध से आलोक को ही कारण माना जायगा, फलतः आलोक में ही संयोगसम्बन्ध से आलोक का अभाव होने पर भी आलोक का चाक्षुष होने से आलोक में ही द्रव्यचाक्षुष आलोक का व्यभिचारी हो जायगा । अतः द्रव्यचाक्षुषमात्र के प्रति आलोक को कारण न मान कर सुवर्णभिन्नतेजोभिन्नद्रव्यचाक्षुष के ही प्रति उसे कारण मानना उचित होगा; क्योंकि ऐसा मानने पर सुवर्ण एवं तेजोभिन्नद्रव्य के ही

किञ्च, एवं तमसोऽभावत्वे तेजोज्ञानं विना ज्ञानं न स्यात्, अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वावधारणात्। अथेष्टापत्तिः, आलोकं जानतामेव तमःप्रत्यक्षस्वीकारात्। तदाऽहुराचार्याः-"गिरिदरीविवरवर्तिनो यदि योगिनो न ते तिमिरावलोकिनः, तिमिरावलोकिनश्चेत् पूर्वं स्मृतालोकाः।" इति चेत्? न, तेजसोऽप्रतिसन्धानेऽपि तमोऽनुभवस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्।

अथ "अभावस्य ज्ञानमात्रे प्रत्यक्षमात्रे वा न प्रतियोगिज्ञानं हेतुः, प्रमेयत्वादिनाऽभावग्रहे, अभावत्वसामान्यलक्षणाधीनतत्प्रत्यक्षे च व्यभिचारात्। नापि तदभावलौकिकप्रत्यक्षे तज्ज्ञानं हेतुः, प्रागभाव-घटात्यन्ताभावादेः घटादि तत्प्रागभाव-तत्प्रध्वंसप्रतियोगित्वात्, तत्त्वयाग्रहेऽप्येकग्रहे प्रत्यक्षात्; नव्यमते समनियतैकत्वपरिमाणाद्यभावस्यैकमात्रग्रहे प्रत्यक्षाच्च।

चाक्षुष में आलोक की अपेक्षा होने से संयोगसम्बन्ध से आलोकशून्य आलोक का प्रत्यक्ष होने पर भी उक्तविध द्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोक को कारणता में व्यभिचार न होगा। किन्तु इस प्रकार का कार्य-कारणभाव मानने की अपेक्षा लाघव से तमोभिन्नद्रव्य के प्रत्यक्ष में तम को प्रतिबन्धक मानना ही न्यायसंगत है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि सुवर्णभिन्नतेजोभिन्नद्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोक को केवल आलोकत्वेन कारण मानने पर आलोकपरमाणु, चक्षु, उष्म, सुवर्णरूप आलोक के अन्धकार में भी सुलभ होने से अन्धकार में भी सुवर्ण एवं घटादि के चाक्षुष की आपत्ति होगी। अतः आलोक को महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्आलोकत्वेनैव कारण मानना होगा, जो उसकी अपेक्षा तमोभिन्नद्रव्य के चाक्षुष में तम को प्रतिबन्धक मान कर तमोऽभावत्वेन तमोऽभाव को कारण मानने में स्पष्ट लाघव है।

[प्रकाश के ज्ञान बिना अन्धकार का ज्ञान न होने की आपत्ति]

अन्धकार को अभाव रूप मानने में एक और दोष है, वह यह कि अन्धकार यदि तेजोऽभावरूप होगा तो तेज का ज्ञान हुये बिना उसका ज्ञान न हो सकेगा, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगिज्ञान की कारणता सिद्ध है। यदि यह कहें कि-"यह आपत्ति इष्ट है, क्योंकि जिन्हें तेज का ज्ञान रहता है, उन्हें ही अन्धकार के प्रत्यक्ष का होना मान्य है जैसा कि आचार्य ने कहा है कि 'योगी जब पर्वत की अन्धेरी गुफा में रहते हैं तब उन्हें अन्धकार का प्रत्यक्ष नहीं होता; और यदि होता है तो अवश्य ही उस के पूर्व उन्हें तेज का स्मरण हो जाता है'" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तेज का ज्ञान न रहने पर भी अन्धकार का अनुभव प्रत्यक्षसिद्ध है, जो व्यक्ति तेज को नहीं जानता, वह भी अन्धकार का अनुभव करता है, और उसे अपने उस अनुभव का 'तमः पश्यामि=अन्धकार देख रहा हूँ' इस रूप में संवेदन भी होता है।

[अभावज्ञान में प्रतियोगिज्ञानकारणता पर विचार-पूर्वपक्ष]

अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगिज्ञान की कारणता भी विवेचनीय है, जैसे, अभाव-

अथ 'तदभावलौकिकप्रत्यक्षे तदभावधर्मिकप्रतियोगिज्ञानत्वेन हेतुत्वाद् न व्यभिचार'-इति चेत्? न, तथा हेतुत्वे मानाभावात्, घटत्वादिज्ञानशून्यस्यापि सन्निकृष्टे इदानीमत्र इदन्त्वादिनापि घटाद्यविशेषिततदभावलौकिकप्रत्यक्षस्येष्टत्वात्। घटादिविशेषिततत्प्रत्यक्षं तु विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानसाध्यम्, इति तेनोल्लेखं विनाऽपि समःप्रत्यक्षे न दोषः"-इति चेत् !

अभावभान में या अभावप्रत्यक्षमात्र में प्रतियोगिज्ञान को कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रमेयत्व आदि रूप से अभाव का जो 'प्रमेय' ऐसा ज्ञान होता है, एवं अभावत्व रूप से किसी एक अभाव का लौकिकप्रत्यक्ष होने के बाद अभावत्वरूप सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति से समस्त अभावों का जो 'अभावाः' ऐसा प्रत्यक्ष होता है, वह प्रतियोगिज्ञान के बिना ही होता है, अतः अभावज्ञान एवं अभावप्रत्यक्ष के प्रति प्रतियोगिज्ञान का व्यभिचार हो जाता है। 'तत्प्रतियोगिक अभाव के लौकिकप्रत्यक्ष में तत्प्रतियोगी का ज्ञान कारण है'-यह भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि इसमें भी व्यभिचार है, जैसे प्राचीन नैयायिकों के मत में घटात्यन्ताभाव के तीन प्रतियोगी होते हैं (१) घटादि (२) घटादि का प्रागभाव और (३) घटादि का ध्वंस, क्योंकि उनके मत में घटादि के समान घटादि का प्रागभाव और घटादि का ध्वंस भी घटात्यन्ताभाव का विरोधी होता है, और यह नियम है कि 'जो जिस अभाव का विरोधी होता है, वह उस अभाव का प्रतियोगी होता है'। इस प्रकार घटादि का अभाव जैसे घटादिप्रतियोगिक है वैसे घटादिप्रागभावप्रतियोगिक एवं घटादिध्वंसप्रतियोगिक भी है, किन्तु उसका लौकिकप्रत्यक्ष घटादिप्रागभाव एवं घटादिध्वंस का ज्ञान न रहने पर भी घटादि के ज्ञानमात्र से 'अत्र घटादिर्नास्ति-यहाँ घटादि का अभाव है' इस रूप में होता है। अतः घटादिप्रागभाव, एवं घटादिध्वंसरूप प्रतियोगी के ज्ञानाभावदशा में भी घटादिप्रागभावप्रतियोगिक एवं घटादिध्वंसप्रतियोगिक घटात्यन्ताभाव का लौकिकप्रत्यक्ष होने से तत्प्रतियोगिकअभाव के लौकिकप्रत्यक्ष होने से तत्प्रतियोगिकअभाव के लौकिकप्रत्यक्ष में तत्प्रतियोगिज्ञान का व्यभिचार स्पष्ट है।

तत्प्रतियोगिक अभाव के लौकिकप्रत्यक्ष में तत्प्रतियोगीज्ञान को कारण मानने में नवीननैयायिकों के मत में भी व्यभिचार है-जैसे नवीनमत में सभी समनियतभावों में लाघव से अभेद माना जाता है, तदनुसार एकत्वाभाव, परिमाणाभाव आदि सभी समनियत अभाव परस्परप्रतियोगीप्रतियोगिक होते हैं, अर्थात् एकत्वाभाव एकत्वप्रतियोगिक होने के साथ परिमाणप्रतियोगिक भी होता है, एवं परिमाणाभाव परिमाणप्रतियोगिक होने के साथ एकत्वप्रतियोगिक भी होता है, किन्तु एकत्वाभाव लौकिकप्रत्यक्ष परिमाण के न रहने पर भी एकत्वमात्र के ज्ञान से एवं परिमाणाभाव का लौकिकप्रत्यक्ष एकत्वज्ञान न रहने पर भी परिमाणमात्र के ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है अतः परिमाणरूपप्रतियोगिज्ञान न रहने पर भी परिमाणप्रतियोगिक एकत्वाभाव एवं एकत्वरूपप्रतियोगिज्ञान न रहने पर भी एकत्वप्रतियोगिकपरिमाणाभाव का लौकिकप्रत्यक्ष होने से नव्य मत में भी तत्प्रतियोगिक अभाव के लौकिकप्रत्यक्ष में तत्प्रतियोगिज्ञान का व्यभिचार स्पष्ट है।

न, प्रतियोगिज्ञानस्याभावप्रत्यक्षाऽहेतुत्वे विना प्रतियोगिज्ञानं 'न' इत्याकारकप्रत्ययापत्तेः । न चाभावत्वस्यापीदन्त्वेन ग्रहादापादकाभावः, प्रथमम्भावाभावत्वयोर्नि-

[तदभाव० के निवेश में प्रमाणाभाव—पूर्वपक्ष अनुवर्तमान]

यदि 'तदभाव के लौकिकप्रत्यक्ष में तदभाव के यत्किञ्चित् प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है' ऐसा मान कर उक्त व्यभिचार का वारण करें तो इस प्रकार के कार्यकारणभाव में कोई प्रमाण न होने से यह भी ठीक नहीं है । यदि कहें कि—"किसी भी प्रतियोगी का ज्ञान न रहने पर अभाव के लौकिकप्रत्यक्ष की उत्पत्ति न होने से उक्त कार्यकारणभाव मान्य है"- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोगिज्ञान का सर्वथा अभाव होने पर भी इदन्त्वरूप से अभाव का लौकिकप्रत्यक्ष माना जाता है । जैसे यह सभी को इष्ट है कि जिस व्यक्ति को जिस समय वह्नि आदि का ज्ञान नहीं रहता उस व्यक्ति को उस समय भी सन्निकृष्ट ह्रद आदि में 'ह्रदेऽयम्=ह्रद में यह है' इस प्रकार वह्नि आदि से अविशेषित वह्न्यभाव का इदन्त्वरूप से लौकिकप्रत्यक्ष होता है । यदि यह कहें कि—"वह्नि आदि से विशेषित अभाव के प्रत्यक्ष में वह्नि आदि का ज्ञान कारण है, इस कार्यकारणभाव को मानना आवश्यक है, क्योंकि वह्नि आदि का ज्ञान न रहने पर वह्नि आदि से विशेषित अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, और ऐसा मानने में व्यभिचार आदि दोष भी नहीं है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'रक्तो दण्डः' इस ज्ञान के न रहने पर 'रक्तदण्डवान् पुरुषः' इस प्रकार का ज्ञान न होने से विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही अनुभव के प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान को कारण मानना आवश्यक होता है । 'ह्रदे वह्निर्नास्ति—ह्रद में वह्न्यभाव है' यह प्रत्यक्ष भी अभाव में वह्नित्वविशिष्ट के प्रतियोगितारूप वैशिष्ट्य का अवगाहन करता है, अतः वह्नि की अज्ञात दशा में इसकी आपत्ति नहीं हो सकती, इस लिये उक्तरीति से विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही अनुभव के प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान की सर्वमान्य कारणता से ही सामञ्जस्य हो जाने से प्रतियोगी विशेषित अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान को पृथक् कारण मानना व्यर्थ है ।

निष्कर्ष यह है कि जब अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान की कारणता प्रामाणिक नहीं है तब तम को तेजोऽभावस्वरूप मानने में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि तेजोज्ञान न होने पर भी उसका प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है ।

['न' इत्याकारकप्रत्यक्षापत्ति—उत्तरपक्षारम्भ]

उपर्युक्त के विरुद्ध व्याख्याकार का कहना यह है कि अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान को कारण न मानने का पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि उक्तपक्ष में प्रतियोगिज्ञान के अभावकाल में प्रतियोगी से विशेषित अभाव को विषय न करने वाले केवल अभावत्वरूप से अभाव को विषय करने वाले 'न' इत्याकारक प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । यदि यह कहें कि—"अभावस्वरूप से अभावप्रत्यक्ष की सामग्री के सन्निधान के समय इदन्त्व के ग्राहक सन्निकर्ष का भी सन्निधान अवश्य होने से अभावत्व में इदन्त्व का भान अनिवार्य है, अतः स्वरूपतःनिर्विशेषणअभावत्व को विषय करने वाले 'न' इत्याकारक प्रत्यक्ष का कोई आपादक न होने से उसकी आपत्ति नहीं हो सकती"- तो यह ठीक

१—"र्येनाऽभा० इति मु० प्रती ।

विकल्पके 'अभावः' इत्याकारकप्रत्यक्षापत्तेर्दुर्वारत्वात्। न चाभावत्वमात्रेण प्रत्यक्षत्वेष्टत्वम्, 'शून्यमिदं दृश्यते' इत्यादिप्रत्ययात्, इत्थमेवाभावत्वस्य भावभेदस्य पिशाचादिभेदवद् योग्यस्य 'घटो नास्ति' इत्यादौ स्वरूपतो भानमपि प्राचां सम्भवदुक्तिकम्। नञुल्लेखस्तु प्रतियोगिवाचकपदनियतो न सार्वत्रिक इति वाच्यम्; अन्धकार इव प्रकाशेऽपि 'शून्यमिदम्' इति वह्न्यभावादौ प्रत्ययापत्तेः।

'अभावत्वप्रत्यक्षे योग्यधर्मावच्छिन्नज्ञानत्वेन हेतुत्वान्नायं दोषः' इत्यतिमन्दम्,

---

नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्र पुरोवर्तित्वरूप होने से सखण्ड है, अतः अभाव और अभावत्व के निर्विकल्पक काल में उसके भान की सामग्री का सन्निधान न होने से उस निर्विकल्पक के अनन्तर स्वरूपतः अभावत्व को विषय करने वाले 'अभावः' इत्याकारक प्रत्यक्ष की आपत्ति अपरिहार्य है।

[अभावरूप से प्रतियोगिअविशेषित अभावप्रत्यक्ष इष्टता का खंडन]

यदि यह कहें कि—"अन्धेरे में 'शून्यमिदं दृश्यते=यह शून्य=अभाववान् दीखता है' इस प्रकार की प्रतीति के सर्वमान्य होने से केवल अभावत्वरूप से प्रतियोगी से अविशेषित अभाव का प्रत्यक्ष इष्ट ही है, यह मानने पर ही प्राचीन नैयायिकों का यह कथन भी उपपन्न हो सकता है कि 'घटो नास्ति=यहाँ घटाऽभाव है' इस प्रत्यक्ष में अभावांश में भावभेदरूप अभावत्व का स्वरूपतः भान होता है, अन्यथा प्रत्यक्ष में यदि प्रतियोगिविशेषित ही अभाव का भान माना जायगा, तो भावभेद रूप अभावत्व का भावात्मकप्रतियोगी से विशेषित ही भान होने से उसके स्वरूपतःभान का प्रतिपादन असंगत हो जायगा। 'भावभेद अयोग्यभावप्रतियोगिक होने से अयोग्य है अतः प्रत्यक्ष में उसका भान असंगत है'-यह शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्षयोग्यता में प्रतियोगी की प्रत्यक्ष योग्यता के प्रयोजक न होने से पिशाचभेद के समान भावभेद भी प्रत्यक्षयोग्य है। 'अभावत्वरूप से अभाव का प्रत्यक्ष मानने पर 'न' इस शब्दमात्र से भी अभावप्रत्यक्ष का उल्लेख होना चाहिये'-यह शंका भी नहीं की जा सकती, क्योंकि 'न' शब्द प्रतियोगिवाचकपद के सन्निधान में ही अभाव का बोधक होने से सार्वत्रिक नहीं होता"—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'शून्यमिदं दृश्यते' इस प्रतीति को यदि प्रतियोगि-अविशेषित अभाव का ग्राहक माना जायगा, तो जैसे अन्धकार में उक्त प्रतीति होती है, वैसे ही प्रकाश में हृद आदि में भी वह्न्यभाव को विषय करने वाले 'शून्योऽयं हृदः' इस प्रकार के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी*। अतः प्रतियोगी से अविशेषित अभावप्रत्यक्ष के अनिष्ट होने से अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान को कारण न मानने पर अभाव-अभावत्व के निर्विकल्पक के बाद 'अभावः' इस प्रकार के प्रत्यक्ष की आपत्ति दुर्निवार है।

[योग्यधर्मावच्छिन्नज्ञानत्वरूपेण हेतुता मानना निर्दोष नहीं है]

यदि यह कहें कि 'अभावः' इस प्रकार के प्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार करने के लिए अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान को कारण मानना उचित नहीं है क्योंकि

---

*अन्धकार में जो 'शून्यमिदं दृश्यते' यह प्रतीति होती है, उसका अर्थ है 'अत्र न किमपि दृश्यते' इस लिये वह भी प्रतियोगी से अविशेषित अभाव को नहीं विषय करती।

योग्यधर्माणामननुगतत्वात्, घटत्वाद्यन्यतमत्वेन अनुगमे गौरवात्, पिशाचत्वाद्ययोग्य-धर्मावच्छिन्नस्य ज्ञानेऽपि 'पिशाचो नायम्' इत्यादिप्रतीतेश्च ।

अथ 'न' इत्याकारकप्रत्यक्षवारणाय इन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया एव प्रतियोगि-विशिष्टप्रत्यक्षहेतुत्वम् । *न चेन्द्रियस्य चक्षुस्त्वगादिभेदभिन्नत्वेनेन्द्रियसम्बद्धविशेष-

---

अभाव और प्रतियोगी के अनन्त होने से अनन्त कार्यकारणभाव की आपत्ति होगी, तदपेक्षया उचित यह होगा कि अभावत्वप्रकारकप्रत्यक्ष में योग्यधर्मप्रकारकज्ञान को कारण माना जाय, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य और कारण के शरीर में अभाव एवं प्रतियोगी का प्रवेश न होने से कार्यकारणभाव में आनन्त्य नहीं होगा, एक ही कार्य-कारणभाव से काम निपट जायगा, इस कार्यकारणभाव को स्वीकारने पर अभावप्रत्यक्ष के पूर्व किसी न किसी योग्यधर्मावच्छिन्न का ज्ञान मानना पड़ेगा, और जब कोई भी योग्यधर्मावच्छिन्न उक्त प्रत्यक्ष के पूर्व अवश्य उपस्थित होगा, तब अभाव में विशेषण विधया उसके भान का कोई विरोधी न होने से अभाव में उसका भान अवश्य होगा, अतः कोई भी अभावत्वप्रकारकप्रत्यक्ष 'अभावः' इत्याकारक न हो सकेगा । तम को तेजोऽभावरूप मानने वाले लोगों के मतानुसार तम का यदि अभावत्वप्रकारकप्रत्यक्ष होता है तब वह तेजोविशेषित अभाव को ही विषय करने के कारण तेज का ज्ञान रहने पर ही होता है, अन्यथा तम का प्रत्यक्ष अभावत्वप्रकारक न हो कर द्रव्यत्वप्रकारक या अखण्डतमस्त्वप्रकारक ही होता है''—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटत्व पटत्व आदि योग्यधर्म अनन्त हैं, उन सबको संगृहीत करने वाला कोई ऐसा अनतिप्रसक्त अनु-गतधर्म नहीं है जिससे उन सभी का ग्रहण कर योग्यधर्मप्रकारकज्ञान में एक कारणता मानी जा सके। अतः इस कार्यकारणभाव में भी योग्य धर्म के अनन्त होने से आनन्त्य की आपत्ति दुर्निवार है ।

यदि यह कहें कि--'घटत्व, पटत्व आदि सभी धर्मों का अन्यतमत्वरूप से अनुगम हो सकता है'—तो यह उचित नहीं क्योंकि इस प्रकार अनुगम करने में महान् गौरव है, जैसे घटत्वाद्यन्यतमत्व घटत्वादिभेदकूटावच्छिन्नभेदरूप ही होगा, उसमें अनन्तघटत्वादिभेदों के कूट का प्रवेश एकभेदविशिष्टअपरभेदरूप में ही होगा, फिर भेदों के विशेष्य–विशेषण-भाव में विनिगमनाविरह होने से घटत्वाद्यन्यतमत्व गुरुरूप में अनन्तविध होगा । अतः घटत्वादि का अन्यतमत्वरूप से अनुगम करने में अति महान् गौरव है । इसके अतिरिक्त उक्त कार्य-कारणभाव में व्यभिचार भी है, क्योंकि पिशाचत्व आदि अयोग्यधर्मावच्छिन्न के ज्ञान से भी 'नायं पिशाचः' इत्याकारक अभावत्वप्रकारकप्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है ।

['न' इत्याकारकप्रत्यक्षापत्ति के वारण का प्रयास -पूर्वपक्ष]

प्रस्तुत सन्दर्भ में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है- ''कि 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार करने के लिये इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष को अभावप्रत्यक्ष मात्र का कारण न मान कर प्रतियोगिविशेषितअभावप्रत्यक्ष का कारण मान लेना चाहिये,

---

* इस 'न च' का आगे पृष्ठ २५० में 'केवलाभावप्रत्यक्षनिर्विकल्पकापत्तेः' के पूर्व में आने वाले 'वाच्यम्' से सम्बन्ध है ।

प्रतायाः प्रतियोगिविशेषितप्रत्यक्षहेतुत्वे गौरवात् पृथक् प्रतियोगिधीहेतुत्वैव युक्ता। न च तद्धेतुत्वेऽपि 'न' इत्याकारकप्रत्यक्षापत्तिः, उपस्थितस्य प्रतियोगिनोऽभावे वैशिष्ट्यभाने बाधकाभावात्। न च 'अभावो न घटीयः' इत्यादिबाधधीदशायां तदापत्तिः, अभावत्वावच्छेदेनाभावे तादृशबाधधिय आहार्यत्वात्; अभावत्वसामानाधिकरण्येन च तद्दशायामपि प्रतियोगिवैशिष्ट्यभानसम्भवात्।

क्योंकि ऐसा मान लेने पर प्रतियोगिविशेषित अभाव को विषय न कर के शुद्ध अभाव मात्र को विषय करने वाले 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष का कोई आपादक न होने से उसकी आपत्ति न होगी।

[पूर्वपक्षी का अवान्तर विस्तृत पूर्वपक्ष]

इस पक्ष के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि-इन्द्रियाँ चक्षु त्वक् आदि अनेक प्रकार की होती हैं, उनमें एक इन्द्रिय के सम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष से अन्य इन्द्रिय से अभावप्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती, अतः तत्तत्इन्द्रियजन्य अभावप्रत्यक्ष में तत्तत् इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता को कारण माना जाता है, अब यदि उसे अभावप्रत्यक्षमात्र का कारण न मान कर प्रतियोगिविशेषितअभावप्रत्यक्ष का कारण माना जायगा तो जिस प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष भिन्न भिन्न इन्द्रियों से होता है, उस प्रतियोगी से विशेषित अभाव के प्रत्यक्ष में भिन्न भिन्न इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता को भिन्न भिन्न रूप से कारण मानने में गौरव होगा। अतः उसकी अपेक्षा इस कल्पना में ही लाघव होगा कि इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता अभावविषयकप्रत्यक्षमात्र में ही कारण है और प्रतियोगिविशेषित अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान पृथक् कारण है। क्योंकि इस कल्पना में जिस प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष भिन्न भिन्न इन्द्रियों से होता है उस प्रतियोगिविशेषित-अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता को इन्द्रियभेद से भिन्न भिन्न रूप में कारण मानने की आवश्यकता न होगी।

यदि कहें कि-"प्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान को कारण मानने पर भी 'न' इत्याकारक प्रत्यक्ष की आपत्ति तो बनी ही रहेगी; क्योंकि प्रतियोगिज्ञान रहने पर भी इन्द्रियसम्बद्ध-विशेषणतासन्निकर्ष से शुद्धअभावविषयकप्रत्यक्ष होने में कोई बाधा न होगी"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अभावप्रत्यक्ष के पूर्व प्रतियोगी का ज्ञान रहने पर अभावप्रत्यक्ष में अभावांश में विशेषणविधया उसके भान का कोई विरोधी न होने से अभावांश में उस का भान अवश्य होगा, अतः प्रतियोगी को विषय न करने वाले अभावप्रत्यक्ष के उदय की आशा व्यर्थ है। यदि कहें कि-"अभावप्रत्यक्ष के पूर्व घटरूप प्रतियोगी के ज्ञान के साथ 'अभावो न घटीयः-अभाव प्रतियोगितासम्बन्ध से घटशून्य है' इस प्रकार का बाधज्ञान रहने पर अभाव में प्रतियोगितासम्बन्ध से विशेषणविधया घट के भान में वही विरोधी हो जायगा, अतः उस समय 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष की आपत्ति हो सकती है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'अभावो न घटीयः' यह ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है-एक, अभावत्वावच्छेदेन अभावसामान्य में घटाभावप्रकारक और दूसरा 'अभावत्वसामानाधिकरण्येन यत्किञ्चित् अभाव में घटाभावप्रकारक। इनमें यदि दूसरे

न च 'प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितयाऽभावे घटवैशिष्ट्यविषयकत्वात् प्रतियोगितासामान्येन घटाद्यभावेऽपि संयोगादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितया 'न घटीयः' इति बाधधीकाले संयोगादिना घटाभावादेः 'न' इत्याकारकप्रत्यक्षापत्तिः'— तथाऽपि प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितया घटस्य प्रकारतया भाने बाधकाभावात्, घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारता-ऽन्यप्रकारत्वानिरूपिताऽभावविषयताकप्रत्यक्षे घटादिधियो हेतुत्वात्; अन्यथा घटाद्यभावस्य घटाद्यभावत्वादिना ग्रहे व्यभिचारापत्तेः।

प्रकार का 'अभावो न घटीयः' यह ज्ञान अभावप्रत्यक्ष के पूर्व में रहेगा तो वह तो अभावत्वसामानाधिकरण्येन अभावविशेष में प्रतियोगितासम्बन्ध से घटभान का विरोधी होगा नहीं, अतः उसके रहने पर भी अभाव में घट का भान सम्भव होने से 'न' इत्याकारक प्रत्यक्ष की आपत्ति न हो सकेगी। और यदि पहले प्रकार का 'अभावो न घटीयः' यह ज्ञान अभावप्रत्यक्ष के पूर्व रहेगा तो वह आहार्य होगा, क्योंकि उसमें विशेषण की ओर प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता के घटाभावरूप विशेषणभूत अभावविशेष में प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितारूप प्रतियोगिताविशेषसम्बन्ध से घट का भान होता है और विशेष्य की ओर अभावसामान्य में प्रतियोगित्वसामान्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता के घटाभाव का भान होता है अतः विशेषण की ओर अभावत्वसामानाधिकरण्येन यत्किञ्चित् अभाव में प्रतियोगिताविशेषसम्बन्ध से घटप्रकारक और विशेष्य की ओर अभावत्वावच्छेदेन अभावसामान्य में प्रतियोगितासामान्यसम्बन्धेन घटाभावप्रकारक होने से उसकी आहार्यरूपता अनिवार्य है, और इस प्रकार जब वह आहार्य है तो आहार्य होने ही के कारण वह भी अभाव में प्रतियोगितासम्बन्ध से विशेषणविधया घट के भान का विरोधी न होगा। अतः उसके रहने पर भी अभाव में घट का भान सम्भव होने से 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष की आपत्ति न हो सकेगी।

['न' इत्याकारक प्रत्यक्ष की पुनः आपत्ति]

यदि कहें कि- "यह ठीक है कि 'अभावो न घटीयः' इस अनाहार्यज्ञान में विशेषण भाग में प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितारूप प्रतियोगिताविशेषसम्बन्ध से अभाव में घट का प्रकारविधया भान होने से, उसे अभावत्वावच्छेदेन अभावसामान्य में प्रतियोगितासामान्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभावविषयक नहीं माना जा सकता अतः वह प्रतियोगितासम्बन्ध से अभाव में घटभान का विरोधी नहीं हो सकता। किन्तु प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्ध से घट के साथ संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्ध से घटाभाव का विरोध न होने से, उक्त ज्ञान में अभाव में संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाव का भान हो सकता है। अतः उक्त ज्ञान से अभाव में संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्ध से घटभान का प्रतिबन्ध हो सकता है। फलतः 'अभावो न घटीयः' इस बाधज्ञान के अनन्तर संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाव को विषय करने वाले 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष की आपत्ति हो सकती है, क्योंकि उस अभाव में यदि घट का भान होगा तो संयोगसम्ब-

इत्थं चाभावांशे निर्विकल्पकं, 'अभावः' इत्याकारकप्रत्यक्षं च न जायते, विशिष्टप्रतियोगिज्ञानकार्यताया घटत्वादिप्रकारकान्तर्भावप्रत्यक्षस्य यत्किञ्चित्प्रतियोगिज्ञानेऽसंभवात्, यावत्प्रतियोगिज्ञानस्य चाऽसंभवात्; अभावत्वांशे निर्विकल्पकं त्वभावांशे यत्किञ्चित्प्रतियोगिविशिष्टविषयत्वात् यत्किञ्चित्प्रतियोगिभोसाध्यमेवेति नानुपपत्तिः। इदंत्वेन तमःप्रत्यक्षं त्वनुपपन्नम्, अभावांशे निर्विकल्पकत्वाद् यावत्प्रतियोगिधीकार्यता-वच्छेदकाक्रान्तत्वात्—इति वाच्यम्, केवलाभावत्वनिर्विकल्पकापत्तेरभावत्वस्याऽखण्डत्वात्,

---

सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्ध से ही होगा, और उसमें उक्त बाधज्ञान अभावसामान्य में संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभावविषयक होने से प्रतिबन्धक हो जायगा। अतः उक्त बाधज्ञान के अनन्तर संयोगसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकघटाभाव का जो प्रत्यक्ष होगा, वह 'न' इत्याकारक ही हो सकता है।

[आपत्ति का उद्धार]

तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अभावत्वव्यापक है संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-प्रतियोगिताविशेषसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाव को विषय करने वाला उक्त बाधज्ञान संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रतियोगिताविशेषसम्बन्ध से ही अभाव में घटज्ञान का विरोधी होगा, किन्तु प्रतियोगितासामान्यसम्बन्ध से अभाव में घटज्ञान का विरोधी नहीं होगा। अतः उक्त बाधज्ञान के अनन्तर होनेवाले संयोगसम्बन्धाव-च्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभावविषयकप्रत्यक्ष में अभाव में प्रतियोगितासामान्यसम्बन्ध से घट का भान सम्भव होने से उक्त घटाभाव के 'न' इत्याकारक प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती। मध्य में प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्ध से संयोग-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाव में घट का भान होने की बात कही गयी है, जो संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाव के साथ घट का प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्ध न होने से आपाततः असंगत प्रतीत होती है, किन्तु उक्त बाधज्ञान काल में उक्त घटाभाव में प्रतियोगित्वसम्बन्धा-वच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्ध से घट के भासक दोष का सन्निधान रहने पर भ्रमरूप उक्त ज्ञान के सम्भव होने से वह भी असंगत नहीं है।

[अभावांश में निर्विकल्पकप्रत्यक्ष की आपत्ति भी नहीं है]

दूसरी बात यह है कि अभावप्रत्यक्ष और प्रतियोगिज्ञान के बीच जो कार्यकारण भाव माना जाता है, उसे 'घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव के प्रत्यक्ष में घटत्वादि-प्रकारक ज्ञान कारण है', इस रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि घट ज्ञान के न रहने पर भी घटाभावत्वेन घटाभाव का प्रत्यक्ष होने से व्यभिचार हो जायगा, अतः 'घटत्वावच्छिन्नप्रकारता से अन्य प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता से अनि-रूपित अभावनिष्ठविषयताकप्रत्यक्ष में घटत्वादिप्रकारकज्ञान कारण है', इसी रूप में उक्त कार्यकारणभाव को स्वीकार करना होगा, और उस स्थिति में 'न' इत्याकारक प्रत्यक्ष की अभावनिष्ठविषयता के किसी भी प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता से निरू-पित न होने के कारण 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष घटत्वादिसमस्तधर्मप्रकारक ज्ञान के कार्य-

अन्यथाऽभावविशिष्टबुद्धावपि तन्निर्विकल्पकाऽयोगात् ।

किं च, 'घटपटौ न' इत्यादिप्रत्यक्षं घटज्ञानपटज्ञानादिकार्यतावच्छेदकानाक्रान्त-तया तद्विरहेऽपि स्यात्, तत्र घटत्व-पटत्व-द्वित्वानां प्रकारतावच्छेदकत्वेऽपि नील-घटाद्यभावप्रत्यक्षे व्यभिचारवारणाय 'घटत्वाद्यवच्छिन्न' इत्यस्य घटत्वादिपर्याप्तावच्छेदक-ताकत्वार्थत्वेनैतद्दोषानुद्धारात् । तस्माद् घटत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षस्य लाघवात् घटत्वाव-च्छिन्नप्रकारतानिरूपितविषयताकप्रत्यक्षत्वमेव कार्यतावच्छेदकम्, शुद्धाभावप्रत्यक्षं तु प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताकप्रत्यक्ष एव विशेषणताया हेतुत्वाद् न भवतीति युक्तम्, कोटिप्रतियोगिज्ञानहेतुत्वाऽकल्पने लाघवात् ।

तावच्छेदक से आक्रान्त होगा, अतः घटत्वादि धर्मों में यत्किञ्चिद्धर्मप्रकारकज्ञान से ही उस की उत्पत्ति होगी नहीं और घटत्व आदि समस्तधर्मप्रकारक ज्ञान का सन्नि-धान कभी होगा नहीं । फलतः अभावांश में निर्विकल्पक 'न'इत्याकारकप्रत्यक्ष की आपत्ति की सम्भावना ही न हो सकेगी, और अभावांश में जो निर्विकल्पक होगा, वह अभावांश में यत्किञ्चित्प्रतियोगिप्रकारक ही होगा, अतः यत्किञ्चित्प्रतियोगिज्ञान से उसकी उत्पत्ति होने में कोई बाधा न होगी । अभावप्रत्यक्ष और प्रतियोगिज्ञान में उक्तरूप से कार्यकारणभाव मानने के पक्ष में द्रव्यत्व या अवगाहनमत्त्वरूप से सेओऽ-भावरूप नम का प्रत्यक्ष साध्य नहीं है, क्योंकि अभावांश में निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के समान यह भी यावत्प्रतियोगिज्ञान के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त होता है, और यावत्प्रतियो-गिज्ञान का सन्निधान कभी भी न हो सकने से उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है । इस प्रकार अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान को कारण मानने से 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार सम्भव होने से यह कथन सर्वथा समुचित है कि इन्द्रियसम्बद्ध-विशेषणता अभावविषयकप्रत्यक्षमात्र में कारण है । और प्रतियोगिज्ञान प्रतियोगिविशेषित अभावप्रत्यक्ष में कारण है'—

[अवान्तर पूर्वपक्ष समाप्त]

[तथापि केवल अभावत्वनिर्विकल्पक की आपत्ति]

किन्तु विचार करने पर यह कथन संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अभाव-विषयकप्रत्यक्ष मात्र में इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता को कारण मानने पर केवलअभावत्व-विषयक निर्विकल्पकप्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, क्योंकि अभावविषयकविशिष्टबुद्धि में निर्विशेषण अभावत्व का भान होने से अभावत्व को अखण्ड मानना अनिवार्य है ।

[घट-पट के अज्ञान में भी 'घटपटौ न' इस प्रत्यक्ष की आपत्ति]

अभाव में विशेषणविधया प्रतियोगी का अवगाहन न करने वाले 'न' इत्याकारक अभावप्रत्यक्ष की आपत्ति न हो सकने का जो दूसरा कारण यह बताया गया "कि-'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष यावत्प्रतियोगिज्ञान के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त हो जाता है, अतः यावत्प्रतियोगिज्ञान का समवधान सम्भव न होने से उक्त प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती"-यह ठीक नहीं है क्योंकि घटत्वरूप से घटज्ञान रहने पर भी नीलघटत्वप्रका-

न च—'अभावो न घटीयः' इति प्रत्यक्षे व्यभिचारः—तत्रापि प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताकत्वस्याऽक्षतत्वात्। यदि चैवमपि प्रतियोगिज्ञानाभावेन 'कुण्डं नास्ति, मेयं नास्ति' इत्यादेरापत्तिः, तदा प्रकारीभूतकिञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्वेन प्रतियोगिज्ञानस्य विशेषणाद् न दोषः। अभावस्य निर्विकल्पकं चाङ्गीक्रियत एव, निरवच्छिन्नप्रकारताबुद्धौ निरवच्छिन्नविषयताकबुद्धेर्हेतुत्वादिति चेत्? न,

---

एकज्ञान के अभावकाल में 'नीलघटो नास्ति' इस अभाव का प्रत्यक्ष न होने से घटत्वावच्छिन्नप्रकारताव्यप्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता से अनिरूपित अभावनिष्ठविषयताक प्रत्यक्ष के प्रति घटत्वादिप्रकारकज्ञान को कारण मानने में व्यभिचार हो जाता है। अतः घटत्वादिप्रकारक ज्ञान को घटत्वादिसामान्यावच्छिन्नप्रकारताव्यप्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता से अनिरूपित अभावनिष्ठविषयताकप्रत्यक्ष के प्रति कारण मानना आवश्यक है, और उस स्थिति में 'घटपटौ न स्तः' यह प्रत्यक्ष घटत्वप्रकारकज्ञान एवं पटत्वप्रकारकज्ञान के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त न होगा। फलतः घट पट के अज्ञानदशा में भी उक्त प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। अतः अभावप्रत्यक्ष और प्रतियोगिज्ञान में उक्त प्रकार के कार्यकारणभाव का परित्याग कर लाघव से घटत्वावच्छिन्न से विशेषित अभावप्रत्यक्ष में ही घटत्वादिप्रकारकज्ञान को कारण मानना उचित होगा किन्तु वैसा मानने पर 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष घटादिप्रतियोगिज्ञान के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त नहीं होगा। अतः केवल इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष से उक्त प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। अतः उसके वारणार्थ इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता को मात्र अभाव-प्रत्यक्ष में नहीं किन्तु प्रतियोगिविशेषित अभावप्रत्यक्ष के प्रति कारण मानना उचित एवं आवश्यक है। इस कार्यकारणभाव में कार्यतावच्छेदककोटि में प्रतियोगि का विशेषरूप से प्रवेश नहीं है, क्योंकि प्रतियोगिविशेषितअभावप्रत्यक्ष का अर्थ है, प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितअभावनिष्ठविषयताशाली प्रत्यक्ष, अतः जिस प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष जिन इन्द्रियों से होता है उस प्रतियोगी से विशेषित अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता को इन्द्रियभेद से भिन्न भिन्न रूप से कारण न माने जाने के कारण पूर्वोक्त गौरव भी नहीं है, साथ ही 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष को पूर्वोक्तरीति से यावत्प्रतियोगिज्ञान के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त बनाने की आवश्यकता न होने से अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान को पूर्वोक्त गुरुरूप से कारण भी नहीं मानना पड़ेगा। अतः यह पक्ष लाघवयुक्त होने से उपादेय है।

'अभावो न घटीयः' इस प्रत्यक्ष में अन्वय व्यभिचार]

यदि यह कहें कि—"'अभावो न घटीयः' इस प्रत्यक्ष में अभावनिष्ठविषयता घटीयत्वाभावनिष्ठस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता से निरूपित है, प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता से निरूपित नहीं है, फिर भी यह प्रत्यक्ष इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, अतः उक्त सन्निकर्ष से प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्न

प्रकारता से निरूपित अभावनिष्ठविषयताकप्रत्यक्ष न होने से अन्वय व्यभिचार होगा''–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विशेषणभाग में अभाव में प्रतियोगितासम्बन्ध से घट का प्रकारविधया भान होने से उक्त प्रत्यक्ष में भी प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता-निरूपित अभावनिष्ठविषयता है, अतः उक्त प्रत्यक्षस्थल में भी इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष का अन्वयव्यभिचार नहीं है।

यदि यह शंका करें कि-''इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता के कार्यतावच्छेदक में विशेषरूप से प्रतियोगी का निवेश न करने पर तथा घटत्वादिप्रकारक ज्ञान को घटत्वाद्यवच्छिन्न से विशेषित अभावविषयकप्रत्यक्ष ही के प्रति कारण मानने पर उक्त विशेषणतासन्निकर्ष से घटज्ञान न रहने पर भी 'द्रव्यं नास्ति, मेयो नास्ति' इस रूप में घटाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी क्योंकि इस प्रत्यक्ष में प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्न द्रव्य-मेय-निष्ठप्रकारतानिरूपित अभावनिष्ठविषयता के होने से यह प्रत्यक्ष भी इन्द्रियसम्बद्ध-विशेषणता के उक्त कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त है। तथा अभाव में घटत्वावच्छिन्न विशेषण न होने से उसकी उत्पत्ति में घटत्वादिप्रकारकज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं है''–तो इसका उत्तर यह है कि–इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता प्रकारीभूतधर्मावच्छिन्नप्रतियोगित्व-सम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितअभावनिष्ठविषयताशाली प्रत्यक्ष का कारण है, न कि केवल प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितअभावनिष्ठविषयताशाली प्रत्यक्ष का। 'द्रव्यं नास्ति, मेयो नास्ति' इस प्रत्यक्ष में घटाभाव में द्रव्य–मेय का भान केवल प्रतियोगितासम्बन्ध से होता है, प्रकारीभूतद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्ध से नहीं होता, क्योंकि घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाव में द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिता सम्बन्ध नहीं रहता।

[अभावत्वनिर्विकल्प की आपत्ति का अस्वीकार]

यदि यह शंका करें कि ''घटाभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष होने पर जैसे घटज्ञान रहने पर अभाव में प्रतियोगितासम्बन्ध से घट प्रकारक और अभावत्व में निर्विशेषणक 'घटो नास्ति' इत्याकारकप्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार घट ज्ञान न रहने पर उक्त सन्निकर्ष से केवल अभावत्व का निर्विकल्पकप्रत्यक्ष होना चाहिये''–तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अभावत्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष इष्ट है। अन्यथा यदि अभावत्व का निर्विकल्पक न माना जायगा तो 'घटो नास्ति' इस प्रत्यक्ष में भी अभावत्व का स्वरूपतः भान न हो सकेगा, क्योंकि निरवच्छिन्नप्रकारताकबुद्धि में निरवच्छिन्नविषयताकज्ञान कारण होता है। अतः यदि अभावत्व का निर्विकल्पक न होगा तो अभावांश में स्वरूपतः अभावत्वप्रकारक प्रत्यक्ष न हो सकेगा। उपर्युक्त विचार से निष्कर्ष यह निकलता है कि इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता प्रतियोगिविशेषित अभाव-विषयक प्रत्यक्ष का कारण है, अतः नामादिक का अभाव होने के कारण अभाव में प्रतियोगितासम्बन्ध से प्रतियोगी का अवगाहन न करने वाले 'न' इत्याकारक अथवा 'अभावः' इत्याकारक प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती।

[विस्तृत पूर्वपक्ष समाप्त]

एवमपि घटाभावपटाभावयोरुभयोः सन्निकर्षे घटाभावांशे प्रतियोगिविशेषितस्य पटाभावांशे च तदविशेषितस्य समूहालम्बनस्य प्रसङ्गात्। किं च, एवमिदन्त्वादिनाऽभावप्रत्यक्षं न स्यात्, न स्याच्च 'अभावप्रतियोगी घटः' इत्यादिः, तादृशप्रत्यक्षेष्वपि पृथक् कारणत्वकल्पने चातिगौरवम्। अभावत्वप्रकारकघटाद्यभावविषयकप्रत्यक्षे घटत्वादिना घटादिज्ञानस्य हेतुत्वम्, पटाभावत्वेन च भूतले न घटाभावादिज्ञानम्, तत्र पटाभावस्यैवारोपात्, इत्यालोकज्ञानं विनाऽपीदन्त्वेन तमःप्रत्यक्षं नानुपपन्नमिति चेत्? न, 'घटवद् भूतलम्' इति ज्ञानोत्तरं 'अभाववद् भूतलम्' इति ज्ञानप्रसङ्गात्, तादृशाऽसंसर्गाग्रहस्याऽऽपादकस्य सत्त्वात्। किं च, एवमभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिज्ञानापेक्षायां, विना प्रतियोगिज्ञानं जायमाने तमस्त्वप्रकारके तमःप्रत्यक्षे तमसो भावत्वमेव साधयतीति प्रतिकूलाभिधानमिदं देवानांप्रियस्य।

[पूर्वोक्त सन्निकर्ष से 'घटाभावोऽभावश्च' समूहालम्बन की आपत्ति-उत्तरपक्ष]

विचार करने पर पूर्वोक्त पक्ष उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस पक्ष में भी यह दोष है कि—जब घटाभाव और पटाभाव के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष के समय घट का ज्ञान है और पट का ज्ञान नहीं है, तब उक्त सन्निकर्ष से घटाभाव में तो घटरूप प्रतियोगी को विषय करने वाले और पटाभाव में प्रतियोगी को विषय न करने वाले 'घटाभावः अभावश्च' इस प्रकार के समूहालम्बन प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, क्योंकि यह प्रत्यक्ष भी घटाभावांश में इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त है, अतः उक्त सन्निकर्ष इसका आपादक हो सकता है।

[इदन्त्वादिरूप से अभावप्रत्यक्ष न होने की आपत्ति]

इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि इदन्त्व आदि रूपों से तम का 'इदं तमः' इत्याकारक प्रत्यक्ष तथा अभावप्रतियोगित्वेन घट का 'अभावप्रतियोगी घटः' इत्याकारक प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि इन प्रत्यक्षों में अभाव में प्रतियोगितासम्बन्ध से कोई भी प्रकार न होने से इन में इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष कारण न हो सकेगा। यदि इनकी उपपत्ति के लिये इनके प्रति उक्त सन्निकर्ष को पृथक् कारण माना जायगा तो अतिगौरव होगा।

यदि कहें कि—"अभावप्रत्यक्षमात्र में उक्त विशेषणता को तथा अभावत्वप्रकारक घटाद्यभावविषयक प्रत्यक्ष में घटादिज्ञान को कारण मानने से उपर्युक्त दोषों में कोई भी दोष न होगा। क्योंकि 'अ' इत्याकारकप्रत्यक्ष अभावत्वप्रकारकघटाभावादिविषयक होने से घटादिज्ञान की अपेक्षा अवश्य करेगा और जब पूर्व में घटादिज्ञान रहेगा तो अभावविशेषणतया घटादि का भान अवश्य होगा। 'अभावप्रतियोगी घटः' इसकी भी अनुपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि यह अभावत्वप्रकारक घटाभावविषयक होने से घटज्ञानरूप कारण से सम्पन्न हो जायगा। घटशून्यपटवद्भूतल में पटाभावत्वेन घटाभाव के प्रत्यक्ष में

एवं च, अभावलौकिकप्रत्यक्षस्य घटत्वाद्यन्यतमविशिष्टविषयकत्वनियमाद् विशेषसामग्रीं विना, सामान्यसामग्रीमात्रात्कार्यानुत्पत्तेर्नाभावनिर्विकल्पकं, 'न' इत्याकारकप्रत्यक्षं वा, विशेषणादिज्ञानरूपविशेषसामग्र्यभावात्। न च अभावलौकिकप्रत्यक्षत्वघटत्वादिविशिष्टविषयकप्रत्यक्षत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावाऽभावात् कथं विशेषसामग्रीत्वमिति वाच्यम्, कार्यतावच्छेदकीभूततद्धर्माश्रयपरिकाश्रितव्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छे–

व्यभिचार भी नहीं होगा, क्योंकि उक्त भूतल में घटाभावत्वेन घटाभाव का प्रत्यक्ष न मान कर घटाभाव का ही आरोप मानने से 'भूतलं घटाभाववत्' इस प्रतीति का निर्वाह हो जायगा। इस कार्यकारणभाव को मानने पर तम के भानकाल में इन्द्रियसन्निकर्ष से उसके प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि वह अभावत्वप्रकारक न होने से उसमें तेजरूप प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा ही न होगी। अतः अभावप्रत्यक्ष में उक्तरूप से सन्निकर्ष और प्रतियोगिज्ञान को कारण मानने में कोई क्षति नहीं है"–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कार्यकारणभाव मानने पर 'घटवद् भूतलम्' इस ज्ञान के बाद 'भूतलं न अभाववद्' इत्याकारक असंसर्गग्रह के अभावरूप आपादक से 'अभाववद् भूतलम्' इस प्रकार के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी।

अभावप्रत्यक्ष और प्रतियोगिज्ञान में उक्त प्रकार के कार्यकारणभाव को स्वीकार करने में सबसे बड़ा दोष यह है कि उक्त कार्यकारणभाव को स्वीकृत कर लेने पर तम की अभावरूपता सिद्ध न हो सकेगी; क्योंकि उक्त रीति से अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान अपेक्षणीय होने पर भी तमस्त्वरूप से तम का प्रत्यक्ष तेजरूप प्रतियोगी के ज्ञान बिना ही सम्पन्न होता है, जिससे तम की भावरूपता ही सिद्ध होती है, अतः उक्त अभिधानवादी के प्रतिकूल होने से उसकी 'वैधानांधियता'=अज्ञता का ही सूचक है।

[सामान्यकार्य की सामग्री से विशेषकार्य की अनुत्पत्ति]

वादी की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि–"अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान को कारण न मानने पर भी 'अभावः' इत्याकारक अभाव के निर्विकल्पकप्रत्यक्ष तथा 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष का वारण किया जा सकता है, जैसे 'घटो नास्ति, पटो नास्ति' इत्यादि रूप में अभावविषयक जितने लौकिकप्रत्यक्ष प्रसिद्ध हैं वे सभी घटत्व–पटत्वादि अन्यतम धर्मों से विशिष्ट घटादि को अभाव के विशेषणरूप में अवश्य विषय करते हैं। अतः अभावविषयकप्रत्यक्षत्व सामान्यधर्म है, और घटत्वाद्यन्यतमधर्मविशिष्टविषयित अभावविषयकलौकिकप्रत्यक्षत्वविशेष धर्म है। सामान्यधर्मावच्छिन्न का कारण है इन्द्रियसन्निकर्षविशेषणता, और विशेषधर्मावच्छिन्न का कारण है घटत्वाद्यन्यतमधर्मप्रकारक ज्ञान। 'विशेषधर्मावच्छिन्न की उत्पादकसामग्री के बिना केवल सामान्यधर्मावच्छिन्न की सामग्री से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है' यह नियम है। इसलिये घटादि की अज्ञानदशा में केवल इन्द्रियसन्निकर्षविशेषणता से 'अभावः' इत्याकारक अथवा 'न' इत्याकारक प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती।

एवं यावत्, प्रत्येकं तत्तदवच्छिन्नसत्त्वेऽप्यत्र तद्धर्मावच्छिन्नोत्पत्तिरित्येव नियमात्, 'तद्धर्मव्याप्यधर्मावच्छिन्नयत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपित' इत्याद्युक्तौ व्याप्तिज्ञान-परामर्शयोः सत्त्वे बाधधीसत्त्वेऽप्यनुमित्यापत्तेः, 'तद्धर्मव्याप्यव्यापकधर्मावच्छिन्न-यत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपित' इत्याद्युक्तौ गौरवात्,—'घटत्वादिविशिष्टवैशिष्ट्य-विषयकप्रत्यक्षत्वस्या[illegible] प्रकृतसिद्धेश्च—इत्युक्तावपि न साध्यसिद्धिः।

[घटादिज्ञानघटित सामग्री में विशेषसामग्रीत्व की शङ्का का उत्तर]

यदि यह कहें कि-"अभावविषयकलौकिकप्रत्यक्षत्व के इदन्त्वरूप से होने वाले अभावप्रत्यक्ष में भी रहने के कारण घटत्वादिप्रत्यक्षधर्मविशिष्टविशेषितअभावविषयक-लौकिकप्रत्यक्षत्व उस का व्याप्य ही नहीं है, अतः तदवच्छिन्न के कारण घटादिज्ञान से घटित सामग्री विशेषधर्मावच्छिन्न की सामग्री ही नहीं है, इसलिये अभावविषयक-लौकिकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न की उत्पत्ति में उस की अपेक्षा न होने से विशेषणतासन्निकर्ष से 'अभावः' और 'न' इत्याकारक प्रत्यक्षों की आपत्ति होने में कोई बाधा नहीं है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'विशेषसामग्री के बिना सामान्यसामग्रीमात्र से कार्योत्पत्ति नहीं होती' इस नियम का अर्थ यह है कि 'कार्यतावच्छेदकीभूतधर्म के आश्रय यत्किञ्चित् कार्यव्यक्ति में विद्यमान कार्यता से निरूपित कारणता के अवच्छेदक जितने धर्म होते हैं, उन धर्मों में प्रत्येकधर्मावच्छिन्न का सन्निधान होने पर ही तद्धर्मावच्छिन्न की उत्पत्ति होती है'। इस नियम के अनुसार केवल इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता से 'अभावः' इत्याकारक अभावविषयकलौकिकप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अभावविषयकलौकिकप्रत्यक्षत्व के आश्रय जितने भी प्रत्यक्षात्मक कार्य हैं जैसे इदन्त्वरूप से अभाव का प्रत्यक्ष, एवं 'घटो नास्ति,' 'पटो नास्ति' इत्यादि घटाभावादि का प्रत्यक्ष, उनमें किसी भी एक कार्य व्यक्ति में विद्यमान कार्यता से निरूपित कारणता के अवच्छेदक जितने धर्म हैं, तत्प्रत्येक—धर्मावच्छिन्न की सत्ता केवल इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष के काल में हो। हाँ, उक्त शंका तब अवश्य होती जब 'विशेषसामग्री के बिना सामान्यसामग्रीमात्र से कार्योत्पत्ति नहीं होती' इस नियम का यह अर्थ होता कि 'यत्किञ्चित् कार्यव्यक्ति में विद्यमान तद्धर्मव्याप्यधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणता के अवच्छेदक जितने धर्म होते हैं, तत्प्रत्येकधर्मावच्छिन्न का सन्निधान होने पर ही तद्धर्मावच्छिन्न की उत्पत्ति होती है'। क्योंकि घटत्वादिप्रत्यक्षविशिष्टविषयकप्रत्यक्षत्व के अभावविषयक लौकिकप्रत्यक्षत्व का व्याप्य न होने से घटत्वादिप्रत्यक्षविशिष्टविषयकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न के कारणों का सन्निधान उक्त नियमानुसार अभावविषयकलौकिकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न की उत्पत्ति में अपेक्षित नहीं होता। पर उक्त नियम का यह दूसरा अर्थ स्वीकार्य ही नहीं है, क्योंकि इसे स्वीकार करने पर व्याप्तिज्ञान और परामर्श के रहने पर बाधज्ञानकाल में भी अनुमिति की आपत्ति होती है, यह इसलिये कि बाधज्ञानाभाव कार्यतावच्छेदकविशिष्टबुद्धित्व प्रत्यक्ष-शाब्दबोध आदि में भी रहने से अनुमितित्व का व्याप्य नहीं होता, अतः उक्त नियमानुसार अनुमितित्वावच्छिन्न की उत्पत्ति में विशिष्टबुद्धित्वावच्छिन्न के कारण बाधज्ञानाभाव की अपेक्षा नहीं होती।

न वा घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतातिरिक्तप्रकारतानवच्छिन्नाभावत्वलौकिकविषयत्वावच्छिन्नाभावलौकिकविषयताकप्रत्यक्षे, घटत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्नप्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितत्वे सत्यभावत्वविषयत्वावच्छिन्नाभावलौकिक—विषयताकप्रत्यक्षे वा घटत्वत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताकज्ञानहेतुत्वेऽपि निर्वाहः, तमोविषयताया-

[पूर्वोक्त नियम में विशेषप्रवेश से दोषाभाव की शङ्का का उत्तर]

यदि कहें कि—"उक्त नियम के दूसरे अर्थ में 'यत्किञ्चित्कार्यव्यक्तिनिष्ठतद्धर्मव्याप्यधर्मावच्छिन्नकार्यता' के स्थान में 'यत्किञ्चित्कार्यव्यक्तिनिष्ठतद्धर्मव्याप्यव्यापकधर्मावच्छिन्नकार्यता' का प्रवेश कर देने पर यह दोष नहीं होगा, क्योंकि बाधकाभाव का कार्यतावच्छेदकविशिष्टबुद्धित्व भी अनुमितित्व के व्याप्य तत्तद्अनुमितित्व का व्यापक है, अतः विशिष्टबुद्धित्वावच्छिन्न की उत्पत्ति में अपेक्षणीय है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त नियम का जो पहला अर्थ बताया गया है उसकी अपेक्षा इस अर्थ में गौरव है, और दूसरी बात यह यह है कि इस दूसरे परिष्कृत अर्थ को स्वीकार करने पर भी केवल इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता से 'अभावः' तथा 'न' इत्याकारकप्रत्यक्षों की आपत्ति का परिहार हो जाता है; क्योंकि घटत्वादिमन्यतमविशिष्टविषयकप्रत्यक्षत्व अभावविषयकलौकिकप्रत्यक्षत्व का व्यापक है, अतः तदवच्छिन्न के कारण घटादिज्ञान का सन्निधान अभावविषयकलौकिकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न की उत्पत्ति में अपेक्षित हो जाता है और वह केवल इन्द्रियसम्बद्धविशेषणताकाल में होता नहीं है।

विचार करने पर वादी के उक्त कथन से भी उसके 'तम तेजोऽभावरूप है' इस साधनीय पक्ष की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि तम यदि तेजोऽभावरूप है, तब उक्त नियम के अनुसार तेजोज्ञान के असन्निधान में उसका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, किन्तु होता है। अतः तम को अभावरूप कहना असंगत है।

[विशिष्ट कार्यकारणभाव से निर्वाह होने की शङ्का का उत्तर]

"घटत्वादि धर्मों से अवच्छिन्न प्रकारता से अतिरिक्त किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न प्रकारता से अनवच्छिन्न जो अभावनिष्ठलौकिकविषयता, तादृशविषयताशालीप्रत्यक्ष में अथवा घटत्वादि से अतिरिक्त धर्मों से अवच्छिन्न प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता से अनवच्छिन्न जो अभावत्वविषयता से अवच्छिन्न अभावविषयता, तादृशविषयताशाली प्रत्यक्ष में घटत्वादिधर्मावच्छिन्न का ज्ञान कारण है, ऐसा मानने पर भी केवल इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता से 'अभावः' इत्याकारक एवं 'न' इत्याकारकप्रत्यक्ष का परिहार हो सकता है, क्योंकि इन प्रत्यक्षों में जो अभावविषयता है वह अभावत्वविषयता से अवच्छिन्न है एवं उक्त प्रकारताओं से अनिरूपित है, अतः घटत्वाद्यवच्छिन्न ज्ञान के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त इन प्रत्यक्षों के प्रति घटादिज्ञान की अपेक्षा होने से उसके अभाव में इन प्रत्यक्षों की आपत्ति नहीं हो सकती"-पर इस प्रकार के कार्यकारणभाव से भी तम की अभावरूपता का निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि तमःप्रत्यक्ष की तमोनिष्ठविषयता भी तमस्त्वविषयता से अवच्छिन्न होने के कारण अभावत्वविषयता से अवच्छिन्न है, क्योंकि तमस्त्व तेजोऽभावत्व से अतिरिक्त नहीं है।

स्त्वमत्त्वविषयतावच्छिन्नत्वेऽभावत्वविषयताऽवच्छिन्नत्वनियमात्, तमस्त्वस्य तेजोऽभाव-त्वावच्छिन्नत्वात्, अभावत्वविषयताऽवच्छिन्नत्वेऽपि गौरवात्, तमसो द्रव्यत्वस्यैव युक्तत्वात् इति दिक् ।

किं च, नालोकप्रतियोगिकाभावमात्रं तमोव्यवहारविषयः, एकालोकवत्य-प्याऽऽलोकान्तराऽभावात् । न वाऽऽलोकसामान्याभावः, आलोकवत्यपि सम्बन्धान्तरेण तदभावात् । न च संयोगसम्बन्धावच्छिन्नतदभावः, आलोकेऽपि तत्सत्त्वात् । नाप्या-लोकान्यवृत्तित्वविशिष्टतदभावः, अन्धकारेऽन्धकाराऽऽपत्तेः ।

न च 'आलोकान्यद्रव्यवृत्तित्वविशिष्टः स' तथा, स्वदात्मन्यपि तत्प्रसङ्गात् । न च कदाचिदालोकसंसर्गवद्वृत्तित्वविशिष्टः स तथा, कदाऽप्यालोकसंसर्गो यत्र नास्ति

[अन्धकार को द्रव्य मानना ही उचित है]

दूसरी बात यह है कि उक्त कार्यतावच्छेदक की कुक्षि में अभावविषयता में अभा-वत्वविषयतावच्छिन्नत्व का प्रवेश गौरवग्रस्त होने से त्याज्य भी है । इसी प्रकार तम में प्रतियोगितासम्बन्ध से किसी का भान न होने से तमःप्रत्यक्ष की तमोनिष्ठविषयता उक्त प्रकारता से अनवच्छिन्न भी है । अतः तमःप्रत्यक्ष के तेजस्त्वावच्छिन्नविषयकज्ञान के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त होने के कारण तेज के अज्ञान की दशा में उसकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये, किन्तु होती है, इस लिये तम को अभावरूप न मान कर द्रव्यरूप मानना ही युक्तिसंगत है ।

[आलोकप्रतियोगिकाभावमात्र तमोव्यवहारविषय नहीं है]

तम को तेजोऽभावरूप मानने में एक बाधा यह भी है कि ऐसे तेजोऽभाव का निर्वचन नहीं हो सकता, जिसे तम कहा जा सके । जैसे, यदि आलोकप्रतियोगिक अभाव को तम कहा जायगा, तब एक आलोक से युक्त स्थान में भी आलोकान्तर का अभाव होने से वहां तमःप्रतीति एवं तमोव्यवहार की आपत्ति होगी । आलोकसामा-न्याभाव को यदि तम कहा जायगा, तो आलोकसंयुक्तदेश में संयोगसम्बन्ध से आलो-कसामान्याभाव न होने पर भी समवायसम्बन्ध से आलोकसामान्याभाव होने के कारण वहां भी तम के प्रत्यक्ष एवं व्यवहार की आपत्ति होगी ।

संयोगसम्बन्ध से आलोकसामान्याभाव को यदि तम कहा जायगा, तो जहां एक ही आलोक है वहां उस स्थल में आलोकसामान्याभाव न होने पर भी उस आलोक में कोई भी आलोक न होने से संयोगसम्बन्ध से आलोकसामान्याभाव है, अतः उस आलोक में तम के प्रत्यक्ष एवं तम के व्यवहार की आपत्ति होगी । यदि आलोकान्यवृत्तित्ववि-शिष्टआलोकसामान्याभाव को तम कहा जायगा तो आलोक में आलोकाभाव आलोक-वृत्तित्वविशिष्ट होने पर भी आलोकान्यवृत्तित्वविशिष्ट आलोकसामान्याभाव के रहने से आलोक में तो तम के प्रत्यक्षादि की आपत्ति न होगी, पर अन्धकार में उक्त आलोक-सामान्याभाव के रहने से 'अन्धकारेऽन्धकारः=अन्धकार में भी अन्धकार है' इस प्रकार के व्यवहार की आपत्ति का वारण न हो सकेगा ।

१. 'गऽन्तिद्' इति पाठान्तरम् ।

तथापि घोरनरकादौ तदनुभवात्, अन्धतमसे यावदालोका[भावा]भावाच्च । किं चैतावद्घटकाऽप्रतिसन्धानेऽपि तमस्त्वप्रतिसन्धानाद् घटत्ववद् जातिरूपमेतद् न्याय्यम् ।

एतेन 'यावदालोकसत्त्वे नान्धकारव्यवहारस्तावन्निष्ठबहुत्वविशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्तमः' इत्यपास्तम्, बहुत्वस्य बुद्धिविशेषादिना विनिगमनाविरहाच्च । अखण्डाभाव एव तमः 'अखण्ड' वा तमस्त्वम्' इति कल्पयतस्त्वतिरिक्ततमोद्रव्यकल्पने किं हीयते ?

अपि च तमसोऽभावत्वे उत्कर्षाऽपकर्षाऽसम्भवाद् अन्धतमसावतमसादिविशेषो न स्यात् । न च महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेजोभावोऽन्धतमसं, कतिपयतदभावश्चावतमसं, इत्यादिविभागो न्याय्यः दिवा प्रकृष्टालोकेऽपि तत्सत्त्वात् ।

[आलोकान्यद्रव्यवृत्तित्वविशिष्ट आलोकाभाव तमोव्यवहार का विषय नहीं है]

यदि आलोकान्यद्रव्यवृत्तित्वविशिष्ट आलोकसामान्याभाव को तम कहा जायगा, तो तम को अभावात्मक मानने वाले वादी के मत में तम के द्रव्यरूप न होने से तम में उक्त आपत्ति का वारण तो हो जायगा पर वादी के आत्मा में तम की आपत्ति लगेगी, 'वादी के आत्मा में भी अंधेरा है' इस प्रकार के व्यवहार की आपत्ति होगी। जहां कभी आलोक का सम्बन्ध होता हो, उसी देश वाले ही आलोकसामान्याभाव को यदि तम माने तो ऐसा तम मानने पर इस आपत्ति का परिहार तो हो सकता है पर घोर नरक आदि, जहां कभी भी आलोक नहीं होता वहां भी शास्त्रों में तम का अस्तित्व बताया गया है, किन्तु अब वह असंगत हो जायगा। एवं अवतमस–मन्द अन्धकारयुक्त स्थान में यत्किंचित् आलोक रहने के कारण आलोकसामान्याभाव के न रहने से वहां तमःप्रतीति की अनुपपत्ति होगी। एवं उक्त प्रकार के आलोकाभाव को तम मानने पर तमस्त्व के घटक उपर्युक्त पदार्थों कि अज्ञानदशा में तमस्त्व का प्रत्यक्षादि न हो सकेगा, किन्तु होता है अतः घटत्व के समान तमस्त्व को द्रव्यगत जाति मानना ही न्यायसंगत है।

[नियतसङ्ख्याक आलोक का अभाव अन्धकार नहीं है]

जो लोग यह मानते हैं कि—"जितने आलोक के होने पर अन्धकार होने का व्यवहार नहीं होता, उतने आलोकों का अभाव तम है, और उसका स्वरूप है–तावत् आलोक में रहने वाला जो बहुत्वविशेष–तदवच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव। बहुत्वविशेष इस अभाव का पर्याप्तिभिन्नस्वरूपसम्बन्ध से प्रतियोगितावच्छेदक है, न कि पर्याप्तिसम्बन्ध से, अतः उस बहुत्व के आश्रयभूत एक आलोक के रहने पर भी उक्त अभाव सम्भव न होने से उस प्रकार के एक आलोक के रहते तमःप्रतीति की आपत्ति नहीं हो सकती।"—यह कल्पना भी उचित नहीं है, क्योंकि बहुत्वरूप से आलोक की अज्ञानदशा में भी तम की प्रतीति होती है, किन्तु उक्त अभाव को तम मानने पर उक्त दशा में वह न हो सकेगी। इस के अतिरिक्त यह भी दोष है—उक्त अभाव के प्रतियोगितावच्छेदक के विषय में इस प्रकार का विनिगमनाविरह होगा कि बहुत्व को प्रतियोगितावच्छेदक माना जाय या उन आलोकों को विषय करने वाले बुद्धिविशेष को प्रतियोगितावच्छेदक माना

न च छायायामतिव्याप्तिवारणाय 'स्वन्यूनसंख्यबाह्यालोकसंवलने सती'ति विशेषणदानाऽऽवश्यकत्वात्, तदानीं च बाह्यालोकस्य स्वाधिकसंख्यत्वान्न दोष इति वाच्यम्; तथिमातिरिक्तानन्त्यदिनवृत्तिबाह्यालोकाभावानामेवाधिकत्वात्, तादृशस्याऽप्रति-सन्धानेऽप्यन्धतमसत्वाद्यनुभवाच्च । एतेन 'रूपत्वव्याप्यजातिग्राहकतेजःसंवलितसंख्यान्तरविशेषग्रा-हकयावत्तेजःसंसर्गोऽभावोऽन्धतमसम्, रूपत्वव्याप्यजातिग्राहकतेजःसंवलितः प्रौढप्रका-शकयावत्तेजःसंसर्गाभावश्छाया, यावदालोकाभावश्चाऽन्धतमसम्' इति निरस्तम् । छायाभे-दयाऽन्धतमसादीनामचाक्षुषत्वप्रसङ्गात्, तादृशमात्यसिद्ध्या तत्तज्ज्ञानविशेषपरिचायितजा-तिविशेषविशिष्टालोकनिवेशाऽसम्भवाच्चेति दिक् ।

जाय। एवं यह भी निश्चित नहीं हो सकता है कि किस पुरुष की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न बहुत्व का तथा किस पुरुष के बुद्धिविशेष को प्रतियोगितावच्छेदक माना जाय ? फलतः अनेक बहुत्वों से किंवा अनेक बुद्धिविशेषों से अवच्छिन्नप्रतियोगिता के निरूपक अनेक अभाव को तमोरूप मानने में अतिगौरव होगा।

'तम एक अखण्ड अभाव है, अथवा तमस्त्व एक अखण्ड उपाधि है' ऐसा मानने पर यद्यपि उपर्युक्त दोष नहीं हो सकते, तथापि इस प्रकार की कल्पना करने वाले को इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन होगा कि जब तम या तमस्त्व में अखण्डता की कल्पना करनी है तब तम में द्रव्यरूपता का स्वीकार करने में क्या हानि है ?

तम को अभावरूप मानने पर दूसरा दोष यह है कि यदि तम अभावरूप होगा तो अभाव में तो उत्कर्ष-अपकर्ष की कल्पना हो नहीं सकती; तो फिर उत्कृष्ट तम 'अन्धत-मस' है और अपकृष्ट तम 'अवतमस' है इस प्रकार तमोभेद की कल्पना न हो सकेगी महद्-उद्भूत-अनभिभूतरूपवत् यावत् तेज का अभाव 'अन्धतमस' है और इस प्रकार के कतिपयतेज का अभाव 'अवतमस' है इस प्रकार तम का विभाजन न्यायसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर दिन में प्रकृष्ट आलोक के समय भी कतिपय तादृश-तेज का अभाव होने से अवतमस के व्यवहार की आपत्ति होगी।

[अन्धतमस-अवतमस के लक्षण की अनुपपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि—''महत्त्व एवं उद्भूत तथा अनभिभूतरूप जिन तेजों में होता है उनमें से कतिपय तेज के अभाव को अवतमस मानने पर छाया में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये उक्त अभाव में उस अभाव से अथवा उसके प्रतियोगी से अल्पसं-ख्यक बाह्यालोक के संवलन का निवेश करना होगा। संवलन का अर्थ है एक देश और एक कालमें अस्तित्व। इस संवलन का निवेश करने पर अवतमस का स्वरूप यह बनेगा कि स्व की अपेक्षा अथवा स्वप्रतियोगी की अपेक्षा अल्पसंख्यक बाह्यालोक से स्वसमा-नदेशत्व और स्वसमानकालत्व उभयसम्बन्ध से विशिष्ट जो कतिपय उक्त तेज का अभाव वह अवतमस है। लक्षण का यह स्वरूप होने पर छाया में अतिव्याप्ति न होगी। क्योंकि उक्तप्रकार के कतिपय तेज के जितने अभाव के रहने पर छाया का व्यवहार होता है। उन अभावों अथवा उन अभावों के प्रतियोगियों से न्यूनसंख्यक बाह्यालोक

का संचलन छाया में नहीं होता किन्तु अधिकसंख्यकबाह्यालोक का संचलन होता है। अवतमस का यह लक्षण निष्पन्न होने पर दिन में प्रकृष्ट आलोक के समय अवतमस की प्रतीति एवं उसके व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उस समय उक्त प्रकार के तेज का जितना अभाव होता है उससे अथवा उसके प्रतियोगि से अधिक संख्यक बाह्यालोक दिन के प्रकृष्टालोक के समय रहता है। अतः एव उक्त समय में विद्यमान उक्त प्रकार के तेजोऽभावों में उसकी अपेक्षा अथवा उसके प्रतियोगि की अपेक्षा न्यूनसंख्यक बाह्यालोक का संचलन नहीं रहता।"—

किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस दिन प्रकृष्टालोक के समय अवतमस का आपादन करना है उस दिन केवल उस दिन के ही कतिपय बाह्य आलोकों का अभाव नहीं है, अपितु उस दिन से भिन्न अन्य अनन्त दिनों के बाह्य आलोकों का भी अभाव है। अतः उस दिन जितने बाह्य आलोक का संचलन उस अभाव में है उनकी संख्या उन अभावों अथवा उनके प्रतियोगियों से न्यून ही है। अतः अवतमस का प्रस्तुत-लक्षण स्वीकार करने पर भी दिनमें प्रकृष्टालोक के समय अवतमस की प्रतीति और उसके व्यवहार की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता। और इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि यदि उक्त प्रकार के तत्तत्तेज के अभाव को अन्धतमस आदि माना जायगा तो उक्त प्रकार के तत्तत्तेजस्त्व की अज्ञानदशा में तत्तत्तेजोऽभाव का ज्ञान न हो सकेगा। क्योंकि अभावज्ञान में प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञान कारण होता है। अतः उक्त रूप की अज्ञानदशा में तत्तत्तेजोऽभाव का ज्ञान न हो सकने के कारण अन्धतमसत्व आदि रूप से अन्धकार के अनुभव की उपपत्ति अशक्य हो जायगा।

इस दोष तथा अग्रिम दोष के कारण इस रीति से भी अवतमस आदि का लक्षण नहीं बन सकता कि—"रूपत्वमात्रकतेज से संवलित जो रूपत्वव्याप्यजाति के ग्राहक तेज का संसर्गाभाव वह अवतमस है। एवं रूपत्वव्याप्यजाति के ग्राहक तेज से संवलित जो प्रौढप्रकाशकयावत्तेज का संसर्गाभाव वह छाया है। तथा रूपत्वग्राहक एवं रूपत्वव्याप्यजातिग्राहक यावत्तेज का संसर्गाभाव अन्धतमस है।"—इन लक्षणों का आधार यह मान्यता है कि कुछ सामान्यतेज इस प्रकार के होते हैं जिनसे रूपसामान्य का ग्रहण होता है किन्तु नीलत्वपीतत्वादिरूप में रूप का ग्रहण नहीं होता। अवतमस में वस्तु के रूपसामान्य का प्रत्यक्ष तो होता है किन्तु वस्तु की नील-पीतादिरूपता का प्रत्यक्ष नहीं होता एवं छाया में वस्तु की नील-पीतादिरूपता का दर्शन होता है किन्तु वस्तु का प्रौढ प्रकाश-संवलित दर्शन नहीं होता। और अन्धतमस में वस्तु के न रूपसामान्य का ही ग्रहण होता और न उसकी नीलपीतादिरूपता का ही प्रत्यक्ष होता, एवं न वस्तु का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता।

परन्तु अवतमस आदि का यह निर्वचन भी दोषयुक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार के तेज के संसर्गाभाव का निवेश उक्त लक्षणों में है उस उस तेज की अज्ञानदशा में उसके अभाव का ग्रहण सम्भव न होने से अवतमसत्वादिरूप से अन्धकार का प्रत्यक्ष न हो सकेगा। एवं उक्त लक्षणों में प्रतियोगि की कुक्षि में ज्ञान का भी संनिवेश है और ज्ञान चाक्षुष नहीं होता। अतः ज्ञानघटितप्रतियोगी के अचाक्षुष होने से अभाव

किं च अत्यन्ताभावत्वे तमस उत्पत्तिनाशादिप्रतीतीनां भ्रमत्वं स्यात् । न च 'आलोकसंसर्गाभावसमुदाय एवान्धकारः, तत्र राशिष्विव किञ्चित्समुदायिव्यतिरेकप्रयुक्त एव विनाशः, एवमुत्पत्तिप्रत्ययोऽप्यूह्यः' इति शशधरशर्मणो वचनं रमणीयम्, राशिषु बहुत्वविशेषनाशोत्पादाभ्यां तदाश्रयनाशोत्पादप्रतीत्युपपत्तावपि प्रकृते तदयोगात्, समूहविलक्षणमहदेकोत्पादाद्यनुभवाच्च । अपि च, एवं 'इदं नीलम्' इत्यादिधियो भ्रमत्वं, तत्र 'नेदं नीलम्' इत्यादि साक्षात्कारे वस्तुस्वरूपस्यादृष्टविशेषस्य वा दोषस्य वा प्रतिबन्धकत्वं, तत्राप्यप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टतेजोऽभावत्वप्रकारकज्ञानादीनामुत्तेजकत्वं कल्पनीयम्, इत्यतिगौरवम् ।

भी अचाक्षुष होगा । अतः उक्त अभाव को अन्धतमस आदि रूप मानने पर उसका चाक्षुषप्रत्यक्ष न हो सकेगा । यदि यह कहा जाय कि—"उक्त अभाव के प्रतियोगी का रूपग्रहणजनकत्व या रूपत्वव्याप्यजातिग्रहजनकत्वरूप से उक्त लक्षणों में प्रवेश न कर उन विशेषजातियों के रूप में प्रवेश किया जायगा जो जातियाँ उन तेजों में उन तेजों के अस्तित्वकाल में होने वाले रूपत्वप्रकारक एवं रूपत्वव्याप्यजातिप्रकारक प्रत्यक्षज्ञान से ज्ञात होती हैं । आशय यह है कि जिस तेज के सन्निधान में वस्तु के रूपसामान्य का ही प्रत्यक्ष होता है उस तेज में ऐसी जाति मानी जायगी जिस जाति के द्वारा वह तेज वस्तु के रूपसामान्य का ही ग्राहक हो, एवं जिस तेज के सन्निधान में वस्तु की नीलपीतादिरूपता का प्रत्यक्ष होता है उस तेज में ऐसी जाति मानी जायगी जिसके द्वारा तेज रूपत्वव्याप्यजाति का ही ग्राहक हो । इन जातियों के रूप में तत्तत्तेजों को अन्धतमसादिरूप अभाव का प्रतियोगी मानने पर अन्धतमसादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष की अनुपपत्ति न होगी क्योंकि अन्धतमसादि रूप अभाव के प्रतियोगि-तेज उन जातियों के रूप में चक्षुर्ग्राह्य होते हैं ।"—किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं हो सकता । क्योंकि जिन तेजों से वस्तु की पीतादिरूपता का प्रत्यक्ष होता है उनसे वस्तु के रूपसामान्य का भी प्रत्यक्ष होता ही है । इस प्रकार जिन तेजों से सामान्य मनुष्य को वस्तु के रूपसामान्य का ही ग्रहण होता है उस तेज से तीव्र नेत्रशक्तिवाले मनुष्य को नीलपीतादिरूपता का भी ग्रहण होता है । अतः रूपग्राहक तेजों में उक्त रीति से जातिभेद की कल्पना अशक्य होने के कारण उनके आधार पर अन्धतमस आदि के कथित अचाक्षुषत्व की आपत्ति का परिहार असम्भव है ।

['तमः उत्पन्नं नष्टं वा' प्रतीति की अनुपपत्ति]

तम को आलोक का अत्यन्ताभावरूप मानने पर एक दोष यह भी होगा कि 'तमः उत्पन्नं, तमो नष्टम्' इस प्रकार तम की उत्पत्ति आदि की जो प्रतीति होती है, वह न हो सकेगी, क्योंकि अत्यन्ताभाव के नित्य होने से उसकी उत्पत्ति और उसका विनाश असम्भव है । इस पर शशधर शर्मा का यह कहना है कि—"आलोक का केवल अत्यन्ता-

यत्तु 'तमसो द्रव्यत्वे प्रौढालोकमध्ये सर्वतो घनतरावरणे तमो न स्यात्, तेजोऽवयवैस्तत्र तमोऽवयवानां प्रवेशानवकाशात्, सर्वतस्तैजसःसंश्लेषे वाऽन्यतोऽप्यागमनाऽसम्भवात्' इति वर्धमानेनोक्तम्; तदसत्, 'यद् द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत् तदुपादानोपादेयम्' इति व्याप्त्यैव तेजोऽणुभिरेव तथान्धकारारम्भस्वीकारात् । न च तैजसस्तैजस एवारम्भकत्वादयुक्तमेतदिति वाच्यं, नियतारम्भनिरासादिति दिग् ।

भाव ही तम नहीं है, अपि तु आलोक के संसर्गाभाव का समुदाय तम है । इस समुदाय में आलोक का ध्वंस और आलोक का प्रागभाव भी प्रविष्ट है, इस समुदाय के एक आलोकध्वंस की उत्पत्ति होने पर समुदाय के उत्पत्ति की और आलोकप्रागभाव का नाश होने पर समुदाय के नाश की प्रतीति ठीक उसी प्रकार उपपन्न हो सकती है जैसे किसी राशि के कुछ अंश की उत्पत्ति, एवं कुछ अंश का नाश होने पर उस राशि की उत्पत्ति, और कुछ अंश का नाश होने पर उस राशि की उत्पत्ति और उस राशि के नाश की प्रतीति होती है ।"—किन्तु विचार करने पर यह कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि द्रव्य की राशि और अभाव के समुदाय में अन्तर है, द्रव्यराशि में से किसी द्रव्य के राशि से अलग हो जाने पर राशिगतपूर्वबहुत्व का नाश और राशि में किसी सजातीय नये द्रव्य शामिल होने पर नये बहुत्व की उत्पत्ति होने से उस बहुत्व के आश्रय राशि में भी नाश एवं उत्पत्ति का व्यवहार तो हो सकता है, पर अभाव द्रव्य न होने से उस में बहुत्व की उत्पत्ति आदि का सम्भव न होने से अभावसमुदाय में उत्पत्ति-विनाश की प्रतीति का उपपादन शक्य नहीं है । दूसरी बात यह है कि तम के उत्पत्ति-विनाश की प्रतीति एक महद् व्यक्ति की उत्पत्ति विनाश के रूप में अनुभूत होती है, जो समूह के उत्पत्ति विनाश की प्रतीति से सर्वथा विलक्षण है ।

['नीलं तमः' प्रतीति में भ्रमरूपता की आपत्ति]

इसके अतिरिक्त तम के अभावत्व पक्ष में यह भी दोष है कि तम को अभावरूप मानने पर उस में होने वाली नीलप्रतीति को भ्रम मानना पड़ेगा, और अनीलप्रतीति के वारणार्थ अनीलप्रतीति में तमःस्वरूप को, अदृष्टविशेष को या नीलभ्रमजनकदोष को प्रतिबन्धक मानना होगा, तम में तेजोऽभावत्व का ज्ञान रहने पर और उस ज्ञान में अप्रामाण्य ज्ञान न रहने पर अनीलप्रतीति का प्रतिबन्ध नहीं होता, अतः प्रतिबन्धक में अप्रामाण्यज्ञानाभावविशिष्टतेजोऽभावत्वप्रकारकज्ञानाभाव को विशेषण बना कर उक्त ज्ञान को प्रतिबन्धकता में उत्तेजक मानना पड़ेगा, जिसके कारण तम की अभावरूपता का पक्ष अत्यन्त गौरवग्रस्त होगा ।

[वर्धमानउपाध्याय के मत का खंडन]

तम के द्रव्यत्वपक्ष में वर्धमान उपाध्याय ने यह दोष दिया है कि-"जिस प्रदेश में प्रौढ आलोक फैला है, उस प्रदेश के मध्यभाग को चारों ओर से दुर्भेद्य आवरणों द्वारा अत्यन्त घनरूप में आवृत कर देने पर वहां अन्धकार हो जाता है, किन्तु अन्धकार यदि द्रव्यरूप होगा, तो वहां उसे अवकाशलाभ न हो सकेगा, क्योंकि आवरण के पूर्व उस

एवं तमसोऽभावत्वे गतिमत्त्व-परत्वाऽपरत्वविभागादिप्रत्ययानामप्यनुपपत्तिः । न च स्वाभाविकगतेराश्रयगत्यनुविधाननियमाऽनुपपत्तिः, पद्मरागप्रभायां तथादर्शनात्; कुड्याद्यावरणभङ्गे तन्नियमभङ्गस्य च प्रभायामिव छायादावपि तुल्यत्वात् । तदिदमुक्तम्-

"तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत् ।
इतरद्रव्यवैधर्म्याद् नवभ्यो भेत्तुमर्हति"[1] । इति ।

'तमो द्रव्यं, घनतरनिकरलहरीप्रभृतिशब्दैर्व्यपदिश्यमानत्वात्, किरणादिवत्' इत्यपि वदन्ति ।

स्थान में तेज के अवयव भरे थे, अतः उस समय वहाँ तम के अवयवों का होना सम्भव नहीं है, और आवरण के बाद आवरण के ही कारण अथवा आवरण के बाहर चारों ओर तेजअवयवों के ही व्याप्त रहने के कारण बाहर से भी तम के अवयवों का उस स्थान में पहुँचना सम्भव नहीं है; फलतः तम के अवयवों का अभाव होने से उस स्थान में तम की उत्पत्ति असम्भव है।"—विचार करने पर यह दोष सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उक्त स्थान में जिस आलोक का ध्वंस होने से तम की उत्पत्ति होती है उस आलोक के अवयवों से ही तम की उत्पत्ति मान सकते हैं। यह मानना असंगत भी नहीं है क्योंकि जो द्रव्य जिस द्रव्य के ध्वंस से उत्पन्न होता है वह उस ध्वस्तद्रव्य के उपादान कारणों से ही उत्पन्न होता है, यह व्याप्ति [illegible] होती है' यह नियम है, अतः तेज के तेजोरूप अवयवों से तेज के विरोधी तम की उत्पत्ति नहीं हो सकती"-यह शंका नहीं की जा सकती क्योंकि एकजातीय से अन्यजातीय का आरम्भ नहीं होता या सजातीय से तज्जातीय का ही आरम्भ होता है, इस प्रकार का नियतारम्भ प्रमाण के अभाव में अमान्य है प्रत्युत अग्नि के सम्पर्क से काष्ठ आदि इन्धनों का दाह होने पर इन्धन के आरम्भक पृथिवी परमाणुओं से नये अग्नि की उत्पत्ति एवं अग्नि बुझने पर उसके आरम्भक तेजःपरमाणुओं से पार्थिव भस्म की उत्पत्ति होने में उक्त नियम का भङ्ग हो जाता है ।

[सक्रियत्वादिप्रतीति की अनुपपत्ति]

तम को अभावरूप मानने पर उस में गति, परत्वाऽपरत्व, विभाग आदि की प्रतीति भी उत्पन्न न हो सकेगी । कहने का आशय यह है कि आलोक दूर होने पर 'तम आगतम्,' एवं आलोक का सन्निधान होने पर 'तमो गतम्' इस प्रकार तम में गति की प्रतीति होती है। 'तमः परं--तमो दूरं--तमः अपरं--तमो निकटम्' इस प्रकार तम में दैशिक परत्वापरत्व की प्रतीति होती है। एवं 'इदं तमः तस्मात्तमसः परं-ज्येष्ठम्, तत् तमः अस्मात्तमसः अपरं-कनिष्ठं,' इस प्रकार तम में कालिक परत्व-अपरत्व की भी प्रतीति होती है । 'तमः अस्मात् स्थानाद् विभक्तं स्थानान्तरेण च संयुक्तम्' इस प्रकार तम में स्थानविशेष से विभाग की और स्थानविशेष से संयोग की प्रतीति होती है, पर तम यदि अभावरूप होगा तो उस में गति-कर्म-परत्व आदि गुण न होने से उक्त प्रतीतियों की अनुपपत्ति होगी । अतः द्रव्यरूप मानना ही उचित है ।

---

१. रत्नाकरावतारिकाया द्वितीयपरिच्छेदे श्रीरत्नप्रभसूरीणामिदमागमम् ।

'नाऽऽलोकः किन्त्वन्धकारः' इति व्यवहाराद्प्यालोकाभावाद् भिन्नं तमः, 'नात्र घटः किन्तु तदभावः' इतिवद् विवरणपरतां विनाऽपि स्वारसिकप्रयोगदर्शनात्, अपकृष्टालोकसत्त्वेऽप्यन्धकारव्यवहाराच्च । 'अत एव उत्कृष्टालोकाभावोऽन्धकार' इति चेत् ? न, तदुत्कर्षप्रतियोग्यपकर्षशालितयैव तमसि द्रव्यत्वसिद्धेः ।

[आश्रयगति का अनुविधान द्रव्यत्व में बाधक नहीं है]

यदि यह कहें कि–"तम को द्रव्य मान कर उस में स्वभाविक गति मानने पर उसकी गति में आश्रय की गति का अनुविधान होने का नियम टूट जायगा ।"–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पद्मराग मणि की प्रभा में स्वाभाविक गति होने पर भी उसकी गति में पद्मरागरूप आश्रय की गति का अनुविधान देखा जाता है इसलिये तम में स्वाभाविक गति मानने पर भी उसकी गति में आश्रय की गति के अनुविधान की उपपत्ति हो जायगी । दीवार आदि आवरण का भङ्ग होने पर आश्रय गतिहीन होने पर भी तम का प्रसार देखने से तम की गति में आश्रय की गति का अनुविधान न होने से उक्त नियम की अनुपपत्ति की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह शंका पद्मराग की प्रभा की गति के सम्बन्ध में भी समान है, पद्मराग की प्रभा आवरण का भंग होने पर पद्मराग के स्थिर रहते भी आगे और फैलती है अतः उक्त नियम को इस रूप में मान्यता देनी होगी कि आश्रित में स्वतन्त्ररूप से गति का उत्पादक न होने पर आश्रित की गति आश्रय की गति का अनुविधान करती है, और यह प्रभा और छाया दोनों में समानरूप से अक्षुण्ण है । ये बातें 'तमः खलु चलं०' इत्यादि कारिका में इस प्रकार वर्णित हैं कि तम गतिशील एवं नील है, यह परत्व-अपरत्व और विभाग का आश्रय है, साथ ही पृथिवी आदि अन्य नव द्रव्यों से भिन्न है, अतः उसे अतिरिक्त दशम द्रव्य के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है ।

श्री रत्नप्रभसूरि आदि जैन विद्वानों का यह भी मत है कि 'घनतर तमः, तमो निकरं, तमो लहरी' इस रूप में व्यवहार होने के कारण भी तम में द्रव्यत्व की सत्ता ठीक उसी प्रकार स्वीकार करनी चाहिये, जैसे इसी कारण से किरण आदि में द्रव्यत्व की सत्ता मानी जाती है ।

[व्यवहारविशेष से अन्धकार में आलोकाभावभिन्नत्व की सिद्धि]

'यहाँ आलोक नहीं है किन्तु अन्धकार है' इस व्यवहार से भी 'तम आलोकाभाव से भिन्न है', यह बात सिद्ध होती है क्योंकि 'नात्र घटः किन्तु तदभावः–यहाँ घट नहीं है किन्तु उस का अभाव है' इस व्यवहार में जिस प्रकार उत्तरभाग से पूर्वभाग का विवरण अभिप्रेत होता है, उस प्रकार 'नाऽऽलोकः किन्तु अन्धकारः' इस व्यवहार में उत्तरभाग से पूर्वभाग का विवरण अभिप्रेत न होने पर भी यह व्यवहार होता है, अतः इस व्यवहार से अन्धकार की आलोकाभावभिन्नता निर्विवाद है । उसी प्रकार अपकृष्ट आलोक रहने पर भी अन्धकार का जो व्यवहार होता है उस से भी अन्धकार आलोकाभाव रूप नहीं है यह सिद्ध होता है, क्योंकि यदि अन्धकार आलोकाभावरूप होता तो अपकृष्ट आलोक के समय आलोकाभाव न रहने से अन्धकार की प्रतीति न

"तमः[ः तेजः]प्रतियोगिकाभावेनैव [तेजो ः]तमोव्यवहारः, तत्र तत्तत्तेजोज्ञानं प्रतिबन्धकम्" इति शेषानन्तवचनं त्वयनादरणीयं स्पष्टगौरवात्, व्यवहर्तव्यज्ञाने सति सत्यां चेच्छायां व्यवहारेऽधिकानपेक्षणाच्चेति दिक् ।

प्राभाकरास्तु — तेजोज्ञानाभाव एव तमः, 'नीलं तम' इति धीस्तु स्मृतनीलिम्ना

हो सकेगी। 'उत्कृष्ट आलोक का अभाव अन्धकार है' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अन्धकार के प्रतियोगी आलोक को उत्कृष्ट कहने पर अन्धकार उस की अपेक्षा अवश्य ही अपकृष्ट होगा, और जब वह अपकृष्ट होगा तब उसकी अपकृष्टता से ही उस में द्रव्यत्व की सिद्धि अनिवार्य हो जायगी क्योंकि उत्कर्ष सजातीय में ही मान्य होता है।

शेषानन्त का कहना है कि तेजःप्रतियोगिक अभाव ही तम है, आलोकवान् देश में यत्किंचित् तेज का अभाव होने पर भी तम का व्यवहार इसलिये नहीं होता कि तत्तत् तेज का ज्ञान तम के व्यवहार का प्रतिबन्धक है'- किन्तु इस पक्ष में तमोव्यवहार में विभिन्न तेज के ज्ञान को पृथक् पृथक् प्रतिबन्धक मानने के कारण अतिगौरव स्पष्ट रहने से यह पक्ष त्याज्य है। दूसरी बात यह है कि व्यवहर्तव्य का ज्ञान और व्यवहार की इच्छा रहने पर व्यवहार होने में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती अतः तेजोयुक्त स्थान में जब तेजःप्रतियोगिकअभावरूप तम का ज्ञान है और तमोव्यवहार की इच्छा है तब तमोव्यवहार में किसी अन्य के अपेक्षणीय न होने से तत्तत्तेज के ज्ञानाभाव की भी अपेक्षा किये बिना तम का व्यवहार होना ही चाहिये। पर उक्त व्यवहार नहीं होता, अतः तम को द्रव्य एवं तत्तत्तेजःसत्त्वकाल में उसका अभाव मान कर तेजोयुक्त देश में तमोव्यवहार का वारण करना ही उचित है।

[आलोकज्ञानाभाव ही तम है प्रभाकरमत]

प्रभाकर के अनुयायियों का कहना है कि 'तेजोज्ञान का अभाव ही तम है'। इसका आशय यह है कि जिस स्थान में मनुष्य को आलोक नहीं दीखता, वहाँ वह तम का व्यवहार करता है, इससे सिद्ध होता है कि आलोकदर्शन का अभाव ही तम है। आलोकदर्शनाभाव का अर्थ है—स्वीयआलोकनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यता, एवं स्वीयआलोकनिष्ठविशेष्यतानिरूपितआधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता—इन दोनों सम्बन्धों में किसी भी सम्बन्ध से दर्शन का न होना, अर्थात् उक्त विशेष्यता उक्त प्रकारता-एतदन्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकदर्शनाभाव। जिस देश में 'आलोकवान् अयं देशः' इस प्रकार आलोक का दर्शन होगा, उस देश में उक्त विशेष्यतासम्बन्ध से यह दर्शन रहेगा क्योंकि उक्तदर्शन में आलोक प्रकार और देश विशेष्य है, अतः उक्त विशेष्यतासम्बन्ध में 'स्व' शब्द से उक्त दर्शन को लेने पर उक्त दर्शन स्वीयआलोकनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्ध से देश में रहेगा। और जब देश में 'अत्र देशे आलोकः' इस प्रकार आलोकदर्शन होगा, तब यह दर्शन उक्त प्रकारतासम्बन्ध से देश में रहेगा, क्योंकि इस दर्शन में आलोक विशेष्य है और देश उसमें आधेयतासम्बन्ध से प्रकार है, अतः उक्त प्रकारतासम्बन्ध में 'स्व' शब्द से इस दर्शन को लेने पर यह दर्शन देश में उक्त प्रकारतासम्बन्ध से रहेगा, जिस देश में जब उक्त दर्शनों में कोई भी दर्शन रहेगा, तब

समभासकैकज्ञानाभावस्याऽऽलोकसंसर्गाऽग्रहात् । अत एव आलो[कवद्]काद् गर्भगृहं प्रविशतः प्रथममालोकाऽग्रहे 'नीलं तमः' इति धीः । तदुक्तम्—'अप्रतीतावेव प्रतीतिभ्रमो मन्दानाम्' इत्याहुः । तदप्यसत्, 'तमः पश्यामि' इति प्रतीत्या तमसश्चाक्षुषत्वात् ज्ञानाभावस्य चाऽतथात्वात् निमीलितनयनस्य च न तमःप्रतीतिरस्ति, किन्त्वर्थान्तरप्रतीतिरेव, अन्यथा 'गेहे तमोऽस्ति, न वा ?' इति संशयानुपपत्तेः । गर्भगृहे च तमःप्रत्ययो भ्रम एव, आलोकज्ञानप्रतिबन्धकदोषस्य तत्र स्वीकारावश्यकत्वादिति दिक् ।

उस देश में उक्त विशेष्यता एवं उक्तप्रकारता दोनों ही सम्बन्धों से दर्शन का अभाव रहेगा, वैसी ही स्थिति में वहां तमःप्रतीति एवं तमोव्यवहार होगा ।

प्राभाकरों का कहना है कि "तम के आलोकदर्शनाभावरूप होने पर भी नीलिमा के स्मरण एवं उक्त दर्शनाभाव के साथ नीलिमा के असंसर्ग के अग्रहण से उक्त अभाव-रूप तम में 'तमो नीलं' इस व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है।

जब मनुष्य बाहर के तेज आलोक से गृह के भीतर प्रवेश करता है तो सहसा उसे वहां स्थित शान्त आलोक का दर्शन नहीं होता और वह झट से बोल पड़ता है 'अत्र अन्धकारः-यहां तो अंधेरा है' । इस व्यवहार से भी यही सिद्ध होता है कि आलोकदर्शनाभाव ही तम है, अन्यथा यदि आलोकाभाव तम होता तो आलोक तो वहां है ही, फिर आलोकाभावरूप तम का दर्शन एवं व्यवहार कैसे हो सकता था । यदि वह द्रव्यरूप होता तब भी आलोक से गृह में प्रवेश करने पर तत्काल ही उसका दर्शन ठीक उसी प्रकार न होता जैसे वहां स्थित अन्य द्रव्यों का तत्कालदर्शन नहीं होता । इस प्रकार आलोकदर्शनाभाव को तम मानने में युक्ति की अनुकूलता को देख कर प्रभाकरानुयायी कहते हैं कि जो लोग आलोकरहित स्थान में तम की प्रतीति स्वीकार करते हैं वे मन्दबुद्धि हैं क्योंकि वे आलोक की अप्रतीति को ही तम की प्रतीति मान लेते हैं ।

[प्रभाकरमत का निरसन]

विचार करने पर प्राभाकरों का यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'तमः पश्यामि' इस अनुभव के अनुरोध से तम का चाक्षुषप्रत्यक्ष माना जाता है, किन्तु तम यदि आलोकदर्शनाभावरूप होगा तो दर्शन के चक्षुर्ग्राह्य न होने से आलोकदर्शनाभावरूप तम का भी चक्षुर्जन्य ज्ञान न हो सकेगा, फलतः 'तमः पश्यामि' इस सर्वसम्मत अनुभव की उपपत्ति न हो सकेगी । यदि कहें कि -'आंख बन्द कर लेने पर भी तम की प्रतीति होती है अतः तम का चाक्षुषत्व अमान्य है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आंख बन्द करने पर तम की प्रतीति का होना प्रामाणिक नहीं है अन्यथा आंख बन्द करने पर भी यदि तम की प्रतीति मानी जायगी, तो आंख बन्द कर घर में जाने वाले को 'गृहे तमः अस्ति न वा ?-घर में अंधेरा है या नहीं है ?' इस प्रकार अन्धकार का सन्देह न होगा क्योंकि आंख बन्द रहने पर भी उसे तम का भान हो सकता है ।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि 'यदि आलोकदर्शनाभाव तम नहीं है किन्तु आलोका-भाव तम है, अथवा तम एक अतिरिक्त द्रव्य है, तब आलोक से गृह में जाने पर तम

कन्दलीकारस्तु 'आरोपितं नीलं रूपं तम' इत्याह । तन्न, नीलीद्रव्योपरक्तेषु वस्त्रचर्मादिषु तमोव्यवहारप्रसङ्गात्, 'गुणे शुक्लादयः पुंसि (अम० को० १-५-१७) इत्यनुशासनेन शुक्लादिपदजन्यशुक्लाद्यवच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकशाब्दबोधे पुल्लिङ्गशुक्लादिपदशक्तिज्ञानजन्योपस्थितेर्हेतुत्वेन 'नीलस्तम' इति प्रयोगप्रसङ्गाच्च । न चात्र नीलस्य तमोविशेषणत्वमेव, अनुक्तलिङ्गविशेषणपदानां च विशेष्यलिङ्गताया औत्सर्गिकत्वात् नीलपदे क्लीबत्वमिति वाच्यम्; नीलस्य सामान्यतया विशेष्यत्वात्, विशेषणविशेष्यभावे कामचाराभिधानस्य परस्परव्यभिचारितदुभयविषयत्वादिति दिक् ।

की प्रतीति कैसे होगी ? क्योंकि वहाँ व्याप्त आलोक रहने से आलोक विरोधी तम का अस्तित्व नहीं हो सकता ।' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वहाँ जो तम की प्रतीति होती है वह भ्रम है । क्योंकि आलोक के रहते भी जो वहां आलोक का दर्शन नहीं होता है उसके अनुरोध से आलोकदर्शन का कोई न कोई प्रतिबन्धक मानना ही होगा, फिर जो आलोकदर्शन का प्रतिबन्धक होगा वही तम के भ्रम का जनक दोष हो जायगा । अतः उपर्युक्त कारणों से आलोकदर्शनाभाव को तम मानना उचित नहीं है ।

[आरोपित नीलरूप ही तम है—कन्दलीकारमत]

न्यायकन्दलीकार श्रीकण्ठ का कहना है कि 'आरोपित नीलरूप ही तम है' । उनका आशय यह है कि "जहाँ आलोक नहीं होता, वहाँ नीलिमा की प्रतीति होती है, यह सार्वजनीन अनुभव है, अतः आलोकशून्य देश में प्रतीयमान इस नीलरूप को ही तम मान लेना चाहिये उससे अतिरिक्त तम की कल्पना अनावश्यक है, नीलरूपमात्र को तम मानने पर आलोकशून्य अनील देश में तम की प्रतीति न हो सकेगी, क्योंकि वहां वास्तविक नीलरूप नहीं है, अतः आरोपित नीलरूप को तम कहा गया है । अनील देश में भी आलोकाभाव के समय नीलरूप का आरोप होने से वहां भी आरोपित नीलरूप सुलभ हो जाने से इस पक्ष में वहाँ तमःप्रतीति की अनुपपत्ति नहीं हो सकती ।"

[कन्दलीकारमत का खंडन]

विचार करने पर यह कथन भी ठीक नहीं लगता, क्योंकि आरोपित नीलरूप को तम मानने पर नीली द्रव्य से संसृष्ट आलोकस्थ वस्त्र, चर्म आदि में भी नीलरूप का आरोप होने से उस दशा में आलोकस्थ वस्त्र आदि में भी तम की प्रतीति होने लगेगी। इसके अतिरिक्त भी एक दोष है, वह यह कि आरोपित नीलरूप को तम मानने पर 'नीलं तमः' के बदले 'नीलस्तमः' यह प्रयोग होने लगेगा, क्योंकि इस वाक्य में नील शब्द गुणपरक है एवं मुख्यविशेष्य का वाचक है, और अमरकोश का यह अनुशासन है कि "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति=गुणपरक शुक्ल आदि शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं और गुणाश्रयपरक होने पर गुणाश्रय के बोधक सन्निहित शब्द के समानलिङ्गक होते हैं"। तथा इस अनुशासन के आधार पर यह कार्यकारणभाव है कि शुक्ल आदि पदों से होने वाले शुक्लादि गुण को मुख्यविशेष्य के रूप में विषय करने वाले शाब्द-बोध के प्रति पुल्लिङ्ग शुक्ल आदि शब्द के शक्तिज्ञान से उत्पन्न होने वाली शुक्लादिगुण

'नीलाऽऽरोपविशिष्टतेजःसंसर्गाभावस्तमः' इति शिवादित्यः । तदपि न, नीला-

रूप अर्थ की उपस्थिति कारण होती है, अतः नीलरूपात्मक अर्थ जब पुल्लिङ्ग नील शब्द से उपस्थित न होगा तब तक उस में तमःपदार्थ का शाब्दबोध भी न हो सकेगा, इसलिये इस शाब्दबोध के निर्वाहार्थ नीलस्तमः इस प्रयोग का औचित्य स्वीकार करना आवश्यक हो जायगा ।

['नीलं तमः' प्रयोग में नीलपद विशेष्यवाचक है]

यदि यह कहें कि—"उक्त प्रयोग की आपत्ति तो नीलरूप को विशेष्य और तम को विशेषण मानने पर होती है, अतः ऐसा न मानकर तम को विशेष्य और नील को उसका विशेषण मान लेना चाहिए। ऐसा मान लेने पर उक्त प्रयोग की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि 'जिन विशेषणपदों में विशेष अनुशासन द्वारा नियतलिङ्गता का निर्धारण नहीं होता वे उत्सर्ग से विशेष्यवाचकपद के समानलिङ्गक होते हैं' ऐसा नियम है, इसलिये प्रकृत में विशेष्यवाचक तमःपद के नपुंसक होने से विशेषणवाचक नीलपद भी नपुंसक ही होगा । अतः 'नीलस्तमः' इस प्रयोग युक्त न होकर 'नीलं तमः' यही प्रयोग उपयुक्त होगा ।" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि नीलसामान्य का अभिधायक होने से नील पद को विशेष्यपरक मानना ही उचित है । आशय यह है कि विशेषण वह होता है जो व्यवच्छेदक हो और विशेष्य वह होता है जो व्यवच्छेद्य हो ।' सामान्य का विशेषद्वारा व्यवच्छेद होना ही स्वाभाविक है । नीलपदार्थ बहुविध है, तम उनमें एक है, अतः तमरूप विशेष से नीलरूपसामान्य का व्यवच्छेद करने के लिए नील को विशेष्य और तम को विशेषण मानना ही उचित है ।

यदि यह कहें कि–"विशेष्य-विशेषणभाव के सम्बन्ध में शास्त्रों में स्वेच्छानुसरण माना गया है, अतः जिन पदार्थों में अभेद प्रतिपादनीय हो उनमें इच्छानुसार किसी को भी विशेष्य और किसी को भी विशेषण माना जा सकता है । इस स्थिति में जब नील को विशेषण माना जायगा तब तो 'नीलं तमः' यह प्रयोग ठीक है पर जब नील को विशेष्य माना जायगा तब 'नीलस्तमः' इस प्रयोग की आपत्ति होगी–"तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष्य-विशेषणभाव में कामचार को वहीं मान्यता है जहाँ विशेष्य-विशेषणरूप में प्रतिपादनीय अर्थ एक दूसरे के व्यभिचारी होते हैं-जैसे 'पण्डितजैनः' और 'जैनपण्डितः' पण्डित जैनेतर पण्डित में जैन का एवं जैन पण्डितेतर जैन में पण्डित का व्यभिचारी है अतः इन दोनों में विशेषण-विशेष्यभाव वक्ता की इच्छा पर आधारित है । किन्तु प्रकृत में अनील तम के न होने से तम नील व्यभिचारी नहीं है । अतः यहाँ सामान्यरूप होने से नील को विशेष्यता और विशेषरूप होने से नील को विशेषणता ही उचित है ।

[शिवादित्यकृत तमोलक्षण का निरसन]

शिवादित्य का कहना है कि 'नीलारोप से विशिष्ट तेजःसंसर्गाभाव तम है' । आशय यह है कि—"यदि नीलारोप को ही तम कहा जायगा तो नीलीद्रव्य के संसर्ग से आलोकस्थ वस्त्रादि में भी नीलरूप का आरोप होने से उसमें भी तम का व्यवहार प्रसक्त होगा और यदि केवल तेजःसंसर्गाभाव को तम कहा जायगा तो आलोक

रोपाग्रहेऽपि तमस्त्वग्रहात्, तादृशतमस्त्वावच्छिन्नधर्मिकनीलारोपाऽयोगाच्च इति अधिकं वादमालायाम् ।

इमां गिरं समाकर्ण्य सकर्णाः आकुलीमिव
उद्वमन्तु द्रुतं ध्वान्तेऽभावत्वभ्रमं विषम् ॥१॥
तस्मान्न जायते किञ्चिदेकान्तान्न च नश्यति
प्रसिद्धं निखिलार्थानां त्रैलक्षण्यं हि लक्षणम् ॥२॥ ॥७७॥

उपसंहरन्नाह --

एवं चैतन्यवानात्मा, सिद्धः सततभावतः ।
परलोक्यपि विज्ञेयो मुक्तमार्गानुसारिभिः ॥७८॥

एवमुक्तयुक्त्या, चैतन्यवान्=ज्ञानोपादानम्, आत्मा शरीरभिन्नः, सिद्धः । स च

में भी तेजःसंसर्गाभाव होने से उसमें भी तम का व्यवहार होने लगेगा । अतः नीलरूपारोपविशिष्टतेजःसंसर्गाभाव ही तम है, नीले द्रव्य से संसृष्ट आलोकस्थ वस्त्रादि में तेजःसंसर्गाभाव न होने से एवं आलोक में नीलरूपारोप न होने से उक्त दोष नहीं हो सकते ।" किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि नीलारोप का ज्ञान न रहने पर भी तम की प्रतीति होती है, पर यदि उसे तम के स्वरूप में प्रविष्ट कर दिया जायगा तब उसकी अज्ञानदशा में तम की प्रतीति न हो सकेगी । दूसरा दोष यह है कि इस मत में 'नीलं तमः' इस प्रकार तमः पदार्थ में नीलरूप का आरोप न हो सकेगा, क्योंकि तम पदार्थ के (तात्त्विक) शरीर में नीलरूप पहले से ही प्रविष्ट है अतः उसमें नीलरूप का आरोप निरर्थक है । तमके बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये व्याख्याकार ने 'वादमाला' नामक स्वनिर्मित ग्रन्थ देखने की सिफारिस की है ।

दो स्वनिर्मित पद्य से व्याख्याकार कहते हैं कि तम की भावात्मकता के निराकरणार्थ प्रयुक्त कीये गये वचन को सुनकर अभावात्मकतमोवादियों को अन्धकार में अभावत्व के भ्रमरूप विष को ठीक उसी प्रकार वमन कर देना चाहिये जैसे विषवैद्य के विषहरणमन्त्र की वाणी को सुन कर सांप से डसे मनुष्य सांप के विष का वमन कर देता है । [अन्धकारद्रव्यत्ववाद समाप्त]

उपर्युक्त युक्तियों से यह सिद्ध है कि न किसी वस्तु की अपूर्व उत्पत्ति होती है और न किसी वस्तु का आत्यन्तिक नाश होता है, किन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य इन तीनों से सर्वदा युक्त होना ही सभी पदार्थों का लक्षण है ।

[आत्मसिद्धि का उपसंहार]

आत्मा के सम्बन्ध में अब तक किये गये सभी विचारों का कारिका ७८ में उपसंहार कर रहे हैं—

उक्त युक्तियों से यह सिद्ध है कि ज्ञान का उपादान शरीर से भिन्न है, और वही

१-इस वादमाला का प्रकाशन बहुत समय पहले हो चुका है जिसमें 'अन्धकारद्रव्यवाद' भी विस्तार से किया हुआ है ।

अनन्तभावतः=अनादिनिधनत्वात्, परलोक्यपि युक्तमार्गानुसारिभिः=उपपत्तिसहिताऽऽगमानुगृहीतमतिभिः विज्ञेयः। आद्यनवशरीरधर्माणामव्यवहितपूर्ववर्तिशरीरधर्मानुविधायित्वात्, युवशरीरे तथा दर्शनात्, अनुगतकार्मणशरीरसिद्ध्या तदुपभोगाश्रयस्य परलोकित्वसिद्धेः। न च घटे घटजन्यत्वस्येव शरीरे शरीरजन्यत्वस्याऽपि न नियम इति वाच्यम्, आत्मनः क्रियावशेन चेष्टारूपतत्क्रियानियामकशरीरस्थस्याऽऽद्यशरीरहेतुकर्मणि स्वीकारादिति ॥७८॥

अथाह परः—

सतोऽस्य किं घटस्येव प्रत्यक्षेण न दर्शनम् ?
अस्त्येव दर्शनं स्पष्टमहंप्रत्ययवेदनात् ॥७९॥

आत्मा है। सतत विद्यमान होने से अर्थात् अजन्मा और अविनाशी होने से वह परलोकगामी भी होता है। उसकी परलोकगामिता युक्तियों से विभूषित आगमशास्त्रों से अवगत होती है। आशय यह है कि –'किसी नवोत्पन्न शरीर में जो धर्म सर्वतः प्रथम उपलक्षित होते हैं वे उस शरीर के निकटतमपूर्ववर्तिशरीर के धर्मों से ही उत्पन्न होते हैं' यह नियम मनुष्यादि के कुमारावस्था के शरीर के अनन्तर उत्पन्न होने वाले उसके युवकशरीर में दृष्ट होने से सभी शरीरों के विषय में मान्य है। अतः इस नियम के अनुसार यह मानना जरूरी है कि 'मनुष्य को जन्मसमय जो शरीर प्राप्त हुआ है उसके पूर्व भी कोई उसका शरीर अवश्य होगा जिसके धर्मों से जन्मकाल में उसे प्राप्त नये शरीर में प्राथमिकधर्मों की उत्पत्ति होती है'। इस प्रकार मनुष्य के नये जन्म से पूर्व जो उसका शरीर सिद्ध होता है उसे जैन परिभाषा में कार्मण शरीर कहा जाता है। कार्मण शरीर का स्वरूप है - कर्मरूप में परिणत पुद्गल(परमाणु)द्रव्यों का समूह। प्रत्येक जीव अनादिकाल से इस शरीर-संतति से तब तक बँधा रहता है जब तक उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इस कार्मण-शरीर से उत्पन्न होने वाले भोग का आश्रय होने से ही आत्मा परलोकगामी होता है।

यदि कहें कि-'जैसे घट में घटजन्यत्व का नियम नहीं है उसी प्रकार शरीर में शरीरजन्यत्व का भी नियम नहीं है, अतः मनुष्य के नवजात (औदारिक)स्थूल शरीर के पूर्व उसके कार्मणशरीर की सिद्धि नहीं हो सकती'-तो यह उचित नहीं, क्योंकि नवजात स्थूल शरीर से पूर्व यदि कोई शरीर नहीं माना जायगा तो अशरीर होने से आत्मा में वह क्रिया ही उत्पन्न न होगी जिसके द्वारा वह भावी नूतन स्थूल शरीर को बना सके। फलतः वर्तमान शरीर निरात्मक होने से निरर्थक हो जायगा। अतः जिस जीवकर्म से इस शरीर का जन्म होता है उसे इस शरीर में जीवस्थिति के अनुकूल जीवक्रिया का सम्पादक शरीर मानना आवश्यक है।

[आत्मा का प्रत्यक्षदर्शन क्यों नहीं होता ?]

कारिका ७९ में आत्मा के विषय में उठाये गये एक और प्रश्न का समाधान किया गया है। प्रश्न यह है-' आत्मा यदि शरीर से भिन्न एक भावात्मक वस्तु है तो घट के

सतो–मात्ररूपस्याऽऽत्मनः सतः, घटस्येव प्रत्यक्षेण दर्शनं किं न भवति? तथा चानुपलब्ध्याऽभाव एव तस्येत्याशयः। तथाऽनुपलब्धिरेव नास्तीति समाधत्ते—स्पष्टं अहंप्रत्ययस्य वेदनात् अनुभवसिद्धत्वात् अस्त्येव दर्शनम्।

न चेदं न प्रत्यक्षमिति वाच्यम्, व्याप्त्यादिप्रतिसंधानविरहेऽपि जायमानत्वात्, आत्मत्वविशिष्टस्याऽयोग्यत्वे साध्याऽप्रसिद्ध्याऽनुमानाऽसम्भवाच्च। एतेन 'तथाऽऽत्मा तावत् प्रत्यक्षतो न गृह्यते' इति न्यायभाष्योक्तमपास्तम्। ननु यद्येवमात्मा प्रत्यक्षः, कथं तर्हि तत्र शरीराऽभेदबुद्धिः, धर्मिस्वरूपस्य शरीरभेदस्याऽपि ग्रहात् इति चेत्? न, धर्म्यन्तर्भावेन तद्ग्रहेऽपि शरीरभेदप्रकारकग्रहाभावात् तदभेदबुद्ध्युपपत्तेः इति नानुपलब्ध्याऽऽत्माभावनिश्चयः।

न च चक्षुराद्यनुपलब्ध्या तदभावः, वाय्वादेरप्यभावप्रसङ्गात्, न चानुपलब्धिमात्रस्याऽर्थाभावसाधकत्वम्, अन्यथा स्वगृहाद् निर्गतो वराकश्चार्वाको न गृहमासादयेत्, गृहा-

---

समान उसका प्रत्यक्षदर्शन क्यों नहीं होता? प्रत्यक्षदर्शन न होने से यही सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न आत्मा का अभाव है क्योंकि अभाव का ग्राहक प्रमाण अनुपलब्धि है और वह आत्माऽभाव के लिये सुलभ है"। इस प्रश्न का समाधान यह दिया है कि-आत्मा अनुपलब्ध नहीं है, क्योंकि 'अहंप्रत्यय'='आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन' 'अहमात्मानं जानामि'-इस प्रकार अनुभवसिद्ध है। 'अहंप्रत्यय प्रत्यक्षरूप नहीं है' इस शङ्का को अवकाश नहीं है क्योंकि व्याप्ति आदि का ज्ञान न रहने पर भी अहंप्रत्यय की उत्पत्ति होती है। दूसरी बात यह है कि आत्मत्वविशिष्ट को प्रत्यक्ष के अयोग्य माना जायगा तो आत्मत्वविशिष्टरूप साध्य की अप्रसिद्धि होने से अनुमान आदि से भी आत्मा की सिद्धि न हो सकेगी। इसी लिये न्यायभाष्य का यह कथन भी असंगत है कि 'आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता'।

अब प्रश्न यह होता है कि-"यदि आत्मा प्रत्यक्ष है तो निश्चय ही उसमें विद्यमान शरीरभेद भी प्रत्यक्ष है क्योंकि आत्मगत शरीरभेद आत्मा से भिन्न है नहीं, और जब शरीर भिन्न आत्मा प्रत्यक्षसिद्ध है तो उसमें 'अहं गौरः' 'अहं स्थूलः' इत्यादिरूप में शरीराभेद की बुद्धि कैसे होगी?"-इसका यह उत्तर है कि आत्मगतशरीरभेद आत्मरूप होने से आत्मधर्मी के रूप में अवश्य गृहीत है, पर आत्मधर्म के रूप में आत्मविशेषणतया गृहीत नहीं है। अतः आत्मधर्मिक शरीरभेदप्रकारक बाधबुद्धि न होने से आत्मा में शरीराभेद की बुद्धि होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। अतः यह स्पष्ट है कि आत्मा की अनुपलब्धि सिद्ध न होने से अनुपलब्धि द्वारा आत्मा के अभाव की सिद्धि होना अशक्य है।

[अनुपलब्धिमात्र अभावसाधक नहीं है]

"चक्षु आदि से आत्मा की उपलब्धि न होने से आत्मा का अभाव सिद्ध होगा"—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक इन्द्रिय या अन्य प्रमाण से उसको उप-

विमित्वस्य दृष्ट्या तदभावसिद्धेः, प्रत्युत पुत्रधनाद्यभावावधारणाच्छोकविकलो बहु शोचेत्, तदा पुत्रादिसत्त्वे चानुपलब्धेर्व्यभिचाराद् नार्थाभावसाधकत्वम् ।

अथ सन्निकृष्टेऽधिकरणे पुत्राद्यत्यन्ताभावग्रहेऽपि तद्ध्वंसाग्रहाद् न शोक इति चेत् ? तथापि पुत्राद्युपलम्भहेतुचक्षुराद्यनुपलम्भेन तदभावात् पुत्राद्यनुपलम्भेन परावृत्तस्य तस्य मूकता स्यात् । तदिदमुक्तम् "गृहाद् निर्गतो गृहं न प्रत्यागच्छेदिति" इति ।

अथ चक्षुरादिसंभावनासत्त्वाद् न तदनुपलब्ध्या तदभावसिद्धिरिति चेत् ? तर्ह्यात्मनोऽपि सम्भावनासत्त्वाद् न तदनुपलब्ध्या तदभावसिद्धिरिति परिभावनीयम् ॥७९॥

लब्धि न होने से उस का अभाव माना जायगा, तो वायु आदि का भी अभाव हो जायगा क्योंकि स्पर्श इन्द्रिय से अथवा स्पर्शादिलिंगक अनुमान से उसकी सिद्धि होने पर भी चक्षु से उसकी अनुपलब्धि है। दूसरी बात यह है कि अकेली अनुपलब्धि को अर्थाभाव का साधक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि अनुपलब्धि अकेली अर्थ के अभाव की साधक होगी तो घर से बाहर गया चार्वाक अपने घर में वापस न लौट सकेगा, क्योंकि गृह में विद्यमान पुत्रादि द्वारा बाहर गये चार्वाक की उपलब्धि न होने से उसका अभाव सिद्ध हो जायगा। फिर जब वह होगा ही नहीं तब घर वापस कैसे लौट सकेगा,- इसी प्रकार बाहर गये चार्वाक को गृह में स्थित पुत्रादि की उपलब्धि न होने से पुत्रादि का अभाव सिद्ध हो जायगा, अतः चार्वाक को पुत्रादि के शोक से विकल हो होने को विवश होना पड़ेगा। और यदि यह मानेंगे कि पुत्रादि की उक्त रीति से अनुपलब्धि होने पर भी पुत्रादि रहता ही, उसका अभाव सिद्ध नहीं होता तो व्यभिचार होने से अनुपलब्धि को अर्थाभाव की साधकता सिद्ध न हो सकेगी।

यदि यह कहें कि—"बहिर्गत चार्वाक को सन्निकृष्ट स्थान में पुत्रादि के अत्यन्ताभाव का ही ज्ञान होता है, उसके ध्वंस का ज्ञान नहीं होता, अतः उसे शोक से विकल हो होने का प्रसङ्ग नहीं हो सकता" -तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त दोष का परिहार हो जाने पर भी यह दोष अपरिहार्य होगा कि पुत्रादि-प्रत्यक्ष के जनक चक्षु आदि की अनुपलब्धि से चक्षु आदि का अभाव सिद्ध हो जाने से पुत्रादि की उपलब्धि न होने के कारण घर पर लौटे चार्वाक को पुत्रादि-अदर्शन जनित मोह का शिकार होना पड़ेगा, इन सब कारणों से चार्वाक का घर को वापस लौट सकना सम्भव न होगा, जैसा कि कहा गया है- 'अनुपलब्धिमात्र अभाव का ग्राहक होने पर घर से बाहर गये चार्वाक का घर को वापस लौटना सम्भव न हो सकेगा' । यदि कहें कि—"जिस वस्तु की सम्भावना नहीं होती उसी की अनुपलब्धि उसके अभाव का साधक होती है,' यह नियम है; चक्षु आदि के अस्तित्व की सम्भावना है अतः चक्षु आदि की अनुपलब्धि से चक्षु आदि का अभाव सिद्ध न होने से उक्त दोष नहीं हो सकता"- -तो यह कथन अनात्मवादी के अनुकूल नहीं है क्योंकि आत्मा के भी अस्तित्व की सम्भावना होने से आत्मा की अनुपलब्धि से आत्मा के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती ॥७९॥

उक्तप्रत्ययो न प्रमा, इत्याशङ्कते --

> भ्रान्तोऽहं गुरुरित्येष सत्यमन्यस्त्वसौ मतः ।
> व्यभिचारित्वतो नास्य गमकत्वमथोच्यते ॥८०॥

'अहं गुरुः' इत्येष प्रत्ययो भ्रान्तः, गुरुत्वाऽनाश्रयेऽहन्त्ववत्यात्मनि गुरुत्वावगाहनात् । यद्यपि घटस्येव कदाचिद् भ्रमविषयत्वेऽप्यात्मनो नानुपपत्तिः, तथापि तत्प्रत्ययाऽभावे प्रमाणाग्राह्यत्वादसत्ख्यातिग्राह्यत्वेनाऽलीकत्वमस्येत्यभिमानः ।

तत्रोच्यते—सत्यम्, उक्तप्रत्ययो भ्रान्त एव; तु पुनः, असौ=प्रमारूपोऽहम्प्रत्ययः अन्यः 'अहं गुरुः' इत्याद्यतिरिक्तः 'अहं जाने' 'अहं सुखी' इत्यादिरूपः, मतः अङ्गीकृतः ।

अथास्य अहम्प्रत्ययजनकोपयोगस्य, व्यभिचारित्वतो=भ्रमजनकत्वात् गमकत्वं=प्रमाणत्वं नेति-उच्यते ॥८०॥

कारिका ८० में अहंप्रत्यय को भ्रम बताकर उसे आत्मा की सिद्धि से प्रतिकूल बताया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

(अहंप्रत्यय में भ्रम की आशंका)

"अहम्प्रत्यय को आत्मा के अस्तित्व में साक्षी नहीं माना जा सकता । 'अहं गुरुः' यह अहम्प्रत्यय गुरुत्व के अनाश्रय अहमर्थ आत्मा में गुरुत्व को विषय करने से भ्रम है, और भ्रम से विषय की सिद्धि नहीं मानी जाती । इस पर यह शंका की जा सकती है कि-"जैसे कदाचित् किसी भ्रम का विषय घट होने पर भी उसका अस्तित्व अनुपपन्न नहीं होता, उसी प्रकार 'अहं गुरुः' इस भ्रम का विषय आत्मा होने पर भी आत्मा का अस्तित्व अनुपपन्न नहीं हो सकता, अतः उसे भ्रम का विषय बताना व्यर्थ है"-तो इस का उत्तर यह है कि अहंप्रत्यय ही आत्मा का ग्राहक होता है, फिर जब वही भ्रम हो गया, तब आत्मा का ग्राहक कोई अन्य यथार्थ प्रत्यय न होने से उसे असत्ख्याति से ग्राह्य मानना होगा, फलतः यह असत्ख्याति से ग्राह्य आकाशी पुष्प आदि के समान अलीक (मिथ्या) हो जायगा, अतः आत्मा के अलीकत्व का साधक होने से 'अहं गुरुः' इस प्रतीति को भ्रम बताना अनात्मवादी दृष्टि से अत्यन्त सार्थक है ।"

इसके उत्तर में मूलकार का कहना है कि यह सच है कि 'अहं गुरुः' यह प्रतीति भ्रम है, किन्तु इससे भिन्न भी अहम्प्रत्यय है जो यथार्थ होने से आत्मा के अस्तित्व में साक्षी हो सकता है, वह है अहमर्थ आत्मा में ज्ञान-सुख आदि को ग्रहण करने वाला 'अहं जाने, अहं सुखी' इत्यादि प्रत्यय । ये प्रत्यय यथार्थ इस लिये हैं कि इन में ज्ञानादि के आश्रय आत्मा में ज्ञानादि का भान होता है । इनमें किसी धर्म का तत्शून्य में भान नहीं होता, अतः ये प्रत्यय आत्मा में प्रमाण हो सकते हैं । यदि कहें कि-'अहं गुरुः' इस भ्रम का जनक होने से अहम्प्रत्यय के उत्पादक उपयोग में व्यभिचार तो सिद्ध ही हो जाता है, फिर कौन कह सकता है कि उस उपयोग से उत्पन्न होने वाले दूसरे अहंप्रत्यय भ्रम न होकर यथार्थ ही होंगे, अतः अन्य अहंप्रत्ययों में भी भ्रमत्व की शंका होने से अहंप्रत्यय को आत्मा का साक्षी कहना ठीक नहीं है'-तो इसका उत्तर अगली कारिका से स्पष्ट करते हैं ॥८०॥

मूलम्—प्रत्यक्षस्यापि तथात्वं तत्सद्भावाऽविशेषतः ।
प्रत्यक्षाऽऽभासमन्यच्चेद् व्यभिचारि न साधु तत् ॥८१॥

तर्हि प्रत्यक्षस्यापि चक्षुरादेरपि, तत्सद्भावाऽविशेषतः भ्रमजनकत्वाऽविशेषात्, तत् प्रमाणत्वं त्याज्यम् । अथ प्रत्यक्षाभासं द्विचन्द्रादिप्रत्यक्षं, व्यभिचारि विसंवादिव्यवहारजनकम्, अन्यत् सत्यघटादिप्रत्यक्षभिन्नं तत् साधु प्रमारूपं न । तथा च न भ्रमाऽजनकत्वलक्षणप्रामाण्यमभिमतं किन्तु प्रमाजनकत्वं; तच्च घटादिप्रमाजननादक्षतमित्याशय इति चेत् ? ॥८१॥

मूलम्—अहम्प्रत्ययपक्षेऽपि ननु सर्वमिदं समम् ।
अतस्तद्वदसौ मुख्यः सम्यक् प्रत्यक्षमिष्यताम् ॥८२॥

'ननु' इत्याक्षेपे, इदं सर्वं प्राक्प्रकटितमाकूतम्, अहम्प्रत्ययपक्षेऽपि समम्, असत्याहम्प्रत्ययपरित्यागेन सत्याहंप्रत्ययमादाय प्रमाणत्वाविरोधात्, दुष्टाऽदुष्टकारणजन्यत्वेन प्रत्ययद्वैविध्यात् । अतः प्रमाणग्राह्यत्वाद् नालीकत्वमात्मनः, किन्तु पारमार्थिकत्वमिति

[अहंप्रत्यय सप्रमाण है]

पूर्व कारिका ८० में उठाये गये प्रश्न का कि—'भ्रम का जनक होने से अहंप्रत्यय के जनक उपयोग को प्रामाण्य न हो सकेगा'- इस कारिका में यह उत्तर दिया गया है- अहम्प्रत्ययजनक उपयोग को कदाचित् भ्रम का जनक होने से यदि अप्रमाण माना जायगा, तो चक्षु आदि प्रत्यक्षप्रमाण के भी प्रमाणत्व की हानि हो जायगी, क्योंकि चक्षुआदि से भी कदाचित् भ्रम का जन्म होता ही है, किन्तु उन्हें अप्रमाण नहीं माना जाता, अतः अप्रमाणत्व का व्यभिचारी होने से भ्रमजनकत्व से अहम्प्रत्यय के जनक उपयोग में अप्रामाण्य का आपादान नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि-"द्विचन्द्र आदि को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास है, अर्थव्यभिचारी होने से विसंवादिनी प्रवृत्ति का जनक है, वह सत्य घटादि का अवगाहन करने वाले यथार्थ प्रत्यक्ष से भिन्न है, अतः वह प्रमाण रूप नहीं है। कहने का आशय यह है कि—चक्षु आदि में यदि भ्रमाजनकत्वरूप प्रामाण्य सिद्ध करना होता तो कदाचित् भ्रम का जनक होने से उस में भ्रमाऽजनकत्वरूप प्रामाण्य की हानि अवश्य होती, किन्तु उसमें उक्त प्रामाण्य की नहीं, अपितु प्रमाजनकत्वरूपप्रामाण्य की स्थापना करनी है अतः कदाचित् भ्रम का जनक होने पर भी कदाचित् प्रमा का भी जनक होने से उस में अभिमत प्रामाण्य की हानि नहीं हो सकती"-तो इस का भी उत्तर अग्रिम कारिका (८२) से प्राप्त करना चाहिये ॥८१॥

[अहंप्रत्यय के प्रामाण्य का समर्थन]

चक्षुआदि से जन्य जन्य घटप्रत्यय के विषय में जो कुछ कहा गया है वह सब अहंप्रत्यय के विषय में भी समान है, अतः जिस प्रकार असत्य घटप्रत्यय को छोड

व्यञ्जयति । अतः उक्तसाम्यात्, तद्वत् सत्यघटप्रत्ययवत्, असौ 'अहं जाने' इत्यादिप्रत्ययः, मुख्यः सद्व्यवहारजनकः सम्यक् प्रत्यक्षं प्रत्यक्षप्रमाणरूपं इष्यताम् अङ्गीक्रियताम् ॥८२॥

ननु 'अहं जाने' इत्यादिप्रत्ययस्य न भ्रान्तत्वम्, 'अहं गुरुः' इति प्रत्ययस्य च भ्रान्तत्वम्, इत्यत्र किं विनिगमकम् ? इत्यत आह –

मूलम्— गुर्वी मे तनुरित्यादौ भेदप्रत्ययदर्शनात् ।
भ्रान्तताऽभिमतस्यैवास्य युक्ता नेतरस्य तु ॥८३॥

गुर्वी=गुरुत्ववती, मे=मम तनुः, इत्यादौ प्रयोगे भेदप्रत्ययदर्शनात्, अभिमतस्यैव=त्वया बाधकत्वेनाङ्गीकृतस्यैव, अस्य 'अहं गुरुः' इतिप्रत्ययस्य, भ्रान्तता युक्ता, तु

कर सत्य घटप्रत्यय का जनक होने से चक्षु आदि में प्रमाणत्व की उपपत्ति होती है, उसी प्रकार 'अहं गुरुः' इस असत्य अहंप्रत्यय को छोड कर 'अहं जाने' इत्यादि सत्य अहंप्रत्यय का जनक होने से अहंप्रत्यय के उत्पादक उपयोग में भी प्रमाणत्व की उपपत्ति की जा सकती है, क्योंकि दुष्ट कारण एवं अदुष्ट कारण से उत्पन्न होने के नाते असत्य भ्रम और सत्य प्रमारूप में ज्ञान का द्वैविध्य सर्वसम्मत है, इसलिये उक्तरीति से आत्मा में प्रमाणग्राहकत्व सम्भव होने से आत्मा में अलीकत्व का प्रसंग नहीं हो सकता।

उपर्युक्त रीति से अहंप्रत्यय में घटप्रत्यय का साम्य होने से सत्यघटप्रत्यय के समान 'अहं जाने' इत्यादिप्रत्यय भी अपने विषय में सद्व्यवहार का जनक है, अर्थात् जैसे घटप्रत्यय के यथार्थ होने से उस के विषय घट में 'घटः सन्' यह व्यवहार होता है, उसी प्रकार 'अहं जाने' इत्यादि प्रत्यय के भी यथार्थ होने से इस प्रत्यय के विषय आत्मा में 'आत्मा सन्' इस प्रकार का व्यवहार हो सकता है। इस लिये 'अहं जाने' इत्यादि रूप में होने वाले अहं प्रत्यय को सम्यक् प्रत्यक्ष=प्रमाणभूतप्रत्यक्षरूप मानने में कोई बाधा नहीं है, उसे प्रमात्मक प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है ॥८२॥

'अहं जाने' इत्यादिप्रत्यय भ्रमरूप नहीं है और 'अहं गुरुः' यह प्रत्यय भ्रमरूप है, इस में क्या विनिगमक है ? कारिका ८३ से इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—

['अहं गुरुः' इस ज्ञान की भ्रान्तरूपता में युक्ति]

'मम तनुः गुर्वी=मेरा शरीर गुरुत्व का आश्रय है' इस प्रयोग में अहमर्थवाची अस्मद् शब्द के उत्तर 'मम'शब्दघटक षष्ठीविभक्ति से गुरुत्वाश्रय शरीर में अहमर्थ आत्मा का भेद ज्ञात है । अतः शरीरभिन्न आत्मा के बाधकरूप में अनात्मवादी द्वारा प्रस्तुत किये गये 'अहं गुरुः' इस प्रत्यय की ही भ्रमरूपता उचित है, क्योंकि यह प्रत्यय गुरुत्वाश्रय में अहमर्थ के अभेद को विषय करने से गुरुत्वाश्रय में अहमर्थ के भेद को विषय करने वाले 'मम तनुः गुर्वी' इस प्रत्यय से बाधित है । 'अहं जाने' इत्यादिप्रत्ययों की भ्रमरूपता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ये प्रत्यय किसी विपरीतविषयकप्रत्यय से बाधित नहीं है ।

पुनः, नैतस्य—'अहं जाने' इत्यादिप्रत्ययस्य, तत्र बाधकाऽनवतारात्। 'अत्र षष्ठ्या यद्यपि सम्बन्धमात्रमर्थः, तथापि तस्या भेदनियतत्वेन शरीरेऽहमर्थभेदस्य शाब्दबोधोत्तरमाक्षेपलभ्यत्वेन मद्भिन्नवृत्तित्वेनोक्तप्रत्ययेऽहन्त्वव्यधिकरणप्रकारत्वलक्षणभ्रमत्वग्रहः' इति वदन्ति। 'भेदविशिष्टः सम्बन्ध एव षष्ठ्यर्थः, 'राहोः शिरः' इत्यादौ तु बाधाद् भेदांशस्त्यज्यते', इत्यन्ये। यद्यपि 'ममात्मा' इत्यादावपि षष्ठीप्रयोगो दृश्यते, तथापि गुरुत्वादावेवाऽहन्त्वव्यधिकरणत्वम्, अन्यत्र बहुसत्त्वात्, इदन्त्वसंवलितत्वाच्च, न तु ज्ञानादावित्यत्र तात्पर्यम् ॥८३॥

[षष्ठीविभक्ति का अर्थ केवलसम्बन्ध या भेदविशिष्टसम्बन्ध]

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि 'मम तनुः गुर्वी' इस प्रयोग में 'मम' शब्द-घटक षष्ठी का अर्थ केवल सम्बन्ध है, षष्ठी के अर्थ में भेद का प्रवेश नहीं है। अतः षष्ठी से शरीर में अहमर्थ के भेद की प्रतीति नहीं हो सकती, किन्तु षष्ठी जिस सम्बन्ध का बोधन करती है वह सम्बन्ध भेदनियत है। अतः षष्ठी से गुरुत्वाश्रय शरीर में अहमर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होने के बाद अनुमान द्वारा गुरुत्वाश्रय में अहमर्थ के भेद का ज्ञान होता है। अनुमान का आकार यह होता है, 'गुरुत्ववती तनुः अहमर्थभिन्ना, अहमर्थसम्बन्धित्वात्, यद्यत्सम्बन्धि तत्तद्भिन्नं यथा पुस्तकम्'। इस आनुमानिक भेदप्रतीति से गुरुत्व में अहन्त्वावच्छिन्नवृत्तित्वरूप अहन्त्वव्यधिकरणत्व का ज्ञान होने से 'अहं गुरुः' इस प्रतीति में अहन्त्वव्यधिकरणगुरुत्वप्रकारकत्व का ज्ञान होता है। यह अहन्त्वव्यधिकरणगुरुत्वप्रकारकत्व ही अहमर्थ में गुरुत्वप्रकारकभ्रमत्व है। इस प्रकार उक्त रीति से 'मम तनुः गुर्वी' इस प्रयोग के द्वारा 'अहं गुरुः' इस प्रतीति में भ्रमत्व का ज्ञान सम्पन्न होता है। किसी प्रतीति में अन्यप्रतीति द्वारा भ्रमत्व का ज्ञान होना ही अन्य प्रतीति से उस प्रतीति का बाध कहा जाता है, बाधित प्रतीति ही भ्रान्त प्रतीति मानी जाती है।

अन्य लोगों का तो यह कहना है कि 'भेदविशिष्टसम्बन्ध' ही षष्ठी का अर्थ है, अतः षष्ठी से भेद का शाब्दबोध ही हो जाता है। 'राहोः शिरः' में भेद का बाध होने से सम्बन्ध मात्र में षष्ठी की लक्षणा हो जाती है। यद्यपि आत्मत्वविशिष्ट के वाचक आत्मशब्द के सन्निधान में अहमर्थवाचक के उत्तर षष्ठी का प्रयोग कर बहुधा 'मम आत्मा' इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है, फिर भी इस प्रयोग द्वारा आत्मत्व को अहन्त्व का व्यधिकरण नहीं माना जाता, किन्तु 'मम तनुः गुर्वी' इस प्रयोग के द्वारा गुरुत्व को ही अहन्त्व का व्यधिकरण माना जाता है। यह इस लिये कि गुरुत्व अहमर्थभिन्नशरीर आदि में सिद्ध है, तथा 'इदं गुरु' इत्यादिव्यवहार के अनुरोध से गुरुत्वादि बाह्यधर्म इदन्त्व का समानाधिकरण है, पर आत्मत्व अहमर्थ से भिन्न में न तो सिद्ध ही है, और न इदन्त्व का समानाधिकरण है ॥८३॥

नन्वयमहंप्रत्ययो न प्रत्यक्षरूपः, इन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यज्ञानस्यैव प्रत्यक्षत्वात्, अत एवात्माऽपि कथं प्रत्यक्षत्वव्यपदेशभाक्, प्रत्यक्षज्ञानविषयतयैव विषयस्य प्रत्यक्षत्वव्यपदेशात्। 'इन्द्रियातिरिक्तज्ञानं विनाऽप्यपरोक्षत्वेन प्रतिभासनात्प्रत्यक्ष आत्मे'ति चेत्?

[अहंप्रत्यय की प्रत्यक्षता में चिन्तन आशंका (पूर्वपक्ष)]

प्रश्न होता है कि अहंप्रत्यय को प्रत्यक्षरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस ज्ञान के प्रति इन्द्रिय इन्द्रियत्वरूप से कारण होती है, वही ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् इन्द्रियत्वावच्छिन्न-इन्द्रियनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावद्ज्ञानत्व ही प्रत्यक्ष का लक्षण है। लक्षण में इन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकता का निवेश आवश्यक है, क्योंकि केवल इन्द्रियनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावद्ज्ञानत्व को प्रत्यक्ष का लक्षण मानने पर ज्ञानमात्र के मनोजन्य होने से अनुमिति आदि में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। जनकता में इन्द्रियत्वावच्छिन्नत्व के निवेश के बाद उसमें इन्द्रियनिष्ठत्व का निवेश केवल परिचयार्थ होता है। मन की ज्ञानमात्र में कारणता मनस्त्वरूप से होती है, इन्द्रियत्वरूप से नहीं होती, अतः इन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकता का निवेश करने पर उक्त अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। 'अनुमित्यादि को मनस्त्वेन मनोजन्य मानने पर उसमें मानसत्व की आपत्ति होगी'- यह शंका उचित नहीं है क्योंकि मनोजन्यत्व अर्थ में मानसत्व इष्ट ही है, हाँ, अनिष्ट है प्रत्यक्षत्वव्याप्यमानसत्व, तो उसकी आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसका नियामक मनोजन्यत्व नहीं है, किन्तु मनःसन्निकर्षजन्यत्व है, अनुमित्यादि मनःसन्निकर्षजन्य नहीं होता, अतः उसमें प्रत्यक्षत्वव्याप्यमानसत्व की प्रसक्ति नहीं हो सकती। यद्यपि चक्षुरादि इन्द्रियाँ चाक्षुषादि के प्रति चक्षुष्ट्वादिरूप से ही कारण होती हैं, अतः उन्हें इन्द्रियत्वरूप से प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानने में आपाततः अनौचित्य प्रतीत होता है, तथापि—'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः स तत्सामान्ययोरपि'-जिन विशेष धर्मों द्वारा कार्यकारणभाव होता है, उन धर्मों के व्यापक धर्मों द्वारा भी कार्यकारण भाव होता है' इस नियम के अनुरोध से चाक्षुषत्वादि और चक्षुष्ट्वादिरूप से कार्यकारणभाव होने पर चाक्षुषत्वादि के व्यापक जन्यप्रत्यक्षत्व और चक्षुष्ट्वादि के व्यापक इन्द्रियत्वरूप से भी कार्यकारणभाव की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त दूसरा नियम यह भी है कि 'जो धर्म कार्यमात्रवृत्ति होता है वह अवश्य ही कारणप्रयोज्य होता है' इस नियम के अनुरोध से भी जन्यप्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रियत्वेन इन्द्रिय में कारणता की सिद्धि होती है, अन्यथा चाक्षुषत्वादि के चक्षुरादिजन्यत्व से नियम्य होने पर भी जन्यप्रत्यक्षत्व किसी से नियम्य न हो सकेगा। हाँ, तो जब इन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावद् ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, तब 'अहं' प्रत्यय उक्त जन्यता से शून्य होने के कारण प्रत्यक्ष रूप कैसे होगा? और जब उक्त प्रत्यय प्रत्यक्षरूप नहीं होगा तो आत्मा भी प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकेगा? क्योंकि विषय तो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने से ही प्रत्यक्ष शब्द से व्यपदिष्ट होता है।

यदि कहें कि-'जैसे प्रत्यक्षज्ञान के विषय को प्रत्यक्ष कहा जाता है उसी प्रकार जो

किं तत्? स्वप्रतीतौ व्यापारो वा, चिद्रूपस्य सत्ता वा? नाद्यः, कर्मणीव स्वात्मनि व्यापारानुपलम्भात्। न द्वितीयः, स्वतःप्रकाशाऽयोगात्। अत एव न स्वसंविदितज्ञानविषयत्वेनापि तथात्वम्, तदसिद्धेः, सिद्धौ वा प्रमाणान्तरप्रसङ्गात्। अथ सर्वज्ञानानां 'घटमहं जानामि' इत्याद्याकारत्वात् प्रत्यक्षेणैव स्वविषयत्वसिद्धिरिति चेत्? न, तत्र ज्ञाने घटविषयत्वग्रहेऽपि स्वस्य ज्ञानविषयत्वाऽग्रहात्, स्वस्य स्वाऽविषयत्वेन स्वविषयत्वाऽविषयत्वात्, अन्यथा 'घटज्ञानज्ञानवान्' इत्याकारप्रसङ्गात्।

स्वभिन्न ज्ञान के बिना भी अपरोक्षरूप से भासित होता है उसे भी प्रत्यक्ष कहा जाता है, आत्मा इस दूसरे प्रकार के ही प्रत्यक्षत्व से व्यवस्थित होता है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्वभिन्नज्ञान के बिना भी अपरोक्षतया प्रतिभासित होने' का निर्वचन नहीं हो सकता; जैसे यह 'स्व की प्रतीति के लिये स्व में व्यापार होना' यह उसका अर्थ है? या 'चिद्रूप में सत् होना' यह उसका अर्थ है? इन में पहले अर्थ का स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान के अन्य कर्म घटादि में जैसे ज्ञानानुकूल इन्द्रियसन्निकर्षादिरूप व्यापार प्रमाणिक है, उस प्रकार आत्मा में ज्ञानानुकूल कोई व्यापार प्रामाणिक (प्रमाणसिद्ध) नहीं है। दूसरे अर्थ को भी नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि 'आत्मा चिद्रूप में सत् है' इस बात की सिद्धि भी प्रमाणसापेक्ष है, अतः प्रमाणग्राह्य होने से स्वप्रकाशता की सिद्धि असम्भव है।

[ज्ञान की स्वप्रकाशता का खंडन—पूर्वपक्ष]

यदि कहें कि-'स्वसंविदित ज्ञान का विषय होने से आत्मा को प्रत्यक्ष माना जा सकता है' तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वसंविदित=स्वप्रकाश ज्ञान असिद्ध है, और यदि ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानने में अनवस्था आदि के कारण स्वसंविदित ज्ञान सिद्ध भी होगा, तो वही आत्मा का ग्राहक अन्य प्रमाण होगा, अतः उससे भले आत्मा को चाहे और कुछ कहा जाय, पर उसके द्वारा उसकी प्रत्यक्षता की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

यदि यह कहें कि-''प्रत्येक ज्ञान क्रिया=स्वस्वरूप, कर्म—विषय और कर्ता=स्वाश्रय इस त्रिपुटी का ग्रहणकर्ता है, इसलिये समस्त ज्ञान 'घटमहं जानामि' इत्यादि आकार में ही उत्पन्न होते हैं अतः 'घटमहं जानामि' इस प्रत्यक्षज्ञान का विषय होने से अहमर्थ आत्मा भी प्रत्यक्ष हो सकता है''-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'घटमहं जानामि' इस ज्ञान से घट में तो ज्ञानविषयता का ग्रहण होता है, पर ज्ञान या आत्मा में ज्ञानविषयता का ग्रहण नहीं होता है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान स्वयं तथा उसका आश्रय ये दोनों उसका विषय नहीं हैं इसलिये उक्त ज्ञान में घट के समान ज्ञान एवं आत्मा में भी ज्ञानविषयता का भान नहीं होता। यदि घट के समान ही ज्ञान एवं आत्मा भी ज्ञान के विषय होते तो ज्ञान का उक्त आकार न होकर 'घटज्ञानतदाश्रयज्ञानवान् अहम्' यह आकार होता किन्तु यह आकार नहीं होता, अतः 'प्रत्येक ज्ञान त्रिपुटीविषयक होता है' यह कथन अप्रामाणिक है।

किं च 'घटमहं जानामि' इति ज्ञाने क्रियायाः कर्तृसमवायित्वलक्षणमात्मनः कर्तृत्वं, परसमवेतक्रियाफलशालित्वं करणव्यापारविषयत्वं वा विषयस्य कर्मत्वम्, धात्वर्थत्वं कृतिजन्यत्वं वा ज्ञानस्य क्रियात्वमयोग्यत्वाद् न भासत इति न तादृशत्रिपुटीप्रत्यक्षात् स्वसंविदितत्वसिद्धिः, अन्यथा 'घटं चक्षुषा पश्यामि' इति व्यवहारात् करणविषयत्वमपि सिध्येत्। किं च अर्थविषयकत्वेनैव ज्ञानस्य प्रवर्तकत्वम्, न तु स्वविषयत्वेनापि, गौरवात्। तथा च 'अर्थमात्रविषयक एव व्यवसायः' इत्यभ्युपगमः श्रेयान्।

अपि च 'अहमिदं जानामि' इत्यत्रेदन्त्वविशिष्टज्ञानवैशिष्ट्यमात्मनि भासते, न च स्वप्रकाशे तदुपपत्तिः, ज्ञानस्य पूर्वमज्ञातत्वेन प्रकारत्वानुपपत्तेः। न चाभावत्वाभानेऽप्य-

---

[त्रिपुटीप्रत्यक्ष से स्वप्रकाशत्व की सिद्धि दुःशक्य]

दूसरी बात यह है कि 'घटमहं जानामि' इस चाक्षुषत्व ज्ञान में अहमर्थ में कर्तृत्व, घट में कर्मत्व और ज्ञान में क्रियात्व का भान हो भी नहीं सकता, क्योंकि क्रियासमवायित्व अथवा कृतिसमवायित्व ही कर्तृत्व है, एवं परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्व अथवा करणव्यापारविषयत्व ही कर्मत्व है तथा धात्वर्थत्व अथवा कृतिजन्यत्व ही क्रियात्व है और यह सब उक्त ज्ञान के जनक चक्षु के अयोग्य है। अतः प्रत्यक्ष में कर्ता, कर्म और क्रिया, इस त्रिपुटी की अवगाहकता सिद्ध न होने से त्रिपुटीविषयकप्रत्यक्ष से ज्ञान में स्वसंविदितत्व की सिद्धि की आशा दुराशा मात्र है। और यदि 'घटमहं जानामि' इस व्यवहार के अनुरोध से घटज्ञान में कर्तृविषयकत्व और क्रियाविषयकत्व की कल्पना करेंगे तो 'घटं चक्षुषा पश्यामि' इस व्यवहार के अनुरोध से घटज्ञान में चक्षुर्विषयकत्व भी सिद्ध होने से चक्षु को भी घटादिचाक्षुष का विषय मानना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि विषयविशेष में ज्ञाता को प्रवृत्त करना तथा विषयविशेष से ज्ञाता को निवृत्त करना ही ज्ञान का प्रयोजन है। अतः जिस वस्तु को ज्ञान का विषय माने बिना इस प्रयोजन की सिद्धि न हो उसे ही ज्ञान का विषय मानना उचित है। ऐसी वस्तु केवल ज्ञातव्य अर्थ ही होता है, ज्ञान-ज्ञाता या ज्ञान का साधन नहीं होता। अतः जैसे ज्ञान का साधन चक्षु आदि को ज्ञान का विषय मानना व्यर्थ होता है। उसी प्रकार ज्ञान या ज्ञाता को भी ज्ञान का विषय मानना व्यर्थ है प्रत्युत ऐसा मानने में निष्प्रयोजन गौरवमात्र है। अतः व्यवसाय ज्ञानसामग्री के सन्निधान के अनन्तर उत्पन्न होने वाला पहला ज्ञान अर्थमात्रविषयक ही होता है यह मत ही श्रेष्ठ है।

यह भी ज्ञातव्य है कि 'अहमिदं जानामि' इस ज्ञान में अहमर्थ आत्मा में इदन्त्वविशिष्टविषयकज्ञान के वैशिष्ट्य का भान होता है, किन्तु ज्ञान यदि स्वप्रकाश होगा तो स्वोत्पत्ति के पूर्व अज्ञात होनेसे स्व में प्रकारविधया भासित न हो सकेगा क्योंकि तत्प्रकारक ज्ञान में तद्विषयक ज्ञान कारण होता है, अतः 'घटमहं जानामि' इस ज्ञानप्रकारकज्ञान के पूर्व ज्ञान का ज्ञान आवश्यक है और ज्ञान के स्वप्रकाशत्वपक्ष में उक्त ज्ञान के पूर्व दुर्घट है, क्योंकि उस पक्ष में वह ज्ञान ही ज्ञान का पहला ज्ञान है। यदि यह कहें कि–'अभावत्व

भावत्वविशिष्टबोधात् तत्र व्यभिचारवारणाय स्वसमानवित्तिवेद्यभिन्नविशेषणज्ञानत्वेन विशिष्टबुद्धौ हेतुत्वात् न दोष इति चेन्न, यद्धि येन विना न भासते तत्-तत्समानवित्तिवेद्यम्-तद्ग्राहकसामग्रीनियतसामग्रीकत्वमित्यर्थः न च ज्ञानाऽभाने आत्माऽभानमित्यस्ति, तदभानेऽपि 'अहं सुखी' इति भानस्य सर्वसिद्धत्वात् ।

अपि च, प्रत्यक्षविषयतायामिन्द्रियसन्निकर्षस्य नियामकत्वात् कथं तदनाश्रयस्य स्वस्य प्रत्यक्षत्वम् ? कथं वा प्रत्यक्षाऽजनकस्य प्रत्यक्षविषयत्वम् ? प्रत्यक्षविषयतायास्त-

---

का ज्ञान पूर्व में न रहने पर भी अभावत्वविशिष्ट का बोध होता है अतः उक्त बोध में तत्प्रकारक ज्ञान के प्रति तद्विषयकज्ञान की कारणता में व्यभिचार हो जाता है, इसलिये इस व्यभिचार के वारणार्थ विशिष्टज्ञान में उसी विशेषण के ज्ञान को कारण माना जाता है जो विशेष्य का तुल्यवित्तिवेद्य न हो । वही विशेषण विशेष्य का तुल्यवित्तिवेद्य होता है जिसके भान के बिना विशेष्य का भान न हो, अर्थात् जिस विशेषण के ज्ञान की सामग्री विशेष्यग्राहकसामग्री की नियतव्यापक हो । घट के भान के बिना भी भूतल का भान होने से घटग्राहकसामग्री भूतलग्राहकसामग्री की नियत नहीं है, अतः घट भूतल का तुल्यवित्तिवेद्य नहीं है इस लिये घटज्ञान घटविशिष्टभूतल के ज्ञान का कारण होता है। अभावत्व के भान के बिना अभाव का भान नहीं होता, अतः अभावत्व ग्राहकसामग्री अभावग्राहकसामग्री की नियत है, इसलिये अभावत्व अभाव का तुल्यवित्तिवेद्य है, अतः अभावत्वज्ञान अभावत्वविशिष्टअभाव के ज्ञान का कारण नहीं होता, आत्मा का भी भान ज्ञानभान के बिना नहीं होता । अतः ज्ञानग्राहकसामग्री आत्मग्राहकसामग्री की नियत होने से ज्ञान भी आत्मा का तुल्यवित्तिवेद्य है, इसलिये ज्ञानज्ञान भी ज्ञानविशिष्ट आत्मा के ज्ञान में कारण न होगा, फलतः पूर्व में ज्ञान के अज्ञात होने पर भी ज्ञानप्रकारकआत्मविशेष्यक 'घटमहं जानामि' इस ज्ञानके होने में कोई बाधा नहीं हो सकती" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान भान के बिना भी 'अहं सुखी' इस रूपमें आत्मा का भान होने से 'ज्ञानभान के बिना आत्मा का भान नहीं होता' यह कथन असिद्ध है । अतः ज्ञानग्राहकसामग्री आत्मग्राहकसामग्री की नियत न होने से ज्ञान आत्मा का तुल्यवित्तिवेद्य नहीं हो सकता, इसलिये ज्ञानविशिष्टआत्मज्ञान में ज्ञानज्ञान की कारणता अनिवार्य होने से ज्ञान के स्वप्रकाशत्व पक्ष में उसके दुर्वह होने के कारण उस पक्ष में 'घटमहं जानामि' इस ज्ञान की उत्पत्ति का असम्भव है।

[इन्द्रियसन्निकर्ष के अभाव में ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे ?]

ज्ञान को स्वग्राह्य मानने के विरुद्ध एक बात यह भी है कि—"इन्द्रियसन्निकर्ष प्रत्यक्षविषयता का नियामक होता है, और ज्ञानमें चक्षु आदि का सन्निकर्ष नहीं होता, अतः उसमें चाक्षुषादि ज्ञान की विषयता सम्भव न होने से वह घटादि के समान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?" दूसरी बात यह है कि—घट के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष के प्रति वह प्रत्यक्षात्मकज्ञान तो जनक होता नहीं, फिर वह उस प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकेगा ? क्योंकि प्रत्यक्षविषयता प्रत्यक्ष-

जनकत्वव्याप्यत्वात् । न च संस्कार–स्मृत्याद्युपनीततायां व्यभिचारः, अनागतगोचरसाक्षात्कारजनकप्रत्यासत्त्यजन्यप्रत्यक्षविषयताया व्याप्यत्वात्, वस्तुतो लौकिकप्रत्यक्षविषयतायाः प्रत्यक्षजनकत्वव्याप्यत्वात्, तदजनके स्वस्मिन् लौकिकसाक्षात्कारविषयता न स्यादिति

जनकता की व्याप्य है अतः प्रत्यक्षजनकतारूप व्यापक के अभाव से प्रत्यक्षविषयतारूप व्याप्य के अभाव की सिद्धि ज्ञान में अनिवार्य है । यदि यह शंका करें कि–"'सोऽयं घटः' इस प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष में 'सः' शब्द से तत्ता का भान सूचित होता है । तत्ता का अर्थ होता है तद्देश तत्कालसम्बन्ध, तद्देश के दूरस्थ और तत्काल के अतीत होने से तद्देश–तत्कालसम्बन्धरूप तत्ता के साथ इन्द्रिय का लौकिकसन्निकर्ष नहीं हो सकता, अतः तत्ताविषयकपूर्वसंस्कार अथवा तत्ताविषयकस्मृति से उक्त प्रत्यभिज्ञा में तत्ता का भान होता है । अतः इन्द्रिय से असन्निकृष्ट एवं उक्त प्रत्यभिज्ञा के अजनक तत्ता में उक्त प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष की विषयता रहने से प्रत्यक्षविषयता में प्रत्यक्षजनकता की व्याप्ति व्यभिचरित है, अतः ज्ञान में प्रत्यक्षजनकत्वाभाव से प्रत्यक्षविषयत्वाभाव का साधन अशक्य है,"—तो इस का उत्तर यह है कि प्रत्यक्षविषयतामात्र में प्रत्यक्षजनकता की व्याप्ति न मान कर अनागत पदार्थ के साक्षात्कार को उत्पन्न करने वाली प्रत्यासत्ति-इन्द्रियसन्निकर्ष से अजन्य प्रत्यक्ष की विषयता को प्रत्यक्षजनकता का व्याप्य मानने से उक्त व्यभिचार नहीं हो सकता, क्योंकि 'सोऽयं घटः' यह प्रत्यक्ष तत्ताविषयकस्मरणरूप ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है और ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष अनागतघटादि के साक्षात्कार का जनक होता है, क्योंकि 'घटो भविष्यति=घटो वर्तमानप्रागभावप्रतियोगी' इस प्रत्यक्ष में भावी घट का भान 'भावी घट के ज्ञानरूप ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष' से ही होता है, और भावी घट का ज्ञान घटत्वरूप सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति से होता है अथवा 'अयं घटः घटपूर्ववर्ती, घटत्वात्, एतद्घटपूर्वोत्पन्नघटवत्=यह घट घट का पूर्ववर्ती है, क्योंकि घट है, जैसे इस घट से पूर्वउत्पन्न घट" इस अनुमान से होता है । अतः प्रत्यक्ष में 'अनागतगोचरसाक्षात्कारजनकप्रत्यासत्त्यजन्यत्व' विशेषण के देने से तत्ता में उक्त प्रत्यासत्तिजन्य उक्त प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष की विषयता होने पर भी तादृशप्रत्यासत्त्यजन्यप्रत्यक्षविषयता में प्रत्यक्षजनकता की व्याप्ति अक्षुण्ण है, त्रिपुटीप्रत्यक्षवादी 'घटमहं जानामि' इस घटप्रत्यक्ष में ज्ञान एवं ज्ञाता का भान ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से नहीं मानते अतः यह प्रत्यक्ष अनागतगोचरसाक्षात्कारजनक प्रत्यासत्ति से अजन्य है, इस लिये इस प्रत्यक्ष की विषयता प्रत्यक्षजनकता की व्याप्य होने से प्रत्यक्ष के अजनक ज्ञान में नहीं रह सकती । वास्तविक बात तो यह है कि–लौकिकप्रत्यक्षविषयता–अलौकिकान्यप्रत्यक्षविषयता प्रत्यक्षजनकता की व्याप्य होती है, 'सोऽयं घटः' यह प्रत्यभिज्ञा तत्ता अंश में अलौकिक होने से अलौकिकान्य नहीं है अतः उस प्रत्यक्ष की विषयता उस प्रत्यक्ष के अजनक में रहने पर भी व्यभिचार नहीं हो सकता । त्रिपुटीप्रत्यक्षवादी के मत में 'घटमहं जानामि' यह घटप्रत्यक्ष किसी भी अंश में अलौकिक नहीं माना जाता, अतः इस अलौकिकान्यप्रत्यक्ष की विषयता उस प्रत्यक्ष के अजनक ज्ञान में नहीं हो सकती ।

द्रष्टव्यम् । तेनानुपदोक्तनियमे 'विद्यमानत्वस्थानेऽजनकत्वस्य निवेशे ... अनागत-नागतत्वस्थानेऽजनकत्वस्य निवेशावश्यकत्वे प्रत्यासत्त्यादिभागमपहायाऽजनकविषयसाक्षात्कारान्यप्रत्यक्षविषयताया एव प्रत्यक्षजनकत्वव्याप्यत्वकल्पने स्वस्याऽजनकत्वेन स्वविषयतायां जनकत्वस्याऽनियामकत्वेन स्वविषयता न बाधिता' इत्युक्तावपि न क्षतिः ।

किं च लौकिकविषयत्वेन ज्ञाने चक्षुरादीन्द्रियायोग्यत्वाज्ज्ञानस्य परिशेषाद् मनोग्राह्यत्वसिद्धौ न स्वप्रकाशत्वम् । किं च, एवमनुमित्यादौ सांकर्यात् प्रत्यक्षत्वं जातिर्न स्यात् ।

[पूर्वोक्त नियम में दोष]

पूर्वोक्त नियम में अर्थात् 'अनागतगोचरसाक्षात्कारजनकप्रत्यासत्त्यजन्यप्रत्यक्षविषयता प्रत्यक्षजनकता का व्याप्य है' इस नियम में एक दोष यह है कि विद्यमानस्वरूप सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति विद्यमान के भी साक्षात्कार का जनक होने से अनागतगोचरसाक्षात्कार का जनक नहीं है; अतः उस से जन्य सम्पूर्ण विद्यमानविषयकप्रत्यक्ष अनागतगोचरसाक्षात्कारजनकप्रत्यासत्ति से अजन्य है । उस प्रत्यक्ष की विषयता में उस प्रत्यक्ष के अजनक दूरस्थ विद्यमान पदार्थ में प्रत्यक्षजनकता का व्यभिचार है; इस व्यभिचार के वारणार्थ 'अनागत' के स्थान में 'अजनक' का निवेश करने पर 'अजनकगोचरसाक्षात्कारजनकप्रत्यासत्त्यजन्यत्व' की अपेक्षा प्रत्यक्ष में 'अजनकविषयकसाक्षात्कारान्यत्व' के निवेश में लाघव होगा, और जब उसका निवेश कर यह नियम बनाया जायगा कि 'अजनकविषयकसाक्षात्कारान्यप्रत्यक्षविषयता प्रत्यक्षजनकता का व्याप्य है,' तो इसके आधार पर प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में प्रत्यक्षाजनकत्व से उक्त प्रत्यक्षविषयत्व का साधन न किया जा सकेगा, क्योंकि स्व स्व का अजनक है, अतः स्व को विषय करने वाला स्वात्मकप्रत्यक्ष अजनकविषयकसाक्षात्कार है, अतः प्रत्यक्षजनकत्व से अजनकविषयकसाक्षात्कारान्यप्रत्यक्षविषयत्वाभाव का साधन करने से भी अजनकविषयकसाक्षात्कारात्मक स्वात्मकप्रत्यक्षविषयता का बाध स्व में नहीं हो सकता ।

[ज्ञान मनोग्राह्य है-पूर्वपक्ष अनुवर्तमान]

ज्ञान को स्वप्रकाश—स्वात्मकज्ञान से ग्राह्य मानने में एक और भी बाधक है, वह यह है कि 'ज्ञानादिभिन्नो लौकिकविषयः इन्द्रिययोग्यः' इसकी अपेक्षा लाघव होने से यह नियम मान्य है कि 'यो यो लौकिको विषयः स इन्द्रिययोग्यः' । इस नियम के आधार पर लौकिकविषयत्वहेतु से ज्ञान में भी इन्द्रिययोग्यत्व सिद्ध होता है । ज्ञान में चक्षुरादिबहिरिन्द्रिययोग्यत्व का बाध होने से परिशेषानुमान से उस में मनोरूपइन्द्रियग्राह्यत्व की सिद्धि होती है अतः ज्ञान में मानोग्राह्यत्व प्रमाणसिद्ध होने से उसे स्वप्रकाश नहीं माना जा सकता । दूसरी बात यह है कि ज्ञान के स्वप्रकाशत्व पक्ष में सभी ज्ञान स्वप्रकाश होंगे । फलतः अनुमित्यादिरूप ज्ञान भी स्वप्रकाश होने से अपने स्वरूप को और अपने आश्रय को विषय करेगा । तदनुसार धूम में वह्निव्याप्ति और पर्वत में धूमसम्बन्ध के ज्ञान से अथवा पर्वत में वह्निव्याप्यधूम के परामर्श से जो पर्वत में वह्नि की अनुमिति होगी वह 'पर्वते वह्निं वह्निमत्त्वेन पर्वतं, वह्निमत्पर्वतं वा अनुमिनोमि' इस आकार की होगी । यह अनुमिति वह्नि-पर्वत के सम्बन्ध अंश में अनुमितिरूप और

न च स्वविषयत्वे ज्ञानाऽनपेक्षत्वं तत्त्वं, तद् जातिरिति वाच्यम्; एकत्र ज्ञानापेक्षानपेक्षयोर्विरोधात् । न च भ्रमे धर्मविषयकत्व-धर्मिविषयकत्वावच्छेदभेदेन दोषापेक्षानपेक्षावदनुमित्यादावपि वह्न्यादिविषयकत्व-स्वविषयकत्वावच्छेदभेदेन ज्ञानापेक्षानपेक्षोपपत्तिरिति वाच्यम्; दोषापेक्षे भ्रमे तदनपेक्षानभ्युपगमात् धर्म्यंशे स्वभावादेवाऽभ्रमत्वात् ।

किं च, 'ज्ञानजन्यतानवच्छेदकं यत्किञ्चिज्जन्यतावच्छेदकं यद्विषयत्वं, तदवच्छे-

---

अनुमिति एवं अनुमाता अंश में प्रत्यक्षरूप होगी, क्योंकि अनुमिति या अनुमाता के व्याप्ति आदि के ज्ञान के बिना उत्पन्न होने से उस अंश में अनुमितिरूप नहीं हो सकती । फलतः अनुमिति आदि में प्रत्यक्षत्व के सांकर्यग्रस्त-अव्याप्यवृत्ति हो जाने से उसके जातित्व की हानि हो जायगी ।

[प्रत्यक्षत्व जातिरूप है]

यदि कहें कि-'प्रत्यक्षत्व जाति नहीं है किन्तु स्वविषयत्व में स्वज्ञानानपेक्षज्ञानत्वरूप है, अर्थात् जो ज्ञान जिस वस्तु को विषय करने में उस वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा न करे वह ज्ञान उस वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान होता है । अनुमिति साध्य को विषय करने के लिये हेतुव्यापकतया साध्यज्ञान की अपेक्षा करती है । शाब्दबोध-पदार्थ को विषय करने के लिये पदजन्यपदार्थोपस्थिति की अपेक्षा करता है । अतः अनुमित्यादि में प्रत्यक्षरूपता नहीं होती । प्रत्यक्ष-अर्थ को विषय करने के लिये उसके ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता अपितु अर्थ के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष की अपेक्षा करता है, अतः वह प्रत्यक्ष के उक्त लक्षण से संगृहीत होता है'- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षत्व को यदि 'स्वविषयत्वे स्वज्ञानानपेक्षत्वरूप' माना जायगा, तो अनुमित्यादि को वह्नि आदि अंश में परोक्षात्मक होने से उसे 'स्वविषयत्वे स्वज्ञानसापेक्ष' भी मानना पड़ेगा, और स्व एवं स्वाश्रय अंश में प्रत्यक्षात्मक होने से उसे 'स्वविषयत्वे स्वज्ञानानपेक्ष' भी मानना पड़ेगा जो कि 'स्वज्ञानसापेक्षत्व' और 'स्वज्ञाननिरपेक्षत्व' में परस्पर विरोध होने से असम्भवित है ।

यदि कहें कि-" जैसे भ्रमस्थल में एक ही ज्ञान धर्मांश में भ्रम और धर्मी अंश में अभ्रमरूप होता है, अतः उसमें 'धर्मविषयकत्वावच्छेदेन दोषसापेक्षत्व' और 'धर्मिविषयकत्वावच्छेदेन दोषानपेक्षत्व' माना जाता है, उसी प्रकार अनुमिति में भी 'वह्नि-विषयकत्वावच्छेदेन ज्ञानसापेक्षत्व' और 'स्व-अनुमितिविषयकत्वावच्छेदेन ज्ञानानपेक्षत्व' माना जा सकता है"- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि भ्रम दोषापेक्ष ही होता है, धर्मी अंश में जो वह अभ्रमरूप होता है वह उस अंश में दोषानपेक्ष होने के कारण नहीं होता है किन्तु स्वभाववश होता है, 'सर्वं ज्ञानं धर्मिणि अभ्रान्तम्' यह ज्ञान का स्वभाव ही है, अतः भ्रम में अवच्छेदकभेद से दोषापेक्षत्व और दोषानपेक्षत्व का सन्निवेश प्रामाणिक न होने से उस दृष्टान्त से अनुमित्यादि में ज्ञानापेक्षत्व और ज्ञानानपेक्षत्व के सद्भाव का समर्थन नहीं किया जा सकता ।

(ज्ञानसामग्रीजन्यतावच्छेदक मात्र ज्ञानत्व है)

ज्ञान को स्वांश में प्रत्यक्षरूप मानने में एक बाधक और है, वह यह कि 'ज्ञानजन्यता का अनवच्छेदक और यत्किञ्चिद्ज्ञानसामग्री का जन्यतावच्छेदक यद्विषयकत्व

देन तस्य प्रत्यक्षत्वम्, इति स्वविषयांशे न तथात्वम्, ज्ञानसामग्र्या ज्ञानत्वस्यैव जन्यतावच्छेदकत्वात्, विशेषसामग्र्या च तत्तद्विषयकत्वविशिष्टज्ञानजन्यतावच्छेदकत्वात्। न च ज्ञानेऽवश्यवेद्यत्वात् स्वप्रकाशत्वम्, नो चेत्, या चित्तिर्न वेद्यते तदधीनसत्त्वस्य विषयपर्यन्तस्याऽसत्त्वं स्यादिति वाच्यम्, सर्वासां चित्तीनां ज्ञानज्ञानत्वेनावश्यवेद्यत्वात्। 'परप्रकाशेऽनवस्थानात् स्वप्रकाशसिद्धि'रित्यपि न युक्तम्, स्वप्रकाशत्वस्यापि परिशेषानुमेयतया तदनुमितिस्वप्रकाशतया अप्यनुमानान्तरकल्प्यतयाऽनवस्थासाम्यात्, विषयान्तरसंचाराद्विना प्रतिबन्धेन तदनवस्थायास्तूभयत्र साम्यात्। इत्यत आह—

जिस ज्ञान में रहता है, वह ज्ञान उस अंश में प्रत्यक्ष होता है' यह नियम है, जैसे चक्षुःघटसन्निकर्ष के अनन्तर होने वाले ज्ञान में ज्ञानजन्यता का अवच्छेदक और घटचाक्षुषत्वरूप धर्मविशिष्ट ज्ञान की चक्षुःघटसन्निकर्षादिरूप सामग्री का जन्यतावच्छेदक घटविषयकत्व रहता है इस लिये वह ज्ञान घट अंश में प्रत्यक्ष होता है किन्तु 'घटमहं जानामि' इत्याकारक घटप्रत्यक्ष में विद्यमान ज्ञानविषयकत्व ज्ञानसामान्य की सामग्री का ही जन्यतावच्छेदक होता है। क्योंकि ज्ञान के त्रिपुटीविषयकत्वमत में सर्वज्ञानसुलभज्ञानविशेषसामग्रीजन्यता के अतिप्रसक्त हो जाने के कारण ज्ञानविशेषसामग्री का जन्यतावच्छेदक नहीं होता, अतः ज्ञान को स्वांश में प्रत्यक्ष मानना सम्भव नहीं हो सकता।

[ज्ञान की ज्ञानवेद्यता के नियम का भङ्ग]

यदि यह कहें कि—"ज्ञान को ज्ञानवेद्य मानना आवश्यक है, अन्यथा जो ज्ञानविदित न होगा उसकी सत्ता सिद्ध न हो सकेगी, क्योंकि किसी भी वस्तु की सत्ता उसके ज्ञान से ही सिद्ध होती है। फलतः वह ज्ञान जिस मूल विषय के ज्ञान की परम्परा में है, उस मूल विषय तक की सत्ता संशयग्रस्त हो जायगी। क्योंकि अन्तिमज्ञान के असत् होने पर उसका विषयभूत ज्ञान असत्, एवं उसके असत् होने पर उसका विषयभूत ज्ञान असत् होता जायगा और अन्ततोगत्वा प्रथमज्ञान के असत् होने से मूल विषय की भी सत्ता का लोप हो जायगा। इसलिये यह परम आवश्यक है कि सभी ज्ञान को ज्ञानवेद्य माना जाय, और ज्ञान की ज्ञानवेद्यता का यह नियम अन्तिम ज्ञान असत् न हो जाय इसलिये, ज्ञान को स्वप्रकाश माने विना सम्भव नहीं है। अतः ज्ञान को स्वप्रकाश मानना आवश्यक है" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सभी ज्ञान को ज्ञानग्राह्य मानने से भी ज्ञान की अवश्यवेद्यता की उपपत्ति हो सकती है, अतः ज्ञान की स्वप्रकाशता अनावश्यक है। यदि कहें कि—"ज्ञान को ज्ञानान्तर से प्रकाश्य मानने पर प्रथम ज्ञान को द्वितीय से, द्वितीय को तृतीय से, तृतीय को चतुर्थ से, इस क्रम से प्रत्येक ज्ञान को स्वोत्तरवर्ती ज्ञान से प्रकाश्य मानने पर अनवस्थित ज्ञान की कल्पना में गौरव होगा" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह दोष तो ज्ञान के स्वप्रकाशत्व पक्ष में भी अनिवार्य है। जैसे ज्ञानस्वप्रकाशत्ववादी के मत में भी ज्ञान स्वप्रकाश है, उसका स्वप्रकाशत्व तो स्वप्रकाश है नहीं, अतः स्वप्रकाशत्व को अनुमानवेद्य मानना होगा, फिर उस अनुमान

मूलम्—आत्मनाऽऽत्मग्रहोऽप्यत्र तथाऽनुभवसिद्धितः ।
तस्यैव तत्स्वभावत्वान्न युक्त्या न युज्यते ॥८४॥

आत्मनाऽऽत्मग्रहोऽपि=कर्तृ-कर्म-क्रियागोचरत्वमपि, अत्र=प्रकृताहंप्रत्यये, तथाऽनुभवसिद्धितः=स्वसंविदितत्वानुभवसिद्धया, तस्यैव=आत्मन एव, तत्स्वभावत्वात्=कर्तृत्वादिनिर्मीलितशक्तियोगित्वात्, न च 'युक्त्या'=तर्केण, न युज्यते=न साध्यते, अपि तु साध्यत एवेत्यर्थः ।

यथा कथायां प्रविशन् परस्य नैयायिकः कारयति प्रतीक्षाम् ।
तथा यथार्थागमबद्धबुद्धिर्दास्यामि नास्यापि किमेष शिक्षाम् ? ॥

के स्वप्रकाशत्व को अनुमानान्तर से वेद्य मानना होगा । अतः इस पक्ष में भी स्वप्रकाशत्व के अनवस्थित अनुमान की अपेक्षा से अनवस्था प्रसक्ति होती है । यदि कहें कि—'जिस विषय के ज्ञान में स्वप्रकाशत्व अनुमेय है उस ज्ञान के स्वप्रकाशत्वानुमान की परम्परा से विषयान्तर में मन का संचार हो जाने पर इस अनुमानपरम्परा का निरोध हो जाने से अनवस्था का परिहार हो जायगा'—तो इस प्रकार अनवस्था का परिहार तो ज्ञान के ज्ञानान्तरवेद्यता पक्ष में भी सम्भव है । अतः उस पक्ष की उपेक्षा निर्बीज हो जायगी । इस प्रकार विचार करने से ज्ञान की स्वग्राहकता सिद्ध न होने से अहंप्रत्यय की प्रत्यक्षरूपता नहीं सिद्ध हो सकती । अतः यह प्रश्न अपने स्थान पर ज्यों का त्यों बना हुआ है कि 'प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय न होने से आत्मा में प्रत्यक्षत्व का व्यपदेश कैसे हो सकता है ?' [पूर्वपक्ष समाप्त]

इस प्रश्न का उत्तर कारिका (८४) में दिया गया है -

[अनुभवबल से स्वसंविदितत्व की सिद्धि—उत्तरपक्षारम्भ]

अहंप्रत्यय में अर्थात् 'घटमहं जानामि' इत्यादि प्रत्यय में स्व से स्व का ग्रहण होना सिद्ध है, उसमें कर्ता, कर्म और क्रिया का भान होना निर्विवाद है क्योंकि उसमें स्वसंविदितत्व अनुभवसिद्ध है और वह इसलिये कि उक्त प्रतीति में आत्मा का भान सर्वसम्मान्य है और आत्मा में ऐसी स्वाभाविक शक्ति है जिससे उसका स्वरूप कर्तृत्व आदि से समन्वित (मिश्रित) रहता है । इस प्रकार जब आत्मा के स्वभाव में कर्तृत्व, विषयभूत अर्थ के स्वभाव में कर्मत्व और ज्ञान के स्वभाव में आत्मविशेषणत्व सन्निविष्ट है, तब उक्त प्रत्यय में आत्मा अर्थ और ज्ञान स्वरूप का भान होने पर कर्ता, कर्म और क्रिया का भान होने में क्या बाधा हो सकती है ? अहंप्रत्यय द्वारा कर्ता कर्म और क्रिया के अवगाहन का होना युक्तिसिद्ध नहीं है, यह बात नहीं है, अपि तु सर्वथा युक्तिसिद्ध है ।

अहंप्रत्यय के उक्त स्वरूप के विरुद्ध अपनी मान्यता पर आग्रह रखने वाले नैयायिक के बारे में व्याख्याकार ने एक स्वनिर्मित पद्य द्वारा यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि जैसे नैयायिक 'कथा=शास्त्रीय विचार' में प्रविष्ट होने पर दूसरे को अपनी बात कहने के अवसर की प्रतीक्षा के लिये विवश कर देता है, अर्थात् अपने पक्ष के समर्थन

तथापि 'जानामि' इति सार्वलौकिकं ज्ञानमेव पूर्वापरकल्पनागौरवभयात् कर्तृ-कर्म-क्रियाग्राहि सत् स्वविषयत्वे प्रमाणम्, ज्ञानस्य 'इदं जानामि, इदं ज्ञानं जानामि' इत्युभयाकारत्वात्। एतेन "स्वविषयत्वे सिद्धे गौरवमहिम्ना ज्ञानगोचरतया ग्राहकं प्रत्यक्षं स्वप्रकाशतायां प्रमाणम्, तेन च मानेन तस्य स्वविषयतासिद्धिः, इत्यन्योन्याश्रयः" इत्यपास्तम्; ज्ञानविषयत्वेनानुभूयमानस्य लाघवात् ग्राह्यज्ञानैक्यसिद्धौ स्वप्रकाशतासिद्धेः, कालभेदेनोभयानुभवस्य सपथप्रत्याख्यानीयत्वात्।

तथा परपक्ष के निराकरण में युक्ति पर युक्ति देते रहने के कारण प्रतिवादी को अपना पक्ष प्रस्तुत करने तथा नैयायिक के पक्ष में दोषोद्भावन करने का शीघ्र अवसर नहीं मिलता, किन्तु उसे उसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है, उसी प्रकार व्याख्याकार भी ज्ञान के स्वसंवेदन के विषय में नैयायिक को वही पाठ पढ़ाने का अधिकारी हैं। उनकी धारणा है कि वे यथार्थ आगम द्वारा परिपोषित अपनी युक्ति के बल पर अपने अभिमत पक्ष के समर्थन में युक्तियाँ प्रस्तुत करते हुये नैयायिक को अपना आशय व्यक्त करने का अवसर पाने की प्रतीक्षा करने को विवश कर देंगे। उनकी यह धारणा उनके अगले तर्कों से भली भाँति प्रमाणित हो जाती है।

[ज्ञान स्वप्रकाश है—व्याख्याकारमत]

'जानामि' यह एक सर्वलोकानुभव ज्ञान है, उसके दो आकार होते हैं, एक 'इदं जानामि' और दूसरा 'इदं ज्ञानं जानामि'। इनमें पहले आकार से ज्ञान में ज्ञानविषयीभूत अर्थ विषयकत्व का और दूसरे से ज्ञान में ज्ञानविषयकत्व का स्पष्टीकरण होता है। अब इस ज्ञानग्राहकज्ञान को अर्थग्राहकज्ञान का परवर्ती ज्ञान मान कर उसमें यदि पूर्वज्ञान का ग्रह माना जायगा तो पूर्वापरीभूत दो ज्ञानों की कल्पना करने से गौरव होगा, अतः एक ही ज्ञान को कर्ता, कर्म और क्रिया का ग्राहक मान कर उसी को ज्ञान के स्वविषयकत्व में प्रमाण मानना चाहिये।

उक्त रीति से ज्ञान में स्वविषयकत्व की सिद्धि मानने पर यह शंका हो सकती है कि "इस ढंग से ज्ञान में स्वप्रकाशता का साधन करने पर अन्योन्याश्रय होगा, जैसे ग्राह्य ज्ञान और ग्राहक ज्ञान ऐसे भिन्न दो ज्ञानों की कल्पना करने में गौरव का ज्ञान होने पर ही ज्ञानविषयकत्व का ग्राहक प्रत्यक्ष यह ज्ञान के स्वविषयकत्वरूप स्वप्रकाशता में प्रमाण होता है, और उक्त प्रमाण से ज्ञान में स्वविषयकता सिद्ध हो जाने पर ही उक्त गौरवज्ञानसहकृत प्रमाण की निष्पत्ति होती है, अतः उक्त प्रमाण के निष्पन्न होने में ज्ञान के स्वविषयकत्वरूप स्वप्रकाशत्व की सिद्धि की अपेक्षा होने से और स्वप्रकाशत्व की सिद्धि में उक्त प्रमाण की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है"—उसका उत्तर यह है कि ज्ञानविषयक ज्ञान का अनुभव निर्विवाद है, उस अनुभवसिद्ध ज्ञानज्ञान को पूर्वज्ञान से अभिन्न मानने में लाघव है—यह भी स्पष्ट है, और ज्ञानज्ञान जब पूर्वज्ञान से अभिन्न है तब इसी से ज्ञान में स्वविषयकत्वरूप स्वप्रकाशत्व भी सिद्ध

नन्वेवं घटज्ञानज्ञानाद्यनन्ताकारत्वं स्यादिति चेत्? न, घटज्ञानज्ञानादिविषयताया अपि वस्तुतो घटज्ञानविषयताऽनतिरेकात्, अभिलापभेदस्य विवक्षाधीनत्वात्। तत्र चाश्रयत्वरूपं कर्तृत्वं, विषयत्वरूपं कर्मत्वं, विशेषणत्वरूपं क्रियात्वं च योग्यत्वाद् भासते, करणांशे त्वयोग्यत्वाद् न साक्षात्त्वमिति किमनुपपन्नम्?

परप्रकाशे च ज्ञानस्य प्रत्यक्षानुपपत्तिः, अनुव्यवसायपक्षे व्यवसायाभावात्। न च

है। यदि कहें कि-'अर्थग्राहीज्ञान और ज्ञानज्ञान का अनुभव कालभेद से होता है, अतः दोनों के ऐक्य की सिद्धि इतनी सरलता से सम्भव नहीं है' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कालभेद में सौगन्द से अतिरिक्त कोई युक्ति नहीं है, और सौगन्द कोई प्रमाण नहीं है।

[अनन्ताकारता आपत्ति का परिहार]

प्रश्न होता है कि—"यदि ग्राहकज्ञान और ग्राह्यकज्ञान में भेद नहीं माना जायगा तो घटज्ञान में घटज्ञानज्ञान, तज्ज्ञान, तज्ज्ञानज्ञान आदि अनन्त ज्ञानाकारता की प्रसक्ति होगी, और उन अनन्त आकारों के दुर्ज्ञेय होने से घटज्ञान स्वयं दुर्ज्ञेय हो जायगा"—इसका उत्तर यह है कि घटज्ञान में दो ही विषयतायें हैं–एक घटविषयता और दूसरी घटज्ञानविषयता, घटज्ञानज्ञानादिविषयतारूप जो अन्य विषयतायें प्रसक्त होती हैं वे घटज्ञानविषयता से अतिरिक्त नहीं हैं, क्योंकि घटज्ञानज्ञानादि घटविषयक होने से घटज्ञानरूप ही हैं। इस उत्तर पर यह शंका हो सकती है कि "यदि घटज्ञानविषयता और घटज्ञानज्ञानादिविषयतायें अभिन्न हैं, तब "घटं जानामि" "घटज्ञानं जानामि" इन विभिन्न शब्दों से उनका अभिलाप क्यों होता है ?"—तो इसका समाधान यह है कि अभिलापभेद वक्ता के विवक्षाभेद पर निर्भर करता है, जैसे एक ही घट का कोई घटशब्द से, कोई कुम्भशब्द से और कोई कलशशब्द से अभिलाप करता है।

[कर्ता-कर्म और क्रिया का ज्ञान]

उक्त युक्ति से ज्ञान में स्वविषयकत्व सिद्ध होने पर उसमें कर्ता कर्म और क्रिया के भान की सम्भाव्यता भी समझ में आ जाती है, क्योंकि ज्ञान में ज्ञान के ही कर्ता, ज्ञान के ही कर्म और ज्ञानात्मक ही क्रिया का भान होगा, उसमें कोई कठिनाई नहीं है. क्योंकि ज्ञान का कर्तृत्व ज्ञानजनकक्रियाकर्तृत्वरूप या ज्ञानानुकूलकृतिसमवायित्वरूप न होकर ज्ञानाश्रयत्वरूप है, और ज्ञानाश्रयत्व प्रत्यक्षयोग्य है। इसी प्रकार ज्ञानकर्मत्व भी परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वरूप या कारणव्यापारविषयत्वरूप न होकर ज्ञानविषयत्वरूप है, अतः यह भी प्रत्यक्षयोग्य है। ज्ञानगतक्रियात्व भी धात्वर्थत्वरूप या कृतिसाध्यत्वरूप न होकर विशेषणत्वरूप है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का विशेषण होता है, अतः यह भी प्रत्यक्षयोग्य है। प्रत्यक्षयोग्य होने से प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में कर्ता कर्म और क्रिया के धर्मरूप में उनका भान हो सकता है, 'चक्षुषा पश्यामि' इस व्यवहार के अनुरोध से घटप्रत्यक्ष को चक्षु अंश में साक्षात्कारात्मक नहीं माना जा सकता, क्योंकि चक्षु स्वभावतः प्रत्यक्षायोग्य है। तात्पर्य यह है कि स्वप्रकाशज्ञानवादी के मत में प्रत्यक्षात्मक घटादिज्ञान में कर्ता, कर्म और क्रिया का भान मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

ज्ञानत्वनिर्विकल्पकजन्यज्ञानक्षणे व्यवसायस्याऽभावेऽपि पूर्वं तत्सत्त्वात् तदा तत्प्रत्यक्षं, ततो विशेषणज्ञानादात्मनि ज्ञानविशिष्टधीः, विशेषणं च न विशिष्टप्रत्ययहेतुः, तद् विनाऽपि तद्बुद्धेः प्रत्यभिज्ञादर्शनादिति वाच्यम्, प्रत्यक्षे विषयस्य स्वसमसमयवृत्तित्वेनैव हेतुत्वात्, अन्यथा विनश्यदवस्थघटचक्षुःसन्निकर्षाद् घटनाशक्षणे घटप्रत्यक्षप्रसङ्गात्, ज्ञानस्यातीतत्वेन 'जानामि' इति वर्तमानत्वभानानुपपत्तेश्च । न च वर्तमानत्वेन स्थूल उपाधिर्भासते न तु क्षणः, तस्यातीन्द्रियत्वादिति वाच्यम्, संसर्गशब्दादितः क्षणस्यापि सुज्ञानत्वात् ।

[परप्रकाशमत में ज्ञान प्रत्यक्षानुपपत्ति]

ज्ञान को परप्रकाश्य मानने में कई अनुपपत्तियां हैं, जैसे ज्ञान को यदि परतः प्रकाश्य माना जायगा तो उसका प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि ज्ञान को परप्रकाश्य मानने वाले लोगों के मतानुसार ज्ञान पहले क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण ज्ञानत्व का निर्विकल्पक मानसप्रत्यक्ष होता है, और तीसरे क्षण में ज्ञानत्वविशिष्टज्ञान का मानसप्रत्यक्ष होता है, जिसे व्यवसाय ज्ञान के पश्चात् होने से अनुव्यवसाय कहा जाता है । किन्तु इस तीसरे क्षण में उन्हीं के मतानुसार व्यवसाय-ज्ञान नष्ट हो जाता है, क्योंकि उनका यह मत है कि आत्मा और आकाश के प्रत्यक्षयोग्य विशेषगुणों का-जैसे आत्मा के ज्ञानादि गुणों का और आकाश के शब्दगुण का-उनके अनन्तर होने वाले गुण से नाश हो जाता है । इस मत के अनुसार व्यवसाय के अनन्तर उत्पन्न होने वाले ज्ञानत्व के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से अगले क्षण में व्यवसाय का नाश ध्रुव है, तो व्यवसाय जब तीसरे क्षण रहता ही नहीं तो उस क्षण में उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? व्यवसाय के उत्पत्ति क्षण में और व्यवसाय के दूसरे क्षण में भी उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । व्यवसाय के उत्पत्तिक्षण में तो इस लिये नहीं हो सकता कि उसके पूर्व व्यवसाय के साथ मन का सन्निकर्ष नहीं है, और दूसरे क्षण इस लिये नहीं हो सकता, कि उसके पूर्व ज्ञानत्वरूप विशेषण का ज्ञान नहीं है, फलतः ज्ञान के परप्रकाश्यतापक्ष में उसका प्रत्यक्ष अनुपपन्न है । यदि कहें कि-"ज्ञानत्वनिर्विकल्पक के साथ अनन्तरक्षण में व्यवसाय का अभाव होने पर भी उस क्षण उसका प्रत्यक्ष हो सकता है क्योंकि उसके पूर्वक्षण में वह विद्यमान है, और जब इस प्रकार ज्ञान का प्रत्यक्ष हो जायगा तब ज्ञानरूप विशेषण के उक्त प्रत्यक्षात्मकज्ञान से ज्ञानविशिष्ट आत्मा का भी मानसप्रत्यक्ष हो जायगा, क्योंकि विशिष्टज्ञान में विशेषणज्ञान कारण होता है, विशेषण स्वयं नहीं कारण होता, अन्यथा सत्ता के अभाव में सत्ता के ज्ञान से सत्ताविशिष्ट घट को 'सोऽयं घटः' ऐसी प्रत्यभिज्ञा न होगी । तो जब विशिष्ट ज्ञान के लिये विशेषण का होना आवश्यक नहीं है, उसके ज्ञान से ही विशिष्ट ज्ञान सम्भव हो सकता है, तब ज्ञानविशिष्ट आत्मा के मानसप्रत्यक्षकाल में भी उसके अव्यवहितपूर्व में ज्ञान के न रहने पर भी उसके होने में कोई बाधा नहीं हो सकती"- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष के प्रति प्रत्यक्षसमानकालविद्यमान विषय ही कारण होता है, अन्यथा यदि प्रत्यक्षकाल में न रहने पर भी प्रत्यक्षपूर्वकालवृत्तिमात्र होने से विषय प्रत्यक्ष का कारण होगा तो विनश्यदवस्थघट के साथ चक्षु-संयोग होने पर अर्थात् घटनाश के अव्यवहित पूर्वक्षण में घट के साथ चक्षुःसंयोग होने पर घटनाशक्षण में भी घट के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति होगी ।

किंच, 'अहं घटज्ञानवान्' इतिवद् 'मयि घटज्ञानम्' इत्यप्यनुभवो नेच्छामात्रेणापह्नोतुं शक्यते, तत्र च व्यवसायस्य विशेष्यत्वाऽसम्भवात् कथं तत्प्रत्यक्षम् ?

[ज्ञान में वर्तमानक्षणवृत्तित्वज्ञान की अनुपपत्ति]

उक्त रीति से ज्ञान की अभाव दशा में ज्ञानविशिष्ट आत्मा के मानसप्रत्यक्ष की उपपत्ति करने में एक बाधा और है; वह यह कि 'घटमहं जानामि' इस प्रत्यक्ष में ज्ञान में वर्तमानत्व का भान होता है, किन्तु यदि यह प्रत्यक्ष, ज्ञान के नाश के बाद होगा तो इसमें ज्ञान में वर्तमानत्व का भान न हो सकेगा। यदि कहें कि "उक्त प्रत्यक्ष में ज्ञान में जो वर्तमानत्व भासित होता है वह 'वर्तमानक्षणवृत्तित्वरूप' नहीं हो सकता, क्योंकि क्षण के अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष में उसका भान असम्भव है, किन्तु 'वर्तमानकालवृत्तित्वरूप' है, और वर्तमानकालवृत्तित्व स्थूलकाल को लेकर उस क्षण में अविद्यमान भी ज्ञान में सम्भव है, अतः उक्त प्रत्यक्ष में उस क्षण में अविद्यमान भी ज्ञान में वर्तमानकालवृत्तित्वरूप वर्तमानत्व के भान में बाधा नहीं है" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थ भी ज्ञान हो कर प्रत्यक्ष का विषय होता है, अतः उक्त प्रत्यक्ष में ज्ञान में वर्तमानक्षणवृत्तित्व रूप वर्तमानत्व का ही भान होता है, जो ज्ञान के उस क्षण विद्यमान न रहने से अनुपपन्न है। स्थूलकाल को लेकर वर्तमानत्व का उपपादन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसे वर्तमानत्व के चिरपूर्वअतीत काल में भी सम्भव होने से इस प्रकार का वर्तमानत्व अव्यावर्तक है। यदि कहें कि 'प्रत्यक्ष में ज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थ का भान मानने पर भी क्षण के भान का उपपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि क्षण का ज्ञान दुर्घट है' तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'संसर्ग' शब्द आदि से क्षण का ज्ञान सुलभप्राय है। कहने का आशय यह है कि संसर्ग शब्द का अर्थ होता है 'विशेष्यविशेषणभिन्नत्वे सति विशिष्टप्रत्ययजनकत्वम्' अर्थात् जो विशेष्य एवं विशेषण से भिन्न होते हुये विशिष्ट प्रत्यय के उत्पादन में सक्षम हो उसे 'संसर्ग' अर्थात् संबन्ध कहा जाता है, जैसे घटभूतल का संयोग घटरूप विशेषण और भूतलरूप विशेष्य से भिन्न होते हुये 'घटविशिष्टं भूतलम्' इस विशिष्ट प्रत्यय का जनक होने से घट-भूतल का संसर्ग है। एक क्षण में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में योगपद्य एकक्षणोद्भवत्व संसर्ग होता है। यह भी संसर्ग के उक्त लक्षण से संगृहीत होने से संसर्ग शब्द का अर्थ है, अतः संसर्ग शब्द के अर्थविशेष यौगपद्य का घटक होने से क्षण भी संसर्ग शब्द से बोध्य है, और जब क्षण का ज्ञान सम्भव है तब उसके द्वारा प्रत्यक्ष में उसका भान होने में कोई बाधा न होने से उक्त प्रत्यक्ष में ज्ञान में वर्तमानक्षणवृत्तित्व का ही भान उपपादनीय है।

['मयि घटज्ञानं' अनुभव में व्यवसायप्रत्यक्षानुपपत्ति]

ज्ञान के परप्रकाशतापक्ष में एक यह भी दोष है कि इस पक्ष में 'मयि घटज्ञानम्' इस प्रत्यक्ष की उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रत्यक्ष में घटज्ञानरूप व्यवसाय विशेष्य है, अतः विशेष्य के रूप में उसका प्रत्यक्ष होने के लिये प्रत्यक्षकाल में उसकी सत्ता आवश्यक है। यह नहीं कहा जा सकता कि 'मयि घटज्ञानम्' इस प्रकार घटज्ञान का प्रत्यक्ष ही नहीं होता क्योंकि 'अहं घटज्ञानवान्' इस घटज्ञानविशेषणक

एतेन 'ज्ञानत्वनिर्विकल्पकमन्यज्ञाने घटत्वाद्युपनीतस्य भानात् तत्र वर्तमानत्वभानं सूपपदम्' इत्युक्तावपि न निस्तारः, व्यवसायप्रत्यक्षानुपपादनात् 'घटं पश्यामि' इति प्रयोगानुपपत्तेश्च । एतेन 'यदि च ज्ञात्यतिरिक्तस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारेण भाननियमाद् ज्ञानविशिष्टबुद्धौ ज्ञानविशेष्यकज्ञानमेव हेतुः, तदा निर्विकल्पकोत्तरमपि 'ज्ञानम्' इति ज्ञानग्रहे 'जानामि' इति ज्ञानांशेऽलौकिकप्रत्यक्षं सूपपदम्' इत्यपास्तम्, घटचाक्षुषांशेऽलौकिकत्वात् 'पश्यामि' इत्यप्रयोगात्, 'पश्यामि' इति विलक्षणविषयतयाऽनुव्यवसाये विलक्षणविषयतया चाक्षुषस्य नियामकत्वेन तदभावे तदनुपपत्तेः ।

प्रत्यक्ष के समान 'मयि घटज्ञानम्' इस घटज्ञानविशेष्यक प्रत्यक्ष भी अनुभवसिद्ध है, और अनुभवसिद्ध का अपलाप केवल इच्छामात्र से नहीं किया जा सकता ।

ज्ञान के परप्रकाश्यता पक्ष में 'घटमहं जानामि' इस प्रत्यक्ष में घटज्ञान में वर्तमानत्व के भान की जो अनुपपत्ति बतायी गयी है, वह तो ज्यों की त्यों है । यदि इसके परिहारार्थ यह कल्पना की जाय कि-"ज्ञानत्व के निर्विकल्पक से जो ज्ञान का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें ज्ञान के विशेषणरूप में उपनीत घट का भी भान होता है, अर्थात् वह 'ज्ञानज्ञानम्' इत्याकारक न होकर 'घटज्ञानम्' इत्याकारक होता है, जो 'घटं जानामि' इस प्रत्यक्षकाल में भी रहता है, अतः इस प्रत्यक्ष को विशेषणज्ञानात्मकघटज्ञान में वर्तमानत्व का ग्राहक मान लेने से उस प्रत्यक्ष में घटज्ञान में वर्तमानत्व का भान उत्पन्न हो सकता है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर व्यवसायज्ञानात्मक विशेषणज्ञान के प्रत्यक्ष का उपपादन होने पर भी व्यवसाय के प्रत्यक्ष का उपपादन न हो सकेगा । और दूसरी बात यह है कि विशेषणज्ञानात्मक घटज्ञान तो मानसज्ञान है, चाक्षुषज्ञान तो है नहीं, अतः उसमें वर्तमानत्व का भान मानने पर भी 'घटं पश्यामि' इस प्रयोग की उपपत्ति तो नहीं हो सकेगी, क्योंकि यह प्रयोग घटचाक्षुष में वर्तमानत्व का बोधक है, और घटचाक्षुष के अतीत हो जाने से उसमें वर्तमानत्व का सम्भव नहीं है ।

[ज्ञान के अलौकिक प्रत्यक्ष की उपपत्ति का निष्फल प्रयास]

ज्ञान को परप्रकाश्य मानने वाले लोग ज्ञान के अनुव्यवसाय का उपपादन करने के लिये एक प्रयास यह करते हैं कि-"घटं जानामि' इस अनुव्यवसाय के समय घटज्ञान के न रहने से उसमें उसका लौकिकभान तो नहीं हो सकता, पर अलौकिकभान हो सकता है । उनके कथन का आशय यह है कि घटज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञानत्व के निर्विकल्पक के बाद जो घटज्ञानरूप विशेषण का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञान को विशेषणरूप में विषय नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें यदि ज्ञान विशेषण के रूप में भासित होगा तो उसका भान किञ्चिद्धर्मप्रकारेण मानना होगा, क्योंकि यह नियम है कि 'जाति से अतिरिक्त पदार्थ किञ्चिद्धर्मप्रकारेणैव विशेषण होता है,' अतः यदि उस ज्ञान में ज्ञान विशेषण होगा तो वह ज्ञान 'जानामि' इत्याकारक होगा, और ऐसा उस समय हो नहीं सकता क्योंकि इसके लिये ज्ञानत्वेन ज्ञान का ज्ञान अपेक्षित है, जो ज्ञानत्व के निर्विकल्पक काल में है नहीं, अतः वह ज्ञान 'ज्ञानम्' इत्याकारक अथवा 'घटज्ञानम्' इत्याकारक होगा, और उसके बाद जो अनुव्यवसाय होगा उसमें घटज्ञान-

न च चाक्षुषत्वांशे भ्रमजनकदोषात् निद्रायाम् 'आकाशं पश्यामि' इत्यादाविवोपपत्तिः 'घटं पश्यामि' इत्यत्र सर्वांशप्रमाया एवानुभवात्। यदिदमुक्तं स्याद्वादरत्नाकरे "किं च, इन्द्रियजं प्रत्यक्षं सन्निकृष्टे विषये प्रवर्तते, अतीतक्षणवर्तिनश्च ज्ञानस्य मनोलक्षणेन्द्रियसन्निकर्षो न युज्यते, ततः कथं प्राचीनज्ञाने मानसप्रत्यक्षवार्ताऽपि'? इति। 'व्यवसायनाशक्षणोत्पन्नव्यवसायान्तरे ज्ञानत्ववैशिष्ट्यबुद्धिः' इत्यप्येतत एव निरस्तम्, चक्षुरादिसन्निकर्षादेस्तदानीं नियतसन्निधिकत्वाभावात्, अनुमित्युत्तरज्ञानत्वनि-

---

ज्ञानरूप ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से घटज्ञान का अलौकिक भान होगा। इस प्रकार घटज्ञानरूप व्यवसाय के न रहने पर भी उस अंश में अलौकिकप्रत्यक्षात्मक 'घटं जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय के होने में कोई बाधा नहीं है" किन्तु विचार करने पर इस रीति से व्यवसाय के अनुव्यवसाय का उपपादन उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस प्रकार के उपपादन से 'घटं पश्यामि' इस प्रयोग की उपपत्ति नहीं की जा सकती, कारण यह कि इस प्रयोग से जिस अनुव्यवसाय का अभिलाप होता है, घटचाक्षुष में उसकी अलौकिकविषयता से विलक्षणविषयता प्रतीत होती है, और जिस प्रत्यक्ष की अलौकिक विषयता से विलक्षणविषयता जिस विषय में होती है वह स्वयं विद्यमान होकर उस प्रत्यक्ष का नियामक होता है, अतः घटचाक्षुष के अभावकाल में उसका अनुव्यवसाय न हो सकने से उसके अभिलापार्थ 'घटं पश्यामि' यह प्रयोग न हो सकेगा।

[चाक्षुषत्वांश में भ्रमजनक दोष से 'घटं पश्यामि' की उपपत्ति अशक्य]

यदि यह कहें कि "जैसे निद्रा अवस्था में चाक्षुषत्वभ्रम के जनक दोष का सन्निधान होने पर तत्कालीन आकाशस्मरण में चाक्षुषत्व को विषय करने वाले 'आकाशं पश्यामि' इस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार जागृतिकाल में अनुव्यवसाय के सन्दर्भ में भी ज्ञानत्वनिर्विकल्पक के अनन्तर उत्पन्न अचाक्षुष घटज्ञान में भी चाक्षुषत्वभ्रमजनक दोष से चाक्षुषत्व को विषय करने वाले 'घटं पश्यामि' इस ज्ञान की उत्पत्ति और उसके द्वारा 'घटं पश्यामि' इस प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है"–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'घटं पश्यामि' इस अनुव्यवसाय में सर्वांश में प्रमात्व का अनुभव होता है, जो उसे चाक्षुषत्व अंश में भ्रमरूप मानने पर असंगत हो जायगा।

ज्ञान के मानस प्रत्यक्ष की यह अनुपपत्ति 'स्याद्वादरत्नाकर' में इस प्रकार वर्णित है कि–"इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष सन्निकृष्ट विषय में ही होता है, और अतीतज्ञान के साथ मनरूप इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो नहीं सकता, अतः प्राचीन ज्ञान के मानसप्रत्यक्ष की बात भी नहीं हो सकती।"

[व्यवसायान्तर की उत्पत्ति की मिथ्या कल्पना]

कुछ लोगों का कहना है कि–'व्यवसाय के नाशक्षण में उसीप्रकार का दूसरा व्यवसाय उत्पन्न हो जाता है, उसी में ज्ञानत्व के वैशिष्ट्य को विषय करने वाले अनुव्यवसाय की उत्पत्ति होती है'–किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि (१) उस समय विषय के साथ चक्षु आदि के सन्निकर्ष का नियम न होने से अनुव्यवसाय के पूर्व सदा व्यवसायान्तर की उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती और (२) दूसरी बात यह है कि

विकल्पकोत्तरमनुमित्यभावात्, अन्यथानुमितित्वाभावात् 'अनुमिनोमि' इत्यनुपपत्तेः, पूर्वव्यवसायविशेष्यकज्ञानस्य कथमप्यनुपपत्तेश्च । एतेन 'ज्ञाने ज्ञानत्वं च निर्विकल्पके भासते, ततो ज्ञानत्ववैशिष्ट्यं ज्ञाने, ज्ञानवैशिष्ट्यं चात्मनि भासते, इति 'विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणम्,' इतिरीत्या ज्ञानप्रत्यक्षत्वम्' इति निरस्तम् 'ज्ञानं घटीयं न वा ?' इति सन्देहेऽपि तद्बुद्धिप्रसङ्गाच्च ।

एक प्रकार की कल्पना को मान्य लेने पर भी 'अनुमिनोमि' इस अनुव्यवसाय की उपपत्ति तो नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रथम क्षण में जिस विषय का अनुमित्यात्मक व्यवसाय उत्पन्न होगा, द्वितीय क्षण में अनुमिति एवं अनुमितित्व का निर्विकल्पक होने के बाद तृतीय क्षण में उस अनुमेय विषय की अनुमिति की उत्पत्ति हो नहीं सकती क्योंकि उसके पूर्व व्याप्तिज्ञान आदि अनुमिति के कारणों का अभाव है । और उस समय जो ज्ञान अनुमिति और अनुमितित्व का निर्विकल्पक विद्यमान है उसमें अनुमितित्व है नहीं, अतः अनुमितित्वरूप से ज्ञात होने योग्य किसी ज्ञान की सत्ता न होने से अनुमितित्व रूप से ज्ञान का अवगाहन करनेवाले 'अनुमिनोमि' इत्याकारक अनुव्यवसाय का उपपादन असम्भव है । (३) इस कल्पना में एक और त्रुटि है जिसका परिहार नहीं हो सकता– वह यह कि, इस कल्पना को स्वीकार करने पर भी 'मयि घटज्ञानम्' इस पूर्वोक्त व्यवसायविशेष्यक अनुव्यवसाय की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह अनुव्यवसाय घटविषयकत्वविशिष्टज्ञान में मद्वृत्तित्व को विषय करता है, अतः इसके लिये घटविषयकत्वरूप से ज्ञानज्ञान आवश्यक है । क्योंकि तद्धर्मविशिष्टविशेष्यकप्रत्यक्ष में तद्धर्मप्रकारेण विशेष्य का ज्ञान कारण होता है, और यह ज्ञान इस कल्पना में भी सम्भव नहीं है; क्योंकि इस अनुव्यवसाय से पूर्व जो नया घटज्ञान उत्पन्न होगा, वह उस समय घटविषयकत्वेन ज्ञात नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पूर्व उसके साथ मन का सन्निकर्ष नहीं है, और प्राचीनघटज्ञान भी घटीयत्वरूप से ज्ञात नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं नहीं है । अतः आत्मा में ज्ञान को और ज्ञान में घट को विशेषणरूप से अवगाहन करनेवाले 'अहं घटज्ञानवान्' इस अनुव्यवसाय की किसी प्रकार उत्पत्ति हो सकने पर भी घटविषयकत्वेन ज्ञानज्ञानरूप कारण के अभाव से 'मयि घटज्ञानम्' इस अनुव्यवसाय की उपपत्ति तो नहीं ही की जा सकती ।

[विशेष्य में विशेषण....इत्यादि रीति से ज्ञानप्रत्यक्ष का परिहार]

किसी का कहना यह है कि "घटज्ञान की उत्पत्ति के बाद ज्ञान और ज्ञानत्व का निर्विकल्पक हो कर अग्रिमक्षण में 'अहं घटज्ञानवान्' इस अनुव्यवसाय की उत्पत्ति हो सकती है, क्योंकि यह ज्ञान आत्मा में घटज्ञानत्वविशिष्ट के वैशिष्ट्य का अवगाहन न कर 'विशेष्ये विशेषणं, तत्रापि विशेषणम्' इस रीति से आत्मा में ज्ञानवैशिष्ट्य और ज्ञान में ज्ञानत्ववैशिष्ट्य का अवगाहन करता है । अतः इसकी उत्पत्ति के लिये ज्ञान और ज्ञानत्व का निर्विकल्पक पर्याप्त है, किन्तु घटज्ञानत्वेन घटज्ञान के ज्ञान की अपेक्षा नहीं है–"पर यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस पद्धति को अपनाने पर भी 'मयि घटज्ञानम्' इस अनुव्यवसाय की उपपत्ति नहीं हो सकती साथ ही 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणम्' इस रीति से 'अहं घटज्ञानवान्' इस ज्ञान की भी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि

यत्तु – "ज्ञानं ज्ञानत्वं च विशिष्टज्ञानविषय एव अनुव्यवसायस्य विषयरूपविशेषणविषयकव्यवसायसाध्यत्वेन विशिष्टज्ञानसामग्रीसत्त्वात्, ज्ञानत्वमपि तत्र भासते सामग्रीसत्त्वाद्, अंशे तत् सप्रकारकं निष्प्रकारकं चेति नरसिंहाकारं, तथैव विशिष्टं ज्ञानत्ववैशिष्ट्यं च भासते, अनुमित्यादौ च न तथा अनुव्यवसायेऽनुमितित्वाभावाद्' इति, 'वस्तुतस्तु०' इति कृत्वा चिन्तामणिकृतोक्तम्" तदसत्, सार्वत्रिकप्रकारं विना क्वाचित्कप्रकाराभिधानस्य प्रयासमात्रत्वात्, अभावप्रत्यक्षस्य घटत्वाद्यन्यतमविशिष्टविषयकत्वनियमवज्ज्ञानप्रत्यक्षे तन्नियमाभावात्, 'अहं सुखी' इतिवत् 'अहं ज्ञानवान्' इति विषयविनिर्मुक्तप्रतीतेः सार्वजनीनत्वात्, सन्निकर्षकार्यतायां विषयान्तर्भावे गौरवात्, ज्ञाने नृसिंहाकारतोपगमे विषयेऽपि तदभ्युपगमौचित्येन स्याद्वादापाताच्च ।

ऐसा मानने पर 'ज्ञानं घटीयं न वा–ज्ञान में घट का वैशिष्ट्य है या नहीं ?' यह सन्देह रहने पर भी 'अहं घटज्ञानवान्' इस ज्ञान की आपत्ति होगी ।

[चिन्तामणिकारमत - निरसन]

इस सन्दर्भ में चिन्तामणिकार ने 'वस्तुतस्तु' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि–'ज्ञान और ज्ञानत्व शुद्ध निर्विकल्पक के विषय न हो कर विशिष्ट ज्ञान के ही विषय होते हैं, क्योंकि अनुव्यवसाय में विषयविशिष्ट व्यवसाय का भान होता है अतः वह विशेषण को विषय करने वाले व्यवसायात्मकविशेषणज्ञान से जन्य होता है । इस जन्यता की उपपत्ति के लिये अनुव्यवसाय के पूर्व विशेषणविषयक व्यवसाय का होना और उसके बल से व्यवसायग्राही ज्ञान में व्यवसाय के विशेषणरूप में विषय का भान होना अनिवार्य है, क्योंकि विशिष्टज्ञान की सामग्री के उपस्थित रहने पर विशिष्टज्ञान की उत्पत्ति ही स्वाभाविक है । इस लिये व्यवसाय के अनन्तर होने वाले ज्ञान में व्यवसाय के विशेषणरूप से विषय का भान होने से और व्यवसाय में ज्ञानत्व के सम्बन्ध का भान न होकर स्वतन्त्ररूप से ज्ञानत्व का भान होने से वह ज्ञान 'घटीयं (ज्ञानं) ज्ञानत्वं च' अथवा 'घटीयज्ञानत्वे' इस आकार का होता है और इसीलिये वह 'ज्ञान' अंश में सप्रकारक और 'ज्ञानत्व' अंश में निष्प्रकारक होने से नरसिंहाकार ज्ञान कहा जाता है । यह नरसिंहाकारज्ञान व्यवसाय के तीसरे क्षण में रहता है; अतः उस क्षण में उस ज्ञान में विषयवैशिष्ट्य और ज्ञानत्ववैशिष्ट्य का भान होने में कोई बाधक न होने से वही ज्ञान उस क्षण में 'घटं जानामि' इस प्रकार के अनुव्यवसायरूप में उत्पन्न होता है । कहने का आशय यह है कि पहले क्षण में उत्पन्न होने वाला घट का व्यवसाय दूसरे क्षण में केवल घटीय-घटसम्बन्धीरूप में ज्ञात होता है, किन्तु घटज्ञानत्वरूप से नहीं ज्ञात होता । तीसरे क्षण में तो घट नष्ट होता है, अतः उस क्षण में किसी भी रूप में उसके प्रत्यक्ष होने की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती । फलतः तीसरे क्षण में घटज्ञानत्वरूप से प्रत्यक्ष होनेवाला ज्ञान पहले क्षण में उत्पन्न होनेवाला घट का व्यवसाय नहीं होता, अपि तु दूसरे क्षण में उत्पन्न होनेवाला घटीयरूप से घटव्यवसाय को ही ग्रहण करनेवाला नरसिंहाकार ज्ञान होता है ।

'नृसिंहाकारज्ञाने ज्ञानत्वघटत्वप्रकारकत्वोभयाश्रयज्ञानवैशिष्ट्यधीर्न स्यात्' इति प्रसञ्जनं तु समाहितं मिश्रेण- 'विषयनिरूप्यं हि ज्ञानं, न तु विषयपरम्परानिरूप्यम्' इत्यादिना, अधिकविषयत्वेऽपि च व्यवसायस्य प्रवृत्तिजनकत्वमविरुद्धम्, इष्टतावच्छेदकप्रवृत्तिविषयवैशिष्ट्यावगाहित्वेन प्रवृत्तिहेतुत्वात् ।

उन्होंने यह भी कहा है कि यह उपपत्ति प्रत्यक्षात्मक व्यवसाय के ही सम्बन्ध में है। अनुमिति आदि व्यवसायों के सम्बन्ध में यह उपपत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुमिति आदि की उत्पत्ति के दूसरे क्षण जो अनुमिति आदि अंश में विषयप्रकारक तथा अनुमितित्व अंश में लिङ्गप्रकारक नरसिंहाकार ज्ञान होगा वह अनुमिति का अनुव्यवसायात्मक मानसज्ञान होगा, अतः उसमें अनुमितित्व का अभाव होने से अनुमितित्वरूप से उसका ज्ञान नहीं माना जा सकता ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के व्याख्याकार यशोविजयजी ने चिन्तामणिकार के उक्त प्रतिपादन को असंगत बताया है । उसका कारण यह बताया है कि अनुव्यवसाय की उपपत्ति का उक्त प्रकार सार्वत्रिक नहीं है किन्तु क्वाचित्क है अतः उसका प्रतिपादन एक प्रयास है क्योंकि अनुमिति आदि के ज्ञान की उपपत्ति जब अन्य प्रकार से करनी ही होगी तब उसी प्रकार से प्रत्यक्षात्मक व्यवसाय के भी ज्ञान की उपपत्ति हो जायेगी, अतः केवल उसके लिये उक्त प्रकार का प्रतिपादन एक निरर्थक व्यापार है ।

श्री यशोविजयजी का यह भी कहना है कि घट आदि के प्रत्यक्षात्मक व्यवसाय के दूसरे क्षण में नरसिंहाकार ज्ञान होना भी प्रामाणिक नहीं है, यह तब प्रामाणिक हो सकता है जब यह नियम माना जाय कि जैसे अभाव का प्रत्यक्ष प्रतियोग्यंश में घटत्वादि धर्मों में किसी एक धर्म से विशिष्ट प्रतियोगी को विशेषणरूप में विषय करता ही है, क्योंकि अभाव का प्रत्यक्ष 'घटो नास्ति' इत्यादि रूप में ही सर्वानुभवसिद्ध है उसी प्रकार व्यवसाय का मानसज्ञानरूप अनुव्यवसाय भी व्यवसाय अंश में घटत्व आदि धर्मों में किसी न किसी एक धर्म से विशिष्ट विषय को विशेषणरूप में विषय करता ही है, परन्तु अनुव्यवसाय के सम्बन्ध में यह नियम अप्रामाणिक है, क्योंकि जैसे 'अहं सुखी' इस प्रकार सुख का प्रत्यक्ष सुख में किसी विशेषण को अवगाहन किये बिना ही उत्पन्न होता है उसी प्रकार ज्ञान में किसी विशेषण को विषय न करने वाले 'अहं ज्ञानवान्' इस प्रकार के ज्ञानप्रत्यक्ष का होना भी सर्वजनानुभवसिद्ध है ।

इस सम्बन्ध में यह कहना, कि -"ज्ञान के साथ मन का जो सन्निकर्ष होता है वह ज्ञान में विषय को विशेषणरूप से अवगाहन करने वाले ही ज्ञानप्रत्यक्ष का जनक होता है, अतः उक्त सन्निकर्ष से विषय से मुक्त ज्ञान का ग्रहण नहीं हो सकता"- ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त सन्निकर्ष के कार्यतावच्छेदक धर्म में विषयविशेषणकत्व का अन्तर्भाव करने में गौरव होता है, अतः उसका कार्यतावच्छेदक ज्ञानप्रत्यक्षत्व ही होता है, विषयविशेषितज्ञानप्रत्यक्षत्व नहीं होता । इसलिये उक्त सन्निकर्ष से 'अहं ज्ञानवान्' इस प्रकार के विषयमुक्त ज्ञान का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं हो सकती ।

इस प्रसंग में तीसरी बात उन्होंने यह भी कही है कि यदि ज्ञान को नृसिंहाकार माना जायगा तो विषय को भी नृसिंहाकार मानने में आपत्ति नहीं की जा सकेगी, और यदि विषय को भी नृसिंहाकार मान लिया जायगा तो अनेकान्तवाद की आपत्ति अनिवार्य हो जायगी, अतः अनेकान्तवाद को स्वीकार न करने वाले नैयायिक आदि के लिये नृसिंहाकार ज्ञान का मानना उचित नहीं कहा जा सकता।

[तृतीयक्षणभाविज्ञान को द्वितीयक्षणभाविज्ञान का ग्राहक मानने में आपत्ति]

घटज्ञान के तीसरे क्षण में होने वाले 'घटं जानामि' इस मानसज्ञान को दूसरे क्षण में होने वाले 'घटीयज्ञानवान्' इस नृसिंहाकार ज्ञान का ग्राहक मानने पर यह आपत्ति हो सकती है कि—'नृसिंहाकारज्ञान मात्र ज्ञानत्व को स्वरूपतः ग्रहण करता है, ज्ञान में ज्ञानत्व के वैशिष्ट्य को तो ग्रहण नहीं करता, अतः 'घटं जानामि' इस ज्ञान में ज्ञानत्वाश्रय के वैशिष्ट्य का भान नहीं हो सकता, केवल घटत्वप्रकारकत्वाश्रय के ही वैशिष्ट्य का भान हो सकता है, क्योंकि नृसिंहाकारात्मक ज्ञान में घटत्वप्रकारकत्व को ग्रहण कर लेता है।'[1]

यशोविजय उपाध्यायजी ने इस आपत्ति को कोई महत्त्व नहीं दिया है, क्योंकि इस आपत्ति का समाधान मिश्र ने कर दिया है। मिश्र ने इस आपत्ति के समाधान में यह कहा है कि 'ज्ञान का निरूपण उसके समस्त विषयों द्वारा होता है' यह नियम नहीं है, किन्तु 'ज्ञान का निरूपण उसके विषय द्वारा होता है' इतना ही नियम है, और इसका निर्वाह किसी एक विषय द्वारा ज्ञान का निरूपण मानने से भी हो जाता है। प्रकृत में नृसिंहाकार ज्ञान के दो विषय हैं, घटीयत्वेन ज्ञान और ज्ञानत्व। घटीयत्वेन ज्ञान का भान होने से घट भी उसका विषय है, इसी लिये वह घटत्वप्रकारक घटविशेष्यक भी है। अतः 'घटं जानामि' इस ज्ञान में घटरूप विषय के द्वारा नृसिंहाकार ज्ञान का भान होने से, ज्ञानत्वरूप विषय के द्वारा उसका भान न होने पर भी 'ज्ञान विषय से निरूप्य होता है' इस नियम में कोई त्रुटि नहीं हो सकती।'

आशय यह है कि 'घटं जानामि' यह ज्ञान घटविशिष्टज्ञान के वैशिष्ट्य को विषय करता है, ज्ञानत्वविशिष्ट के वैशिष्ट्य को विषय नहीं करता, ज्ञानत्व तो घटीयत्वरूप से भासित होने वाले नृसिंहाकार ज्ञान में विशेषणरूप से भासित हो जाता है।

व्यवसाय को स्वप्रकाश मानने पर यह शंका हो सकती है कि—'व्यवसाय स्वप्रकाश होने पर स्वविषयक भी होगा और स्वविषयक होने से प्रवृत्ति की अपेक्षा अधिक विषयक हो जाने से प्रवृत्ति का कारण न हो सकेगा, क्योंकि प्रवृत्ति के प्रति समानविषयक ज्ञान को ही कारण माना जाता है'—किन्तु इस शंका का समाधान सुलभ है और

१. इस मान्यता के विपरीत यह शंका हो सकती है—'घटं जानामि' इस ज्ञान में घटीयत्वेन नृसिंहाकार ज्ञान का भान संभव नहीं है क्योंकि दूसरे क्षण नृसिंहाकारज्ञानद्वारा घटीयत्वेन व्यवसाय गृहीत होता है, न कि स्वयं नृसिंहाकार ज्ञान'—जिसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि घटीयत्वेन व्यवसाय के ज्ञान से भी घटीयत्वेन नृसिंहाकार ज्ञान के वैशिष्ट्य का ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान में विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान की जो कारणता होती है उसके लिये कार्यकारणभूत ज्ञानों में विशेषणतावच्छेदकत्वेन एक व्यक्ति के भान की अपेक्षा नहीं है।

न च 'अत्र प्रमेयमि'ति ज्ञानात्प्रवृत्त्यापत्तिः, इष्टतावच्छेदके तद्भिन्ननिष्ठधर्माप्रकारकत्वविशेषणात् ।

न चेष्टतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य मुख्यविशेष्यतया प्रवृत्तिहेतुत्वम्, 'तत् रजतम्, इदं द्रव्यम्' इति ज्ञानात् प्रवृत्तिवारणाय प्रवृत्तिविषयविशेष्यकत्वावच्छेदेनेष्टतावच्छेदकप्रकारकत्वस्य वाच्यत्वे इष्टतावच्छेदकविशेष्यकत्वावच्छेदेन प्रवृत्तिविषयप्रकारकत्वेनापि हेतुतायां विनिगमनाविरहात्, तदपेक्षयोभयवैशिष्ट्यज्ञानत्वेन हेतुत्वौचित्यात् ।

बात यह है कि प्रवृत्ति के प्रति समानविषयकज्ञान कारण नहीं होता किन्तु इष्टतावच्छेदक और प्रवृत्तिविषय के वैशिष्ट्य (परस्पर सम्बन्ध) का ज्ञान कारण होता है, अतः अधिकविषयकज्ञान में प्रवृत्तिविषय में इष्टतावच्छेदक के वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) का भान होने से उसे प्रवृत्ति का जनक होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

['अत्र प्रमेयं' इस ज्ञान से प्रवृत्ति आपत्ति की आशंका]

'अत्र प्रमेयम्' इस ज्ञान में 'अत्र' का अर्थ है 'शुक्तौ=शुक्ति में' । 'प्रमेयम्' का अर्थ है 'रजतत्वम्' । इस प्रकार यह ज्ञान इदंत्वरूप से भासमान शुक्ति और प्रमेयत्वरूप से भासमान रजतत्व के परस्पर सम्बन्ध को विषय करता है, इस ज्ञान से रजतेच्छु की प्रवृत्ति वस्तुतः नहीं होती है, किन्तु प्रवृत्ति के प्रति प्रवृत्तिविषय और इष्टतावच्छेदक के परस्पर सम्बन्ध को विषय करने वाले ज्ञान को कारण मानने पर उक्त ज्ञान से रजतेच्छु की प्रवृत्ति की आपत्ति होगी । इस आपत्ति का परिहार करने के लिये यह कहा जा सकता है कि– वही ज्ञान प्रवृत्ति का जनक होता है जो इष्टतावच्छेदक से भिन्न में रहने वाले धर्म का इष्टतावच्छेदक धर्म में प्रकारविधया ग्रहण न करे । 'अत्र प्रमेयम्' यह ज्ञान इष्टतावच्छेदक रजतत्व में उससे भिन्न शुक्तित्व आदि में रहने वाले प्रमेयत्वधर्म को प्रकारविधया ग्रहण करता है, अतः इस ज्ञान से रजतेच्छु की प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती।

[प्रवृत्ति के प्रति मुख्यविशेष्यता से ज्ञान की हेतुता का खंडन]

'अत्र प्रमेयम्' इस ज्ञान से प्रवृत्ति की आपत्ति का परिहार करने के लिये यह भी कहा जा सकता है कि— 'मुख्यविशेष्यतासम्बन्ध से प्रवृत्ति के प्रति इष्टतावच्छेदकधर्मप्रकारक ज्ञान मुख्यविशेष्यतासम्बन्ध से कारण होता है–'अत्र प्रमेयम्' इस ज्ञान में इष्टतावच्छेदक रजतत्व प्रमेयत्वरूप से विशेष्य होकर भासित होता है और प्रवृत्ति का विषयभूत पदार्थ उसमें आधेयतासम्बन्ध से प्रकार है, जो 'अत्र' शब्द से सूचित होता है, इस प्रकार यह ज्ञान न तो इष्टतावच्छेदकधर्मप्रकारक है और न यह मुख्यविशेष्यतासम्बन्ध से प्रवृत्तिविषय में विद्यमान है, अतः इससे इदंपदार्थ में रजतेच्छु की प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती''–किन्तु इस आपत्ति के परिहारार्थ यह उपाय उचित नहीं है क्योंकि इष्टतावच्छेदकप्रकारकज्ञान को मुख्यविशेष्यतासम्बन्ध से प्रवृत्ति का

यत्तु "वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतवान् देशः" इति परामर्शात् 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यनु-

कारण मानने पर 'तद् रजतम्, इदं द्रव्यम्' इस ज्ञान से भी इदं पदार्थ में रजतार्थी की प्रवृत्ति की आपत्ति होगी, क्योंकि इस ज्ञान में तत्पदार्थ में रजतत्व प्रकार है और द्रव्यत्वांश में इदं मुख्यविशेष्य है, अतः यह ज्ञान इष्टतावच्छेदकप्रकारक है और मुख्यविशेष्यतासम्बन्ध से इदंपदार्थ में विद्यमान है। 'तद् रजतम्, इदं द्रव्यम्' इस ज्ञान से इदंपदार्थ में रजतार्थी की प्रवृत्ति के परिहारार्थ यह कहा जा सकता है कि-"प्रवृत्ति के प्रति सभी इष्टतावच्छेदकप्रकारकज्ञान कारण नहीं होता किन्तु जिस ज्ञान में इष्टतावच्छेदकप्रकारकत्व प्रवृत्तिविशेष्यकत्व से अवच्छेद्य होता है वही ज्ञान प्रवृत्ति का कारण होता है, उक्त ज्ञान में इदं में रजतत्व प्रकार न होने से इदंविशेष्यकत्वावच्छेदेन रजतत्वप्रकारकत्व नहीं है अर्थात् रजतत्वप्रकारकत्व इदंविशेष्यकत्व से अवच्छेद्य नहीं है, अतः उस ज्ञान से इदं में रजतार्थी की प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती"- किन्तु यह कहना उचित नहीं हो सकता क्योंकि जिस ज्ञान में इष्टतावच्छेदकप्रकारकत्व प्रवृत्तिविषयविशेष्यकत्व से अवच्छेद्य हो उसी को प्रवृत्ति का कारण मानने पर जैसे 'तद् रजतम्, इदं द्रव्यम्' इस ज्ञान से प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं होती, उसी प्रकार जिस ज्ञान में इष्टतावच्छेदकविशेष्यकत्व प्रवृत्तिविषयप्रकारकत्व से अवच्छेद्य हो वही ज्ञान प्रवृत्ति का कारण होता है यह मान लेने से 'तत्र रजतत्वम्, अत्र द्रव्यत्वम्' इस ज्ञान से भी प्रवृत्ति की आपत्ति न होगी क्योंकि इस ज्ञान में तत्पदार्थ के विशेष्यरूप में रजतत्व का भान होता है इदं पदार्थ के विशेष्यरूप में भान नहीं होता, अतः इस ज्ञान में रजतत्वविशेष्यकत्व के इदंप्रकारकत्व से अवच्छेद्य न होने के कारण इससे इदंपदार्थ में रजतार्थी की प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती।

'इदं रजतम्' इस ज्ञान को इदंविशेष्यकत्वावच्छेदेन रजतत्वप्रकारकत्वरूप से और 'अत्र रजतत्वम्' इस ज्ञान को रजतत्वविशेष्यकत्वावच्छेदकत्वरूप से प्रवृत्ति का अलग अलग कारण मानने पर एक ज्ञान का-दूसरे ज्ञान से होनेवाली प्रवृत्ति-के प्रति व्यभिचार होगा। तत्तद् ज्ञान के अव्यवहितउत्तर में होने वाली प्रवृत्ति के प्रति तत्तद् ज्ञान को कारण मान कर इस व्यभिचार का परिहार करने पर भी गुरुतर कार्यकारणभाव स्वीकार करने होंगे अतः उक्त दोनों प्रकार के ज्ञानों को इष्टतावच्छेदक धर्म और प्रवृत्ति विषय के परस्पर-सम्बन्ध को ग्रहण करने वाले ज्ञान के रूप में ही कारण मानना उचित है।

ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर इदं में रजतत्व का ज्ञान 'इदं रजतम्' ऐसा न होकर 'इदं रजतं जानामि' इस प्रकार का होगा, अतः यह प्रवृत्ति के जनन में अनुपयोगी अंश का ग्राहक होने पर भी इष्टतावच्छेदक रजतत्व और प्रवृत्ति विषय इदं के परस्पर सम्बन्ध का ग्राहक होने से निर्बाधरूप से प्रवृत्ति का उत्पादक हो सकेगा। इस लिये ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर उससे प्रवृत्ति की अनुपपत्ति का प्रसंग न होने से ज्ञान को स्वप्रकाश मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती।

स्वप्रकाशज्ञानवाद में गौरव आपत्ति का परिहार]

ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर यह शंका हो सकती है कि-'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस प्रकार के परामर्श से ही वह्निमान् इस अनुमिति का जन्म होता है, 'वह्निव्या-

निरेरनुदयात् वह्निव्याप्यधूमत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपर्वतत्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकनिश्चयत्वेनानुमितिहेतुत्वात्, स्वप्रकाशनये तु पर्वतस्य ज्ञानविशेष्यत्वात् तदतिरिक्तविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानात्मकत्व-मुख्यत्वनिवेशे गौरवमि'ति, नन्न, स्वप्रकाशस्य व्यवसायानुव्यवसायोभयाकारत्वेऽप्यविरोधात्; तत्र ज्ञानमानसादौ वह्न्यनुमितिसामग्र्यादिप्रतिबन्धकत्वकल्पने महागौरवात्, घटचाक्षुषे सति चाक्षुषसामग्र्यां सत्यां तदनुव्यवसायानुपपत्तेश्च; तदानीं चक्षुर्मनोयोगादिविलम्बकल्पनायां मानाभावात्, घटदर्शनोत्तरमात्रस्यैव घटदर्शनात्, तदा चक्षुर्मनोयोगान्तरादिकल्पनयाऽविनिगमात् ।

व्याप्यधूमवत्पर्वतवान् देशः' इस प्रकार के निश्चय से उक्त अनुमिति का जन्म नहीं होता। इस लिये वह्निव्याप्यधूमत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपर्वतत्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताक निश्चय को ही अनुमिति का कारण माना जाता है। उक्त 'पर्वतवान् देशः' यह ज्ञान पर्वतमुख्यविशेष्यक नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान की पर्वतनिष्ठविशेष्यता में प्रकारताभिन्नत्वरूप मुख्यत्व नहीं है। अतः इस ज्ञान से वह्नि की अनुमिति की आपत्ति नहीं हो सकती। ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर पर्वत में वह्निव्याप्यधूम का परामर्श 'वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतं जानामि' इस प्रकार का ही होगा और इस में ज्ञानरूप विशेष्य में पर्वत विशेषण है, अतः पर्वतनिष्ठविशेष्यता ज्ञाननिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतास्वरूप होने से यह ज्ञान पर्वतमुख्यविशेष्यक नहीं है अतः इससे अनुमिति का जनन न हो सकेगा। इस आपत्ति के निराकरणार्थ यदि पर्वतनिष्ठविशेष्यता में ज्ञानभिन्ननिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताभिन्नत्वरूप मुख्यत्व का निवेश किया जायगा तो कारणतावच्छेदक में गौरव होगा, अतः ज्ञान को स्वप्रकाश मानना असंगत है।' - इस शंका का उत्तर यह है कि ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर यदि उसे अनुव्यवसाय के ही आकार में स्वीकृत किया जाय तो यह आपत्ति अवश्य होगी, पर यदि उसे केवल अनुव्यवसाय के आकार का न मानकर व्यवसाय और अनुव्यवसाय दोनों आकार का माना जायगा तो यह आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जब पर्वत में वह्निव्याप्यधूम का परामर्श 'पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्' तथा 'अहं वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतं जानामि' इस प्रकार के आकार का होगा तो इस में पर्वतनिष्ठ एक विशेष्यता ज्ञाननिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारता से अभिन्न होने पर भी पर्वतनिष्ठ दूसरी विशेष्यता में प्रकारताभिन्नत्वस्वरूप मुख्यत्व होने से इसे अनुमिति का कारण होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

[ज्ञान को मनोग्राह्य मानने में गौरव दोष]

ज्ञान को स्वप्रकाश न मान कर यदि उसे मानसप्रत्यक्ष का विषय माना जायगा तो वह्नि आदि के अनुमिति के पूर्व होने वाले परामर्शात्मक ज्ञान के मानसप्रत्यक्ष की अनुमितिकाल में उत्पत्ति के वारणार्थ अनुमितिसामग्री को मानसप्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक

न च ममापि स्वविषयकत्वनियामकहेतुकल्पने गौरवम्, आलोकस्य प्रत्यक्षे आलोकान्तरानपेक्षत्ववत् स्वभावत एव ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वात्, अस्तु वा स्वपरप्रकाशनशक्तिभेदस्तथापि न गौरवम्, फलमुखत्वात् ।

मानना होगा, अतः इस प्रतिबन्धककल्पना से होने वाले गौरव के कारण ज्ञान को मनोवेद्य मानना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त ज्ञान को मनोवेद्य मानने में यह भी दोष है कि घट के चाक्षुष आदि ज्ञान का मानसप्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि घट का चाक्षुष उत्पन्न होने पर भी घट के अन्य चाक्षुष की सामग्री तो बनी ही रहेगी, फिर उसके रहते घटचाक्षुष का मानसप्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? क्योंकि बाह्येन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष की सामग्री मानसप्रत्यक्ष की सामग्री की अपेक्षा बलवती होने से मानसप्रत्यक्ष की प्रतिबन्धक होती है। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि—'घट का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने पर चक्षु के साथ मन के संयोग रूप कारण की निवृत्ति हो जाती है अतः चाक्षुषान्तर की सामग्री न होने के कारण घटचाक्षुष के मानसप्रत्यक्ष में बाधा नहीं हो सकती,—' तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'घटचाक्षुष होने पर उसके कारणभूत चक्षुमनःसंयोग की निवृत्ति हो जाती है' इसमें कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत घटचाक्षुष के ठीक बाद ही पटादिचाक्षुष की उत्पत्ति होती भी है, अतः उसके अनुरोध से घटचाक्षुष की उत्पत्ति के समय चक्षुर्मनःसंयोग का अस्तित्व मानना अनिवार्य ही है।

यदि यह कहा जाय कि—"घटचाक्षुष होने पर उसके कारणभूत चक्षुर्मनःसंयोग की निवृत्ति तो हो ही जाती है, क्योंकि अन्य घटचाक्षुष का जन्म मानने की कोई आवश्यकता न होने से उसके अस्तित्व का स्वीकार निरर्थक है, किन्तु जहाँ घटचाक्षुष के बाद ही पटादिचाक्षुष का जन्म होता है, वहाँ उसके पूर्व नये चक्षुमनःसंयोग की उत्पत्ति हो जाती है, ऐसा मानने पर घटचाक्षुष के बाद पटचाक्षुष के होने में किंचित् विलम्ब अवश्य हो सकता है, पर यह विलम्ब इतना सूक्ष्म और दुर्बोध होता है जिसका अस्वीकार केवल शपथ से ही हो सकता है जो प्रतिवादी को स्वीकार्य नहीं हो सकता"— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि घटचाक्षुष के कारणीभूत चक्षुमनःसंयोग के नाश की कल्पना और पटादिचाक्षुष के अनुरोध से नये चक्षुमनःसंयोग के जन्म की कल्पना करने में अत्यंत गौरव होगा, अतः ज्ञान को मनोवेद्य न मान कर स्वप्रकाश मानना ही उचित है।

[स्वप्रकाशज्ञानपक्ष में गौरव आपत्ति का परिहार]

ज्ञान की स्वप्रकाशता के विषय में यह आक्षेप किया जा सकता है कि—"प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप को ही ग्रहण करता है किन्तु अन्य ज्ञान के स्वरूप को नहीं ग्रहण करता, अतः ज्ञान में स्वग्राहकत्व के लिए किसी नियामक हेतु की कल्पना आवश्यक होने से गौरवग्रस्त होने के कारण ज्ञान की स्वप्रकाशता का पक्ष ग्राह्य नहीं हो सकता—" किन्तु इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जैसे आलोक का प्रत्यक्ष अन्य आलोक के बिना ही हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान का संवेदन भी किसी अन्य ज्ञान आदि नियामक हेतु के बिना ही उसके अपने सहज स्वभाव से ही सम्पन्न हो सकता है; अतः उक्त गौरव की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यह

यच्चोक्तम् —'ज्ञानस्य पूर्वमनुपस्थितत्वात् कथं प्रकारत्वम्' ? इति–तन्न, तस्यात्मसंविद्वेद्यत्वात्, 'अहं सुखी' इत्यस्यापि 'सुखं साक्षात्करोमि' इत्याकारकत्वात्, अनभ्यासादिदोषेण तथाऽनभिलापात् ।

यदपि 'प्रत्यक्षविषयतायामिन्द्रियसन्निकर्ष एव नियामकः' इत्युक्तं–तदपि न, अलौकिकप्रत्यक्षविषयतायां व्यभिचारात् । न च लौकिकत्वं विषयताविशेषणं, दोषविशेषप्रभवप्रत्यक्षविषयतायां व्यभिचारात्, ज्ञाने पराभिमतलौकिकविषयताऽभावस्येष्टत्वाच्च । 'साक्षा-

---

स्वीकार करने में भी कोई गौरव नहीं होता कि ज्ञान में दो शक्तियाँ होती हैं, एक स्वयं अपने को प्रकाशित करने वाली और दूसरी विषय को प्रकाशित करने वाली, अतः प्रत्येक ज्ञान अपनी इन स्वाभाविक शक्तियों से अपने विषय और अपने स्वरूप दोनों का ग्राहक हो सकता है ।

ज्ञान की स्वप्रकाशता के पक्ष में यह शंका की जा सकती है कि–"ज्ञान अपनी उत्पत्ति से पूर्व तो ज्ञात नहीं रहता, तब वह ज्ञाता में प्रकाररूप से 'अहं घटं जानामि' इस प्रकार के ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है ? क्योंकि तत्प्रकारक ज्ञान के प्रति तद्विषयक ज्ञान कारण होता है–" किन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान आत्मसंविद्वेद्य होता है अपने स्वरूपग्राहकसामग्री से ही प्रकारविधया भी गृहीत होता है। आशय यह है कि–'तत्प्रकारक ज्ञान में तद्विषयकज्ञान कारण होता है' यह नियम ज्ञानप्रकारक ज्ञान के लिये लागु नहीं होता। ज्ञान के समान सुख भी आत्मसंविद्वेद्य होता है, इसी लिये सुख का ज्ञान केवल 'अहं सुखी' इस प्रकार न होकर 'अहं सुखं साक्षात्करोमि' इस प्रकार ही होता है, इस रूप में सुखज्ञान का अभिलाप का न होना तो उस प्रकार के अभिलाप के अभ्यास न होने का फल है ।

[प्रत्यक्षविषयता में इन्द्रियसंनिकर्षनियामकत्व का खंडन]

ज्ञान की स्वप्रकाशता के पक्ष में यह भी शंका की जाती है कि–"प्रत्येक ज्ञान स्वप्रकाश होने से अपने स्वरूप के बारे में प्रत्यक्षात्मक होता है अतः ज्ञान में जो स्वविषयता होती है वह प्रत्यक्षविषयतारूप ही होती है, तो फिर वह कैसे उत्पन्न हो हो सकती है ? क्योंकि प्रत्यक्षविषयता का नियामक तो इन्द्रियसन्निकर्ष होता है जो ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व ज्ञान के साथ सम्भव नहीं है"–किन्तु इस शंका का उत्तर बहुत सरल है और वह यह है कि अलौकिकप्रत्यक्ष की विषयता इन्द्रियसन्निकर्ष के बिना ही सम्पन्न होती है अतः इन्द्रियसन्निकर्ष को सामान्यरूप से सम्पूर्ण प्रत्यक्षविषयता का नियामक नहीं माना जा सकता ।–'लौकिकप्रत्यक्षविषयता इन्द्रियसन्निकर्ष से ही नियम्य होती है अतः ज्ञान में लौकिक प्रत्यक्षविषयता जैसी स्वविषयतारूप स्वप्रकाशता नहीं मानी जा सकती ।'–यह शंका भी उचित नहीं कही जा सकती, क्योंकि पित्त दोष से दूषित नेत्रवाले मनुष्य को शंख में पीतरूप का लौकिक प्रत्यक्ष होता है–इसीलिये वह प्रत्यक्ष 'शंखे पीतं साक्षात्करोमि' इस प्रकार साक्षात्कार लौकिकप्रत्यक्ष के रूप में ही गृहीत होता है । फलतः दोषविशेष से शंख में दृष्ट होने वाले पीतरूप में इन्द्रियसन्निकर्ष

स्करोमि' इति धीनियामकस्पष्टताख्यविषयतायां च सम्बन्धविशेषेण विषयनिष्ठस्य प्रत्यक्षप्रतिबन्धकज्ञानावरणापगमस्य शक्तिविशेषस्य वा नियामकत्वमिति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

के बिना ही लौकिकप्रत्यक्ष की विषयता होने से सामान्यतः लौकिकप्रत्यक्षविषयता को भी इन्द्रियसन्निकर्ष से नियम्य नहीं माना जा सकता । इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि इन्द्रियसन्निकर्ष से नियम्य जो लौकिकप्रत्यक्षविषयता वादी को मान्य है वह ज्ञान को स्वप्रकाश मानने वालों को ज्ञान में मान्य भी नहीं है, अतः उसकी अनुपपत्ति की शंका का कोई अवसर ही नहीं है ।

[स्पष्टतानामक विषयता साक्षात्कारनियामिका है]

अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि ''जब ज्ञान स्वप्रकाश होगा तो वह 'साक्षात्करोमि' इस प्रकार के ज्ञान का विषय कैसे होगा ? क्योंकि साक्षात्कार की विषयता इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु में ही होती है और ज्ञान की स्वप्रकाशता के पक्ष में ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष के बिना ही गृहीत होता है''— किन्तु इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना पर्याप्त है कि 'साक्षात्करोमि' इस प्रकार के ज्ञान की विषयता इन्द्रियसन्निकर्ष से सम्पन्न होने वाली प्रत्यक्षविषयता के अधीन न होकर स्पष्टतानामक विलक्षणविषयता के अधीन होती है और यह विषयता इन्द्रियसन्निकर्ष से नियम्य न होकर प्रत्यक्ष के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण के अभाव से नियम्य होती है ।

कहने का आशय यह है कि संसार की समस्त वस्तु सनातन प्रत्यक्षचैतन्यात्मक आत्मा से ज्ञानसम्बन्ध द्वारा सदैव सम्पृक्त होती है, किन्तु कर्मदोष जिसे ज्ञानावरण कहा जाता है उस से चैतन्य आवृत होने से वस्तु का स्पष्ट प्रकाश नहीं हो पाता, किन्तु यह तब तक जब तक उस ज्ञानावरण कर्म की निवृत्ति नहीं होती । जब निवर्तक कारण का सन्निधान होने पर ज्ञानावरण-कर्म की निवृत्ति होती है, तब वस्तु का स्पष्ट प्रकाश होने लगता है । ज्ञानावरण की यह निवृत्ति स्वभावतः चैतन्यगत होने पर भी एक विशेष सम्बन्ध से विषयनिष्ठ होकर उसे स्पष्टता प्रदान करती है । उस सम्बन्धविशेष को स्वप्रतियोग्यावरणावच्छेदकत्व' नाम से कहा जा सकता है । 'स्व' का अर्थ है ज्ञानावरण का अभाव उसका प्रतियोगी है आवरण, उसका अवच्छेदक है विषयीभूत वस्तु में । तात्पर्य यह है कि आत्मस्वरूप सनातन सहज चैतन्य भिन्न भिन्न विषयभूत वस्तु रूप अवच्छेदकों से अवच्छिन्न ज्ञानावरण से सदा आवृत रहता है, और जब जिस विषयभूत वस्तु से अवच्छिन्न चैतन्य के ज्ञानावरण का अभाव होता है तब वह अभाव उक्त सम्बन्ध से विषयगत होकर उसे स्पष्टता प्रदान करता है । इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान में विषय को स्पष्ट करने की एक विशेष शक्ति होती है, यह शक्ति जिस ज्ञान में रहती है उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है । इस शक्ति से ही प्रत्यक्षज्ञान में भासित होने वाले विषय में स्पष्टता आती है । इस प्रकार इस स्पष्टता नामक विषयता इन्द्रियसन्निकर्ष से नियमित न होने के कारण इसे इन्द्रियसन्निकर्ष के बिना भी ज्ञान में स्वीकार किया जा सकता है, अतः ज्ञान की स्वप्रकाशता का पक्ष उक्त शंका से धूमिल नहीं किया जा सकता ।

'अभेदे कथं विषयत्वम्?' इति चेत्, यथा घटाभावे घटाभावविशेषणत्वम्। 'किं तत्?' इति चेत्, स्वभावविशेष एव। 'अनिर्वचनात् तदसिद्धिरि'ति चेन्न, तस्याख्यातुमशक्यत्वेऽपि प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्।

यत्तु -'स्वव्यवहारजनकत्वमेव स्वविषयत्वम्' इति-तन्न, आत्मन्यतिप्रसङ्गात्, ज्ञानपद-दाने चेच्छाद्यनुप्रवेशप्रसङ्गात्, अतः पदार्थान्तरत्वेनाऽऽत्माश्रयोद्धारेऽपि तस्या अनन्यथासिद्ध-नियतपूर्ववृत्तित्वज्ञानस्वरूपत्वेनात्माश्रयान्नेति विभावनीयम्।

[अनन्य पदार्थ में विषय-विषयिभाव का समर्थन]

अब यह प्रश्न होता है कि—'ज्ञान यदि स्वप्रकाश है तो ज्ञान और उसके संवेदन में निश्चय ही अभेद है, तो फिर ज्ञान अपने से अभिन्न संवेदन का विषय कैसे हो सकता है, क्योंकि विषय-विषयिभाव भिन्न पदार्थों में ही दृष्ट है'– किन्तु इस प्रश्न का यह उत्तर आसानी से दिया जा सकता है कि जैसे विशेष्य-विशेषण भाव भिन्न पदार्थों में दृष्ट होने पर भी 'घटाभावे घटाभावः' इत्यादि स्थलों में अभिन्न में भी मान्य होता है उसी प्रकार अन्य वस्तु के विषय-विषयिभाव भिन्न पदार्थों में दृष्ट होने पर भी ज्ञान के सम्बन्ध में उसे अभिन्न में भी मानने में कोई बाधक नहीं हो सकता। और जैसे यह कहा जाता है कि घटाभाव में घटाभाव की विशेषणता घटाभाव का ही स्वभाव है, अर्थात् घटाभाव अपने स्वभाव से ही अपना विशेषण बनता है उसी प्रकार यह भी माना जा सकता है कि ज्ञान की स्वविषयता भी ज्ञान का स्वभाव है, अर्थात् ज्ञान अपने स्वभाव से ही अपना विषय बनता है, इस स्वभाव का यद्यपि कोई निर्वचन नहीं हो सकता, तथापि निर्वचन न होने मात्र से इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका प्रत्याख्यान भी नहीं किया जा सकता और नियम यह है कि जब तक किसी वस्तु का प्रत्याख्यान न हो तब तक उसे अमान्य करना असंगत है।

[स्वविषयत्व स्वव्यवहारजनकत्वरूप नहीं है]

ज्ञान की स्वविषयता के बारे में एक बात यह कही जाती है कि—"ज्ञान की स्वविषयता ज्ञान का स्वभाव नहीं है किन्तु ज्ञान में जो स्वव्यवहारजनकता है वही उसकी स्वविषयता है"। आशय यह है कि ज्ञान से भिन्न वस्तुयें अपने व्यवहार के सम्पादन में स्वयं साधक नहीं होती किन्तु अपने ज्ञान के द्वारा साधक होती है, पर ज्ञान स्वयं ही अपने व्यवहार का सम्पादन करने में साधक होता है, तो ज्ञान में जो यह स्वव्यवहार-साधकता है यही उसकी स्वविषयता या स्वप्रकाशता है"– किन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि यदि स्वव्यवहारजनकता को स्वविषयतारूप माना जायगा तो आत्मा में भी स्वविषयता का अतिप्रसंग होगा। क्योंकि आत्मा भी स्वयं स्वव्यवहारजनक होता है। इस दोष के के परिहारार्थ यदि यह कहा जाय कि 'स्वव्यवहारजनकज्ञानत्व स्वविषयता है'–तो यह भी

यदपि 'प्रत्यक्षाऽजनकस्य प्रत्यक्षाऽविषयत्वं स्याद्' इत्युक्तं तदपीश्वरादिप्रत्यक्षविषये गगनादौ व्यभिचारग्रस्तम् ।

"लौकिकविषयत्वेनेन्द्रियग्राह्यत्वाज्ज्ञाने न स्वप्रकाशत्वम्" इत्यपि रिक्तमुक्तं, शक्तिविशेषेणैवेन्द्रियग्राह्यत्वात्, लौकिकविषयत्वेनाऽतत्त्वात्, तत्त्वस्यैवानीन्द्रिय आपाद्य-

---

ठीक न होगा क्योंकि उक्त दशा में इच्छा आदि में ज्ञानत्व न रहने से उनमें स्वविषयता न हो सकेगी, जब कि स्वप्रकाशविज्ञानवादी को इच्छा आदि में भी स्वविषयता मान्य है।

इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न उठ सकता है कि स्वव्यवहारशक्तत्व स्वविषयता से अभिन्न है या भिन्न ? यदि अभिन्न माना जायगा तो स्वविषयता से अभिन्न स्वव्यवहारशक्तता को ही स्वविषयता का नियामक मानने से आत्माश्रय दोष होगा। यदि इस दोष के परिहारार्थ स्वव्यवहारशक्तत्व को स्वविषयता से भिन्न माना जायगा तो अन्योन्याश्रय होगा, क्योंकि ज्ञान स्वविषयक होने पर ही स्वव्यवहारशक्त हो सकेगा और स्वव्यवहारशक्त होने पर ही स्वविषयक हो सकेगा। अन्योन्याश्रय की यह आपत्ति ग्रन्थ में इस प्रकार कही गयी है कि जो वस्तु जिस वस्तु के प्रति अनन्यथासिद्ध और नियतपूर्ववर्तीरूप में ज्ञात होती है उस वस्तु में उस वस्तु की सम्पादिका शक्ति मानी जाती है अतः ज्ञान में स्वव्यवहार की शक्ति भी उसी प्रकार ज्ञेय हो सकती है, फलतः स्वव्यवहार के प्रति स्वविषयक ज्ञान के कारण होने से ज्ञान में स्वविषयकत्व सिद्ध होने पर ही उसमें स्वव्यवहार के प्रति अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वरूप कारणता का ज्ञान होकर स्वव्यवहारशक्ति की सिद्धि हो सकेगी और उक्त शक्ति को स्वविषयकत्व का नियामक मानने पर उक्त शक्ति की सिद्धि होने पर ही ज्ञान में स्वविषयकत्व की सिद्धि हो सकेगी, अतः स्वव्यवहारशक्तत्व और स्वविषयकत्व दोनों के परस्पर सापेक्ष होने से अन्योन्याश्रय स्पष्ट है।

[प्रत्यक्षाजनक–अप्रत्यक्षविषय नियम का भङ्ग]

ज्ञान की स्वविषयता के विरुद्ध एक बात यह भी कही जाती है कि–"जो जिस प्रत्यक्ष का जनक नहीं होता वह उस प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, यह नियम है। अतः ज्ञान स्वात्मकप्रत्यक्ष का जनक न होने से स्वात्मकप्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता"–किन्तु यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि गगन आदि पदार्थ ईश्वरीय प्रत्यक्ष का जनक न होने पर भी उसके विषय होते हैं अतः उक्त नियम व्यभिचारग्रस्त होने से अमान्य है। फलतः जैसे गगन आदि पदार्थ ईश्वरीयप्रत्यक्ष का जनक न होने पर भी उसके विषय होते हैं वैसे ही ज्ञान स्वात्मकप्रत्यक्ष का जनक न होने पर भी स्वात्मकप्रत्यक्ष का विषय हो सकता है, यह मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

[इन्द्रियग्राह्यत्व का नियामक लौकिकविषयत्व नहीं है]

'जो विषय लौकिक होता है वह इन्द्रिय से गृहीत होता है, ज्ञान भी लौकिक विषय है, अतः वह इन्द्रिय से ही ग्राह्य हो सकता है, स्वप्रकाश नहीं हो सकता'–यह कथन भी युक्तिशून्य है, क्योंकि कोई भी वस्तु लौकिकविषय होने से इन्द्रियग्राह्य

स्यात्; शक्तिविशेषस्यैव तन्नियामकत्वे तेन रूपेणाऽन्यथासिद्धेश्च । एतेन 'ज्ञानमानसानभ्युपगमे धर्मादीनामिव तस्याऽयोग्यत्वाय मानससाक्षात्कारप्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवम्' इति नव्यमतं निरस्तम् 'अयोग्यस्यस्य प्रतिबन्धकत्वेऽविश्रामात् स्वरूपायोग्यतयैव तत्त्वात्' इति यौक्तिकाः ।

यत्तु–'अनुमित्यादौ सांकर्यात् प्रत्यक्षत्वं जातिर्न स्याद्' इत्युक्तं–तदर्थेन, ज्ञान-

नहीं होती अपितु अपनी विशेष शक्ति से इन्द्रियग्राह्य होती है । यदि लौकिक विषय होने से वस्तु को इन्द्रियग्राह्य माना जायगा तो अतीन्द्रिय वस्तु में भी इन्द्रियग्राह्यत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि "वस्तु लौकिक होने से इन्द्रियग्राह्य हो और अलौकिक होने से इन्द्रियग्राह्य न हो' इस बात में कोई युक्ति नहीं है । अतः लौकिकविषय को भी शक्तिविशेष से ही इन्द्रियग्राह्य मानना होगा और जब शक्तिविशेष को इन्द्रियग्राह्यत्व का नियामक माना जायगा तब उसीसे इन्द्रियग्राह्यत्व की उपपत्ति हो जाने से लौकिकविषयत्व अन्यथासिद्ध हो जाने से इन्द्रियग्राह्यत्व का नियामक न हो सकेगा । फलित यह हुआ कि इन्द्रियग्राह्यत्व का नियामक लौकिकविषयत्व नहीं है किन्तु शक्तिविशेष है और वह शक्तिविशेष ज्ञान में नहीं है अतः लौकिकविषय होने पर भी ज्ञान इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता, अतः उसे स्वप्रकाश मानने में कोई बाधा नहीं है ।

[ज्ञान के मानसप्रत्यक्ष का मन्तव्य अयुक्त है]

इस सम्बन्ध में नवीन विद्वानों का यह मत है कि–"ज्ञान को मानसप्रत्यक्ष का विषय न मानकर यदि स्वसंविदित माना जायगा तब उसे मानसप्रत्यक्ष के अयोग्य सिद्ध करने के लिये विषयतासम्बन्ध से मानसप्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से ज्ञान को ठीक उसी प्रकार प्रतिबन्धक मानना होगा जिस प्रकार धर्म (अदृष्ट) आदि को मानसप्रत्यक्ष के अयोग्य सिद्ध करने के लिये उन्हें विषयतासम्बन्ध से मानसप्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से प्रतिबन्धक माना जाता है, फलतः ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर उक्त प्रतिबन्धकता की कल्पना से गौरव होगा, अतः ज्ञान को स्वप्रकाश न मान कर मानसप्रत्यक्ष का विषय मानना ही उचित है" किन्तु युक्तिवादियों की दृष्टि से यह मत असंगत है, क्योंकि वस्तु की प्रत्यक्षाऽयोग्यता प्रत्यक्ष के प्रति उसकी प्रतिबन्धकता के कारण नहीं होती, अपि तु उसकी स्वरूपगत अयोग्यता के कारण होती है ।

[प्रत्यक्षत्व का जातिरूप न होना इष्ट है]

"ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर अनुमिति आदि ज्ञान भी स्वप्रकाश होगा, और जब वह स्वप्रकाश होगा तो वह अपने स्वरूप के विषय में प्रत्यक्षात्मक होगा, अतः अनुमिति आदि ज्ञानों में अनुमितिविषय के अंश में परोक्षत्व और अनुमिति स्वरूप के अंश में प्रत्यक्षत्व का समावेश होने से प्रत्यक्षत्व में परोक्षत्व का सांकर्य होने के कारण प्रत्यक्षत्व जाति न हो सकेगी, अतः ज्ञान को स्वप्रकाश मानना ठीक नहीं है ।"–किन्तु यह शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि 'प्रत्यक्षत्व कोई जाति नहीं है, अपि तु वह ज्ञान-प्रत्यक्षता का अनवच्छेदक तद्विषयकत्व रूप उपाधि है' यही मान्य है । अतः प्रत्यक्षत्व में जातित्वाभाव का आपादन इष्ट होने से उस भय से ज्ञान की स्वप्रकाशता का त्याग

अन्यतानवच्छेदकतद्विषयकत्वस्यैव प्रत्यक्षत्वात्, तच्च न क्वाचित्कमनस्कताजन्यज्ञानोपहित-वह्निविषयत्वविशिष्टज्ञानजन्यतानवच्छेदकमिति न्यूनम्, अतो न किञ्चिद्देशेऽलौकिके वह्न्यलौकिक-प्रत्यक्षे वह्न्यंशेऽप्रत्यक्षत्वं, तद्विषयकत्वस्य कुसुमगमनेनानवच्छेदकत्वादिति बोध्यम् ।

नहीं किया जा सकता । आशय यह है कि कोई ज्ञान अन्य ज्ञान से जन्य नहीं होता और तु ज्ञानजन्य न होने से प्रत्यक्ष होता है । अनुमिति व्याप्तिज्ञान से, उपमिति सादृश्यज्ञान से, शाब्दबोध पदज्ञान से कारण अनुमानात्मकज्ञान से जन्य होने के कारण उन में प्रत्यक्षरूपता नहीं होती, किन्तु इन्द्रियजन्य अथवा वस्तु या आत्मा की शक्तिविशेष से जन्यज्ञान किसी ज्ञान से जन्य न होने के कारण प्रत्यक्षात्मक होता है । अतः ज्ञान की प्रत्यक्षस्वरूपता प्रत्यक्षत्वजाति के अधीन न हो कर ज्ञानाजन्यत्व या 'ज्ञानजन्यतानवच्छेदक तद्विषयकत्व' के अधीन है, अतः प्रत्यक्षत्व में जातित्वाभाव इष्ट ही है ।

[किञ्चिद्देश में अलौकिक वह्निप्रत्यक्ष में अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति का परिहार]

इस संदर्भ में यह शंका हो सकती है कि-"यदि ज्ञानजन्यतानवच्छेदक तद्विषयकत्व को तद्विषयकप्रत्यक्षत्वरूप माना जायगा तब किसी अंश में अलौकिक और अन्य अंश में लौकिकप्रत्यक्ष भी उस अंश में प्रत्यक्षात्मक न हो सकेगा, क्योंकि वह प्रत्यक्ष जिस अंश में अलौकिक होगा उस अंश में ज्ञानजन्य होने से उस अंश में रहनेवाला तद्विषयकत्व भी ज्ञानजन्यता का अवच्छेदक हो जायगा, जैसे 'वह्निमान् वायुमान्' यह वायुप्रत्यक्ष वह्नि अंश में लौकिक और वायु अंश में अलौकिक है, वायु अंश में अलौकिक होने से ही यह वायुज्ञान से जन्य है, अतः इस ज्ञान में रहने वाला वायुविषयकत्व जैसे ज्ञानजन्यता का अवच्छेदक है, उसी प्रकार इस में रहने वाला वह्निविषयकत्व भी ज्ञान की जन्यता का अवच्छेदक है । आशय यह है कि एक कारण से कार्यजन्म न होने से सामग्री को ही कार्य का जनक मानना होगा, सामग्री के अन्तर्गत आने वाले पदार्थ स्वतन्त्ररूप से कारण न हो कर सामग्रीघटक होकर ही कारण होंगे, फलतः 'वह्निमान् वायुमान्' यह प्रत्यक्ष वह्नि के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष और वायुज्ञान से घटित सामग्री से जन्य होगा और उस जन्यता का अवच्छेदक वायुप्रकारकवह्निविशेष्यकप्रत्यक्षत्व होगा, तब इस ज्ञान में रहनेवाला वह्निविषयकत्व वायुज्ञानजन्यतावच्छेदकत्व का अवच्छेदक होगा तो वायुज्ञान का जन्यतावच्छेदक होगा अतः उक्त प्रत्यक्ष में ज्ञान जन्यतानवच्छेदक वह्निविषयकत्व न होने से वह वह्नि अंश में प्रत्यक्षात्मक न हो सकेगा ।

वह्निविषयक प्रत्यक्ष में वह्नि अंश में अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति एक अन्य कारण से भी हो सकती है, वह यह कि अनुमितिजनक व्याप्तिविषयकत्व पुरुषगामित्वरूप ज्ञान की जन्यता का अवच्छेदक होता है, और समानविषयक ज्ञान की विषयता में भेद होने से 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार की अनुमिति और प्रत्यक्ष में रहने वाला वह्निविषयकत्व एक ही होगा, और वह पुरुषगामित्व का अवच्छेदक होने से ज्ञानजन्यता का अनवच्छेदक न हो सकेगा, इसलिये वह्निप्रत्यक्ष में ज्ञानजन्यतानवच्छेदक वह्निविषयकत्व न होने से वह वह्नि अंश में प्रत्यक्षात्मक न हो सकेगा ।"

"ज्ञानजन्यतानवच्छेदकत्वोपलक्षितोद्देश्यताविधेयताद्यात्मकविषयतान्यत्वं वा तदर्थः, तेन नाऽपूर्ववैचित्र्यादिविशिष्टप्रत्यक्षे तद्विषयताकत्वावच्छिन्नजनकताश्रयज्ञानाऽप्रसिद्धया 'अहमेतत्प्रवृत्तिज्ञानवान् तत्सामग्रीतः' इत्यनुमितावहंविषयकत्वादिनापि ज्ञानजन्यत्वाच्च तदंशेऽप्रत्यक्षत्वमि'ति वदन्ति ।

किन्तु यह विस्तृत शंका प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में उक्त मान्यता का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानजन्यतानवच्छेदकत्व का अर्थ सामान्यतः ज्ञानमात्र की जन्यता का अनवच्छेदकत्व नहीं है, किन्तु जो ज्ञान स्वावच्छिन्नजनकता के आश्रयभूत ज्ञान से युक्त पुरुष में विद्यमान हो उस ज्ञान की जन्यता का अनवच्छेदकत्व विवक्षित है। स्व का अर्थ है तद्विषयकप्रत्यक्ष में निरूपित तद्विषयकत्व। 'वह्निः वायुमान्' यह प्रत्यक्ष जिस पुरुष को होता है वह इस प्रत्यक्ष के पूर्व वायुज्ञान से युक्त होता है, न कि वह्नि ज्ञान से युक्त होता है, और वायुज्ञान वह्निविषयकत्वावच्छिन्नजनकता का आश्रय नहीं होता, अतः उक्त प्रत्यक्षगत वह्निविषयकत्व के स्वावच्छिन्नजनकता के आश्रयभूत ज्ञान से युक्त पुरुष में रहनेवाले ज्ञान की जन्यता का अनवच्छेदक होने से उक्त प्रत्यक्ष में वह्नि अंश में अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति नहीं हो सकती।

इसी प्रकार 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति के प्रति वह्निविषयकज्ञानत्वेन ज्ञान के कारण न होने से उसके पूर्व इस अनुमिति का आश्रयभूत पुरुष भी वह्निविषयकत्वावच्छिन्नजनकता के आश्रयभूत ज्ञान से युक्त नहीं होता, अतः उक्त अनुमिति का जनक धूमपरामर्श वह्निविषयकत्वावच्छिन्नजनकता के आश्रयभूतज्ञानयुक्त पुरुष में न रहने के कारण उक्त परामर्श का जन्यतानवच्छेदकत्व अनुमितिगतवह्निविषयकत्व के विवक्षित ज्ञान की जन्यता का अनवच्छेदक होने में बाधक नहीं हो सकता, अतः वह्निविषयकत्व के धूमपरामर्श का जन्यतावच्छेदक होने पर भी वह्निप्रत्यक्ष में वह्नि अंश में अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति नहीं हो सकती।

[पुनः अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति का परिहार]

ज्ञानजन्यतानवच्छेदकत्व का 'उक्त ज्ञानविशेष का जन्यतानवच्छेदकत्व' अर्थ मानने पर यह शंका हो सकती है कि—"चैत्रनामक एक व्यक्ति का चैत्ररूप से 'अयं चैत्रः' इस प्रकार प्रत्यक्ष होता है, चैत्रत्व मतः एक ही व्यक्ति का धर्म है, अतः उस व्यक्ति के पूर्व कहीं अन्यत्र चैत्रत्व का ज्ञान सम्भव न होने से उस प्रत्यक्ष के प्रति चैत्रत्वज्ञान को कारण नहीं माना जा सकता, और इसी कारण चैत्रत्वविषयकज्ञानत्वावच्छिन्नजनकता की प्रसिद्धि नहीं हो सकती। फलतः चैत्रत्वविषयकत्व स्वावच्छिन्नजनकता के आश्रयभूत ज्ञान से युक्त पुरुष में रहने वाले ज्ञान की जन्यता के अनवच्छेदकत्व में प्रमाण न होने से उक्त प्रत्यक्ष में चैत्रत्वविषयकप्रत्यक्षत्व की अनुपपत्ति हो जायगी, अतः उक्त विशेषज्ञान के जन्यतानवच्छेदकत्व को 'ज्ञानजन्यतानवच्छेदकत्व' का अर्थ नहीं माना जा सकता। इस पद्धति से उक्त लौकिकप्रत्यक्ष में वह्नि अंश में अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति का परिहार हुआ है। इसी प्रकार यह भी शंका हो सकती है कि—"अमुक ज्ञान की सामग्री से आत्मा में अमुक ज्ञान की जो 'अहममुकज्ञानवान्' इस प्रकार की अनुमिति होती है, वह अमुकज्ञान अंश में तो परोक्ष है पर अहं अंश में प्रत्यक्ष है,

वस्तुतः स्पष्टताख्यविषयतैव प्रत्यक्षत्वम्, अत एव 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यत्र पर्वतांशेऽपि स्पष्टतया प्रत्यक्षत्वमिति 'वह्निं न साक्षात्करोमि' इतिवत् 'पर्वतं न साक्षात्करोमि' इति न धीः । अत एव च 'स्पष्टं प्रत्यक्षम्' (प्रमाणनय० २-२) इति प्रत्यक्षलक्षणं सूत्रितम्, विवेचितं चेदं ज्ञानार्णवे । अतश्च स्वसंविदितस्य प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गोऽप्यपास्तः ।

पर उक्त ज्ञानजन्यतानवच्छेदकतद्विषयकत्व को तद्विषयकप्रत्यक्षत्वरूप मानने पर उक्त अनुमिति अहम् अंश में भी प्रत्यक्षरूप न हो सकेगी, क्योंकि उक्त अनुमिति के प्रति 'अहम् अमुकज्ञानवदात्मा अमुकसामग्रीमान्' यह परामर्श अहंविषयकत्व रूप से भी कारण होता है अतः उक्त अनुमितिगत अहंविषयकत्व स्वावच्छिन्नजनकता के आश्रयभूत उक्त परामर्शात्मक ज्ञान से युक्त पुरुष में रहने वाले उक्त परामर्शात्मकज्ञान की जन्यता का अवच्छेदक हो जाने से विशिष्टज्ञान की जन्यता का अनवच्छेदक न होने से अहंविषयक प्रत्यक्षत्वरूप न हो सकेगा ।"

इन दोनों शंका का यह उत्तर दिया जा सकता है कि ज्ञानजन्यतानवच्छेदक तद्विषयकत्वरूप तद्विषयकप्रत्यक्षत्व के गर्भ में जो ज्ञानजन्यतावच्छेदकत्व प्रविष्ट है वह उद्देश्यता विधेयता आदि विषयता का उपलक्षक है अतः ज्ञानजन्यतानवच्छेदकत्व का अर्थ है उद्देश्यताविधेयताविभिन्नत्व । फलतः 'अयं घटः' इस प्रत्यक्ष में उद्देश्यता विधेयता आदि से भिन्न घटत्वविषयता होने से और उक्त अनुमिति में उद्देश्यता आदि से भिन्न भी अहंविषयता होने से उक्त प्रत्यक्ष में घटत्वविषयकप्रत्यक्षत्व की और उक्त अनुमिति में अहंविषयकप्रत्यक्षत्व की अनुपपत्ति नहीं हो सकती ।

[स्पष्टता नामक विषयता ही प्रत्यक्षत्व है]

सच बात तो यह है कि प्रत्यक्षत्व न तो कोई जाति है और न ज्ञानजन्यतानवच्छेदकतद्विषयकत्वरूप या उद्देश्यता विधेयता आदि से भिन्न तद्विषयतारूप है किन्तु स्पष्टतात्मक विलक्षणविषयतारूप है ।

आशय यह है कि किसी वस्तु का स्पष्ट ज्ञान ही उस वस्तु का प्रत्यक्ष है । अनुमिति आदि ज्ञान साध्यवह्न्यादि में स्पष्ट न होने से ही साध्यादि अंश में प्रत्यक्षात्मक नहीं होते, स्पष्टता ही प्रत्यक्षत्व है । इसीलिये 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति भी पर्वत अंश में स्पष्ट होने से ही उस अंश में प्रत्यक्षरूप होती है, और पर्वतअंश में प्रत्यक्षरूप होने से ही उस अनुमिति के बाद 'वह्निं न साक्षात्करोमि' के समान 'पर्वतं न साक्षात्करोमि' यह बुद्धि नहीं उत्पन्न होती है । तात्पर्य यह है कि उक्त अनुमिति वह्निअंश में स्पष्ट न होने से उस अंश में साक्षात्काररूप नहीं है, अतः उक्त अनुमिति के बाद 'वह्निं न साक्षात्करोमि' यह बुद्धि तो हो सकती है, परन्तु पर्वत अंश में स्पष्ट होने से उस अंश में साक्षात्काररूप होने के कारण उक्त अनुमिति के बाद 'पर्वतं न साक्षात्करोमि' यह बुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त अनुमिति के रूप में पर्वत का साक्षात्कार विद्यमान है ।

न चैवं प्रत्यभिज्ञायास्तत्तांशे स्मृतिरूपत्वेनेदन्तांशे च प्रत्यक्षत्वेनोपपत्तौ स्मृतिपार्थक्येन परोक्षमध्ये परिगणनं विरुध्येतेति वाच्यम्, क्षयोपशमविशेषजन्यतावच्छेदकत्वेन तस्याः पृथक् परिगणनादिति युक्तमुत्पश्यामः, अधिकं 'न्यायालोके'।

बोधः स्वार्थावबोधक्षम इह निहताऽज्ञानदोषेण दक्षः
तस्मादस्माकमन्तर्विरचयति चमत्कारसारं विलासम् ।
येषामेषाऽपि वाणी मनसि न रमते स्वाग्रहग्रस्तसत्त्वा-
लोका लोकास्त एते प्रकृतिशठधियो हन्त ! हन्तानुकम्प्याः ॥८४॥

'स्पष्टता ही प्रत्यक्षत्व है' यह बात 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' नामक ग्रन्थ में दिये गये 'स्पष्टं प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्षलक्षण से भी सिद्ध है। अथवा प्रत्यक्षत्व के स्पष्टतारूप होने से ही प्रत्यक्ष का उक्त लक्षण भी सूचित हुआ है। इस स्पष्टतारूप प्रत्यक्षत्व का विवेचन उपा० यशोविजयकृत 'ज्ञानार्णव' नामक ग्रन्थ में भी उपलब्ध है।

स्पष्टता को प्रत्यक्षत्वरूप मानने से इस शंका को भी अवसर नहीं कि 'ज्ञान को स्व का संवेदक मानने पर उसे एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना होगा' क्योंकि ज्ञान के अपने स्वरूप में भी स्पष्ट होने से प्रत्यक्ष प्रमाण में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है।

[प्रत्यभिज्ञा का पृथक् परिगणन अनुचित नहीं है]

इस सन्दर्भ में यह शंका हो सकती है कि "प्रत्यभिज्ञा-'सोऽयं घटः' इस ज्ञान को स्मृति से भिन्न परोक्षज्ञान के रूप में ग्रन्थों में परिगणित किया गया है, किन्तु स्पष्टता को प्रत्यक्षत्वरूप मानने पर उसे स्मृति से भिन्न परोक्षज्ञान कहना उचित नहीं हो सकता क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञात्मकज्ञान तत्ता अंश में स्मृतिरूप होने से स्मृतिभिन्न नहीं हो सकता और इदन्ता अंश में स्पष्ट होने से प्रत्यक्षात्मक होने के कारण परोक्ष भी नहीं हो सकता।"- इस शंका के उत्तर में यह कहना उचित प्रतीत होता है कि प्रत्यभिज्ञा का स्मृति से भिन्न परोक्षज्ञान के रूप में जो परिगणन हुआ है उसका कारण यह नहीं है कि वह तत्ता अंश में स्मृतिरूप और इदन्ता अंश में प्रत्यक्षरूप नहीं हो सकता, किन्तु उसका कारण यह है कि जिस क्षयोपशम से स्मृति और प्रत्यक्ष का जन्म होता है, प्रत्यभिज्ञा का जन्म उस प्रकार के क्षयोपशम से न होकर उससे विलक्षण क्षयोपशम से होता है। अतः स्मृति और प्रत्यक्ष की सामग्री से विलक्षणसामग्रीद्वारा उत्पन्न होने से उसे स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों से विभिन्न मानना ही न्यायसंगत है। इस विषय में अधिक विचार उपा० यशोविजय के 'न्यायालोक' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध है।

इस समस्त प्रकरण का निष्कर्ष यह है कि 'ज्ञानावरणीयकर्मरूप अज्ञानदोष से आवृत ज्ञान उस दोष के निवृत्त होने पर ही अपने विषय को प्रकाशित करने में समर्थ होता है। विषय के प्रकाशन में उक्त दोष की निवृत्ति से अतिरिक्त किसी वस्तु की अपेक्षा उसे नहीं होती।' इस मान्यता से ही हम आर्हतों का चित्त चमत्कृत और उल्लसित हो जाता है। किन्तु इस उत्तम बात में भी जिन लोगों का मन नहीं रमता, निश्चय ही वे स्वभाव से शठबुद्धि हैं, उनका सत्त्वज्ञान उनके कदाग्रह से ग्रस्त है, अतः उक्त तथ्य का पुनः पुनः उपदेश देकर उन पर कृपा करना ही उचित है ॥८४॥

"नन्वयमहंप्रत्ययो नात्मनि साक्षी, नीलादेरिवाहंकारस्यापि बुद्धिविशेषाकारत्वात्, नीलादि-संविदोर्विवेकाऽदर्शनेन भेदाऽसिद्धेः, न च तथा भानस्य पूर्वपूर्वभ्रान्तिनिमित्तकत्वात्, बाह्यार्थं विनाऽपि तदाकारस्य रजतादिभ्रम एव दर्शनात्, तदनुपलम्भेनाऽर्थाभावसिद्धेः, परोपलम्भे मानाभावात्; भावेऽपि स्वप्नदृष्टनीलयोः स्वप्नसुखादिवद्भेदाऽसिद्धेः, क्वचिदेव किञ्चिदाकारनियमस्य च स्वप्नदशायामिव जाग्रद्दशायामपि नियतवासनाप्रबोधेन संवेदननियमादुपपत्तेः" इत्याशङ्कायामाह

[विज्ञानवादी की आत्मविरोधी शंका]

विज्ञानवाद के विरोध में विज्ञानवादी की ओर से यह शंका हो सकती है कि— "अहम्-'मैं' इस प्रकार की प्रतीति से अतिरिक्त नित्य आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि नील आदि पदार्थों के समान अहंकार अहंपद से प्रतीयमान पदार्थ भी बुद्धि का ही एक विशेष आकार है, अतः बुद्धि से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि- नील आदि पदार्थ संविद् बुद्धि का ही विशेष आकार होने से बुद्धि से भिन्न नहीं हैं इस बात में कोई प्रमाण न होने से उन्हें दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि, नील आदि पदार्थ यदि संविद् बुद्धि से भिन्न होते तो बुद्धि से पृथक् उनका दर्शन होता, पर ऐसा नहीं होता है, किन्तु बुद्धि के संवेदन के साथ ही नील आदि का संवेदन होता है अतः नील आदि पदार्थ में बुद्धि का भेद सिद्ध न होने से उन्हें बुद्धिविशेषरूप मानना ही युक्तिसंगत है इसलिये अहंकार को बुद्धिविशेषात्मक बताने के लिये नील आदि को दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत करने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

'नील आदि को संविद् से अभिन्न मानने पर उसका संविद् से भिन्न रूप में भान नहीं हो सकता'- यह शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि अनादिकाल से लोगों को नील आदि पदार्थों में संविद् की भिन्नता का जो भ्रम है उसी से उत्तरोत्तर भी उस प्रकार का भ्रम होते रहने में कोई प्रतिबन्ध नहीं हो सकता।

'बाह्य बुद्धि से भिन्न अर्थ की सत्ता यदि न होगी तो बुद्धि को अर्थ का आकार न प्राप्त हो सकेगा' यह शंका भी नहीं की जा सकती, क्योंकि रजत न होने पर भी जैसे रजतभ्रम को रजत का आकार प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार अन्य बुद्धियों को भी अर्थ न होने पर भी अर्थ का आकार प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

तत्तद् अर्थाकार बुद्धि से पृथक् तत्तद् अर्थ की सत्ता न मानने का एक यह भी कारण है कि तत्तद् अर्थाकार बुद्धि के उपलम्भ के पूर्व तत्तद् अर्थ का उपलम्भ नहीं होता। यदि तत्तद् अर्थ का तत्तद् अर्थाकार बुद्धि से पृथक् भी अस्तित्व होता तो उक्त बुद्धि के पूर्व भी उक्त बुद्धि को आकार प्रदान करनेवाले अर्थ का उपलम्भ होता, पर ऐसा नहीं होता है अतः तत्तद् अर्थाकार बुद्धि से भिन्न तत्तद् अर्थ की सत्ता का समर्थन नहीं है।

"जिस काल में जिस मनुष्य को तत्तद् अर्थाकार बुद्धि होती है, उस काल से पूर्व उस मनुष्य को तत्तद् अर्थ का उपलम्भ न होने पर भी अन्य मनुष्य कोई उस अर्थ का

उपलम्भ होता है, अतः अन्य मनुष्य के इस उपलम्भ के बल से तत्तद् अर्थ की बुद्धि से भिन्न तत्तद् अर्थ की सत्ता सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि इस प्रकार के उपलम्भ में कोई प्रमाण नहीं है और यदि इस प्रकार का उपलम्भ मान भी लिया जाय तो यह मानने में कोई युक्ति नहीं है कि एक मनुष्य जिस नील पदार्थ को देखता है, अन्य मनुष्य भी उसी नील पदार्थ को देखता है, प्रत्युत यह मानना अधिक युक्तिसंगत है कि जैसे विभिन्न मनुष्य के अनुभव में आनेवाले सुखों में ऐक्य नहीं होता उसी प्रकार विभिन्न मनुष्यों के अनुभव में आने वाले नील आदि पदार्थों में भी ऐक्य नहीं होता । अतः यह मानना ही उचित प्रतीत होता है कि तत्तद् मनुष्यों को प्रतीत होने वाले नील आदि पदार्थ तत्तद् मनुष्यों को होनेवाले तत्तद्अर्थाकारज्ञानों से भिन्न नहीं है ।

"एकज्ञान का जो आकार होता है, वही अन्य ज्ञानों का भी आकार नहीं होता, किन्तु नियमितरूप से भिन्न-भिन्न ज्ञान भिन्न-भिन्न आकार के ही होते हैं, ज्ञान के आकार का यह नियमन अर्थमूलक ही हो सकता है, पर यदि ज्ञान से भिन्न अर्थ का अस्तित्व ही न होगा तो एक साधनसामग्री से होनेवाले सब ज्ञान समान आकार के ही होंगे क्योंकि उन में आकारभेद का कोई आधार न होगा, अतः ज्ञानों में अनुभवसिद्ध आकारभेद की उत्पत्ति के लिए यह मानना आवश्यक है कि प्रत्येक ज्ञान अर्थमूलक होता है, अतः जो ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है वह उस अर्थ के आकार को प्राप्त करता है ।"--किन्तु यह युक्ति भी ज्ञानभिन्न अर्थ को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि स्वप्नकाल में भी मनुष्य को विभिन्न आकार के ज्ञान उत्पन्न होते हैं, पर उस समय ज्ञान को आकार प्रदान करनेवाले अर्थ उपस्थित नहीं रहते, अतः यह मानना पड़ता है कि उस समय होनेवाले ज्ञानों को जो विभिन्न आकार प्राप्त होते हैं वे अर्थ से प्राप्त न होकर समानाकार वासना से ही प्राप्त होते हैं, तो फिर जैसे स्वप्नकाल के भिन्नाकारज्ञान भिन्नाकारवासना से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार जागरणकाल के भिन्नाकार ज्ञान भिन्नाकार वासना से ही उत्पन्न हो सकते हैं, अतः उनके लिए ज्ञान से भिन्न विविध अर्थों की कल्पना निरर्थक है।

आशय यह है कि ज्ञान और वासना का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है । दोनों के अनादि होने से यह कहना सम्भव नहीं है कि इन दोनों में किसका उदय पहले हुआ और किसका बाद में, किन्तु इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि ज्ञान से वासना और वासना से ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम बीज और अंकुर की उत्पत्ति के क्रम के समान अज्ञातकाल से चला आ रहा है । इस क्रम में उन दोनों से भिन्न किसी ऐसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है जो अपने आकार से इन्हें आकारवान् बनायें, क्योंकि ये दोनों निसर्गतः नियताकार ही उत्पन्न होते हैं ।

अतः यह शंका स्वाभाविक है कि "जैसे नीलआदिपदार्थ नीलआदिआकार में होने वाले संवेदन से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार अहमर्थ आत्मा भी अहमाकार संवेदन से अपना कोई भिन्न अस्तित्व नहीं रखता, इसलिए अहंरूप से अनुभव में आने वाली

मूलम् – न च बुद्धिविशेषोऽयमहंकारः प्रकल्प्यते ।
दानादिबुद्धिकालेऽपि तथाऽहंकारवेदनात् ॥८५॥

न चायं = प्रकृतबुद्धिविषयोऽहंकारः, बुद्धिविशेषः = अर्थविनिर्मुक्ततदाकारबुद्ध्याकाररूपः, प्रकल्प्यते, कुतः ? इत्याह—दानादिबुद्धिकालेऽपि तथा—'अहं ददामि' इत्यादि प्रतिनियतोल्लेखेन अहंकारवेदनात् 'अहम्' इत्यनुभवात् । वासनाप्रभवत्वेऽन्यवासनाया अन्याकाराऽजनकत्वेन दानादिवासनाया अहंकारबुद्ध्यनुपपत्तेरित्याशयः । ननु युगपदुभयवासनाप्रबोधादुभयाकारोपपत्तिरिति चेत् ? कथं तर्ह्यहंकारवासना दानादिवासनाप्रबोधनियतकालीनप्रबोधा, न तु नीलादिवासना-इति वाच्यम् । 'स्वभावादि'ति चेन्न, तथा सति तेन वासनाया अन्यथासिद्धेः । 'तत्कालस्य नीलादिवासनानुद्बोधकत्वादि'ति चेन्न, तत्काल एवान्येषां तदुद्बोधात् । 'तदीयतद्वासनोद्बोधे तत्कालो न हेतुरि'ति चेद् ? गतं तर्हि वासनया, तत्कालेनैव तदाकारप्रतिनियमात् । तस्मात् तत्तदर्थसन्निधानेनैव क्षयोपशमरूपा तत्तज्ज्ञानजननी वासना प्रबोध्यते, इत्यहंकारस्यार्थविषयत्वमकामेनापि प्रतिपत्तव्यम् ।

वस्तु को नित्य आत्मा के रूप में स्वीकारना अनुचित है।'–इस शंका का समाधान करने के लिए ही मूलग्रन्थकार ने "न च बुद्धिविशेषोऽयमहंकारः०" इत्यादि कारिका की रचना की है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

अहंकार को अर्थनिरपेक्ष अहमाकार बुद्धिविशेषरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि दानआदि की प्रतीति के समय भी 'अहं ददामि=मैं दान करता हूँ' इस रूप में अहंकार का अनुभव होता है। इस अनुभव को दानाकार वासना से या अहमाकार वासना से उत्पन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि दानाकार वासना से उत्पन्न होने पर वह अहमाकार नहीं हो सकता, और अहमाकार वासना से उत्पन्न होने पर वह दानाकार नहीं हो सकता, क्योंकि अतिप्रसंग के भय से एकाकार वासना को अन्याकार अनुभव का कारण नहीं माना जा सकता।

'अहमाकार और दानाकार दोनों वासनाओं का एक साथ उद्बोधन होने पर दोनों आकारों से युक्त 'अहं ददामि' इस ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है' यह कहना उचित नहीं हो सकता क्योंकि दानाकार वासना के साथ ही अहमाकार वासना के उद्बोधन का कोई नियामक न होने से कभी नीलाकार वासना के साथ भी अहमाकार वासना का उद्बोधन हो जाने पर 'अहं नीलः' इस प्रकार के अनुभव की भी आपत्ति हो सकेगी।

'अहमाकार वासना का यह स्वभाव है कि वह दानाकार वासना के साथ ही उद्बुद्ध होती है, नीलाकार वासना के साथ नहीं प्रबुद्ध होती'– यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाववाद को स्वीकार करने पर स्वभाव से ही नियताकार ज्ञानों की व्यवस्था हो जाने से वासना अन्यथासिद्ध हो जायगी।

'अहमाकार वासना जिस काल में उद्बुद्ध होती है, वह काल दानाकार वासना का ही प्रबोधक होता है, नीलाकार वासना का प्रबोधक नहीं होता'-यह कहना भी

एतेन "अहंत्वाद्याकारस्याप्यलीकत्वमेव, एकस्य विज्ञानस्य नानाकारभेदाऽयोगात्; तदुक्तम् 'किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न स्यात् तस्यां मतावपि ।
यदीयं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम् ॥'

इति माध्यमिकोक्तमप्यपास्तं, स्वरूपानुभवलक्षणार्थक्रियया ज्ञानस्येव तदाकारस्य अर्थचित्रतायोगाया ज्ञानचित्रतायाश्च सिद्धेरिति । अधिकमग्रे विवेचयिष्यते ॥८५॥

समीचीन नहीं हो सकता, क्योंकि जिस काल में मनुष्य को अहमाकार वासना उद्बुद्ध होती है उसी काल में अन्य मनुष्य को नीलाकार वासना भी प्रबुद्ध होती है, किन्तु अहमाकार वासना के प्रबोधन काल को नीलाकार वासना का प्रबोधक न मानने पर यह बात न बन सकेगी, फलतः एक मनुष्य को 'अहं जानामि' यह ज्ञान जब होगा तब अन्य मनुष्य को 'अयं नील.' इत्यादि ज्ञान न हो सकेगा, जब कि ऐसा होना सर्वमान्य है ।

"जिस काल में जिस मनुष्य को अहमाकार वासना का उद्बोध होता है वह काल उस मनुष्य की नीलाकार वासना का उद्बोधक नहीं होता' इस प्रकार का नियम मानने पर उक्त दोष नहीं हो सकता"— यह कहना भी संगत नहीं हो सकता क्योंकि कालविशेष से वासनाविशेष का उद्बोधन मानने की अपेक्षा कालविशेष से आकारविशेषसंपन्नज्ञान की उत्पत्ति मान लेने में अधिक औचित्य होने के कारण विभिन्नाकार ज्ञान की उत्पत्ति के लिए विभिन्नाकारवासना की कल्पना अनावश्यक हो जायगी ।

उक्त चर्चा के आधार पर अन्य मतों की अपेक्षा जैनदर्शन की यह मान्यता ही अधिक मनोरम प्रतीत होती है कि अर्थ और ज्ञान दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है तथा तत्तदर्थाकारज्ञान की उत्पत्ति तत्तद् अर्थ के सन्निधान से तत्तद् अर्थ की क्षयोपशमरूप वासना के उद्बुद्ध होने पर सम्पन्न होती है ।

[अहन्त्वाद्याकारालीकत्ववादिमाध्यमिकमत का खण्डन]

इस प्रसंग में बौद्ध माध्यमिक का कहना है कि— "ज्ञान में प्रतीत होनेवाले अहन्त्व आदि आकार भी ज्ञानभिन्न अर्थाकार के समान अलीक ही हैं, उनकी सत्ता में भी कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि जैसे एक अर्थ में नाना आकारों का होना युक्तिविरुद्ध है, उसी प्रकार एक ज्ञान में भी नाना आकारों का होना युक्तिविरुद्ध है । इस विषय में माध्यमिक की 'किं स्यात् सा०' कारिका मननीय है, उसमें यह कहा गया है कि — 'क्या एक वस्तु में चित्रता-नानाआकारसम्पन्नता हो सकती है ? यदि नहीं तो एक बुद्धि में भी वह कैसे संभव होगी ? और यदि चित्रता अर्थों को जमती है अर्थात् अर्थ की चित्रता स्वाभाव है तो उसका प्रतिरोध करनेवाले हम कौन हैं ? अर्थात् हमारे द्वारा उसका अस्वीकार असंगत है, किन्तु सत्य है कि एक वस्तु की चित्रता के समर्थन में कोई युक्ति नहीं है; अतः चित्राकारज्ञान की कल्पना भी निराधार होने से साकार विज्ञान का अस्तित्व न मानकर सर्वशून्यता को ही सत्य रूप में स्वीकार करना उचित है ।"-इस संबन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थकार का आलोचन यह है कि अर्थक्रिया से ही वस्तु की सिद्धि होती है तो जिस प्रकार ज्ञान के स्वरूपानुभवरूप अर्थक्रिया से ज्ञान की सिद्धि होती है उसी प्रकार ज्ञानाकार के अनुभवरूप अर्थक्रिया से ज्ञानाकार की और अर्थचि

ननु यद्येवं स्वतःप्रकाश एवात्मा तदा सदा किं न कर्तृ-क्रियाभावेन प्रकाशते ! इत्यत आह—

मूलम्—आत्मनाऽऽत्मग्रहोऽप्यस्य तत्स्वभावत्वयोगतः ।
सदैवाऽग्रहणं ह्यस्य विज्ञेयं कर्मदोषतः ॥८९॥

आत्मना = स्वेन, आत्मनो = स्वस्य, ग्रहः = ग्रहणक्रिया, तस्य = आत्मनः, तत्स्वभावत्वयोगतः = तादृशज्ञानजननशक्तिसमन्वितत्वात् 'उपपाद्यमानायाम्' इति शेषः, हि = निश्चितम्, अस्य = 'अहं जाने' इत्याद्युल्लेखेन, सदैव = सुषुप्त्यादावपि, अग्रहणम् = अप्रतिसन्धानम्, कर्मदोषतः = तथा प्रतिबन्धकज्ञानावरणसाम्राज्यात् ज्ञेयम् ।

ननु 'एवं त्यज्यतां स्वप्रकाशाऽऽग्रहः, इन्द्रियाद्यभावादेव तदाऽग्रहणोपपत्तेः', न च

सत्ता के अनुभव से अर्थचित्रता की तथा उसी से ज्ञानचित्रता की सिद्धि में भी कोई बाधा नहीं है। अतः माध्यमिक का उक्तपक्ष निस्सार है। इस विषय का विशेष विवेचन आगे किया जायगा।

[स्वप्रकाश में सदाग्रहण की आपत्ति का परिहार]

प्रस्तुत विचार के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठता है कि— "यदि आत्मा स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप है तब आत्मा को कर्तारूप में और ज्ञान को क्रियारूप में ग्रहण करनेवाले 'अहं जाने' इस प्रकार के ज्ञान का उदय सदैव सुषुप्ति आदि के समय भी होना चाहिये, क्योंकि आत्मा सुषुप्ति के समय भी रहता है और उसके स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप होने से उसके ज्ञान के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती, तो फिर ऐसा क्यों नहीं होता ?..." इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत कारिका (८९) द्वारा यह दिया गया है कि आत्मा का स्वात्मकज्ञान से 'अहं जाने' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह, यद्यपि उक्त प्रकार के ज्ञान को जन्म देनेवाली उसकी सहजशक्ति से ही संपन्न होता है, फिर भी उस शक्ति से सुषुप्ति के समय उक्त ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय वह ज्ञानावरणकर्मरूप दोष से आवृत रहता है, और उक्त दोष से अनावृतशक्ति ही उक्त ज्ञान के उत्पादन में सक्षम होती है। सुषुप्ति के समय उक्त आवरण की निवृत्ति का कोई साधन उपस्थित न होने से उस आवृत शक्ति द्वारा उक्त ज्ञान का उत्पादन संभव नहीं हो सकता।

[सदा अग्रहण की आपत्ति के लिये स्वप्रकाशाग्रह छोड़ने की सलाह पूर्वपक्ष]

यदि यह कहा जाय कि— "आत्मा को स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप मानने पर जब सुषुप्ति आदि के समय भी उस के ज्ञान की आपत्ति होती है तब तो उसे स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप मानने के आग्रह का परित्याग ही उचित है, क्योंकि जब वह स्वप्रकाश न होगा तो निश्चय ही उसका ज्ञान इन्द्रिय आदि किसी न किसी प्रमाण के व्यापार से ही संपन्न होगा, फलतः सुषुप्ति के समय किसी प्रकार का व्यापार न होने से उस समय के ज्ञान की आपत्ति न हो सकेगी।

'आत्मा स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप नहीं है किन्तु ज्ञानान्तरवेद्य है' इस पक्ष में भी यह

सुषुप्त्यनुकूलमनःक्रियया स्मनःसंयोगनाशकाले उत्पन्नेन सुषुप्तिसमकालोत्पत्तिकमनोयोगसहकृतेन परामर्शेन सुषुप्तिद्वितीयक्षणेऽनुमित्यापत्तिरिति वाच्यं, तत्काले परामर्शोत्पत्तौ मानाभावात्, तत्सामग्रीभूतव्याप्तिस्मृत्यादेः फलैककल्प्यत्वात् ।

अथ तत्काले आत्मादिमानसोत्पत्तिः, न च विशेषगुणोपधानेनैवात्मनो मानमिति वाच्यम्, सविषयकप्रकारकात्ममानसत्वस्य मनोयोगादिजन्यतावच्छेदकत्वे गौरवात्, न च त्वङ्मनोयोगाभावान्तदनापत्तिः, तस्य जन्यज्ञानत्वावच्छिन्नेऽहेतुत्वात्, अन्यथा रासनाद्युत्पत्तिकाले त्वाचोत्पत्तेः । मानसत्वावच्छिन्नं प्रति तद्धेतुत्वे च त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रति पृथक् कारणत्वे गौरवादिति चेत् ? न,

शंका हो सकती है कि – ''मन की जिस क्रिया से पूर्ववर्ती आत्ममनःसंयोग के नाशकाल में जो परामर्श उत्पन्न होगा तथा सुषुप्तिकाल में जो नवीन आत्ममनःसंयोग होगा उन दोनों से सुषुप्ति के दूसरे क्षण अनुमिति की आपत्ति हो सकती है'' -- किन्तु इस शङ्का का यह उत्तर दिया जा सकता है कि सुषुप्ति को संपन्न करनेवाली मनःक्रिया से पूर्ववर्ती आत्ममनःसंयोग के नाशकाल में परामर्श उत्पन्न होने में कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत उसके पूर्व व्याप्तिज्ञान आदि कारणसामग्री का सन्निधान न होने से उसकी उत्पत्ति असम्भव है । 'उक्तकाल में परामर्श की आपत्ति के लिए उससे पूर्व व्याप्तिज्ञान आदि की कल्पना की जा सकती है'– यह कहना भी उचित नहीं हो सकता क्योंकि सामग्री की कल्पना कार्य के बल से की जाती है, तो फिर उक्तकाल में परामर्श की उत्पत्ति जब प्रामाणिक नहीं है, तब उसके पूर्व परामर्श के कारण व्याप्तिज्ञान आदि की कल्पना कैसे की जा सकेगी ?

[सुषुप्तिकाल में मानसप्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?]

इस सन्दर्भ में इस शंका का सम्भव है कि–''सुषुप्तिकाल में आत्मा का मानस प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? क्योंकि उस समय आत्मारूप विषय तथा उसका ग्राहक आत्ममनःसंयोग दोनों विद्यमान हैं और उसके मानसप्रत्यक्ष के लिये किसी अन्य ऐसे साधन की अपेक्षा नहीं है जो सुषुप्ति में सम्भव न हो सके' । इसके उत्तर में यह कहना ठीक नहीं हो सकता कि ''आत्मा का मानसप्रत्यक्ष उसके किसी न किसी योग्य विशेषगुण के साथ ही होता है अतः सुषुप्ति के समय वैसे गुण का अभाव होने से उस समय आत्मा के मानसप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती''–क्योंकि 'ज्ञान आदि विशेषगुण के साथ ही आत्मा के मानसप्रत्यक्ष' का नियम तभी हो सकता है जब सविषयकप्रकारक या योग्यविशेषगुणप्रकारक आत्मविषयकमानसप्रत्यक्षत्व को आत्ममनःसंयोग का कार्यतावच्छेदक माना जाय और यह माना नहीं जा सकता, क्योंकि मानसत्व या आत्मविषयकमानसत्व की अपेक्षा उक्तमानसत्व गुरु होने से उसे कार्यतावच्छेदक मानने पर कार्यकारणभाव में गौरव होगा । 'सुषुप्तिकाल में त्वङ्मनःसंयोग न होने से उस समय आत्मा के मानसप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती'–यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जन्यज्ञानमात्र के प्रति त्वङ्मनःसंयोग के कारण न होने से आत्मा के मानसप्रत्यक्ष के लिये भी वह अनपेक्षित है अन्यथा यदि उसे जन्यज्ञानमात्र के प्रति कारण माना जायगा तो रासनप्रत्यक्ष

सुषुप्तौ जीवनयोनियत्नानभ्युपगमेन विजातीयमनःसंयोगस्यैवाभावात् ।

न च त्वक्क्रियया त्वङ्मनःसंयोगनाशे पुरीतत्क्रियया पुरीतन्मनःसंयोगस्य सुषुप्त्युत्पत्तौ प्राक्तनात्ममनःसंयोगनाशाभावात् तदा ज्ञानोत्पत्त्यापत्तिरिति वाच्यम्, सर्वत्र मनःक्रिययैव सुषुप्तिस्वीकारात् । तदुक्तं -'यदा मनः त्वचं परिहृत्य' इत्यादी'ति चेत् ? न, चेष्टाहेतुजीवनयोनियत्नस्य तदाऽवश्यं सत्त्वात्, नाड्यादिक्रिययाऽपि सुषुप्तिसम्भवात्, 'यदा मन०' इत्याद्यभिधानस्य प्रायिकत्वात्, मनोयोगनिष्ठवैजात्यस्य च्छिन्नहेतोर्दृष्टान्तिकस्याऽदर्शनात्, आत्ममनःसंयोगदशायां त्वङ्मनःसंयोगस्याऽऽवश्यकत्वात्, तदा त्वाचप्रतिबन्धकस्यातिरिक्तस्य स्वीकारे चाक्षुषादिसामग्रीकाले मानसानुत्पत्तिप्रसङ्गेन तत्प्रतिबन्धकादृष्टकल्पनात्, सुषुप्तौ तेनैव ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धोपगमौचित्यात् ।

किं च ज्ञानज्ञानादौ विषयान्तरसंचारस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवात्, ज्ञानस्येन्द्रियाऽग्राह्यत्वकल्पनात् स्वसंविदिततत्प्रतिबन्धकदोषकल्पनागौरवमपि फलमुखत्वान्न बाधकमिति दिक् ।८६।।

प्राप्ति के लिये भी उसके सन्निधान की आवश्यकता होने से मानसप्रत्यक्ष आदि के समय भी त्वाचप्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । जन्यज्ञानमात्र के प्रति त्वङ्मनसंयोग को कारण न मानकर केवल मानसमात्र के प्रति कारण मानने पर उसे त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति पृथक् कारण मानने में गौरव होगा । अतः उसे जन्यज्ञानमात्र के प्रति कारण मानना और त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति उस समय में विद्यमान हो सकने वाले किसी प्रतिबन्धक की कल्पना करना यही उचित है । फलतः सुषुप्तिकाल में उसका अभाव होने से उस समय आत्मा के मानस प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती ।

किन्तु इस उत्तर की अपेक्षा यह उत्तर अधिक संगत है कि 'सुषुप्तिकाल में जीवनयोनियत्न के न होने से उस समय विजातीय आत्ममनःसंयोग ही नहीं होता अतः उस समय आत्मा के मानसप्रत्यक्ष की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती ।'

[सुषुप्तिकाल में आत्मज्ञानोत्पत्ति का परिहार]

अधिक संगत प्रतीयमान उक्त उत्तर के सम्बन्ध में यह शंका हो सकती है कि 'जब त्वक् की क्रिया से त्वक्मनःसंयोग का नाश होकर पुरीतत् नाडी की क्रिया से पुरीतन्मनःसंयोगरूप सुषुप्ति की उत्पत्ति होती है तब पूर्ववर्ती आत्ममनःसंयोग की नाशक मनःक्रिया के न होने से वह संयोग बना ही रहेगा, अतः उससे उक्त सुषुप्तिकाल में आत्मज्ञान की उत्पत्ति आपादित हो सकती है' किन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि मन की क्रिया से ही सर्वत्र सुषुप्ति होती है यह सिद्धान्त है । कहा भी गया है कि 'मन जब त्वक् का परित्याग कर पुरीतत् से संयुक्त होता है तब सुषुप्ति होती है ।' अतः सुषुप्ति के पूर्व मनःक्रिया से पूर्ववर्ती आत्ममनःसंयोग का नाश हो जाने से और सुषुप्ति के समय जीवनयोनियत्न की सत्ता स्वीकार न किये जाने से नवीन आत्ममनसंयोग की उत्पत्ति सम्भव न होने से उस समय आत्मज्ञान की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती ।

[सुषुप्ति में जीवनयोनियत्न की सत्ता आवश्यक उत्तरपक्ष]

पर विचार करने पर उक्त शंका का यह समाधान समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सुषुप्ति के समय भी मनुष्य के शरीर में चेष्टा देखी जाती है अतः उसकी उत्पत्ति के लिये उस समय भी जीवनयोनियत्न मानना आवश्यक है, अतः सुषुप्ति सम्पादिका मनःक्रिया से प्राक्तन आत्ममनःसंयोग का नाश हो जाने पर भी जीवनयोनियत्न से नयी मनःक्रिया होकर उससे नये आत्ममनःसंयोग की उत्पत्ति का सम्भव होने से उसके बल से सुषुप्ति के समय आत्मज्ञान की उत्पत्ति निर्बाधरूप से आपादित हो सकती है। 'सुषुप्ति के पूर्व मनःक्रिया से प्राक्तन आत्ममनःसंयोग का नाश सर्वत्र हो ही जायगा'-यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि नाडी आदि की क्रिया से भी सुषुप्ति होती है तो जहाँ नाडी की क्रिया से सुषुप्ति होगी वहाँ उसके पूर्व मनःक्रिया न होने से प्राक्तन आत्ममनःसंयोग सुरक्षित रह सकता है, अतः उसके बल से भी उक्त सुषुप्ति के समय आत्मज्ञान की आपत्ति हो सकती है। 'सर्वत्र मनःक्रिया से ही सुषुप्ति होती है' यह कथन सार्वत्रिक न होकर क्वाचित्क है, अतः नाडी आदि की क्रिया से सुषुप्ति मानने में उक्त दोष बाधक नहीं हो सकता। यदि यह मान भी लिया जाय कि 'सुषुप्ति सर्वत्र मनःक्रिया से ही होती है, अतः सुषुप्ति के पूर्व के प्राक्तन आत्ममनःसंयोग का नाश अनिवार्य है'-साथ ही यह भी मान लिया जाय कि 'सुप्त मनुष्य के शरीर में जो चेष्टा जैसी वस्तु देखी जाती है वह चेष्टा न हो कर सामान्य क्रिया होती है जो वायु-संयोग से भी हो सकती है, अतः सुषुप्ति के समय जीवनयोनियत्न मानने की आवश्यकता न होने से नवीन आत्ममनःसंयोग की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती' तब भी सुषुप्ति के समय आत्मज्ञान की उत्पत्त्यापत्ति का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि विजातीय आत्ममनःसंयोग का अदृष्ट से अतिरिक्त कोई कारण दृष्ट नहीं है, और अदृष्ट सुषुप्तिकाल में भी विद्यमान रहता है, अतः उस से नवीन विजातीय आत्ममनःसंयोग की उत्पत्ति होकर उसके बल से उस समय आत्मज्ञान की आपत्ति में कोई बाधा नहीं हो सकती।

रासनप्रत्यक्षकाल में त्वाचप्रत्यक्ष की आपत्ति के भय से जो यह कहा गया है कि 'रसना-मनःसंयोगकाल में त्वङ्मनःसंयोग नहीं होता'-यह ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानमात्र के प्रति त्वङ्मनःसंयोग के कारण होने से उस समय भी उसकी सत्ता आवश्यक है। उस समय त्वाचप्रत्यक्ष की जो उत्पत्ति नहीं होती उसका कारण यह नहीं है कि उस समय त्वङ्मनःसंयोग नहीं रहता, किन्तु उसका कारण है अदृष्ट द्वारा उसका प्रतिबन्ध हो जाना। चाक्षुषप्रत्यक्ष की सामग्री के समय उस सामग्री में निविष्ट ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि वह भी अदृष्ट से प्रतिबध्य हो जाता है। तो जैसे रासनप्रत्यक्षकाल में त्वाच का और चाक्षुषप्रत्यक्षकाल में चाक्षुषसामग्रीघटक ज्ञान के मानसप्रत्यक्ष का अदृष्ट से प्रतिबन्ध माना जाता है उसी प्रकार सुषुप्तिकाल में आत्म-ज्ञान का प्रतिबन्ध भी अदृष्ट से ही मानना उचित है, अतः 'आत्मा स्वप्रकाशज्ञानरूप नहीं है किन्तु प्रमाणान्तरवेद्य है। सुषुप्तिकाल में प्रमाणव्यापार न होने से ही उस समय आत्मज्ञान का जन्म नहीं होता' यह कथन असंगत है।

इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जो लोग ज्ञान को स्वप्रकाश न मान कर इन्द्रिय आदि से वेद्य मानते हैं, उनके मत में सभी ज्ञान का संवेदन साम्य

उपसंहरन्नाह–

मूलम् – अतः प्रत्यक्षसंसिद्धः सर्वप्राणभृतामयम् ।
स्वयंज्योतिः सदैवात्मा तथा वेदेऽपि पठ्यते ॥८७॥

अतः=अहंप्रत्ययस्याऽभ्रान्तत्वात्, अयम्=आत्मा, सर्वप्राणभृतां प्रत्यक्षसंसिद्धः=प्रत्यक्षप्रमाणविषयः । न केवलमिदमनुभवगर्भया युक्त्यैव ब्रूमः किन्तु परेषामागमोऽप्यत्रार्थे साक्षी, इत्याह–तथा=अनुभवानुसारेण, वेदेऽपि आत्मा सदैव स्वयंज्योतिः–स्वयंप्रदीप्तज्ञानाभिन्नः, पठ्यते "आत्मज्योतिरयं पुरुषः" इति ।

एतेन वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तॄणां ज्ञानपरोक्षत्ववादिनां मीमांसकानां मतमपहस्तितम्, परोक्षत्वे ज्ञानस्यैवाऽसिद्धेः । न च ज्ञाततालिङ्गेन तदनुमानं, तस्या एवाऽसिद्धेः । न च घटादेः कर्मत्वान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धिः, क्रियाजन्यफलशालित्वं हि तत्, न च घटे ज्ञानजन्यमस्त्यन्यत् फलमस्तीति वाच्यम्, एवं सति 'दृष्टो घटः कृतो घटः' इत्यादिप्रतीतेर्दृष्टताकृततादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् ।

नहीं है किन्तु किसी भी ज्ञान के उत्पन्न होने पर उसके मानस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति का परिहार नहीं हो सकता क्योंकि उसका ग्राहक मनःसन्निकर्ष सन्निहित रहता है अतः उसके परिहारार्थ ज्ञानज्ञान के प्रति विषयान्तर में मनःसंचार को प्रतिबन्धक मानने में गौरव होगा, इसलिये ज्ञान को इन्द्रिय आदि से वेद्य न मानकर उसे स्वप्रकाश मानकर ज्ञानमात्र को सर्वदा संविदित मानना ही उचित है । सुषुप्तिकाल में जो 'अहं जाने' इस प्रकार के आत्मज्ञान का उदय नहीं होता उसका कारण उक्तज्ञान के किसी साधन का अभाव नहीं है अपि तु उसका कारण है ज्ञानावरणकर्मरूप अदृष्ट से उस ज्ञान को जन्म देनेवाली आत्मशक्ति का आवरण । इस मान्यता में आत्मज्ञान के प्रति अदृष्टरूप प्रतिबन्धक की कल्पना से जो गौरव प्रतीत होता है वह फलमुख होने से ग्राह्य ही है–त्याज्य नहीं है ।

प्रस्तुत कारिका ८७ में उपर्युक्त सभी विचारों का उपसंहार किया गया है—

[नास्तिकमतनिराकरण का उपसंहार]

'अहमस्मि=मैं हूँ'–इस प्रकार की प्रतीति सभी प्राणियों को होती है । यह प्रतीति भ्रमभिन्न प्रत्यक्षरूप है, अतः इसके बल से आत्मा सभी प्राणियों की दृष्टि से प्रत्यक्ष सिद्ध है । यह बात केवल अनुभवगर्भ युक्ति पर ही आधारित नहीं है किन्तु परकीय आगम–वेद से भी यह बात समर्थित है । वेद में स्पष्ट कहा गया है कि 'आत्मा सदैव स्वयं ज्योति है'=अर्थात् स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप है ।

[परतःप्रकाश ज्ञानवादी मीमांसकमत का खंडन]

वेद में स्वप्रकाशज्ञान का वर्णन होने से ही वेद को प्रमाण मानने वाले भट्टमीमांसकों का यह मत भी निराकृत हो जाता है कि 'ज्ञान स्वप्रकाश या प्रत्यक्षवेद्य न होकर

किं च 'अतीतो घटो ज्ञात' इत्यादौ तदसम्भवः, न ह्यतीते घटे ज्ञाततोत्पत्तिसम्भवः, समवायिकारणं विना भावकार्यानुत्पत्तेः । न च तत्र ज्ञातताभ्रम एव, बाधकाभावात् 'तत्र स्वरूपसम्बन्ध एव ज्ञातते'ति चेद् ? विद्यमानेऽपि स एवास्तु, तथाऽपि ज्ञानेन ज्ञाततानियमार्थमवश्यं तस्य स्वीकर्तव्यत्वात्, समवायेन ज्ञाततायां विषयतया ज्ञानस्य हेतुत्वात् । कर्मत्वमपि विद्यमाने घटेऽतीतघट इव गौणमेवेति ।

परोक्ष होता है' क्योंकि परोक्ष मानने पर ज्ञान की सिद्धि ही न हो सकेगी । "ज्ञान से विषय में उत्पन्न होनेवाली 'ज्ञातता' 'ज्ञातो घटः' इस प्रकार विषय में प्रत्यक्षसिद्ध है–उसी से ज्ञान का अनुमान होने से उसे परोक्ष मानने पर भी उसकी सिद्धि में कोई बाधा नहीं है"–यह कहना संगत नहीं हो सकता, क्योंकि विषय के भीतर ज्ञान से ज्ञातता की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं है । "ज्ञातता न मानने पर घट आदि विषय ज्ञान के कर्म न हो सकेंगे क्योंकि क्रियाजन्यफल का आश्रय ही कर्म होता है, और ज्ञातता से भिन्न ज्ञान का कोई फल विषय में दृष्ट नहीं होता"–यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर घट आदि विषयों में इच्छा कृति आदि की कर्मता की उपपत्ति के लिये 'इष्टो घटः कृतो घटः' इन प्रतीतियों के अनुरोध से उनमें इष्टता और कृतता भी माननी होगी जो मीमांसक को इष्ट नहीं है ।

[ज्ञातताळिङ्गक अनुमान का खंडन]

यह भी ध्यान देने की बात है कि 'घटो ज्ञातः' इस प्रतीति से घट में ज्ञानजन्य ज्ञातता की सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि विद्यमान घट के समान अतीत घट में भी ज्ञातता की प्रतीति होती है और उसमें ज्ञातता की उत्पत्ति का सम्भव नहीं है, क्योंकि समवायिकारण के अभाव में भावात्मक कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । 'अतीत घट में ज्ञातता की प्रतीति भ्रम है' यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस प्रतीति का कोई बाधक नहीं है और जब तक प्रतीति का बाध न हो तब तक उसे भ्रम कहना युक्तिविरुद्ध है । 'अतीत घट में प्रतीत होने वाली ज्ञातता ज्ञान का कार्य न होकर अतीत घट के साथ ज्ञान का स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप है'–यह कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि अतीत घट में प्रतीत होने वाली ज्ञातता यदि स्वरूपसम्बन्ध होगी तो विद्यमान घट में भी वैसी ही ज्ञातता स्वीकार्य होने से उसमें भी ज्ञान के फलभूत ज्ञातता की सिद्धि न होगी । सच बात तो यह है कि ज्ञाततावादी मीमांसक को भी विषय के साथ ज्ञान का स्वरूपसम्बन्धविशेष तो मानना ही होगा अन्यथा अमुक ज्ञान से अमुक विषय में ही ज्ञातता की उत्पत्ति का नियम न होने से घटज्ञान से पट आदि में भी ज्ञातता के जन्म की आपत्ति होगी । एक वस्तु के ज्ञान से अन्य वस्तु में ज्ञातता की उत्पत्ति को रोकने के लिये समवायसम्बन्ध से ज्ञातता के प्रति ज्ञान को विषयतासम्बन्ध से कारण मानना आवश्यक है, यह विषयता स्वरूपसम्बन्धविशेष है, अतः ज्ञान की यह विषयता ही ज्ञातता है, उससे भिन्न ज्ञान के फलभूत ज्ञातता में कोई

अस्तु वा ज्ञातता, तथापि न तया ज्ञानानुमानसम्भवः, ज्ञातताया विषयनिष्ठत्वाद् ज्ञानस्य चात्मनिष्ठत्वात्। अथ समवायेन घटप्रत्यक्षं सम्बन्धविशेषेण घटप्राकट्यं स्वसमानाधिकरणं जनयति, इति तेन तदनुमानम्; अत एव तदीयप्राकट्यस्य नान्येन ज्ञानं, विषयतया तदीयज्ञानप्राकट्यप्रत्यक्षे तादात्म्येन तदीयप्राकट्यस्य हेतुत्वादिति चेत्? न, तथाऽप्यनुमित्यादेरसिद्ध्यापत्तेः, परोक्षज्ञानेऽप्राकट्यस्यापि पदार्थान्तरस्य स्वीकारापत्तेश्च। न च प्रवृत्त्यादिना तदनुमानं लिङ्गाननुगमस्याऽदोषत्वादिति वाच्यं, प्रवृत्त्यादेरिव ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे बाधकाभावात्, धात्वर्थवत् कर्मत्वानवभासस्य क्रियात्वेनानुभवादुपपत्तेरिति किमप्रस्तुतेन।

इति चार्वाकमतनिरासः ॥

आत्मसिद्धेः परं शोकाल्लोकाः ! लोकायताननम्।
समालोकामहे म्लानं, तत्र नो शरणं वयम् ॥८७॥

प्रमाण नहीं है। 'ज्ञानजन्य फल का आश्रय हुए बिना घट ज्ञान का कर्म न हो सकेगा'— इस आपत्ति का उत्तर यह है कि जैसे अतीतघट ज्ञानजन्य फल का आश्रय न हो सकने से ज्ञान का मुख्यकर्म न हो कर गौण कर्म है उसी प्रकार विद्यमान घट भी ज्ञान का गौण ही कर्म है।

[ज्ञातता से ज्ञान का अनुमान अशक्य है]

यदि यह मान भी लिया जाय कि घट आदि विषयों में ज्ञान से ज्ञाततानामक धर्म की उत्पत्ति प्रामाणिक है, तो भी उससे ज्ञान का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञातता विषय में रहती है और ज्ञान आत्मा में रहता है और नियम यह है कि लिङ्ग अपने आश्रय में ही साध्य का अनुमापक होता है। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि —"जिस सम्बन्ध से प्राकट्य-ज्ञातता घट आदि विषयों में उत्पन्न होती है उस सम्बन्ध से तो वह आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहनेवाले घटादिप्रत्यक्ष का समानाधिकरण नहीं है, किन्तु स्वनिरूपकप्रत्यक्षसमवायित्व आदि विशेषसम्बन्ध से आत्मनिष्ठ होने से उसका समानाधिकरण है, अतः उक्त विशेषसम्बन्ध से ज्ञातता को आत्मगत ज्ञान का अनुमान कराने में कोई बाधक नहीं है। जिस पुरुष के ज्ञान से जो प्राकट्य उत्पन्न होता है वह उस पुरुष का प्राकट्य कहा जाता है और एक पुरुष के प्राकट्य का ज्ञान दूसरे पुरुष को नहीं होता अतः विषयतासम्बन्ध से तत्पुरुषीयप्राकट्यज्ञान के प्रति तत्पुरुषीयप्राकट्य को तादात्म्यसम्बन्ध से कारण माना जाता है, अतः प्राकट्य की विषयनिष्ठता के समान सम्बन्धविशेष से उसकी आत्मनिष्ठता भी निर्विवाद है, इसलिये प्राकट्य से आत्मा में ज्ञान का अनुमान निर्बाध सम्पन्न हो सकता है"—तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्राकट्य से केवल प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का ही अनुमान हो सकता है क्योंकि उसीसे विषय में प्राकट्य की उत्पत्ति होती है। अनुमिति आदि परोक्षज्ञानों से तो विषय में प्राकट्य की उत्पत्ति होती नहीं, अतः ज्ञान को परोक्ष मानने पर अनुमिति आदि ज्ञानों की सिद्धि न हो सकेगी, इसलिये ज्ञानमात्र को स्व-

अत्रैव प्रसङ्गेन वादान्तरमाह—

मूलम्— अत्रापि वर्णयन्त्येके सौगताः कृतबुद्धयः ।
क्लिष्टं मनोऽस्ति यन्नित्यं तद् यथोक्तात्मलक्षणम् ॥८८॥

अत्राऽपि = आत्मसिद्धावपि, कृतबुद्धयः = चार्वाकापेक्षया परिष्कृतधियः, एके = सौगता वर्णयन्ति, किम्? इत्याह—क्लिष्टं = क्लेशविशिष्टं न तु बाह्याकारं, यद् नित्यं मनोऽस्ति, तद् यथोक्तात्मलक्षणम् = अहम्प्रत्ययालम्बनात्मव्यपदेशभाक् ॥८८॥

संविदित मानना ही उचित है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि जिस युक्ति से प्रत्यक्षज्ञान से उसके विषय में प्राकट्य की सिद्धि होती है उसी प्रकार की युक्ति से अनुमिति आदि ज्ञानों से उसके विषय में अप्राकट्यनामक अतिरिक्त पदार्थ की सिद्धि की भी आपत्ति होगी, क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष के विषय घट आदि में 'प्रकटो घटः' इस प्रकार प्राकट्य की प्रतीति होती है वैसे ही अनुमिति आदि के विषयभूत घटादि में 'अप्रकटो घटः' यह भी प्रतीति आनुभविक है।

यदि यह कहा जाय कि "यह ठीक है कि 'अनुमिति आदि से प्राकट्य का जन्म न होने से प्राकट्य हेतु से अनुमिति आदि का अनुमान नहीं हो सकता, पर अनुमिति से प्रवृत्ति आदि का जन्म तो होता ही है, फिर उसी से अनुमिति आदि का अनुमान हो जायगा, अतः ज्ञान के परोक्षत्व मत में भी अनुमिति आदि की असिद्धि नहीं हो सकती, धूम आलोक आदि विभिन्न लिङ्गों से वह्नि का अनुमान होने से लिङ्ग के अननुगम को दोष नहीं माना जाता, अतः कहीं प्राकट्य हेतु से और कहीं प्रवृत्ति हेतु से ज्ञान के अनुमान में कोई बाधा नहीं हो सकती है—"

तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति आदि से अनुमिति के समान ज्ञान का भी प्रत्यक्ष मानने में कोई बाधक नहीं है। प्रश्न यह होता है कि—"यदि ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है तो बाह्य अर्थ के समान उस में भी प्रत्यक्षकर्मता की प्रतीति क्यों नहीं होती?"—तो इसका उत्तर यह है कि ज्ञान विषय होने के साथ ही क्रिया भी है, अतः क्रियात्व के अनुवेध के कारण उस में कर्मता की प्रतीति नहीं होती।

"उक्त युक्तियों से आत्मा की सिद्धि न हो जाने पर अनात्मवादी चार्वाक का मुँह यदि म्लान नहीं पड़ता है तो उस म्लानता का कारण उस अनात्मवादी नहीं है, किन्तु अप्रामाणिक अनात्मवाद के प्रति उसकी दुराग्रहपूर्ण निष्ठा ही कारण है" ॥८७॥

इस तरह चार्वाक के मत का खण्डन पूर्ण हुआ।

[आत्मा के बारे में बौद्ध मत]

प्रसङ्ग सङ्गति से अब कारिका ८८ और ८९ द्वारा बौद्धों के आत्मविषयक मत का उपन्यास और निराकरण किया गया है। पहली कारिका में कहा गया है कि बौद्ध चार्वाक की अपेक्षा परिष्कृतबुद्धिवाले होते हैं, अतः उनका कहना है कि दृश्यमान सम्यग्देह आत्मा नहीं है किन्तु क्लेश-विविध वासनाओं से युक्त नित्य मन ही 'अहम्' इस ज्ञान का विषय है, उसी का नाम आत्मा है, उस से भिन्न कोई शाश्वत आत्मा नहीं है ॥८८॥

अथ नित्यत्वं तद्भावेनाव्ययत्वम्, क्षणविशरारुपरिणामप्रवाहपतितत्वं वा ? इति विकल्प्य दूषयति—

मूलम्—यदि नित्यं तदात्मैव संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ।
अथाऽनित्यं ततश्चेदं न यथोक्तात्मलक्षणम् ॥८९॥

यदि त्वदभ्युपेतं मनो नित्यं = तद्भावेनाव्ययं, तदाऽऽत्मैव तत्; अत्र = अस्मिन् वादे, केवलं संज्ञाभेदः न स्वरूपभेदः । अथाऽनित्यं=द्रव्यतयाऽपि नश्वरम्, 'तदा' इति प्राक्तनमनुषज्यते, ततश्च=अनित्यत्वाच्च, इदं=मनः, न यथोक्तात्मलक्षणं=युक्त्यागमाभ्यां यादृशमात्मनो लक्षणं सिद्धं तद्वन्नेत्यर्थः ॥८९॥

आत्मलक्षणमेवाह—

मूलम्—यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥९०॥

यः कर्मभेदानां = ज्ञानावरणादीनां कर्ता; कर्मफलस्य = सुखदुःखादेश्च भोक्ता, तथा संसर्ता = स्वकृतकर्मानुरूपनरकादिगतिगामी, तथा परिनिर्वाता = कर्मक्षयकारी; हि = निश्चितं, स आत्मा; नान्यलक्षणः पराभिमतकूटस्थादिरूपः ।

दूसरी कारिका में बौद्ध मत का खण्डन किया गया है जो इस प्रकार है—
बौद्ध जिस क्लेशयुक्त नित्य मन को आत्मा कहते हैं, उसकी नित्यता के दो रूप हो सकते हैं, एक तो यह कि वह एक व्यक्तिरूप में द्रव्यरूप में स्थिर नित्य हो, और दूसरा यह कि वह व्यक्तिरूप में तो नश्वर हो किन्तु क्षणभङ्गुरपरिणामों के अविच्छिन्न प्रवाह का घटक होने से नित्य हो। यदि उसकी पहली नित्यता स्वीकार की जायगी तब तो वह वही आत्मा होगा जो आत्मवादी जैनों को मान्य है, अतः उसे बौद्ध की ओर से केवल 'मन' की नई संज्ञा ही प्राप्त होगी, स्वरूप में कोई भेद न होगा। और यदि उसकी दूसरी नित्यता स्वीकार की जायगी तब वह उस आत्मा का स्थान न ग्रहण कर सकेगा जिसको युक्तियों और आगमों द्वारा आत्मवादी विद्वानों ने प्रतिष्ठित कर रखा है ॥८९॥

[आत्मस्वरूप की पहचान]

इस कारिका ९० में आत्मा का प्रामाणिक स्वरूप बताया गया है—
जो ज्ञानावरण आदि विविध कर्मों को करता है तथा उन कर्मों का फलभोग करता है, एवं अपने कर्मों के अनुसार नरक आदि गतियों में जाता है और अपने कर्मों को ज्ञान, दर्शन, चारित्र द्वारा नष्ट कर के मोक्ष प्राप्त कर सकता है—निश्चितरूप से वही आत्मा है। जो ऐसा न हो, किसी अन्य प्रकार का हो वह आत्मा नहीं हो सकता, जैसे वेदान्ती और सांख्य का कूटस्थ तथा नैयायिक वैशेषिक का विभु या अनात्मवादियों का देह,

कर्तृत्वादिकं चानित्यस्य नोपपद्यते, कार्यसमये नश्यतो हेतोः कार्याऽजनकत्वात्, अन्यथा कालान्तरेऽपि कार्योत्पत्तेः प्रसङ्गात्। इति न त्वदुक्तं मन एवात्मा, किन्त्वन्य एव विज्ञानघनः शाश्वत इति सिद्धम् ॥९०॥

मूलम्— आत्मत्वेनाऽविशिष्टस्य वैचित्र्यं तस्य यद्वशात्।
नरादिरूपं तच्चित्रमदृष्टं कर्मसंज्ञितम् ॥९१॥

नित्यत्वे कथमस्य वैचित्र्यम्? इत्यत आह— आत्मत्वेनाऽविशिष्टस्य = एकजातीयस्य, तस्य = आत्मनः, नरादिरूपं वैचित्र्यं = कार्यवैचित्र्यनिर्वाहकविचित्रशक्तिकलितं, कर्मसंज्ञितं = कर्मापरनामकम्, अदृष्टं सिध्यति। न च नरत्वादिवैचित्र्यं नरगत्याद्येकक्रिययैव प्रागभावीयवोपपादनं, [illegible] इति वाच्यं, [illegible] त्वव्यापकत्वाव्यवस्थापारणात्। तदिदमुक्तं व्याख्याचार्यैरपि—"चिरध्वस्तं फलायालं, न कर्मा-

---

प्राण, मन आदि। किसी भी अनित्य पदार्थ को आत्मा नहीं माना जा सकता, क्योंकि आत्मा के कर्तृत्व आदि उक्त लक्षण अनित्य पदार्थ में नहीं उपपन्न हो सकते, क्योंकि जो कार्य के समय स्वयं नष्ट हो जायगा वह कार्य का कारण नहीं हो सकता। यदि जो वस्तु जिस समय विद्यमान नहीं रहती उस समय भी उस से कार्य का जन्म माना जायगा तब उस वस्तु के दूसरे क्षण में जैसे उसके न रहने पर भी उस से कार्य होता उसी प्रकार उस वस्तु के पूर्व तथा उसके नाश के चिरकाल बाद भी उस से कार्यजन्म की आपत्ति होगी। अतः बौद्धसम्मत मन को आत्मा नहीं माना जा सकता। आत्मा तो वही हो सकता है जो विज्ञानघन, स्थिर, नित्य तथा कर्मकर्तृत्व, कर्मफलभोक्तृत्व आदि उक्त आत्मलक्षणों से सम्पन्न हो ॥९०॥

[आत्मवैचित्र्यप्रयोजक अदृष्ट की उपपत्ति]

प्रश्न होता है कि- "जब सभी आत्मा समानरूप से नित्य हैं, उन में कोई सहज वैचित्र्य नहीं है, तब उन में कोई मनुष्य, कोई पशु और कोई पक्षी कैसे होता है, यह विभिन्नता उन में कैसे आ जाती है?"-प्रस्तुत कारिका ९१ इसी प्रश्न का उत्तर देने को निर्मित हुई है, जिसका अर्थ इस प्रकार है--

यह ठीक है कि सभी आत्मा समानरूप से नित्य हैं, आत्मस्वरूप की-आत्मत्वजाति की दृष्टि से उन में कोई भेद नहीं है, किसी प्रकार का सहज वैचित्र्य भी उन में नहीं है, फिर भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के रूप में उन में विभिन्नता होती है। यह विभिन्नता जिस कारण से होती है उस का नाम है अदृष्ट, जिसे कर्म भी कहा जाता है, इस अदृष्ट में विविध कार्यों को उत्पन्न करने वाली विविध शक्ति भी होती है, अतः उसके द्वारा समानरूपवाले विभिन्न आत्माओं में उक्त वैचित्र्य का होना नितान्त संगत है।

तिष्ठर्यं विना"[न्या० कु०१-९]इति । अथ नरादिशरीरवैचित्र्यं तदुपादानवैचित्र्यादेव, भोगवैचित्र्यं च शरीरवैचित्र्यात्, शरीरसंयोगश्चाकाशादाविवात्मन्यपि, इत्यदृष्टं क्वोपयुज्यताम्? इति चेत्? न, शरीरसंयोगस्याकाशादाविव सत्त्वेन तत्रापि भोगापत्तेः । उपष्टम्भकसंयोगेन शरीरस्य भोगनियामकत्वे तु तादृशसंयोगप्रयोजकतयैवादृष्टसिद्धेः ॥९१॥

इस उत्तर के विषय में यह शङ्का हो सकती है कि– "मनुष्य पूर्वजन्म में जो विविध क्रियायें करता है उन्हीं से जन्मान्तर में उसे नर आदि के शरीर की प्राप्ति हो जायगी फिर उन क्रियाओं और जन्मान्तर में प्राप्त होनेवाले नरादि शरीर के बीच निरर्थक अदृष्ट की कल्पना असंगत है ।"–इस शङ्का का उत्तर यह है कि पूर्वजन्म की क्रिया पूर्वजन्म में ही नष्ट हो जाती है अतः वह जन्मान्तर में अकेले स्वयं नरादि शरीर का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि यह नियम है कि 'जो कारण कार्य से व्यवहित होता है, अर्थात् कार्यजन्म के समय स्वयं नहीं रह सकता वह कार्यजन्म तक रह जानेवाले अपने किसी व्यापार के द्वारा ही कार्य का जनक है' अतः पूर्वजन्म की क्रिया जब जन्मान्तर में नरादिशरीर की प्राप्ति के समय नहीं रहती तब उस समय रहने वाला कोई उसका व्यापार मानना ही होगा, इस प्रकार का जो व्यापार अवश्यमान्य है उसी का नाम है अदृष्ट अथवा कर्म ।

उक्त शंका का यही उत्तर न्यायाचार्य उदयन ने अपने न्यायकुसुमाञ्जलि ग्रन्थ में 'चिरध्वस्तं' कारिका में भी दिया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

'मनुष्य की क्रिया भावीकाल के चिरपूर्व ही नष्ट हो जाती है अतः वह भावी फल के जन्म समय तक रहनेवाले अपने किसी व्यापार के बिना कालान्तर में भावी फल को नहीं उत्पन्न कर सकती ।'

उक्त उत्तर के सम्बन्ध में एक यह प्रश्न होता है कि–"आत्मा को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो विविध शरीर प्राप्त होते हैं, उन शरीरों की भिन्नता उनके उपादान कारणों की विचित्रता से हो सकती है और शरीरों द्वारा आत्मा को जो विविध भोग होते हैं, उनकी विचित्रता शरीरों की विचित्रता से हो सकती है और शरीर का संयोग जैसे आकाश आदि के साथ होता है वैसे ही आत्मा के साथ भी सहज रूप से हो सम्पन्न हो सकता है, तो इस प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के रूप में आत्मा का वैचित्र्य जब उक्त रीति से उपपन्न होता है तब उस वैचित्र्य के उपपादन में अदृष्ट का क्या उपयोग है ?"–इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आकाश आदि के समान आत्मा में सहजरूप से होनेवाले सामान्य संयोग से भोग की निष्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि उस संयोग से यदि भोग होगा तो उस प्रकार का शरीरसंयोग तो आकाश आदि में भी होता है अतः आकाश आदि में भी सुखदुःख के भोग की आपत्ति होगी । इसलिए आत्मा के साथ शरीर के उपष्टम्भक–विजातीयसंयोग को ही भोग का नियामक मानना होगा, और वह विजातीय संयोग अदृष्ट के बिना किसी अन्य हेतु से नहीं हो सकता, अतः उस संयोग के सम्पादनार्थ अदृष्ट की सत्ता अनिवार्यरूप से स्वीकार्य है ॥९१॥

अपरथाऽपि कार्यवैचित्र्यमाह—

मूलम्—तथा तुल्येऽपि चाऽऽरम्भे सदुपायेऽपि यो नृणाम् ।
फलभेदः स युक्तो न युक्त्या हेत्वन्तरं विना ॥९२॥

तथा, तुल्येऽपि च=समानेऽपि च आरम्भे=कृष्यादिप्रयत्ने, सदुपायेऽपि—अकुण्ठितशक्तिकहलादिसहकारिकारणसहितेऽपि, नृणां चैत्रमैत्रादीनां, फलभेदः = धान्यसम्पत्त्यसम्पत्तिरूपः स्वल्पबहुधान्यसम्पत्तिरूपो वा यः, स युक्त्या 'विचार्यमाण' इति शेषः । हेत्वन्तरं अदृष्टरूपकारणाऽतिरिक्तकारणं विना, न युक्तः । अथ दृष्टप्रयत्नावैषम्येऽप्युत्तरकाले सामग्रीवैषम्यादेव कार्यवैषम्यमिति चेत् ? न, सामग्रीवैषम्यस्यापि हेत्वन्तराधीनत्वात् ।

अथवा समानेऽप्यारम्भे एकजातीयदुग्धपानादौ, यः फलभेदः पुरुषभेदेन सुखदुःखादितारतम्यलक्षणः, स हेत्वन्तरं विना अतिरिक्तहेतुतारतम्यं विना, न युक्त इत्यर्थः । न चात्रापि क्वचिद् दुग्धादेः कर्कट्यादिवद् पित्तादिरसोद्बोधादुपपत्तिः,

---

[कार्यवैचित्र्य का उपपादक अदृष्ट]

इस कारिका में कार्यवैचित्र्य की उपपत्ति के लिये अदृष्टकल्पना की आवश्यकता का प्रतिपादन एक अन्य प्रकार से भी किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

बहुत से मनुष्य कृषि आदि कार्य समानरूप से करते हैं, सभी को वह कृषिसामग्री भी समानरूप से समुपलब्ध होती है, फिर भी कृषि करने वाले मनुष्यों में किसी को धान्य की प्राप्ति होती है, किसी को नहीं होती, एवं एक ही प्रकार की कृषि से किसी को स्वल्प धान्य की प्राप्ति होती है और किसी को अधिक धान्य की प्राप्ति होती है, तो कृषि के लिये समान प्रयत्न होने पर भी कृषकों को प्राप्त होनेवाले फल में जो भेद होता है वह दृष्ट कारणों से तो हो नहीं सकता, क्योंकि दृष्ट कारण तो सभी के समान हैं, अतः इस फलभेद की उपपत्ति के लिये अदृष्टभेदरूप अतिरिक्त कारण की कल्पना आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि—"आरम्भ में विभिन्न मनुष्यों के कृषिप्रयत्न के समान होने पर भी बाद में उनकी कृषिसामग्री में वैषम्य हो जाने से धान्यप्राप्तिरूप फल में वैषम्य हो सकता है अतः उसके लिये अदृष्टभेद रूप कारणभेद की कल्पना व्यर्थ है"—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अदृष्टवैषम्य के बिना सामग्रीवैषम्य का असम्भव है।

कारिका का एक दूसरा भी अर्थ हो सकता है जो इस प्रकार है—

[कारिका का वैकल्पिक अर्थ]

बहुत से मनुष्य समानरूप से दुग्धपान करते हैं, उनमें किसी को उससे विशेष सुख और किसी को अल्पसुख की प्राप्ति होती है, किसी किसी को तो वैषम्य हो जाने से दुःख भी हो जाता है। इस प्रकार एक ही ढंग के दुग्धपान से विभिन्न मनुष्यों को जो यह भिन्न फल प्राप्ति होती है वह अदृष्टभेदरूप कारण के बिना नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि—"मनुष्य का शरीर वात, पित्त और कफ इन धातुओं से बनता है, उसमें ये तीनों धातु विद्यमान रहती हैं, तो जिस मनुष्य के पित्त का रस दुग्धपान से उभड़ जाता है उसे दुग्धपान से सुख नहीं होता और जिसके पित्त का रस दुग्धपान

सर्वत्र तदापत्तेः । न च भेषजवत् तथा, ततः साक्षात् सुखादिलाभात्, धातुवैषम्यादेरुत्तरकालत्वात्, पित्तादिरसोद्बोधकधातुवैषम्यादिविशिष्टदुग्धपानत्वादिना सुखादिहेतुत्वे गौरवात्, अदृष्टप्रयोज्यजातिव्याप्यजात्यवच्छिन्नं प्रत्येव दुग्धपानादेर्हेतुत्वौचित्या-च्चेति दिक् ॥९२॥

से नहीं समझता उसे उससे सुख होता है। ककड़ी के भक्षण से भी किसी को सुख और किसी को दुःख उपर्युक्त कारण से ही होता है। तो इस प्रकार दुग्धपान से होने वाले पित्तरस के उद्बोध और अनुद्बोध से ही जब सुख दुःख आदि विषम फल की उपपत्ति हो सकती है तब उसके लिये अदृष्टभेद की कल्पना अनावश्यक है'–तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त धातुयें तो सभी मनुष्यों के शरीर में विद्यमान रहती हैं तो दुग्ध-पान से किसी मनुष्य में पित्तरस का उद्बोध होता है और किसी में न हो, यह वैषम्य भी अदृष्टवैषम्य के बिना कैसे सम्भव हो सकेगा। अतः इस वैषम्य के लिये ही अदृष्ट वैषम्य की कल्पना आवश्यक हो जायगी। औषध के दृष्टान्त से दुग्धपान से सुखादिभेद की उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि औषध से सुखादि का उदय सब को समान ही होता है, बाद में होने वाला परिणामवैषम्य तो बाद में होने वाले धातुवैषम्य से होता है। यदि यह कहा जाय कि–"पित्तरस से उद्बुद्ध होने वाले धातुवैषम्य से युक्त दुग्धपान ही सुख का कारण है, दुग्धपानमात्र सुख का कारण नहीं है"–तो दुग्धपान की अपेक्षा गुरुतर तद्विध दुग्धपानत्व को कारणतावच्छेदक मानने में गौरव होने से यह कथन संगत नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि दुग्धपान को सुखमात्र के प्रति कारण मानने की अपेक्षा अदृष्टप्रयोज्य सुखत्वजाति से व्याप्यविजातीयसुखत्वावच्छिन्न के प्रति कारण मानना ही उचित भी है।

आशय यह है कि अदृष्ट के दो भेद होते हैं–धर्म और अधर्म जिन्हें पुण्य और पाप भी कहा जाता है। इन दोनों प्रकार के अदृष्टों में दो प्रकार की कारणतायें रहती हैं। एक कारणता कार्यसामान्य की कारणता और दूसरी सुख–दुःख की कारणता। संसार के प्रत्येक कार्य से किसी को सुख और किसी को दुःख होता है अतः सभी कार्यों के प्रति धर्म और अधर्म ये दोनों ही प्रकार के अदृष्ट कारण होते हैं, कार्यमात्र के प्रति अदृष्ट की यह कारणता ही पहले प्रकार की कारणता है। धर्म सुखमात्र का और अधर्म दुःखमात्र का कारण होता है क्योंकि धर्म के बिना किसी प्रकार का सुख और अधर्म के बिना किसी प्रकार का दुःख नहीं होता, धर्म और अधर्म में सुख–दुःख की यह कारणता ही अदृष्ट की दूसरी कारणता है, इस दूसरी कारणता के अनुसार सुखत्व और दुःखत्व क्रम से धर्म और अधर्मरूप अदृष्ट की प्रयोज्य जातियाँ हैं, और विजातीय-सुखत्व एवं विजातीयदुःखत्व अदृष्टप्रयोज्य उक्तजातियों की व्याप्य जातियाँ हैं, दुग्ध-पान आदि सुखमात्र के कारण न होकर इन व्याप्यजातीयसुख के ही कारण होते हैं, क्योंकि यदि दुग्धपान आदि को सुखसामान्य का कारण माना जायगा तो दुग्धपान, दधिपान, मधुपान, आम्ररसपान आदि से होनेवाले सुखों में लोकानुभवसिद्ध वैचित्र्य की उपपत्ति न होगी; हाँ दुग्धपान से विजातीयसुख भी सब को एक ही समान नहीं

इदमेवाभिप्रेत्याह—

मूलम्—तस्मादवश्यमेष्टव्यमत्र हेत्वन्तरं परैः।

तदेवादृष्टमित्याहुरन्ये शास्त्रकृतश्रमाः॥ ९३॥

तस्मात्=तुल्येऽप्यारम्भे फलभेददर्शनात् अत्र=फलभेदनिमित्तं, परैः=चार्वाकैः, हेत्वन्तरमवश्यमेष्टव्यम्=अनायत्या नियमेनाङ्गीकार्यम्। तदेव हेत्वन्तरं, शास्त्रकृतश्रमाः=अध्ययनभावनाभ्यां गृहीतशास्त्रतात्पर्याः, अन्ये=आस्तिकाः, अदृष्टमाहुः। तथा चाह भगवान् भाष्यकारः—

'जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो न सो विना हेउं। कज्जत्तणओ गोयम! घडोव्व हेऊ अ से कम्म०॥ [वि० आ० भा० २०५८]॥ इति॥ ९३॥

होता, अतः विभिन्न मनुष्यों को सुखपान से होनेवाले विजातीय सुखभेदों के लिये धर्माद्य भेद की भी कल्पना अपरिहार्य है।

इस पूरे सन्दर्भ का निष्कर्ष यह है कि लोक में दृश्यमान कार्यवैचित्र्य की उपपत्ति अदृष्टवैचित्र्य को छोड किसी अन्य हेतु से नहीं हो सकती अतः अदृष्ट की सिद्धि इच्छा न होने पर भी अवश्य माननी होगी॥९२॥

[अदृष्ट का स्वीकार आवश्यक है]

अदृष्ट के सम्बन्ध में पूर्वकारिका के अभिप्राय को ही इस कारिका ९३ में स्फुट किया गया है—

मनुष्यों का प्रयत्न समान होने पर भी उनके प्रयत्न साध्य फलों में भेद देखा जाता है, इस की उपपत्ति के लिये चार्वाक को इच्छा न होने पर भी हेत्वन्तर की सत्ता स्वीकार करनी होगी, उसी हेत्वन्तर को वे आस्तिक—जिन्हों ने अध्ययन-मनन द्वारा शास्त्रों का तात्पर्य समझा है- 'अदृष्ट' कहते हैं।

विशेषावश्यक भाष्य की 'जो तुल्ल०' गाथा में भगवान भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी यही बात कही है, गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

'साधनों के समान होने पर भी जो उनके फलों में भेद होता है वह किसी विशेष कारण के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि वे फल कार्य हैं और कार्यों में भेद कारणभेद से ही होता है; जैसे घट एक कार्य है उसके और पट आदि कार्यों के काल, दिक् आदि सामान्य कारण समान हैं, किन्तु दण्ड चक्र आदि कारणों के भेद से घट पटआदि कार्यों से भिन्न होता है, इसी प्रकार समान साधनों से होनेवाले फलों में उपलभ्यमान भेद के लिये भी हेतुभेद आवश्यक है, वह विलक्षण हेतु ही कर्म अदृष्ट है' ॥ ९३॥

[फलभेदोपपत्ति के अन्य प्रकार का निरसन]

'समान साधनों से फलभेद की उपपत्ति अन्य प्रकार से भी हो सकती है'-चार्वाक के इस अभिप्राय का प्रस्तुत कारिका ९४ में निराकरण किया गया है—

१—"यस्तुल्यसाधनानां फले विशेषः, स न विना हेतुम्।

कार्यत्वतो गौतम! घट इव हेतुश्च तस्य कर्म॥"

शा. वा. ९८

पराकूतमाशङ्क्य निराकुरुते—

मूलम्—'भूतानां तत्स्वभावत्वादयमि'त्यप्यनुत्तरम् ।
न भूतात्मक एवात्मेत्येतदत्र निदर्शितम् ॥ ९४ ॥

'भूतानां=रसादिपरिणतभूतानां, तत्स्वभावत्वात्=विचित्रभोगहेतुस्वभावत्वात्, अयं=फलभेदः', इत्यपि चार्वाकोक्तम्, अनुत्तरम्=उत्तराभासः । कुतः ? इत्याह—'यतः' इति शेषः, 'भूतात्मक एवात्मा न' इत्येतत्, अत्र=पूर्वप्रघट्टके, निदर्शितं=व्यवस्थापितम् । आत्मस्वभावभेदश्चाऽदृष्टाधीन इति भावः ॥९४॥

'भूतपदस्याऽगृहीतविशेषस्योपादाने उत्तरमेव चैतत्', इति स्वाभिप्रायमाह—

मूलम्—कर्मणो भौतिकत्वेन यद्वैतदपि साम्प्रतम् ।
आत्मनो व्यतिरिक्तं तच्चित्रभावं यतो मतम् ॥ ९५ ॥

कर्मणः=अदृष्टस्य, भौतिकत्वेन=पौद्गलिकत्वेन, एतदपि='भूतानां तत्स्वभावत्वात् फलभेद' इत्युत्तरमपि, 'यद्वा' इति प्रकारान्तरे, साम्प्रतं=समीचीनम् ।

साधन समान होने पर भी फलभेद कैसे होता है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में चार्वाक का उत्तर यह है कि— "पृथिवी, जल आदि भूतद्रव्यों का रस, रक्त आदि के शरीर के रूप में जो विविध परिणाम होता है, वे तो अनेक हैं, वे अपने सहज स्वभाववैचित्र्य से ही विचित्रभोग के हेतु होते हैं, अतः भोगवैचित्र्य के लिये अदृष्ट की कल्पना आवश्यक नहीं है"—किन्तु उक्त प्रश्न का यह उत्तर समीचीन उत्तर न होकर उत्तराभास है, क्योंकि भूतों के शरीरात्मक परिणाम भी भूत ही हैं और 'आत्मा भूतस्वरूप नहीं हो सकता' यह तथ्य पूर्व प्रकरण में युक्ति प्रमाणों द्वारा प्रतिष्ठित किया जा चुका है । यदि कहा जाय कि— "आत्मा को भूत भिन्न मानने पर भी उसमें स्वभावभेद तो मानना ही होगा, अन्यथा सभी आत्मा को समानस्वरूप का ही मानने पर भूतभिन्न आत्मा से भी भोगवैचित्र्य की उपपत्ति न हो सकेगी, तो इस प्रकार जब आत्मा के स्वभावभेद से ही भोगभेद की उपपत्ति हो सकती है तब अदृष्ट की कल्पना अनावश्यक है—" किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि सभी आत्मा द्रव्यरूप में समान हैं, उनमें कोई सहज स्वभावभेद नहीं होता, अतः उन में आवश्यक स्वभावभेद की उपपत्ति के लिये अदृष्टभेद की कल्पना अनिवार्य है ॥९४॥

[कर्म भौतिक होने से चार्वाक मत का औचित्य]

इस कारिका ९५ में यह बताया गया है कि— "भूतद्रव्यों के परिणाम ही अपने स्वभावभेद से फलभेद के सम्पादक होते हैं"–चार्वाक का यह उत्तर आर्हतों की दृष्टि से समीचीन हो है । आशय यह है कि यदि यह न कहा जाय कि 'रस, रक्त आदि के शरीरात्मक भूतपरिणाम ही अपने स्वभावभेद से फलभेद को सम्पादक होते हैं'— किन्तु इतना ही कहा जाय कि— 'भूतद्रव्यों के परिणाम ही अपने स्वभावभेद से फलभेद के सम्पादक होते हैं' तो यह कथन आर्हतों की मान्यता के अनुसार उचित ही है, क्योंकि आर्हतों के अनुसार अदृष्ट भी पौद्गलिक है, भूतद्रव्यों का वह विशिष्ट परिणाम ही है, अतः उसे स्वभावभेद से फलभेद का प्रयोजक मानने पर भूतद्रव्य के परि-

नन्विदमसंगताभिधानं, भोगनिर्वाहकस्यात्मधर्मस्यैवादृष्टस्य कल्पनात् । तदुक्तम्- "सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि" [न्या०कु० १-९] इति । तथा विभक्तस्वभावत्वमप्यदृष्टस्यानुपपन्नं, तद्वैजात्ये मानाभावात्; तत्सत्त्वे कर्मणां विभिन्नादृष्टहेतुत्वे गौरवात् ।

न च कीर्तननाश्यतावच्छेदकतया तत्सिद्धिः, तददृष्टत्वस्य स्वाश्रयजन्यतावि-

---

पाकविशेष की ही फलभेदप्रयोजकता सिद्ध होती है ।

अदृष्ट को भूतधर्म मानने पर यह शङ्का होती है कि- "सुखदुःख का भोगरूप फल तो आत्मा में होता है, अतः अदृष्ट आत्मा का धर्म होने पर ही उसका सम्पादन कर सकता है, किन्तु यदि वह भूतधर्म होगा तो व्यधिकरण होने से वह आत्मभोग का सम्पादन न कर सकेगा, जैसा कि उदयनाचार्य ने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' में 'सम्भोगो निर्विशेषाणां' इस कारिका से कहा है कि आत्मा द्वारा किये जाने वाले शुभ, अशुभ कर्मों से यदि आत्मा में किसी विशेष संस्कार या अदृष्ट का उदय न होगा तो उन कर्मों से भूतद्रव्यों में संस्कार अदृष्ट का जन्म होने पर भी उन से आत्मगत भोग का अपेक्षित रीति से सम्पादन न हो सकेगा ।

'अदृष्ट अपने स्वभावभेद-जातिभेद से विभिन्नफलों का निर्वाहक होता है'- यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अदृष्ट में जातिभेद होने में कोई प्रमाण नहीं है । सभी शुभकर्मों से एकजातीय ही अदृष्ट का जन्म होता है । यदि भिन्न भिन्न कर्मों से भिन्न भिन्न जाति के अदृष्ट का जन्म माना जायगा, तो धर्मसामान्य के प्रति शुभकर्म मात्र को एवं अधर्मसामान्य के प्रति अशुभकर्म सामान्य को कारण न मान कर विजातीय विजातीय धर्म-अधर्म के प्रति भिन्न भिन्न कर्मों को कारण मानने में गौरव होगा ।

[अदृष्ट में जातिभेद अप्रामाणिक नहीं है]

अदृष्ट में जातिभेद न मानने के विरुद्ध यह शंका होती है कि -"यह ठीक नहीं हो सकता कि भिन्न भिन्न शुभकर्मों से एकजातीय ही अदृष्ट का जन्म हो । फलभेद तो तत्तत् कर्मों की भिन्नता से ही उपपन्न हो जायगा, अदृष्ट तो उन कर्मों का फलजनन के समय तक रहने वाला एक व्यापारमात्र है, अतः फलभेद के लिए उस में जातिभेद की कल्पना अनावश्यक है'-पर विचारणीय यह है कि यदि अदृष्ट में जातिभेद नहीं माना जायगा तब तत्तत्कर्मों के कीर्तन से तत्तत्कर्मजन्य अदृष्ट के नाश की व्यवस्था कैसे होगी ! आशय यह है कि विभिन्न कर्मों से उत्पन्न होनेवाले अदृष्ट यदि भिन्न भिन्न जाति के न होंगे तो उन्हें अदृष्टत्वरूप से ही तत्तत् कर्मों के कीर्तन से नाश्य मानना होगा और तब यह व्यवस्था न बन सकेगी कि अमुक कर्म के कीर्तन से अमुक अदृष्ट का ही नाश हो, अपि तु एक कर्म के कीर्तन से अन्यकर्मजन्य अदृष्ट का भी नाश होने लगेगा अतः भिन्नभिन्न कर्म से ही तत्तत्कर्मजन्य अदृष्ट को तत्तत्कर्म के कीर्तन का नाश्य मानना होगा' तो इस प्रकार कीर्तन के नाश्यतावच्छेदक रूप में अदृष्ट में जातिभेद की कल्पना आवश्यक होने से यह कहना कि 'अदृष्ट में जातिभेद

षेण सम्बन्धेनाश्वमेधत्वादिविशिष्टस्यैव तथात्वात्, अन्यथा 'मयाऽश्वमेधवाजपेयौ कृतौ, मया वाजपेयज्योतिष्टोमौ कृतौ' इत्यादिकीर्तननाश्यतावच्छेदकजातिसिद्धौ सांकर्यस्यापि सम्भवात् । अस्तु वा तत्कीर्तनाभावविशिष्टतत्कर्मत्वेन हेतुत्वम्, अतो न समूहालम्बनहरिगङ्गास्मरणजन्यादृष्टस्य गङ्गास्मृतिकीर्तनान्नाशे हरिस्मृतेरपि फलानापत्तिः, तज्जन्यादृष्टयोरेकतरस्य नाशेऽप्यपरस्य सत्त्वे गङ्गास्मृतेरपि वा फलापत्तेः, इति नैयायिकमतसाम्राज्यात्" इत्यत आह—यतः=यस्माद्धेतोः, तत् कर्म, आत्मनो व्यतिरिक्तं भिन्नद्रव्यतया व्यवस्थितं, तथा चित्रभावं फलवैचित्र्यनिर्वाहकवैचित्र्यशालि, मतम्-अङ्गीकृतम् 'पारगतागमवेदिभिः' इति शेषः ।

अप्रामाणिक है' नितान्त असंगत है ।"

किन्तु विचार करने पर उक्त शंका उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि अश्वमेध आदि तत्तत्कर्मों से उत्पन्न होनेवाले अदृष्ट को स्वाश्रयजन्यतासम्बन्ध से अश्वमेधत्वादिविशिष्ट अदृष्टस्वरूप से तत्तत्कर्मकीर्तन का नाश्य मान लेने से एक कर्म के कीर्तन से अन्य कर्मजन्य अदृष्ट के नाश की आपत्ति का परिहार हो जाता है अतः सर्व अदृष्ट में जातिभेद की कल्पना अनावश्यक है ।

इतना ही नहीं कि अदृष्ट में कीर्तननाश्यतावच्छेदक जाति की कल्पना अनावश्यक है, प्रत्युत उस कल्पना से जातिसांकर्य की भी आपत्ति सम्भव है जैसे अश्वमेध और वाजपेय कर्मों के सहकीर्तन की नाश्यतावच्छेदक एक जाति होगी और वाजपेय एवं ज्योतिष्टोम के सहकीर्तन की नाश्यतावच्छेदक एक दूसरी जाति होगी । इन में पहली जाति अश्वमेधजन्य अदृष्ट में भी है, किन्तु उस में दूसरी जाति नहीं है, दूसरी जाति ज्योतिष्टोमजन्य अदृष्ट में है किन्तु उस में पहली जाति नहीं पर दोनों जातियां वाजपेयजन्य अदृष्ट में है क्योंकि उसका नाश उक्त दोनों ही सहकीर्तन से होता है ।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि कर्मों के कीर्तन से कर्मजन्य अदृष्ट का नाश होता ही नहीं अतः अदृष्ट में कीर्तननाश्यतावच्छेदक जाति की कल्पना के सम्बन्ध में कोई बात ही नहीं उठ सकती । प्रश्न होगा कि 'यदि कीर्तन से कर्मजन्य अदृष्ट का नाश नहीं होता तो कीर्तित कर्म से भी फलोदय क्यों नहीं होता ? इस का उत्तर यह है कि तत्तत्कर्मकीर्तनाभावविशिष्ट ही तत्तत्कर्म तत्तत्फलों का कारण होता है, अतः कर्म का कीर्तन हो जाने पर कीर्तनाभावविशिष्ट कर्म न होने से उस का फल नहीं होता ।

अदृष्ट को कीर्तननाश्य मानने पर एक और आपत्ति का सम्भव है वह यह कि हरि और गंगा के सहस्मरण से जो अदृष्ट उत्पन्न होगा, गङ्गास्मरण के कीर्तन से उस का नाश होने पर हरिस्मरण का भी फल न हो सकेगा क्योंकि हरि और गङ्गा दोनों के सहस्मरण का द्वारभूत अदृष्ट एक ही था जो गङ्गास्मरण के कीर्तन से नष्ट हो गया । यदि यह कहा जाय कि "हरि और गङ्गा के सहस्मरण से एक ही अदृष्ट की उत्पत्ति न होकर दो अदृष्टों की उत्पत्ति होती है अतः गङ्गास्मरण के कीर्तन से एक अदृष्ट का नाश हो जाने पर भी दूसरे अदृष्ट द्वारा हरिस्मरण के फलोदय में कोई बाधा नहीं हो सकती" तो यह कहना ठीक न होगा क्योंकि ऐसा मानने पर गङ्गास्मरण

तत्र पौद्गलिकत्वे इदमनुमानम् अदृष्टं पौद्गलिकम् आत्मानुग्रहोपघातनिमित्तत्वात् शरीरवत् । न चाऽप्रयोजकत्वं, 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या तस्य सुखादिहेतुत्वे त्वन्नीत्याऽसमवायिकारणत्वप्रसङ्गात्' इति वदन्ति । वस्तुतो धर्माधर्मयोर्मानसप्रति—बन्धकत्वादिकल्पनाऽपेक्षयाऽनात्मधर्मत्वमेव कल्पनीयम्, इत्यादिकं 'ज्ञानार्णवे' अनुसन्धे-

का कीर्तन हो जाने पर भी उन के फल की आपत्ति होगी क्योंकि जैसा कुआ दूसरा अदृष्ट जैसे हरिस्मरण का व्यापार है उसी प्रकार वह गङ्गास्मरण का भी व्यापार है क्योंकि यह हरि और गङ्गा दोनों के सहस्मरण से उत्पन्न है। इस प्रकार 'अदृष्ट में जातिभेद नहीं होता' नैयायिकों का यह मत एक भ्रमजाल के रूप में प्रतिष्ठित है।

प्रस्तुत कारिका के उत्तरार्ध में इस मतसाम्राज्य को यह कहकर भञ्जन किया गया है कि पारगत भगवान के आगमों का परिशीलन करनेवाले आचार्यों ने यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रखा है कि अदृष्ट जातिभेदहीन कोई आत्मसमवेत धर्म नहीं है, किन्तु उससे भिन्न एक भौतिक द्रव्य है तथा फलवैचित्र्य के निर्वाह के लिए अपेक्षित अनेक विचित्रताओं से सम्पन्न हैं।

[अदृष्ट पौद्गलिकत्व का अनुमान]

कर्म-अदृष्ट का भौतिकत्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। अनुमान इस प्रकार है- अदृष्ट पौद्गलिक (भौतिक) है, क्योंकि वह आत्मा के अनुग्रह-उपकार या वृद्धि और उपघात- अपकार या ह्रास का कारण है, जैसे शरीर। 'उक्त हेतु भौतिकत्व का प्रयोजक नहीं है' यह शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि यदि उसे भौतिकत्व का प्रयोजक न मान कर अदृष्ट को आत्मा का गुण माना जायगा, तो आत्मगुण होने पर वह कार्यकार्यप्रत्यासत्ति-सुख आदि कार्य के साथ आत्मारूप एक अर्थ में प्रत्यासन्न होने से समवायसम्बन्ध से सुख आदि कार्यों का कारण होगा, और तब उस स्थिति में उसे नैयायिकों की असमवायिकारण की परिभाषा के अनुसार सुख आदि कार्यों का असमवायिकारण मानना होगा जो न्याय की मान्यता के विरुद्ध है। अभिप्राय यह है कि न्यायमतानुसार 'जो जिस कार्य का कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति-कार्य के साथ एक अर्थ में प्रत्यासत्ति अर्थात् समवाय अथवा कारणैकार्थप्रत्यासत्ति-कार्य के कारण के साथ एक अर्थ में प्रत्यासत्ति अर्थात् स्वसमवायिसमवायसम्बन्ध से कारण होता है वह उस कार्य का असमवायिकारण होता है, जैसे घट के साथ कपाल में प्रत्यासन्न कपालद्वयसंयोग घट का समवायसम्बन्ध से एवं घटरूप के समवायिकारण घट के साथ कपालात्मक एक अर्थ में प्रत्यासन्न कपालरूप घटरूप का स्वसमवायिसमवायसम्बन्ध से असमवायिकारण है। किन्तु अदृष्ट सुख आदि का समवाय सम्बन्ध से कारण होने पर भी न्यायमतानुसार उसका असमवायिकारण नहीं है, किन्तु अदृष्ट को आत्मगुण मानने पर न्याय की यह मान्यता तर्कहीन हो जाती है।

सच बात तो यह है कि धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट को आत्मा का गुण मानने पर उस के मानसप्रत्यक्ष की आपत्ति होगी क्योंकि मन स्वसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से योग्य आत्मगुणों के प्रत्यक्ष का जनक होता है, अतः अदृष्ट को मानसप्रत्यक्ष के अयोग्य सिद्ध

यम् । तद्वैचित्र्यमपि बन्धहेतुत्वावैचित्र्येऽपि संक्रमकरणादिकृतं परिणतप्रवचनानां सुज्ञानमेव । परेषामपि कीर्तनादिनाश्यतावच्छेदकं वैजात्यमावश्यकमेव, अश्वमेधवाजपेयादिघटितस्य गुरुत्वात्, सुखवैजात्यघटितेनाऽविनिगमाच्च समूहालम्बनकीर्तनाच्चोभयोरेव सुखवैजात्यावच्छिन्नयोर्नाशः अन्यथा प्रत्येकनाश्यनाशप्रसङ्गात्, तत्र किञ्चित्प्रतिबन्धकादिकल्पने गौरवाच्चेति किमिहाऽप्रकृतपरमसूक्ष्मविचारप्रपञ्चेन ॥९५॥

करने के लिये विषयतासम्बन्ध से मानसप्रत्यक्ष के प्रति उसे तादात्म्यसम्बन्ध से प्रतिबन्धक मानना होगा । फिर इस प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की नवीन कल्पना से अदृष्ट का आत्मगुणत्व पक्ष गौरवग्रस्त होगा । इस प्रकार की बातें, जो अदृष्ट के आत्मगुणत्व में विरोधी हैं, उपाध्यायजी विरचित 'ज्ञानार्णव' नामक ग्रन्थ में उसका अनुसन्धान प्राप्त कर लेना ।

अदृष्ट के भौतिकत्व के समान उसका वैचित्र्य जातिभेद भी आवश्यक है । यद्यपि सभी अदृष्ट बन्ध का हेतु होने से एकजातीय हैं, तथापि संक्रमकरण आदि निमित्तों से उसमें वैचित्र्य का होना अनिवार्य है । यह बात दूसरों को सुगम भले न हो पर जिन लोगों ने प्रवचन-जैनागमों में निपुणता प्राप्त की है, उन्हें तो यह बात अति सुगम है । दूसरे लोगों को भी आगमों के आधार पर न सही, पर कीर्तन आदि के नाश्यतावच्छेदकरूप में अनुमान के आधार पर अदृष्ट में जातिभेद मानना होगा, अन्यथा अश्वमेधजन्य अदृष्ट की वाजपेय कीर्तन से एवं वाजपेयजन्य अदृष्ट की अश्वमेधकीर्तन से नाशापत्ति के निवारणार्थ अश्वमेधादिजन्य अदृष्टनाश के प्रति स्वाश्रयजन्यतासम्बन्ध से अश्वमेधत्वादिविशिष्टअदृष्टत्वेन कारण मानने से कार्यकारणभाव में गौरव अनिवार्य है, और यह गौरव तब और बढ जाता है जब इस में कोई विनिगमना दो पक्षों में किसी एक ही पक्ष की समर्थक युक्ति का अभाव हो जाता है कि अश्वमेध आदि से जन्य अदृष्टनाश के प्रति अश्वमेधत्वादिविशिष्ट अदृष्ट कारण है या अश्वमेध आदि से होनेवाले विजातीयसुख आदि का जनक अदृष्ट कारण है । आशय यही है कि इन दोनों प्रकार के कार्यकारणभावों से एक कर्म के कीर्तन से अन्यकर्मजन्य अदृष्ट की नाशापत्ति का परिहार होता है, अतः इन दोनों में किसी एक ही पक्ष की समर्थक कोई युक्ति न होने से इन दोनों ही कार्यकारणभावों को मानने पर अतिशय गौरव अनिवार्य है ।

अश्वमेध और वाजपेय एवं हरिस्मरण और गङ्गास्मरण के सहकीर्तन से उभयकर्मजन्य एकजातीय अदृष्ट का एक नाश न होकर उभयकर्मजन्यविजातीय दो अदृष्टों के दो नाश होते हैं, अतः दो कर्मों का सहकीर्तन होने पर किसी कर्म का फल नहीं होता। यदि यह विचार करें कि—"दो कर्मों के सहकीर्तन से एकजातीय अदृष्ट का एक नाश मानने में लाघव है, फलतः अश्वमेध-वाजपेय के सहकीर्तन की नाश्यतावच्छेदक जाति और वाजपेय-ज्योतिष्टोम के सहकीर्तननाश्यतावच्छेदक जाति का वाजपेयकीर्तननाश्य अदृष्ट में सांकर्य अनिवार्य है, अतः कीर्तननाश्यतावच्छेदकरूप में अदृष्ट में जातिभेद की कल्पना असम्भव है"—तो यह विचार उचित नहीं होगा, क्योंकि यदि दो कर्मों के सहकीर्तन से एकजातीय अदृष्ट का ही नाश माना जायगा तब सहकीर्तन स्थल में एक एक कर्म मात्र

अथैवान्येषां वार्तान्तरमाह—

मूलम्—शक्तिरूपं तदन्ये तु सूरयः सम्प्रचक्षते ।
　　अन्ये तु वासनारूपं विचित्रफलदं तथा ॥९६॥

तत्=अदृष्टम्, अन्ये तु सूरयः शक्तिरूपं=कर्तुः शक्त्यात्मकं, सम्प्रचक्षते=व्याचक्षते, तु=पुनः, तेभ्योऽप्यन्ये वासनारूपं तत्, विचित्रफलदं=नानाविधफलजनकं, तथा=उक्तवत्, सम्प्रचक्षते ॥९६॥

तत्र प्राच्यपक्षदूषणप्रकारं वृद्धमतादेनाह—

मूलम्—अन्ये त्वभिदधत्यत्र स्वरूपनियतस्य वै ।
　　कर्तुर्विनाऽन्यसम्बन्धं शक्तिराकस्मिकी कुतः ! ॥९७॥

अन्ये तु=प्रावचनिकाः, अत्र=विचारे, एवमभिदधति । किम् ? इत्याह वै=निश्चितं, स्वरूपेण=आत्मत्वेन नियतस्य=अविशिष्टस्य कर्तुः, अन्यसम्बन्धम्=आत्मातिरिक्तहेतुसम्बन्धं विना, शक्तिराकस्मिकी अकस्मादुत्पत्तिका सती, कुतः कथं भवेत् ? न कथंचिदित्यर्थः । "शक्तिर्यद्यात्ममात्राऽनन्यत्वे सति तदतिरिक्ताऽसाधारणकारण-जन्या न स्यात्, जन्या न स्यात्" इत्यापादानं बोध्यम् ॥९७॥

के कीर्तन से होनेवाले अदृष्टनाश की भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी क्योंकि दो कर्मों का सहकीर्तन होने पर एक एक कर्म का भी कीर्तन हो ही जाता है और यदि इस आपत्ति के परिहारार्थ एककर्मकीर्तनमात्रजन्य अदृष्टनाश के प्रति अन्यकर्मकीर्तन को प्रतिबन्धक मानेंगे तो इस नवीन प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना से गौरव होगा । इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि यह सब बातें पराये घर की हैं, अतः इस पर विस्तार से विचार करना व्यर्थ है ।

[शक्तिरूप अथवा वासनारूप अदृष्ट का मत]

इस कारिका में अदृष्ट के ही सम्बन्ध में अन्य विद्वानों के दूसरे प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

जैनाचार्य और नैयायिक आदि से भिन्न विद्वान अदृष्ट को कर्ता आत्मा की शक्ति कहते हैं । उन का आशय यह है कि अश्वमेध आदि कर्मों से भौतिक द्रव्य या आत्म-गुणरूप किसी अदृष्ट का जन्म नहीं होता किन्तु अश्वमेध आदि कर्मों के कर्ता में एक शक्ति होती है जो कालान्तर में उन कर्मों के फल का जनन करती है अतः तदर्थ उन कर्मों से अदृष्ट नामक किसी नये पदार्थ की उत्पत्ति की कल्पना निरर्थक है ।

अदृष्ट को कर्ता की शक्ति कहनेवाले विद्वानों से भी अन्य कुछ ऐसे विद्वान हैं जो अदृष्ट को भौतिक द्रव्य आत्मगुणरूप या कर्ता की शक्ति न मानकर उसे वासनारूप मानते हैं और उस वासना को ही विभिन्न कर्मों से होनेवाले विभिन्न फलों का जनक बताते हैं । उनका अभिप्राय यह है कि 'वासना' नामक एक पदार्थ है जो अना-

अत्र विशेष्याऽसिद्धिमाक्षिप्य परिहरति—

मूलम्—तत्क्रियायोगतः सा चेत्तदपुष्टौ न युज्यते ।
तदन्ययोगाऽभावे च पुष्टिरस्य कथं भवेत् ? ॥९८॥

तस्यात्मनः क्रिया = छुपावदानादिका तस्याः योगतः = सम्बन्धात्, सा शक्तिः; तथा चात्मातिरिक्ताऽसाधारणकारणजन्यत्वमेव इति चेत् ? तस्यात्मनोऽपुष्टौ = अनुपचये सति न युज्यते, 'क्रियाजन्या शक्तिः' इति शेषः । 'यथा मृदः पुष्टावेव घटादिजनिका शक्तिर्भवति, तथाऽऽत्मनोऽपि पुष्टावेव सुखादिजनिका शक्तिः स्यात्, न त्वन्यथे'ति

त्रिकाल से प्रवहमान है, इस अनादिप्रवाह की घटक भिन्न-भिन्न वासनायें ही कर्म आदि नये कारणों के उपस्थित होने पर भिन्न भिन्न कार्यों को जन्म देती हैं, अतः 'वासना' से भिन्न किसी प्रकार के कर्मजन्य अदृष्ट की कल्पना निष्प्रयोजन है ॥९६॥

[शक्ति का आकस्मिक अस्तित्व असिद्ध है]

इस कारिका [९७] में जैन गुरुओं के प्रयास के आधार पर 'अदृष्ट कर्ता की शक्ति है' इस पूर्वोक्त पक्ष का खण्डन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

अदृष्ट को कर्ता की शक्ति मानने वाले विद्वानों से अन्य जैनागमनिष्णात विद्वानों का इस सन्दर्भ में यह कहना है कि सभी कर्ता आत्मस्वरूप से समान हैं, अतः आत्मा से भिन्न किसी अन्य हेतु के सहयोग के बिना उन में शक्ति का आकस्मिक अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् किसी नूतन कारण को न मानने पर कर्ता में शक्ति का व्यवस्थित अस्तित्व कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। आशय यह है कि एक मनुष्य जब कोई कर्म करता है तब उस का फल उसी को प्राप्त होता है, अन्य को नहीं अतः यह मानना होगा कि उस फल की उत्पादिका शक्ति उसी मनुष्य में रहती है, किन्तु यह शक्ति उस मनुष्य में केवल यदि इस लिये मानी जायगी कि वह मनुष्य एक आत्मा है अतः उक्त शक्ति आत्मधर्म होने से उस में विद्यमान है तो आत्मा तो उस मनुष्य के समान ही अन्य मनुष्य भी हैं, अतः यह शक्ति केवल कर्मकर्ता मनुष्य में ही न रह-कर अन्य मनुष्य में भी रहेगी, फलतः एक मनुष्य के कर्म का फल उस शक्ति के बल पर दूसरे मनुष्यों को भी प्राप्त होने लगेगा, अतः उस शक्ति को आत्मामात्र के अधीन नहीं माना जा सकता, तो फिर उक्त शक्ति जब आत्ममात्र से जन्य न होगी और आत्मा से भिन्न किसी असाधारण कारण से भी जन्य न होगी तो कारण के सर्वथा अभाव में उक्त शक्ति का अन्य कर्मकर्ता में भी न हो सकेगा। आपत्ति (तर्क) का स्वरूप इस प्रकार ज्ञातव्य है

"कर्तृगत शक्ति यदि आत्ममात्र से जन्य न होगी और आत्मभिन्न किसी असाधारण कारण से भी जन्य न होगी तो जन्य ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि यह सामान्य नियम है कि 'जो पदार्थ किसी एक कारण से जन्य न होते हुए अन्य असाधारण कारण से भी जन्य नहीं होता वह असत् ही होता है' जैसे न्यायमत में आकाश आदि और अन्यमतों में शशशृङ्ग आदि" ॥९७॥

भावः । अस्तु तर्हि पुष्टिः, इत्यत आह — तथा क्रिययाऽन्येषां कर्माणूनां योगाभावे = बन्धविरहे, अस्य = आत्मनः पुष्टिः = उपष्टम्भकाणुसंश्लेषरूपा, कथं भवेत् ? एवं च पुष्टिहेतुतया कर्मसिद्धिरवश्यकीत्याशयः । यद्यपि पुष्टिरन्यत्र स्थौल्य एवोपयुज्यते, तथाऽपि क्रियया न हेतुशक्त्याधानं, हेतुमात्रे तत्प्रसङ्गात्; आत्मन्येव तदाधाने तु कर्मण एव नामान्तरं शक्तिरित्यभिप्रायः ॥९८॥

[सुपात्रदानादि क्रिया से शक्ति का आविर्भाव शक्य नहीं]

उक्त आपादक हेतु में आत्ममात्राऽजन्यत्व विशेषण है और आत्मातिरिक्तअसाधारणकारणजन्यत्व विशेष्य है, अदृष्ट को अन्यथासिद्ध करने वाली कर्तृगत शक्ति में उक्त विशेष्यभाग असिद्ध होने से उक्त आपत्ति असम्भव है-इस आक्षेप का प्रस्तुत कारिका [९८] से परिहार किया गया है—

'कर्तृगत शक्ति कर्ता की सुपात्रदान आदि क्रिया से उत्पन्न होती है अतः उस में आत्मा से अतिरिक्त उक्तक्रियारूप असाधारणकारणजन्यत्व होने से उक्त आपादक हेतु से पूर्वोक्त आपत्ति नहीं हो सकती'-यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त क्रिया से कर्ता आत्मा की पुष्टि (=उपचय) न होने पर उस में शक्ति का उदय नहीं हो सकता । जिस प्रकार कुलाल की क्रिया से कपालरूप में मिट्टी की पुष्टि होने पर ही उस में घटजनकशक्तिका उन्मेष होता है उसी प्रकार कर्ता की सुपात्रदान आदि क्रिया से पुष्टीकृत आत्मा में ही सुखादिजनक शक्ति का उन्मेष उचित हो सकता है, अन्यथा नहीं 'उक्त क्रिया से आत्मा की पुष्टि होती है और उस पुष्ट आत्मा में ही कर्मफलजनक शक्ति का उन्मेष होता है',- यह बात भी सम्भव तभी हो सकती है जब क्रिया द्वारा कर्ता आत्मा में कर्मरूप में परिणत होनेवाले भौतिक अणुओं का विशिष्टसंयोग माना जाय । यदि इस प्रकार का संयोग न होगा तो आत्मा की पुष्टि नहीं हो सकती, क्योंकि नये अणुओं का उपष्टम्भक-विशिष्टसंयोग को ही पुष्टि कहा जाता है, तो इस प्रकार क्रिया से कर्ता की पुष्टि के लिए ही क्रियाजन्यअदृष्ट की सिद्धि आवश्यक है ।

यह शंका होती है कि—"अन्य पदार्थों में पुष्टि का उपयोग तो उसे स्थूल बनाने में होता है जैसे मिट्टी कपालरूप में पुष्ट होकर स्थूल बन जाती है, पर कर्ता आत्मा में उस प्रकार की स्थूलता तो अपेक्षित नहीं है तो फिर क्रिया द्वारा उसकी पुष्टि मानने का क्या उपयोग है ? "-इस शंका के उत्तर में यह कहना है कि 'क्रिया से कर्ता की पुष्टी की जो बात कही गयी है उसका अभिप्राय यह है कि क्रिया से जिस शक्ति का उदय मानकर अदृष्ट को अन्यथासिद्ध करना अभीष्ट है उस शक्ति का उदय कर्ता में यदि इस लिये माना जायगा कि वह क्रिया का एक हेतु है अतः उसमें क्रिया से शक्ति का जन्म होता है, तो क्रिया के अन्य हेतुओं में भी उस के उदय की आपत्ति होगी, और यदि आत्मा में ही क्रियाजन्यशक्ति का उदय माना जायगा, तब वह कर्म अदृष्ट ही होगा, 'शक्ति' तो उसका नामान्तरमात्र होगा ॥९८॥

अस्तु तर्हि अजन्यैवादृष्टरूपा शक्तिः, इत्यत्राह—

मूलम्— अस्त्येव सा सदा किन्तु क्रियया व्यज्यते परम् ।
आत्ममात्रस्थितायाश्च न तस्या व्यक्तिः कदाचन ॥९९॥

सा = अदृष्टरूपा शक्तिः, सदाऽस्त्येव, किंतु परं = केवलं, क्रियया = सुपात्रदाना-दिक्रया, व्यज्यते = फलप्रदानयोग्या क्रियते 'न तु जन्यते' इति 'परम्' इत्यनेन स्पष्टी-क्रियते । नैवं वाच्यं, यतु आत्ममात्रस्थितायाः = अनावृतैकस्वरूपतयावस्थितायाः तस्याः = शक्तेः न = नैव, व्यक्तिः = आवरणनिवृत्तिरूपा, कदाचन = जातुचित् ॥९९॥

कथम् ? इत्याह—

मूलम्—तदन्यावरणाभावाद् भावे वाऽस्यैव कर्मता ।
तन्निराकरणाद् व्यक्तिरिति तद्भेदसंस्थितिः ॥१००॥

तस्याः शक्तेरन्यस्यावरणस्याभावात्-अनावृतायाः शक्तेरावरणमेव नास्ति, किं तर्हि क्रियया तत्र निवर्त्तनीयम्, असतो नित्यनिवृत्तत्वात् ? तथा च का नामाऽऽवरणनिवृत्तिरूपा व्यक्तिस्तत्र क्रियया क्रियताम् ? इत्याशयः । अथ यदि 'शाश्वत्यास्तस्याः शक्तेः कार्या-न्तरं प्रत्यनावृतत्वेऽपि प्रकृतफलप्रदानाभिमुख्याभावात् तदावृतत्वमि' त्यर्धजरतीयं स्वीकि-

[सुपात्रदानादि से व्यङ्ग्य शाश्वतशक्ति के अभ्युपगम में दोष]

'अदृष्ट के स्थान में अभिषिक्त की जानेवाली कर्तृशक्ति क्रिया से पैदा नहीं होती किन्तु वह कर्त्ता में सदा विद्यमान रहती है'– प्रस्तुत कारिका (९९) में इस कथन का निराकरण किया गया है, अर्थ इस प्रकार है–

यह कहा जा सकता है कि– "अदृष्टस्थानीया शक्ति कर्त्ता में सर्वदा रहती है, सुपात्र-दान आदि क्रियाओं से केवल उसकी अभिव्यक्ति होती है, उसमें क्रिया का फल देने की योग्यता मात्र उन्मीलित होती है, क्रिया से उसका जन्म नहीं होता"– किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि शक्ति यदि आवरणहीन आत्मा के रूप में ही अवस्थित मानी जायगी तो क्रिया से उस की अभिव्यक्ति न हो सकेगी, क्योंकि आवरणनिवृत्ति का ही नाम अभिव्यक्ति है और वह आवरणनिवृत्तिस्वरूपात्मक आवरणहीनता शक्ति में पहले से ही सिद्ध है ।

[शक्ति के सावरणरूप में भी अतिरिक्त अदृष्ट की सिद्धि]

शक्ति को अनावृत आत्मा के रूप में अवस्थित मानने पर उसकी अभिव्यक्ति क्यों नहीं हो सकती ? प्रस्तुत कारिका (१००) में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—

शक्ति जब अनावृत आत्मा-रूप होगी तो उस का कोई आवरण न होने से क्रिया द्वारा किस की निवृत्ति होगी ? आवरण असत् होने पर तो नित्य ही निवृत्त रहेगा, तो फिर क्रिया से आवरणनिवृत्तिरूपा अभिव्यक्ति कैसे होगी ? और यदि आधे भाग में वृद्धा और आधे भाग में युवती किसी कल्पित व्यक्ति के समान यह माना जाय कि–

यते, तदाऽप्याह—भावे सा=तदनुकूलव्यापारे [illegible] कर्मता, यतस्तस्यावरणस्य निराकरणात्, व्यक्तिः शक्तेः, इति तयोः शक्त्यात्मनोः सकाशाद् भेदसंस्थितेः=भेदमर्यादा 'अस्ति' इत्यनुपपद्यते । एवं चान्य आत्मा यत्र सा शक्तिः, अन्या च शक्तिः या क्रिययाऽभिव्यज्यते, अन्यच्च कर्म यदावरणरूपं सदा नश्यति, इति त्रयसिद्धावपि कर्मणो नासिद्धिरित्यभ्युच्चयः । शाश्वतशक्तेरात्माऽनतिरेकाच्च द्वयमेव वा पर्यवस्यति । वस्तुतः सा शक्तिर्यदि तदैव क्रिययाऽभिव्यज्यते, तदा तदैव स्वर्गोत्पत्तिः स्यात् । यदि च क्रियाजन्यावरणध्वंससहकृता कालान्तर एव सा फलजननी स्वीक्रियते तदा किमेतावत्कुसृष्ट्या तज्जन्यधर्मस्यैव स्वविपाककाले फलजनकत्वादिति स्मर्तव्यम् ॥१००॥

इदमेवाह—

मूलम् — पापं तज्जनमेवास्तु क्रियान्तरनिबन्धनम् ।
एवमिष्टक्रियाजन्यं पुण्यं किमिति नेष्यते ? ॥१०१॥

शक्ति अन्य कार्यों के प्रति अननुकूल होते हुए भी प्रकृत क्रिया के कालान्तरभावी फल के प्रति अनुकूल रहती है, तो भी शक्ति से अदृष्ट को अन्यथासिद्ध करने का लक्ष्य नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि इस प्रकार शक्ति का जो आवरण माना जायगा वही अदृष्टरूप आवरण का अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध होगा, क्योंकि उक्त मान्यता के अनुसार यह स्पष्ट है कि आत्मा एक अन्य वस्तु है जिसमें यह शक्ति रहती है, और शक्ति एक दूसरी वस्तु है जो क्रिया से व्यक्त होती है एवं कर्म अदृष्ट एक तीसरी वस्तु है जो आवरणरूप है–क्रिया से जिस की निवृत्ति होती है । इस प्रकार आत्मा शक्ति और उसका आवरण इन तीनों की सिद्धि होने से आवरणरूप में कर्म अदृष्ट की सिद्धि अनिवार्य है, अथवा ऐसा कहिये कि–आत्मा की शाश्वती शक्ति आत्मरूप ही है उस से भिन्न नहीं है, अतः आत्मा और उस का आवरणकर्म ये दो ही वस्तुयें सिद्ध होती है ।

सच बात तो यह है कि अदृष्ट से भिन्न कर्तृगत शक्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि यदि ऐसी कोई शक्ति मानी जायगी तो क्रिया से उस की अभिव्यक्ति क्रियाकाल में ही मानने पर उसी समय स्वर्ग की उत्पत्ति का प्रसंग होगा और यदि क्रिया से आवरण ध्वंस हो जाने पर कालान्तर में ही उसे फल का जनक माना जायगा तो यह केवल एक कुत्सितकल्पना ही होगी, इस से अच्छा तो यही होगा कि यह माना जाय कि क्रिया से धर्म रूप अदृष्ट का जन्म होता है और वह धर्म ही अपने परिपाककाल में फल का जनक होता है ॥१००॥

[अशुभक्रियाजन्य पाप की तरह शुभक्रिया जन्य पुण्य]

इस कारिका (१०१) में पूर्वोक्त विषय को ही स्पष्ट किया गया है, अर्थ इस प्रकार है–यह कहा जा सकता है कि–'कर्तृगत शक्ति से भिन्न एक वस्तु है जो शास्त्रनिषिद्ध

'तत्=आवारकत्वेनाभिमतं क्रियान्तरनिबन्धनम्=अशुभक्रियानिमित्तकपापं भिन्नमेव=सत्त्वातिरिक्तमेव अस्तु' इति चेत्? एवम्=अशुभक्रियाजन्यपापवत् इतरक्रियाजन्यम्=विहित-क्रियानिमित्तकं पुण्यं किमिति=कुतो हेतोः नेष्यते? एकाभावेनान्यथासिद्धावविनि-गमादिति भावः ॥१०१॥

वासनैवादृष्टमिति द्वितीयं पक्षं निराकर्तुमाह—

मूलम्—वासनाऽप्यन्यसम्बन्धं विना नैवोपपद्यते ।
पुष्पादिगन्धवैकल्ये तिलादौ नेष्यते यतः ॥१०२॥

वासनाऽप्यन्यसम्बन्धं विना=वास्यातिरिक्तयोगं विना, नैवोपपद्यते। कुतः? इत्याह पुष्पादिगन्धवैकल्ये यतस्तिलादौ वासना नेष्यते। एवं च वासना वास्यातिरिक्तसम्बन्ध-जन्येति नियमः सिद्धः ॥१०२॥

ततः किम्? इत्याह—

मूलम्—बोधमात्रातिरिक्तं तद्वासकं किञ्चिदिष्यताम् ।
मुख्यं तदेव वः कर्म न युक्ता वासनाऽन्यथा ॥१०३॥

अशुभक्रियाओं से उत्पन्न होता है, किन्तु शास्त्रविहित शुभक्रियाओं से भी किसी वस्तु का जन्म होता है, यह मानने की आवश्यता नहीं है, क्योंकि उन क्रियाओं से कर्तृशक्ति को आवृत करनेवाले पापकर्म की निवृत्ति होने पर कर्तृशक्ति से ही उन क्रियाओं का फल सम्पन्न हो सकता है'–किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार अशुभ क्रियाओं से पाप का जन्म होता है उसी प्रकार शुभ क्रियाओं से पुण्य का जन्म न मानने में कोई युक्ति नहीं है। यह कहना कि–कर्तृगत शक्ति के आवरणार्थ अशुभक्रियाजन्य पाप की सत्ता मानना तो आवश्यक है, अतः शुभ क्रियाओं से पाप की निवृत्ति होने पर उन क्रियाओं के फल की निष्पत्ति सम्भव होने से पापाभाव द्वारा पुण्य का अस्तित्व अन्यथा सिद्ध हो जाता है–ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे अशुभ क्रियाओं से पाप का जन्म और शुभ क्रियाओं से उसकी निवृत्ति मानकर पापाभाव से पुण्य को अन्यथासिद्ध किया जा सकता है, इसमें कोई विनिगमक (–एकपक्षमात्र का समर्थक) युक्ति नहीं है जिससे पापाभाव से पुण्य अन्यथासिद्ध हो किन्तु पुण्याभाव से पाप अन्यथासिद्ध न हो ॥१०१॥

कारिका (१०२) में 'वासना ही अदृष्ट है' इस दूसरे पक्ष का भङ्ग किया गया है-

वासनीय वस्तु से अतिरिक्त वस्तु के सम्बन्ध के बिना वासना भी नहीं उत्पन्न हो सकती, क्योंकि पुष्प आदि के गन्ध के अभाव में तैल में वासना नहीं होती; अतः यह नियम निर्विवाद सिद्ध है कि 'वासना वासनीय से भिन्न वस्तु के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होती है' ॥१०२॥

कारिका १०३ में उक्त नियम से प्रस्तुत विषय पर क्या प्रभाव हुआ, इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है. कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

बोधमात्रातिरिक्तं=वास्यज्ञानभिन्नं, तत्=तस्मान्नियमात्, किञ्चिद्वासकमिष्यताम्, तदेव=इष्यमाणं वः=युष्माकं, मुख्यं=वस्तुसत्, कर्मोऽस्तु। अन्यथा=परमार्थसदतिरिक्तकर्माऽस्वीकारे वासना न युक्ता। न हि असत्ख्यात्युपनीतादृष्टभेदाऽग्रहाज्ज्ञानवासनेत्यभ्युपगमः प्रामाणिकः, तैलादिगन्धेषु पुष्पादिगन्धभेदाऽग्रहेऽपि तद्वासनोपपत्तेः। न च तैलादिवासनाविलक्षणैव ज्ञानवासनोक्तस्वरूपाऽतो नानुपपत्तिरिति वाच्यं, ज्ञानेऽदृष्टभेदाऽग्रहाद् वासनानिवृत्तेरिदानीं मुक्तिप्रसङ्गात्। 'उत्तरकालिकभेदाऽग्रहप्रयोजकदोषसत्त्वाद् नेदानीं तन्निवृत्तिरि'ति चेत्? तर्हि दोषाभावविशिष्टभेदग्रहाभावो वासनेति फलितम्, दोषश्च तत्र वासनैवेत्यात्माश्रयः। किञ्चैतादृशवासनापेक्षयाऽवश्यकल्पनीयादृष्टस्याऽप्रामाणिकत्वकल्पनाऽपेक्षया प्रामाणिकत्वकल्पनमुचितमिति परिभावनीयम् ॥१०३॥

इदमेवाभिप्रेत्याह –

उक्त नियम के फलस्वरूप यह मानना होगा कि ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु है, जिस के सम्बन्ध से ज्ञान वासित=वासनायुक्त होता है, तो ऐसी जो वस्तु वासनावादी को अभिमत है, सिद्धान्तवादी की दृष्टि से वही कर्म अदृष्ट है, उसी के सम्बन्ध से ज्ञान-आत्मा का वासित होना उचित है। कर्म की वस्तुसत्ता स्वीकार न करने पर वासना की उपपत्ति नहीं हो सकती।

'अदृष्ट की वस्तुसत्ता नहीं है, असत् शशशृङ्ग आदि की ख्याति जिस प्रकार होती है उसी प्रकार असत् भी अदृष्ट ज्ञान का विषय बन जाता है, इस प्रकार ज्ञात अदृष्ट का ज्ञान में भेदग्रह न होने से ज्ञानवासना की उत्पत्ति हो सकती है'-यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भेदग्रह से वासना की उत्पत्ति मानने पर तैल में पुष्पगन्ध का सम्बन्ध न होने पर भी तैलगन्ध में पुष्पगन्ध के भेदाग्रह से तैल में वासना की उत्पत्ति होने लगेगी।–'तैलवासना से ज्ञानवासना विलक्षण है अतः वह तो ज्ञान में अदृष्टभेदाग्रह से हो सकती है पर तैलवासना उक्तभेदाग्रह से नहीं हो सकती'-यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान में अदृष्टभेद के ग्रहाभाव से यदि ज्ञानवासना का जन्म माना जायगा तो ज्ञान में अदृष्टभेद के ग्रह से उस वासना की निवृत्ति होने पर संसारदशा में भी मोक्ष की आपत्ति होगी। 'उत्तरकाल में होनेवाले भेदाग्रह का प्रयोजक दोष रहने के कारण ज्ञान में अदृष्टभेदग्रह ही नहीं हो सकता'-यह कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि इस कथन से यही सिद्ध होगा कि दोषाभावविशिष्ट भेदग्रहाभाव ही वासना है, फलतः वासना के निर्वचन में वासनात्मकदोष का ही संनिवेश होने से 'आत्माश्रय' का प्रसङ्ग होगा।

इस के अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि इस प्रकार की वासना की अपेक्षा तो यही मानना उचित है कि जब ज्ञानवासना के लिये अपेक्षित अदृष्टभेदाग्रह की उपपत्ति के लिये अदृष्ट अवश्य कल्पनीय है तो उसे अप्रामाणिक एवं असत्ख्याति का विषय न मान कर प्रामाणिक मानना ही तर्कसंगत है ॥१०३॥

पूर्व कारिका के अभिप्राय को ही कारिका (१०४) में स्पष्ट किया गया है–

मूलम्—बोधमात्रस्य तद्भावे नास्ति ज्ञानमवासितम् ।
ततोऽमुक्तिः सदैव स्याद् वैशिष्ट्यं केवलस्य न ॥१०४॥

बोधमात्रस्य अविशिष्टज्ञानस्य, तद्भावे वासनात्वे 'अङ्गीक्रियमाणे' इति शेषः, ज्ञानमवासितं नास्ति, सर्वस्यैव ज्ञानस्य वासनारूपत्वात् । ततः सदैव वासितज्ञानसत्त्वादमुक्तिः स्यात् । अथ विशिष्टं ज्ञानं वासना स्वीकरिष्यते, इत्यत्राह केवलस्य= अविशिष्टज्ञानस्य वैशिष्ट्यं न, विशेषकास्वीकारे च उक्तवत् तदेवाऽदृष्टमिति भावः । अथ एकसन्तानज्ञानप्रवाहरूपा वासना, अतो नानुपपत्तिरिति चेत् ? न, क्षणपरम्परातिरिक्तसन्तानस्वीकारे द्रव्याभ्युपगमप्रसङ्गात्, अन्यथा चातिप्रसङ्गाऽपरिहारादिति स्फुटीभविष्यत्यग्रे ॥१०४॥

उपसंहरन्नाह–

मूलम् -- एवं शक्त्यादिपक्षोऽयं घटते नोपपत्तितः ।
यस्माद् न्यूनातिरिक्तत्वे तद्भावानुपपत्तितः ॥१०५॥

[ज्ञानमात्ररूपवासनापक्ष में मोक्षाभाव की आपत्ति]

ज्ञानमात्र- समग्रज्ञान को वासनारूप मानने पर अवासित-वासनामुक्त या वासना-भिन्न ज्ञान कोई न होगा अतः वासनात्मक ज्ञान का ही सर्वदा सद्भाव होने से मोक्ष के अभाव का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि निर्वासन ज्ञान या ज्ञान की निर्वासनता ही मोक्ष है, जो ज्ञानमात्र को वासनात्मक मानने पर सम्भव नहीं है । 'ज्ञानमात्र वासना नहीं है किन्तु विशिष्टज्ञानमात्र वासना है'-यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि किसी विशेषक का अस्तित्व माने बिना विशिष्ट ज्ञान एवं अविशिष्टज्ञान में कोई वैलक्षण्य ही नहीं हो सकता और यदि ज्ञान का कोई विशेषक माना जायगा तो उस विशेषक के ही अदृष्ट-रूप में मान्य होने से अदृष्ट के अस्तित्व का निराकरण न हो सकेगा । "क्षणिक ज्ञानों का प्रवाह ही वासना है और इस प्रवाह का उपरम ही मोक्ष है ऐसा मानने पर कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती "-यह कथन भी संगत नहीं हो सकता, क्योंकि 'उत्तरभावी ज्ञान से पूर्वज्ञान का वासित होना या पूर्वज्ञान से उत्तर ज्ञान का वासित होना'-ऐसा स्वीकार करने पर गुरु से भिन्न व्यक्ति के ज्ञान से गुरु के ज्ञान की वासना होने लगेगी क्योंकि दोनों के दो ज्ञान प्रवहमान हैं और दोनों में पूर्वोत्तरभाव है । 'एक सन्तानगामी ज्ञानों का प्रवाह वासना है, गुरु और गुर्वेतर के ज्ञान भिन्नसन्तानगामी हैं अतः पूर्वोक्त दोष नहीं हो सकता'-यह कथन भी समीचीन नहीं हो सकता, क्योंकि सन्तान को क्षणों-ज्ञानात्मकक्षणों की परम्परा से भिन्न मानने पर स्थायी द्रव्य के अस्तित्व का प्रसङ्ग होगा और क्षणपरम्परा को ही सन्तान मानने पर समस्त ज्ञान-क्षणों की भी एक परम्परा होने से अथवा ज्ञानक्षणों से भिन्न किसी परम्परा का अस्तित्व न होने से पूर्वोक्त अतिप्रसङ्ग का परिहार न हो सकेगा ॥१०४॥

[अदृष्ट का शक्ति- वासनारूपत्व असंगत है—उपसंहार]

इस कारिका (१०५) में पूर्वोक्त चर्चा का उपसंहार किया गया है—

'शक्ति या वासना ही अदृष्ट है उससे भिन्न क्रियाजन्य अदृष्ट की सत्ता में

एवम्–उक्तदिशा, अयं आनुमानिकः, अस्मदादिपक्षः शक्तिवासनान्यतरादृष्टवादः उपपत्तितः=युक्तेः, न घटते। उपपत्तिश्च प्रतिस्वं प्रागुक्तैव। तामेव साधारणीकृत्याह–बन्धनसकाशात् न्यूनत्वे किञ्चिद्बन्धवदवृत्तित्वे अतिरिक्तत्वे च बन्धाभाववद्वृत्तित्वे सति तद्भावानुपपत्तिः–अप्रसक्तातिप्रसक्तत्वाभ्यां बध्यबन्धनीयभावाऽव्यवस्थाप्रसङ्गादित्यर्थः। शब्दभङ्ग्या प्रागुक्तदोषस्मारणमेतदिति ध्येयम् ॥१०५॥

ततः किम्? इत्याह

मूलम्—तस्मात् तदात्मनो भिन्नं सचित्रं चात्मयोगि च।
अदृष्टमवगन्तव्यं तस्य शक्त्यादिसाधकम् ॥१०६॥

तस्मात्=उक्तहेतोः, तत् नरादिवैचित्र्यप्रयोजकम्, आत्मनः, साक्षाद् भिन्नं=पृथग् द्रव्यभूतं न त्वात्मगुणरूपं, सत् पारमार्थिकं न तु कल्पनोपारूढं, चित्रं=नानास्वभावं न त्वेकजातीयम्, आत्मयोगि=आत्मप्रदेशेषु क्षीरनीरन्यायेनानुप्रविष्टं न त्वात्मनः कूटस्थात् पृथगेव तिष्ठमानं, सर्पकञ्चुकवदुपर्येव वा वर्तमानम्। चः समुच्चये, तेन प्रवाहतोऽनादित्वादि समुच्चीयते। तस्य=आत्मनः, शक्त्यादेः=पराभिमतशक्त्यादिपक्षस्य साधकं=निर्वाहकम्, अदृष्टं=कर्म, अवगन्तव्यम्=पूर्वोक्तदिशा पर्यालोचनीयम् ॥१०६॥

कोई प्रमाण नहीं है'–यह पक्ष जिसे अभी प्रस्तुत किया गया है वह पूर्वोक्तरीत्या युक्ति से समर्थित नहीं हो पाता जैसे कि प्रत्येक पक्ष के लिये सम्भावित युक्ति का उल्लेख किया जा चुका है। सामान्यरूप से दोनों पक्षों (शक्ति–वासना) के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि शक्ति या वासना को बन्ध–अदृष्ट से न्यूनवृत्ति किसी बद्ध में अवृत्ति मानने पर, तथा 'बन्ध से अतिरिक्तवृत्ति=बन्धनशून्य में वृत्ति' मानने पर शक्ति या वासना बन्धन है और उसका आश्रय बध्य है इस प्रकार का बध्यबन्धनभाव न बन सकेगा क्योंकि पहले पक्ष में उस बद्ध का संग्रह न हो सकेगा जिस में शक्ति या वासना न होगी और दूसरे पक्ष में उस व्यक्ति का भी संग्रह होने लगेगा जो निर्बन्ध मुक्त हो चुका है। इस प्रकार शब्दान्तर से इस कारिका में पूर्वोक्त दोष का स्मरण-मात्र कराया गया है ॥१०५॥

शक्ति या वासना अदृष्ट का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती'–इस स्थापना से क्या उपलब्धि हुई? इस प्रश्न का प्रस्तुत कारिका (१०६) में उत्तर दिया गया है।

[आत्मा से भिन्न पौद्गलिक अदृष्ट का स्वरूप]

शक्ति एवं वासना की अदृष्टरूपता के विरुद्ध बताये गये कारणों तथा पूर्वोक्त अन्य कारणों से यह सिद्ध है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि रूप में आत्मा के वैचित्र्य का सम्पादक अदृष्ट आत्मा से भिन्न एक भौतिक द्रव्य है, आत्मगुणरूप नहीं है; पारमार्थिकसत् है, काल्पनिक नहीं है, एवं अनेकविध स्वभावों से सम्पन्न है, एकजातीय नहीं है। जिस प्रकार क्षीर में नीर घुलमिल जाता है उसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में

अत्रोक्तम्, नैयायिकाः—'अस्तु तत्तत्क्रियाध्वंस एव व्यापारः, किमपूर्वेण ? न चैवं क्रियायाः प्रतिबन्धकत्वव्यवहारापत्तिः, संसर्गाभावत्वादिना कारणीभूताभावप्रतियोगित्वेनैव तद्व्यवहारात्। न चैवं संस्कारोऽप्युच्छिद्येत, अनुभवध्वंसेनैवोपपत्तेः उद्बोधकानां विशिष्य हेतुत्वेनातिप्रसङ्गादिति वाच्यम्, इष्टत्वात्। न चैवं प्रायश्चित्तादिकर्मणोऽपि फलापत्तिः, प्रायश्चित्ताध्वंसाभाववत्कर्मत्वेन कारणत्वात्। न चैवं दत्तादत्तफलोद्देश्यकप्रायश्चित्ते कृते प्रतियोगिनि तत्प्रायश्चित्तस्य निवेशे दत्तफलादपि फलं न स्यात्, अनिवेशे चादत्तफलादपि फलं स्यादिति वाच्यम्, अदत्तफलनिष्ठोद्देश्यतया तद्भावस्य वाच्यत्वात्। एतेन "प्रायश्चित्तं न नरकादिप्रतिबन्धकम्, आशुविनाशित्वेन

घुलामिला रहता है, न कि आत्मा कूटस्थ-निष्प्रदेश है और अदृष्ट उस से अत्यन्त पृथक् अपना अस्तित्व रखता है और न यही कि जिस प्रकार कंचुक सांप के शरीर के ऊपर विद्यमान रहता है उसी प्रकार अदृष्ट आत्मा में सम्बद्ध होता है। अदृष्ट एक एक व्यक्तिरूप में सादि होते हुये भी प्रवाह रूप से अनादि होता है। सूक्ष्म दृष्टि से विषय का पर्यालोचन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्य विद्वानों ने आत्मा में जो शक्ति या वासना मानी है उसके प्रयोजनों का निर्वाहक यह अदृष्ट ही है, इस से भिन्न शक्ति या वासना का अस्तित्व तर्कसंगत नहीं है।

[क्रियाध्वंसात्मक व्यापार से अदृष्ट के गतार्थत्व की शंका-उपन्यास]

सैद्धान्तिक मान्यता का मण्डन न माननेवाले नैयायिकों का इस सन्दर्भ में यह कहना है कि 'तत्तत्क्रिया के ध्वंस को तत्तत्क्रिया का व्यापार मान लेने से कालान्तर में तत्तत्क्रिया के फल की उत्पत्ति हो सकती है अतः उसके लिए अपूर्व अदृष्ट की कल्पना व्यर्थ है। इसके विरुद्ध यह कहना कि—"क्रियाध्वंस को कालान्तरभावी क्रियाफल के प्रति कारण मानने पर क्रिया में उसके फल के प्रति प्रतिबन्धकत्व व्यवहार की आपत्ति होगी क्योंकि जिस कार्य के प्रति जिस का अभाव कारण होता है उस कार्य के प्रति वह प्रतिबन्धक कहा जाता है—" ठीक नहीं है क्योंकि यह नियम नहीं है कि 'जिस का अभाव जिस कार्य का कारण हो वह कार्य का प्रतिबन्धक होता है' किन्तु यह नियम है कि 'जिसका अभाव जिस कार्य का संसर्गाभावत्वरूप से कारण होता है, वह उस कार्य का प्रतिबन्धक होता है'। तत्तत्क्रिया का ध्वंस कालान्तरभावी तत्तत्क्रियाफल के प्रति तत्तत्क्रियाध्वंसत्व रूप से कारण है, न कि संसर्गाभावत्वरूप से अन्यथा तत्तत्क्रिया के पूर्व भी तत्तत्क्रिया का प्रागभावरूप संसर्गाभाव रहने से, तत्तत्क्रिया के पूर्व भी तत्तत्क्रियाफल के जन्म की आपत्ति होगी, एवं तत्तत्क्रिया के अकर्ता में भी तत्तत्क्रिया का अत्यन्ताभावरूप संसर्गाभाव रहने से तत्तत्क्रिया के अकर्ता में भी तत्तत्क्रिया के फल की आपत्ति होगी। फलतः संसर्गाभावत्वरूप से कारणीभूत अभाव का प्रतियोगी न होने से तत्तत्क्रिया के तत्तत्क्रियाफल के प्रति प्रतिबन्धकत्व व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती।

तदुत्पत्त्यवारकत्वात्, नापि तद्ध्वंसः प्रायश्चित्तानन्तरकृतगोवधादितोऽपि नरकानुत्पत्त्यापत्तेः । न च तत्तत्प्रायश्चित्तप्रागभावविशिष्टगोवधादिजन्यनरके तत्तत्प्रायश्चित्तध्वंसस्तथा,

[संस्कारउच्छेद आपत्ति का परिहार]

इसके विरोध में यह कहना कि-"क्रियाध्वंस से क्रियाजन्य अपूर्व को गतार्थ करने पर तो अनुभवध्वंस से अनुभवजन्य संस्कार की भी गतार्थता होने से संस्कार का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि स्मरण के प्रति स्वध्वंस द्वारा अनुभव को एवं तत्तद्अर्थविषयक स्मरण के प्रति संस्कारवादी के मतानुसार तत्तदर्थविषयक संस्कार के उद्बोधक को विशेष रूप से कारण मान लेने से अननुभूत अर्थ के तथा एक अर्थ के अनुभव से अर्थान्तर के एवं तत्तद् अर्थ के अनुभव से नियतकाल के पूर्व ही तत्तद्अर्थ के स्मरण के अतिप्रसङ्ग का परिहार हो जायगा"-ठीक नहीं है, क्योंकि जिसको क्रियाध्वंस से अपूर्व की व्यर्थता मान्य है उसको अनुभवध्वंस से संस्कार की भी व्यर्थता मान्य है ।

"अपूर्व न मानने पर जिस पापकर्म का प्रायश्चित्त कर दिया गया या जिस पुण्यकर्म का कीर्तन कर दिया गया है उस पापकर्म एवं उस पुण्यकर्म के भी फल की आपत्ति होगी, क्योंकि प्रायश्चित्त आदि होने पर भी तत्तत्क्रियाध्वंसरूप तत्तत्क्रिया का व्यापार अक्षुण्ण बना रहता है" -यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रायश्चित्ताभावविशिष्ट पापकर्म को एवं कीर्तनाभावविशिष्ट पुण्यकर्म को तत्तत्फल का कारण मान लेने से इस आपत्ति का अनायास ही परिहार हो जाता है । "दृष्टफलककर्म एवं अदृष्टफलक कर्म दोनों को उद्देश्य करके भी प्रायश्चित्त किया जायगा, उस प्रायश्चित्त को भी प्रायश्चित्ताभाव का प्रतियोगी बनाने पर दृष्टफलक कर्म से फल की अनुत्पत्ति, और उसे प्रतियोगी न बनाने पर अदृष्टफलक कर्म से भी फलोत्पत्ति की आपत्ति होगी" -यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस प्रायश्चित्त को अदृष्टफलककर्मनिष्ठउद्देश्यतासम्बन्ध से प्रायश्चित्ताभाव का प्रतियोगी बना देने से उक्त आपत्तियों का परिहार सुकर हो जाता है, क्योंकि दृष्टफलक कर्म में उक्त उद्देश्यतासम्बन्ध से प्रायश्चित्त न रहने से वह प्रायश्चित्ताभाववत्कर्म हो जाता है, अतः उससे फल की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं हो सकती, एवं अदृष्टफलक कर्म में उक्त उद्देश्यतासम्बन्ध से प्रायश्चित्त रहने से वह कर्म प्रायश्चित्ताभाववत्कर्म नहीं बन पाता, अतः उससे फलोत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती ।

[प्रायश्चित्ताभाववत्कर्म में फलोत्पत्ति का समर्थन]

प्रश्न होता है कि अपूर्व को प्रायश्चित्तनाश्य न मानने पर क्या प्रायश्चित्त को नरक आदि का प्रतिबन्धक माना जायगा ? या प्रायश्चित्तध्वंस को ? इसमें पहला पक्ष मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रायश्चित्त शीघ्रविनाशी होने से कालान्तरभावी नरकादि की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध नहीं कर सकता । इसी प्रकार दूसरा पक्ष भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि दूसरे पक्ष में प्रायश्चित्त के बाद किये गये गोवध आदि पापकर्मों से भी नरक आदि की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि पूर्ववर्ती प्रायश्चित्त के ध्वंस से उसका प्रतिबन्ध हो जायगा ।

प्राग्जन्मकृतगोवधादितोऽपि नरकानुत्पत्त्यापत्तेः । 'तज्जन्मकृत०' इति प्राग्वर्तिगोवधविशेषणे त्वप्रसिद्धिः" इत्यपास्तम् । न चापूर्वाऽस्वीकारेऽङ्गप्रधानव्यवस्थानुपपत्तिः, प्रधानकर्तव्यताप्रयुक्तकर्तव्यताकत्वादिनाऽङ्गत्वस्य सुवचत्वाद्—इत्याहुः ।

तदसत्; तत्क्रियोद्देशेनान्यप्रायश्चित्ते कृतेऽपि फलानापत्तेः । 'तत्प्रायश्चित्ताभावनिवेशात् तत्प्रायश्चित्तविशिष्टान्यतत्फलध्वंसातिरिक्तध्वंसस्य व्यापारत्वाद् वा नानुपपत्ति'रिति चेत् ? तथाऽपि तत्त्वज्ञानक्रियया भोगापत्तिः । 'तद्ध्वंसातिरिक्तत्वमपि निवेशनीयमि'ति चेत् ? तथापि ध्वंसप्रध्वंसानन्तत्वेन भोगानन्त्यापत्तिः । चरमभोगा-

इसके ऊपर में यह कहना कि "तत्प्रायश्चित्त के पूर्ववर्ती गोवधआदिजन्य नरक आदि के प्रति ही तत्प्रायश्चित्तध्वंस को प्रतिबन्धक मानने से यह दोष नहीं होगा"—ठीक नहीं है, क्योंकि वर्तमान जन्म में गोवध के बाद प्रायश्चित्त करने पर वर्तमान जन्म के गोवध से तो नरक प्राप्ति नहीं होती, किन्तु पूर्वजन्म में किये गये गोवध से तो नरक प्राप्ति होती ही है, किन्तु उक्तरीति से प्रायश्चित्तध्वंस को प्रतिबन्धक मानने पर पूर्वजन्म में किये गये गोवध से भी नरक की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध हो जायगा, क्योंकि पूर्वजन्मकृत गोवध भी प्रायश्चित्त का पूर्ववर्ती गोवध है अतः उस गोवध से प्राप्त होने वाला नरक भी प्रतिबन्ध कोटि में आ जायगा । इस दोष के निवारणार्थ यदि पूर्ववर्ती गोवध में 'तज्जन्मकृत' विशेषण देकर तत्प्रायश्चित्तपूर्ववर्ती तज्जन्मकृतगोवधजन्यनरक के प्रति तत्प्रायश्चित्तध्वंस को प्रतिबन्धक माना जायगा तो जिस जन्म में गोवधजन्म से प्रायश्चित्त करने के बाद गोवध हुआ, प्रायश्चित्तपूर्ववर्ती तज्जन्मकृत गोवध की अप्रसिद्धि होने से उक्त रीत्या प्रतिबध्य प्रतिबन्धभाव न बन सकेगा । किन्तु यह सब दोष प्रायश्चित्ताभावघटकर्म को कालान्तरभावी कर्मफल के प्रति कारण मानने पर नहीं हो सकते ।

[अङ्ग-प्रधान भाव अनुपपत्ति का परिहार]

"अपूर्व न स्वीकार करने पर कर्मों में अङ्ग-प्रधानभाव की व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि उस पक्ष में अवान्तर अपूर्व का जनक कर्म अङ्ग होता है और परमापूर्व का जनक कर्म प्रधान होता है। यह बात न बन सकेगी'—यह शंका भी नहीं की जा सकती, क्योंकि अपूर्व न मानने पर अङ्ग-प्रधान की व्यवस्था के लिये यह कहा जा सकता है कि जिस कर्म की कथन्ता अमुक कर्म किस प्रकार किया जाय इस आकाङ्क्षा से जो कर्म विहित होता है वह अङ्ग होता है । अतः अपूर्व स्वीकार न करने पर कर्मों में अङ्ग-प्रधानभाव की व्यवस्था में कोई बाधा नहीं हो सकती ।

[उक्तनैयायिकमत का अपहरण]

सैद्धान्तिकपरम्परावाद के विरोधी नैयायिकों का अपूर्व के सम्बन्ध में उक्त पर्यालोचन ठीक नहीं है क्योंकि प्रायश्चित्ताभाववत्क्रिया को फलजनक मानने पर जिस क्रिया के उद्देश्य से क्रियान्तर का प्रायश्चित्त कर दिया जायगा उस क्रिया के फल की उत्पत्ति न हो सकेगी, कारण वह क्रिया भी प्रायश्चित्ताभाववत्क्रिया नहीं होगी ।—"प्राय-

नन्वेवं व्यापारसत्त्वेऽपि प्रागभावाभावादेव भोगानुत्पत्तिरिति किं तदभावादिनिवेशेन ? प्रायश्चित्तविधिसामर्थ्ये तु विजातीयप्रायश्चित्तानां विजातीयादृष्टनाशकत्वमेवोचितम्, आगमाऽसंकोचाल्लाघवाच्च । एतेन चरमभोगप्रागभावविशिष्टोक्तध्वंसाधारतासम्बन्धेन क्रियाहेतुत्वमपास्तम्, विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहाच्च । किञ्च तत्तत्क्रियाणां तत्तत्प्रायश्चित्तोद्देश्यत्वमपि तत्तत्क्रियाजन्यकर्मनाशेच्छाविषयतयैव सुवचं निर्वहति, नान्यथा, इत्यतोऽप्यदृष्टसिद्धिः ।

श्चित्ताभाव के बदले तत्तत्प्रायश्चित्ताभाव को क्रिया का विशेषण बनाने से अथवा तत्तत्प्रायश्चित्तविशिष्ट अदृष्टफलककर्मध्वंसातिरिक्त ध्वंस को क्रिया का व्यापार मानने से यह दोष नहीं होगा"–यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा करने पर भी तत्त्वज्ञानी की क्रिया से भोग की आपत्ति होगी । 'व्यापारभूत क्रियाध्वंस में तत्त्वज्ञानिक्रियाध्वंसातिरिक्तत्व विशेषण देने से यह भी दोष नहीं होगा'-यह कहने से भी निस्तार नहीं हो सकता, क्योंकि क्रियाध्वंस को क्रिया का व्यापार मानने पर क्रियाध्वंस का कभी अन्त न होने से क्रियाफल का भी अन्त न हो सकेगा । फलतः किसी शुभ क्रिया से कभी स्वर्ग मिल जाने पर स्वर्गीत मनुष्य की स्वर्ग से च्युति कभी न हो सकेगी । 'चरम भोग के बाद व्यापार रहने पर भी अग्रिम भोग का प्रागभावरूप कारण न होने से अग्रिम भोग की आपत्ति न होगी'–यह कथन भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रागभाव के अभाव से फलानुत्पत्ति का समर्थन करने पर प्रायश्चित्तस्थल में भी प्रागभाव के अभाव से ही फलापत्ति का वारण हो जाने से क्रिया में प्रायश्चित्ताभाव के अभाव का निवेश व्यर्थ हो जायगा । प्रायश्चित्तविधायकशास्त्र की सार्थकता के अनुरोध से क्रिया में प्रायश्चित्ताभाव के निवेश का औचित्य बताने पर तो यह कहना अधिक उचित होगा कि 'विजातीय प्रायश्चित्त विजातीय अदृष्ट का नाशक होता है,' क्योंकि इस पक्ष में आगम संकोच भी नहीं करना पड़ता और पूर्व पक्ष की अपेक्षा लाघव भी होता है ।

पूर्वपक्ष में आगम का संकोच इस प्रकार करना पड़ता है कि शास्त्र सामान्यतः कर्ममात्र को फलजनक बताता है, किन्तु पूर्वपक्ष के अनुसार प्रायश्चित्ताभाववत्कर्म को फल का जनक मानने पर शास्त्र का प्रायश्चित्त न किये गये कर्म में संकोच करना होगा । लाघव इस प्रकार है कि सिद्धान्तपक्ष में निर्विशेषण अदृष्ट क्रिया का द्वार होता है, किन्तु पूर्वपक्ष में तत्तत्प्रायश्चित्तविशिष्टअदृष्टफलककर्मध्वंस से एवं तत्त्वज्ञानिक्रियाध्वंस से अतिरिक्त क्रियाध्वंस द्वार होता है, अतः सिद्धान्तपक्ष की अपेक्षा पूर्वपक्ष में गौरव दोष स्पष्ट है ।

उक्त गौरव के कारण ही यह कल्पना भी समीचीन नहीं हो सकती कि–'चरम भोगप्रागभावविशिष्टध्वंसाधारता सम्बन्ध से क्रिया कालान्तरभावी फल का जनक होती है,' क्योंकि उक्त गौरव तो है ही, साथ ही चरमभोगप्रागभाव और स्वध्वंस के विशेषणविशेष्यभाव में विनिगमक न होने से स्वध्वंसविशिष्टचरमभोगप्रागभावाधारतासम्बन्ध से भी क्रिया को फलजनकत्व की आपत्ति होगी ।

किञ्च, प्राग्जन्मकृतानां नानाकर्मणां न योगोद्देश्यत्वमस्ति, न च तत्तज्जन्यफलम् इति योगरूपप्रायश्चित्तस्याऽदृष्टनाशकत्वं विना न निर्वाहः । न च योगात् कायव्यूहद्वारा भोग एवेति साम्प्रतं, नानाविधानन्तशरीराणामेकदाऽसम्भवादिति स्पष्टं 'न्यायालोके'। न च योगस्य प्रायश्चित्तत्वस्वीकारे अपसिद्धान्त इति वाच्यम्, "सव्वा वि य पव्वज्जा पायच्छित्तं भवन्तरकडाणं । पावाणं कम्माणं०" [पञ्चाशक १६-२] इति ग्रन्थकृतैवाभिप्रोक्तत्वात् । अपि च शरीराद्यनिवृत्तिरेव मोक्षोऽभिमतः, न तु दुःखध्वंसादिरूपः, दुःखध्वंसस्य पुरुषप्रयत्नं विनैव भावात्, इत्यादि विवेचितं 'न्यायालोके', इत्यतोऽपि कर्मसिद्धिः । अपि च लोकस्थितिरपि कर्माधीनैव, अन्यथा ज्योतिश्चक्रादेर्गुरुत्वादिना पातादिप्रसङ्गात्, न चेश्वराधीनैव, तस्य निरस्तत्वादिति किमतिविस्तरेण ।

मरीचिरुच्चैः समुदञ्चतीयं जैनोक्तिभानोर्भवदर्शसिद्धेः ।
निमील्य नेत्रे तदसौ वराकश्चार्वाकघूकः श्रयतां दिगन्तम् ॥१०७॥

इसके अतिरिक्त विचारणीय बात यह है कि सत्क्रियाओं में जो तत्तत्प्रायश्चित्त की उद्देश्यता होती है वह तत्तत्प्रायश्चित्तजन्यकर्मनाशेच्छाविषयत्वरूप ही होती है, अर्थात् जिस कर्म से उत्पन्न अदृष्ट को नाश करने की इच्छा से जो प्रायश्चित्त किया जाता है वह कर्म उस प्रायश्चित्त का उद्देश्य होता है, तो फिर प्रायश्चित्त से नाश्य अदृष्ट की मान्यता ही न प्रदान की जायगी, तब उक्त रीति से क्रिया प्रायश्चित्त का उद्देश्य कैसे हो सकेगी ? अतः क्रियाओं में प्रायश्चित्त की उद्देश्यता की उपपत्ति के लिये भी अदृष्ट की सिद्धि अपरिहार्य है ।

[योगात्मप्रायश्चित्त से अदृष्टसिद्धि]

दूसरी बात यह है कि पूर्वजन्मों की विविध क्रियायें इस जन्म में मुमुक्षु द्वारा किये जाने वाले 'योग' का उद्देश्य नहीं होती, किन्तु योग के पश्चात् उन क्रियाओं का फल भी नहीं होता, तो फिर यह बात योग को पूर्वजन्म की क्रियाओं से उत्पन्न अदृष्ट का नाशक माने बिना कैसे बन सकती है ? क्योंकि उद्देश्यतासम्बन्ध से उन क्रियाओं में योगात्मक प्रायश्चित्त के न रहने से वे क्रियायें प्रायश्चित्ताभाववाली हो जाती हैं, अतः प्रायश्चित्ताभाववाली क्रिया को फलजनक मानने से उक्त बात की उपपत्ति नहीं हो सकती । यह कहना कि-'योगी योगबल से रचित कायव्यूह-अनेककाया से पूर्वजन्म की क्रियाओं का फलभोग कर लेता है'-ठीक नहीं है क्योंकि एक साथ एक आत्मा को अनेक प्रकार के अनन्त शरीर हो ही नहीं सकते, क्योंकि पहले तो आत्मा के पास उन अनन्त शरीरों के साथ सम्बन्ध होने के हेतुभूत विचित्र अनन्त अदृष्ट ही नहीं है, तो उन शरीरों से सम्बन्ध ही न होने पर उनके द्वारा फलभोग कैसे हो सकेगा ? अनन्त शरीरों के साथ सम्बन्ध न हो सकने की बात 'न्यायालोक' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट की गयी है ।-'योग को प्रायश्चित्तरूप मानने पर जैनदृष्टि से अपसिद्धान्त होगा' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'सव्वा वि य पव्वज्जा' इत्यादि वचनों में ग्रन्थकार ही ने समस्त योगों को जन्मान्तर के कर्मों और सभी कर्मों का प्रायश्चित्त कहा है ।

अथास्यैव दर्शनपरिभाषाजनितान् व्यञ्जनपर्यायानाह–

मूलम्– –अदृष्टं कर्म संस्कारः पुण्यापुण्ये शुभाशुभे ।
धर्माधर्मौ तथा पाशः पर्यायास्तस्य कीर्तिताः ॥१०७॥

'अदृष्टम्' इति वैशेषिकाः, 'कर्म' इति जैनाः, 'संस्कारः' इति सौगताः, 'पुण्यापुण्ये' इति वेदवादिनः, 'शुभाशुभे' इति गणकाः, 'धर्माधर्मौ' इति सांख्याः, 'पाशः' इति शैवाः, एवमेते तस्य=अदृष्टस्य, पर्यायाः=व्यञ्जनपर्यायाः कीर्तिताः । समानप्रवृत्तिनिमित्तकत्वघटितपर्यायत्वं तु न सर्वत्रेति बोध्यम् ॥१०७॥

इसके अतिरिक्त 'न्यायालोक' ग्रन्थ में यह भी विवेचन किया गया है कि मोक्षोपाय के अनुष्ठान में मोक्षार्थी की जो प्रवृत्ति होती है वह पूर्वजन्मों एवं वर्तमान जन्म की क्रियाओं से उत्पन्न अदृष्टात्मक कर्मों के ही क्षयार्थ करनी उचित है, न कि उन क्रियाओं से कालान्तर में होने वाले दुःखों के क्षयार्थ, क्योंकि दुःख उत्पन्न होने पर उसका क्षय पुरुषप्रयत्न के बिना अनायास ही हो जाता है। इसलिये मोक्षोपाय प्रवृत्ति की सार्थकता के अनुरोध से भी अदृष्टसिद्धि आवश्यक है।

यह भी एक बात ध्यान देने योग्य है कि लोक की स्थिति भी अदृष्ट पर ही आश्रित है, अन्यथा अन्य कोई लोकधारक न होने से ज्योतिश्चक्र नक्षत्रमण्डल आदि गुरुत्व-वालों का पतन हो जाने से लोकस्थिति दुर्घट हो जायगी। 'लोक की स्थिति ईश्वराधीन है-' यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मुक्त आत्मविशेष से भिन्न अनादिसिद्ध सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर का जैनागमों में निरास किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त अनेक युक्तियों से अदृष्ट की सिद्धि सम्भव होने से इस विषय पर और अधिक विचार करना व्यर्थ है।

जैसे सूर्य का किरणजाल फैलने पर उल्लू पक्षी आँखें बन्द कर किसी कोने में छिप जाता है उसी प्रकार जैनसिद्धान्तरूपी सूर्य के अदृष्टसिद्धिरूपी किरणसमूह का प्रसार हो जाने पर बेचारे नास्तिकरूपी उलूक को भी आँख बंद कर किसी कोने में छिप जाना ही श्रेयस्कर है। ॥१०६॥

[अदृष्ट के भिन्न-भिन्न-दर्शनाभिमत भिन्न भिन्न नाम]

इस कारिका में अदृष्ट के उन पर्यायों का उल्लेख किया गया है जो विभिन्न दर्शनों में परिभाषित हुये हैं। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

उक्त युक्तियों से शास्त्रविहित एवं शास्त्रनिषिद्ध क्रियाओं के व्यापाररूप में कालान्तरभावी उनके फलों के नियामक पदार्थ की सिद्धि होती है, उसे वैशेषिकों ने 'अदृष्ट', जैनों ने 'कर्म', बौद्धों ने 'संस्कार', वेदप्रामाण्यवादी मीमांसक आदिकों ने 'पुण्यापुण्य', गणक ज्योतिषियों ने 'शुभाशुभ', सांख्यों ने 'धर्माधर्म', तथा शैवों ने 'पाश' कहा है। इस प्रकार ये सारे नाम उस पदार्थ के पर्याय हैं। ये पर्याय भी व्यञ्जनपर्याय हैं, व्यञ्जन पर्याय का अर्थ है विभिन्न रूपों से एक ही अर्थ के बोधक विभिन्न शब्द। इन्हें व्यञ्जनपर्याय इसी

कथमनेनात्मा संयुज्यते ? इत्याह—

मूलम्—हेतवोऽस्य समाख्याताः पूर्वं हिंसाऽनृतादयः ।
तद्वान् संयुज्यते तेन विचित्रफलदायिना ॥१०८॥

अस्य=कर्मणः, पूर्वं="हिंसानृतादयः पञ्च०" इत्यादि [का०४] निरूपणकाले, हिंसाऽनृतादयो हेतवः समाख्याताः । तद्वान्=तत्क्रियाध्यवसायपरिणतः, विचित्रफलदायिना तेन=कर्मणा, संयुज्यते=अन्योन्यसम्बन्धेन बध्यते ॥१०८॥

उक्तेषु वादेषु कः श्रेयान् ? इति विवेचयति—

मूलम्—नैवं दृष्टेष्टबाधा यत्सिद्धिश्चास्याऽनिवारिता ।
तदेनमेव विद्वांसस्तत्त्ववादं प्रचक्षते ॥१०९॥

एवम्=आत्मनः कर्मसंयोगे स्वीक्रियमाणे, न दृष्टेष्टबाधा, अमूर्तस्यापि मूर्तेन सहाकाशादौ संयोगस्य दर्शनात् अमूर्तस्यापि ज्ञानस्य ब्राह्मीघृतोपभोग-मद्यपानादिनाऽनुग्रहोपघातयोरिष्टत्वाच्च । सिद्धिश्चास्य कर्मणः, उक्तदिशाऽनिवारिता=प्रतितर्काऽबाधितप्रसरा तत्=तस्मात् कारणात्, एनम्=प्रकृतवादमेव, विद्वांसः=मध्यस्थगीतार्थाः, तत्त्ववादं=प्रामाणिकाभ्युपगमं, प्रचक्षते ॥१०९॥

लिए कहा गया है कि ये सारे नाम भिन्न भिन्न रूपों से एक ही तात्त्विक अर्थ के व्यञ्जक होते हैं, एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। और इन में दूसरे प्रकार का पर्यायत्व, जिसे 'समानप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति विभिन्नानुपूर्वीकत्वरूप' में परिभाषित किया जाता है, नहीं है। यह दूसरे प्रकार का पर्यायत्व किसी वस्तु के उन नामों में होता है जो एक ही रूप से एक ही वस्तु के बोधक होते हैं, किन्तु उनके आनुपूर्वी-स्वरूप में भेद होता है, जैसे भूप और भूपाल शब्द, ये दोनों शब्द 'भूमिपालकत्व' इस एक ही रूप से 'राजा' के बोधक हैं और दोनों के आनुपूर्वी-स्वरूप में भेद है ॥१०७॥

[अदृष्ट के साथ आत्मा के सम्बन्ध की प्रक्रिया]

१०८ वीं कारिका में यह बताया गया है कि कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध कैसे होता है ? कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

कर्म के हिंसा-अनृत आदि पांच कारण पहले बताये जा चुके हैं। जो आत्मा इन पांचों में से किसी एक या एकाधिक अथवा सभी क्रियाओं को करने का अध्यवसाय करता है वह विचित्र फलों के जनक कर्म से बंधता है, कर्म और आत्मा का यह बन्ध उभयपक्षीय होता है, अर्थात् कर्म से आत्मा और आत्मा से कर्म का परस्पर बन्ध होता है ॥१०८॥

१०९ वीं कारिका में यह बताया गया है कि 'अदृष्टसिद्धि के सम्बन्ध में कहे गये वादों में कौन वाद सब से श्रेष्ठ है ?' अर्थ इस प्रकार है—

आत्मा का कर्म से बन्ध स्वीकार करने पर कोई दृष्टबाधा या इष्टबाधा नहीं है क्योंकि जैसे आकाश आदि अमूर्त द्रव्य में घट आदि मूर्तद्रव्य का संयोग मान्य है उसी

एवकारफलमेवाह

मूलम्— लोकायतमतं प्राज्ञैर्ज्ञेयं पापौघकारणम् ।
इत्थं तत्त्वविलोमं यत्तथाऽज्ञानविवर्धनम् ॥११०॥

लोकायतमतं=नास्तिकदर्शनम्, प्राज्ञैः=सूक्ष्मेक्षिभिः, पापौघस्य=क्लिष्टकर्मसमूहस्य, कारणं ज्ञेयम् । कुतः ? इत्याह यत्=यस्माद्धेतोः, इत्थम्=उक्तप्रकारेण, तत्त्वविलोमम्=यथार्थज्ञानप्रतिकूलम्, तथा, अज्ञानविवर्धनम्=क्लिष्टवासनासन्ततिहेतुः ॥११०॥

अत्र द्रव्याऽसत्यत्वमपि नास्ति, इति परोक्तसदुत्पत्तिप्रकारदूषणफलकेनाह—

मूलम्- इन्द्रप्रतारणायेदं चक्रे किल बृहस्पतिः ।
अदोऽपि युक्तिशून्यं यन्नेत्थमिन्द्रः प्रतार्यते ॥१११॥

इन्द्रप्रतारणाय=वृत्रदानवव्यापादनार्थं हिंसादिभीतस्येन्द्रस्य धर्माधर्माभावप्रसमाधाय लोकसुखार्थं प्रेरणाय, इदं=लोकायतमतं, 'किल' इति सत्ये, बृहस्पतिः=सुरगुरुः, चक्रे अदोऽपि=एतदपि वचनं, युक्तिशून्यम् अविचारितरमणीयम् । कुतः ? इत्याह 'यत्'=यस्मात्, इत्थम्=अनेन बृहस्पत्युक्तप्रकारेण, इन्द्रो न प्रतार्यते, दिव्यदृष्टित्वात् तस्येति भावः ॥१११॥

प्रकार अमूर्त आत्मा में मूर्त कर्म का संयोग होना सम्भव है। इसी प्रकार जैसे ब्राह्मीघृत के सेवन से अमूर्त ज्ञान का उपचय और मद्यपान से अपचय होता है, उसी प्रकार विविध कर्मों के सम्पर्क से अमूर्त आत्मा का उपचय और अपचय भी साध्य हो सकता है। किसी प्रतिकूल तर्क का आघात न होने से कर्म की सिद्धि भी निर्बाध है; अतः मध्यस्थ आलोचकों से प्रशंसनीय इस अदृष्टवाद को ही विद्वज्जन श्रेष्ठ एवं प्रामाणिकवाद कहते हैं ॥१०९॥

इस ११० वी कारिका में यह बताया गया है कि पूर्व कारिका में 'तदेवमेव' इस प्रकार जो 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है, उस का फल क्या है ?

सूक्ष्म दृष्टि से वस्तु का विचार करने वाले विद्वानों को यह समझना चाहिये कि नास्तिक का मत पापसमूह-क्लिष्टकर्मों की राशि का कारण है, क्योंकि उक्त रीति से वह यथार्थज्ञान का विरोधी और अज्ञान क्लिष्टवासनाओं की परम्परा का वर्धक है ॥११०॥

१११ वी कारिका में इस कथन का खण्डन किया गया है कि 'नास्तिक मत जिस रूप में प्रस्तुत है उस रूप में भाव से भी असत्य नहीं किन्तु द्रव्यदृष्टि से भी असत्य नहीं क्योंकि उस का प्रादुर्भाव तत्त्व के प्रतिपादनार्थ न होकर एक विशेष उद्देश्य से हुआ है।' कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

उपसंहरन्नाह —

मूलम्—तस्माद् दुष्टाशयकरं क्लिष्टसत्त्वविनिर्मितम् ।
पापश्रुतं सदा धीरैर्वर्ज्यं नास्तिकदर्शनम् ॥११२॥

तस्मात्-सर्वथैवाऽसत्यत्वात्, दुष्टाशयकरं-परलोकाद्यभावसाधनेन विषयेच्छामात्रपर्यवसायिचित्ताध्यवसायनिबन्धनम्, तथा क्लिष्टसत्त्वैः अचिन्तितामुष्मिकार्थैः ऐहिकसुख एवाऽत्यन्तं गृद्धैः, विनिर्मितं-स्वेच्छया प्रकटीकृतम्, अत एव पापश्रुतम् श्रूयमाणमप्यनुपक्रमतः पापनिबन्धनम्, धीरैः-ज्ञानवृद्धैः, नास्तिकदर्शनम् सदा वर्ज्यं ज्ञात्वा परिहरणीयम् । न त्वग्रे वक्ष्यमाणेषु वार्त्तान्तरेष्विव दृष्ट्याऽपरत्वाऽऽशङ्काऽपि विधेया, अन्यथा तामेव छलमुपलभ्य प्रकृतिदुष्टा विषयपिपासापिशाची छलयेदिति भावः ॥११२॥

[इन्द्र को ठगाई के लिये चार्वाक मत का प्रतिपादन-यह बात युक्तिशून्य]

वृत्र दानव ने विविध अत्याचारों से लोक को भीत कर रखा था। देवराज इन्द्र इस भय से उसे मारने को उद्यत नहीं होते थे कि वह जन्म का ब्राह्मण है, अतः उस के वध में ब्रह्महत्या का पाप होगा। इस लिये देवगुरु बृहस्पति ने चार्वाकमत का उद्भावन कर इन्द्र को यह बताया कि 'देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व तथा अदृष्ट एवं स्वर्ग, नरक आदि के अप्रामाणिक होने से वृत्रवध से ब्रह्महत्या आदि होने का भय करना व्यर्थ है, तुम्हें निश्चिन्त होकर वृत्र का वध करना चाहिये जिससे लोक उस के आतङ्क से मुक्त हो सके'। ग्रन्थकार का कहना है कि चार्वाकमत की इस प्रकार से उत्पत्ति बताना ठीक नहीं है, क्योंकि त्रिदशपति इन्द्र को इस प्रकार नहीं भुलाया जा सकता था ॥१११॥

[विषयलाम्पट्यजनक नास्तिक दर्शन सर्वथा त्याज्य है]

इस कारिका में पूर्वोक्त विचारों का उपसंहार किया गया है-कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

चार्वाक मत केवल युक्तिदृष्टि से ही असत्य नहीं है किन्तु सर्वथा असत्य है-इस लिये कि वह परलोक आदि के अभाव का साधन कर अध्येता के चित्त को विषयासक्त बनाता है, यह परलोक की चिन्ता न करने वाले ऐहिक सुख को ही सर्वस्व मानने-वाले लोगों से स्वेच्छापूर्वक निर्मित है और इसी लिये सुनने मात्र से ही पाप का जनक है। अतः बुद्धिमान मनुष्यों को नास्तिक दर्शन को इस प्रकार जानकर उसका सर्वात्मना परित्याग ही करना चाहिये। आगे अन्य शास्त्रों की जो बातें कही जायगी, उन के समान चार्वाकमत में दृष्ट्याऽऽलोचन की शङ्का भी नहीं करनी चाहिये अन्यथा स्वभावदुष्टा विषयों की पिपासारूप राक्षसी उसी बहाने मनुष्य को छलने लगेगी ॥११२॥

युक्तिर्मुक्तिप्रसरहरणी नास्ति का नास्तिकानाम् ?
सद्यो गर्वात् किमु न दलिता सा नयैरास्तिकानाम् ?
ध्वस्ताऽऽलोका किमु न जगति ध्वान्तधारा क्व दृष्टा ?
किं नोच्छेत्त्री रविकरततिर्मुक्तसदोदेति तस्याः ? ॥१॥
वार्तामित्थमत्र निशम्य सम्यक् त्यक्त्वा रसं नास्तिकदर्शनेषु
ऐकान्तिकात्यन्तिकशर्महेतुं श्रयन्तु वाचं परमार्हतानाम् ॥२॥

नास्तिकों की कौन सी युक्ति है जिस से मोक्ष लाभ में बाधा नहीं होती ! और जिसे आस्तिक लोग अपनी नीति से गर्वपूर्वक निरस्त नहीं कर देते ! संसार में अन्धकार की कौन सी धारा है जिस से आलोक का प्रसार अवरुद्ध नहीं होता । और जिसे नष्ट करने के लिये सूर्य की सुस्पष्ट किरणमाला का उदय नहीं होता ! ॥१॥

इस विषय में उक्त चर्चा को सुनकर नास्तिक दर्शनों से मन को पूर्णतया हटा लेना चाहिये और केवल वीतराग सर्वज्ञ अर्हत् के अनुयायी जैनों के सिद्धान्त का ही आश्रय लेना चाहिये क्योंकि उसी से निश्चितरूप से अन्तिम कल्याण हो सकता है ॥२॥

अभिप्रायः सूरेरिह हि गहनो दुर्जनतति-
निरस्या दुर्धर्षा निजमतसमाधानविधिना ।
तथाऽप्यन्तः श्रीमन्नयविजयविज्ञाङ्घ्रिभजने
न भग्ना चेद् भक्तिर्न नियतमसाध्यं किमपि मे ॥३॥
यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशया,
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः
तेन न्यायविशारदेन रचिते ग्रन्थे मतिर्दीयताम् ॥४॥

[उपा० श्रीमद् यशोविजयजी की अपने गुरुदेव श्री नयविजय महाराज के प्रति श्रद्धा]

मूलग्रन्थकार श्रीहरिभद्रसूरि का अभिप्राय दुर्गम है, अपने मत को प्रतिष्ठित करने की प्रणाली से दुर्धर्ष अन्यदार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन करना है यद्यपि यह दोनों ही कार्य अत्यन्त दुष्कर हैं, तथापि यदि विज्ञवर श्रीमान् नयविजय के चरणों में मेरी अटूट भक्ति है तो मेरे लिये कुछ भी असाध्य नहीं है ॥३॥

महामना प्राज्ञवर 'जीतविजय' जिस के परमगुरु थे तथा नयनिपुण विद्वद्वर 'नयविजय' जिस के विद्यादायक(दीक्षा)गुरु हैं, एवं प्रेम के आधार विद्वान 'पद्मविजय' जिसके सहोदर भ्राता हैं, उस न्यायविशारद ने इस ग्रन्थ की रचना की है, विद्वानों से प्रार्थना है कि वे इस ग्रन्थ के अवलोकन में दत्तचित्त हों ॥४॥

प्रथमस्तवक समाप्त

परिशिष्टं प्रथमम्

शा०वा० श्लोकाद्यपादानुक्रमणिका

परिशिष्ट–५

उद्धृताः श्लोकादयः

परिशिष्ट ३

उल्लिखिता न्यायाः

शुद्धिकरण

पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११।२४	होता है' जाय तो	होता है'
११।२५	हो	हो जाय तो
२६।२५	प्रमणा	प्रमाण
३७।१८	तदभावप्रकार	तदभावप्रकारक
३९।११	सम्बन्ध हो	सम्बन्ध नहीं हो
४३।८	दृश्यते 'मुण्डूष्यते' सुधीः।	दृश्यते सुधीः।
५१।२६	अशक्ति	आसक्ति
६०।२	०करत्वरथैवं०	०करत्वैवं०
६१।२७	मोक्षमार्ग की जानकारी और मोक्षमार्ग में अभिरुचि होने पर भी यह...	मोक्षमार्ग में अभिरुचि होने पर मोक्षमार्ग की जान-कारी के अभाव में भी यह....
७२।१०	हैमयस्य	हैममयस्य
७९।९	मान्नदः	सानन्दः
८०।१	उस विषय	उस विषय का
८०।१८	अन्तःअरण	अन्तःकरण
९७।५	०द्विवर्य०	०वैयर्थ्य०
१०४।३६	प्रमाण	प्रमा
१०८।१६	न हो सकेगी।	न हो सकेगी।
११७।३२	बुद्धि विषयता०	बुद्धिविषयता०
१२५।२	०विघाषे०	०विशेष०
१२५।७	०इसणेमि सयाण०	०दसणे विसयाण०
१२७।२९	एक ही हैं क्योंकि	एक ही है, चैत्र मैत्र के समान उनमें भेद नहीं है-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि
१२७।१०	परिणाम	परिमाण
१३२।६	'विशवदर्शि०	'विशेषदर्शि०

पृष्ठ।पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२८।२	तदभ्यांस	तदभ्यर्थं
१३९।२	भिन्नरूपेषु	भिन्नरूपेषु
१४४।२०	विशेणता	विशेषणता
१५९।१७	विशिष्टसङ्कात	विशिष्टसङ्घात
१६४।१०	स्वणपमानभेदे	स्वरूपमानभेदे
१६८।१२	हविरादयाविगुणौ	हवि-गुण
१८९।२१	पुनमतन्य	पुनश्चैतन्य
२००।८	०कल्पमपि	०कल्पाकल्पनमपि
२१७।१२	मानं	मान
२२६।१	ऽवयव	ऽवयवं
२२७।३	०लौकिक-विष०	०लौकिकविष०
२३१।२२	दोषयुक्त	दोषमुक्त
२३३।१०	उत्पत्ति, एवं कुछ अंश का नाश होने पर उस राशि की उत्पत्ति, और	उत्पत्ति और
२३३।२०	प्रतीति	प्रतीति से
२४०।२८	होना भी सभी पदार्थों	होना ही सभी पदार्थों का
२४५।२३	आदाय	आशय
२४८।२	व्यपदेशकभाक्	व्यपदेशभाक्
२४९।१५	प्रमाणग्राह्य	प्रमाणाऽग्राह्य
२५७।२	प्रमाणम्	प्रमाणम्,
२७६।८	जन्यज्ञान	जन्य ज्ञान
२८०।१४	कोई तरह	की तरह
२९८।४	०स्वभावात्	०स्वभावत्वात्
३०२।३	विनीगमात्;च	विनिगमाच्च;